श्री शुभशीलगणि-विरचितः

पञ्चशतीप्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्धः

(प्रबन्ध-पञ्चशती)

सपादकः

मुनिश्री मृगेन्द्र मुनिजी

(न्यायतीर्थ.)

आमुखः

डॉ० श्री हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी,

M.A, P H.D

प्रकाशकः

सुवासित साहित्य प्रकाशन

१/ ३७८७, मोटी देशाई पोल,

सूरत

प्रकाशक —
शांतिलाल वी शाह
सुवासित साहित्य प्रकाशन
१/२७८७ मोटी देसाई पोळ
सूरत-१

मूल्य रु० पंदर
जनवरी १९६८

मुद्रकः
पं० परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ
जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर (झांसी) उ० प्र०



ત્યાગ, તિતિક્ષા અને તપના ત્રિવેણી સગમ સમુ સયમ-જીવન જીવીને જેમણે જીવનને પવિત્રતમ બનાવ્યુ છે, એવા પૂ માતુશ્રી સાધ્વીજી શ્રી વિનીતાશ્રીજી ના કરકમલમા મારો આ સપાદિત ગ્રથ સમર્પણ કરુ છુ

લિ

તમારો વિનીત-શીશુ

મૃગેન્દ્ર

Library of Tubingen university of Bonn (West Germany) માંથી
ઉપલબ્ધ થયેલી પ્રતનું એક પૃષ્ઠ

SHRI SHUBHASILA GANI'S

PANCHASHATI PRABANDHA SAMBANDHA

OR

(PRABANDHA-PANCHASHATI)

EDITED BY
MUNI SHRI MRUGENDRA MUNIJI.

with an Introduction by
DR. SHRI HARIVALLABH. C. BHAYANI.
M A., P. H. D.

Publisher
SUVASIT SAHITYA PRAKASHAN
1/3787 Moti Desai Pole, Surat 1

Publisher
Suvasit Sahitya Prakashan.
1 / 3787 Moti Desai Pole
SURAT-1

FIFTEEN RUPEES
JAN 1968

Printer
Pt Parmeshthidas Jain Nyayatirtha.
JAINENDRA PRESS
LALITPUR (Jhansi) U P

प्रस्तावना

ग्रन्थनुं नामकरण :

प्रस्तुत "पञ्चशती प्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्ध" श्री शुभशीलगणिनी रचना छे

ग्रन्थकारे प्रस्तुत ग्रंथना नामनो उल्लेख ग्रंथना प्रारभमां "ग्रंथोह्यय पञ्चशतीप्रबोध—सम्बन्धनामा क्रियते मया तु" आ मुजब 'पञ्चशतीप्रबोध सम्बन्ध'ना नामथी कर्यो छे. 'जिनरत्न कोश'मां पण प्रा.ह.दा. वेलणकरे प्रस्तुत कृतिनो आज नामथी उल्लेख कर्यो छे. ‡ ते सिवाय अन्य कथा-कोशोनी जेम प्रस्तुत कृति "कथा-कोश" तरीके पण क्वचित् जाणीती छे तदुपरांत "प्रबन्ध पञ्चशती" ओ रीतनुं अहिं संक्षिप्त नाम पण में सूचव्युं छे.

ग्रन्थकारनो समय अने तेमनी रचनाओः

विक्रमना १५ मा शतकमां थई गयेला आचार्यश्री सोमसुंदर सूरिनो शिष्य-समुदाय विद्वान तेमज विपुल प्रमाणमां हतो तेमना युगमां अनेकविध साहित्यनु सर्जन थयु

श्रीसोमसुन्दरसूरिना पट्टशिष्य, सहस्रावधानी आ० मुनिसुंदरसूरि हता. तेमना अन्य गुरु-भ्राताओ पण अनेक ग्रथोना रचयिता हता. आ० सोमसुंदरसूरिनो प्रशिष्यपरिवार पण घणो मोटो हतो. आ ग्रथना कर्ता पं० शुभशीलगणि के जेओ आ परिवारना जाणीता अेक साहित्य-सर्जक विद्वान् छे.

ग्रन्थकार श्री शुभशीलगणिए आ ग्रथनी समाप्तिनी अंतिम प्रशस्तिमां पोताने श्री रत्नमंडन-सूरिना शिष्य होवानुं जणाव्युं छे ग्रंथना अतर्गत अधिकारनो एक प्रशस्तिमां लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पण उल्लेख मळे छे. तेमज ग्रथना मंगलाचरणमां पण—

लक्ष्मीसागरसूरीणां पादपद्मप्रसादतः
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥ (श्लोक ३)

आ रीते पोताना प्रगुरु लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पोताने जणाव्या छे

'विक्रमादित्य चरित्र' "भरतेश्वर-वृत्ति" वगेरेमां श्रीशुभशीलमुनिसुन्दरसूरिना शिष्य होवानुं पण कबूले छे † आ जोतां संभवित छे के ग्रन्थकारे कृतज्ञतानी पुन्य-भावनाथी प्रेराईने विद्या शिक्षा अने दीक्षा अेम त्रणे प्रकारना गुरुनु स्मरण करवुं उचित मान्युं होय.

---

‡ पञ्चशती प्रबोध सम्बन्ध—In four chapters Containing 600 Stories in all composed in Sam. 1521 by Subhashila pupil of Laxmisagarasuri of the Tapagaccha.

† मुनिसुन्दरसूरीशविनेयः शुभशीलभाक् ।
चकार विक्रमादित्य-चरित्रं मन्दधीरपि ॥
(विक्रमचरित्रम् प्रशस्ति–१२)

शुभशीलगणिनी लगभग प्रत्येक कृति १६ मा शतकना पूर्वार्धमां रचाई छे प्रस्तुत ग्रंथनी रचना वि० स० १५२१ मां थई छे ग्रंथकारे ग्रंथनी प्रशस्तिमां रचना-समय साथे पोतानो नामोल्लेख पण कर्यो छे—

विक्रमार्काद् विधु-द्वीप-चन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात प्रबन्धं तु शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥

(पृ० २८२)

अर्थ स्पष्ट छे

शुभशीलगणिनो अन्य कृतिकलाप

(१) विक्रमादित्य चरित्र—वि० स १४९९ (अथवा १४९०) आ कृति प्रकाशित छे

(२) भरतेश्वर-बाहुबलि वृत्ति (कथाकोश)—वि सं० १५ ९, 'भरतेश्वर बाहुबलि' नामक प्राचीन सज्झाय उपरनी आ कथा-रचना छे एमां ५३ महापुरुषो अने ४७ सन्नारीओनी कथाओ जीवन-वृत्तान्तो रजू थयां छे आ कृति दे ला जै० पुस्तकोद्धारक-संस्था सूरतथी प्रकाशित थई छे

(३) शत्रुञ्जय-कल्पवृत्ति—वि० स० १५१८ आ० धर्मघोषसूरिरचित (?) आ प्राचीन रचना छे तेनी उपर शुभशीलगणिए १२५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति रची छे

शत्रुञ्जयकथाकोश शत्रुञ्जयकल्पकथा, तेमज शत्रुंजयबृहत्कल्पना नामथी पण आ वृत्ति प्रचलित छे अने प्रकाशित छे

(४) भोज-प्रबन्ध—लगभग ३७०० श्लोक प्रमाणनो आ रचना छे राजा भोज विषे अकबरे ६ भोजप्रबन्धो अने १ भोजचरित्र रचाया छे

(५) प्रभावक-कथा—वि स० १५०४ आ कृतिमां शुभशील गणिए पोताना छ गुरु-भ्राताओना नामनो उल्लेख कर्यो छे ते आ मुजब छे-उदयनन्दि, चारित्ररत्न रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, विशालराज अने सोमदेव

(६) शालिवाहनचरित्र—वि० स० १५४ आ कृति १८०० श्लोक प्रमाण छे

(७) पुण्यधननृपकथा – वि० स १४९६ ।

(८) पुण्यसार कथा—१३११ श्लोक प्रमाण रचना छे जिनरत्नकोश'मां जणाव्या प्रमाणे महावीर जैन सभा तरफथी सन् १९१९ मां प्रसिद्ध थई छे अने आज कृति ते पुण्यधनचरित्र छे, जेम जि० र० कोशमां निर्देश करायो छे अने ते सम्भवित छे

आ उपरान्त पुण्यसार उपर अन्य त्रण कृतिओ पण रचाई छे ते नीचे मुजब छे—

पुण्यसारकथानक' वि सं १३३४ कर्ता-विवेकसमुद्र

पुण्यसारचरित्र-कर्ता भावचन्द्र

पुण्यसारकथा—अजितप्रभसूरि.

(९) जावड़-कथा—आ कृतिनी हस्तप्रत बीकानेर-बड़ा-उपाश्रयना भंडारमां छे. प्रायः अप्रकाशित छे.

(१०) भक्तामरस्तोत्र माहात्म्य.

(११) पंचवर्गसंग्रह नाममाला.

(१२) उणादिनाममाला.

(१३) अष्टकर्मविपाक (कर्मविपाक.) ❀

प्रस्तुत ग्रंथ परत्वे आछो दृष्टिपातः

प्रस्तुत 'प्रबन्ध पंचशती' ग्रंथ ४ अधिकारमां विभक्त छे तेमां ६०० उपरांत कथा-प्रबन्धोनो संग्रह छे. अधिकार दीठ प्रबन्धोनी संख्या आ प्रमाणे छे—

अधिकार	प्रबन्ध-संख्या
१	१ – २०३
२	२०४ – ४२६
३	४२७ – ४७६
४	४७७ – ६२५

ग्रन्थकारे कथा-प्रबन्धोनुं जे आ विस्तृत सकलन-रचना करी छे तेमां तेमणे अन्य आधारभूत ग्रंथोनो उपयोग कर्यो छे अेम तेमना ज शब्दो परथी कही शकाय तेम छे. "किञ्चिद्गुरोरानतो निशम्य, किञ्चिद् निजान्यादिकशास्त्रतश्च" ग्रंथकार, आधारभूत जैन-जैनेतर ग्रथोनो उपयोग कर्यानुं पण नोंधे छे. अने ते रीते आ ग्रंथना घणाखरा प्रबन्धो के कथा-सामग्री प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसग्रह, उपदेशतरंगिणी, आवश्यकनिर्युक्ति-टीका इत्यादि ग्रंथोमांथी लेवामां आवी छे' हितोपदेश के पचतत्रने अनुसरवी केटलीक आख्यायिकाओनो पण आमां समावेश

तदुपरांत, गुरु-परपराथी उपलब्ध कथा-साहित्यनो जुनो वारसो पण आमां सचवायेलो छे आ दृष्टिअे शुभशील गणिनी आ रचना घणी महत्वपूर्ण छे

शुभशीले मोटे भागे सरल सस्कृतमां कथा-साहित्यनु सर्जन कर्यु छे तेथी ग्रथकारनो उद्देश आ रीते कथा-साहित्यनु सकलन करवा द्वारा अे विशेनु साहित्य अेकत्रित करी तेने लोकभोग्य बनावी, कथा-वार्ताना माध्यम द्वारा जनताने धर्माभिमुख बनाववानु होइ शके अने आ लोकप्रिय मार्ग पण छे

❀ शुभशीलगणिकृत ग्रथोनी नोंध "जैन धर्मप्रकाश" (वि० स० २०२२ ना अक १) मा छपायेला प्रो० ही० र० कापडियाना लेखना आधारे तैयार करी छे

जो के प्रस्तुत रचनामां कथा-प्रबन्धोनो कोइ निश्चित क्रम देखातो नथी, छतां तेनु त्रण विभागमां पृथक्करण करी शकाय—

(१) ऐतिहासिक प्रबन्धो
(२) धार्मिक (शास्त्रीय) कथाओ अने
(३) लौकिक वार्ताओ, (किंवा दंतकथा Legends)

प्रस्तावना अंते बे परिशिष्टो आपवामां आव्या छे जेमां अकारादि क्रमथी पद्य-सूचि तथा ग्रन्थमां आवतां विशेष नामोनी यादी आपवामां आवी छे

ग्रन्थनी शैली—

ग्रन्थनी भाषा गद्य-पद्य मिश्रित छे, संस्कृत, प्राकृत अने अपभ्रंश सुभाषितो अवतरण रूपे स्थाने स्थाने दृष्टिगोचर थाय छे संस्कृतने व्याकरणना कठिन प्रयोगोथी मुक्त राखी अने तेम सरल बनाववा प्रयत्न करायो छे लोकभाषामां प्रचलित घणाखरा शब्दोनु संस्कृतीकरण करी ग्रन्थकारे ओमने ओम ज साचवी राख्या छे आवा शब्दोनो जथ्थो सारा प्रमाणमां छे जे भाषा-विशारदो माटे अनेक उपयोगी माहिती पूरी पाडे छे

डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणीश्रीओ आ विषयनी विस्तारपूर्वक चर्चा प्रबन्ध पञ्चशतीनी भाषा सामग्री अने कथा-सामग्री' अ नामना अहिं अपेक्षा निबन्धमां करी छे

प्रति परिचय—

आ ग्रन्थनु सम्पादन जे हस्तप्रतना आधारे कर्यु छे तेनी प्रतिसंज्ञा A. आपी छे आ प्रति छाणी (वडोदरा) ना श्री जैन श्वे० ज्ञानमन्दिरना पू० श्रीवीरविजयजी शास्त्र संग्रहनी छे अने संपादनमां मुख्यतया सविशेष आधारभूत आ ज प्रति छे प्रतिनु कद १० × ४" छे अने दरेक पृष्ठमां १५ पंक्तिओ छे लिपि पडिमात्रामां छे प्रतिना ५९७ पृष्ठ छे प्रतिनी बे बाजु घणास्थळे हांसियामां सुधारा-वधारा पाठ-शुद्धि करेल होइ प्रतिनो ठीक ठीक उपयोग थवानु कल्पी शकाय छे

आ सिवाय प्रबन्ध पंचशती नी अन्य हस्तप्रतो नीचेना भण्डारोमां उपलब्ध छे परन्तु सविशेषता न होवाने कारण पाठ-शुद्धि माटे तेनो उपयोग नहिंवत् थयो छे आ प्रतिओनी स्थळ-सूचि नीचे मुजब छे

B जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार मुंबइ (पायधुनी महावीर स्वामि जैन देरासर)
C मोहनलाल जी श्वे ज्ञानभंडार सूरत
D हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह—वडोदरा
E लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर-अमदावाद।

आ उपरांत बर्लिन (जर्मनी) ना लायब्रेरीमां प्रस्तुतग्रन्थनी हस्तप्रत छे, आनो उल्लेख V A Weber Verzeichniss der Sanskrit and Prakrit Handschriften der Koniglichen

Bibliothek zu Berlin, V. II. 3, Berlin, 1892, II. 3, 1112 ff No. 2020. आ नोंधमां आ ग्रथनो प्रारम्भ तथा प्रशस्तिनो भाग पण आपवामां आव्यो छे. आ प्रतिनी माइक्रोफिल्म कोपी प्रो० हामे (Prof F R Hamm Indologisches Seminar, 63, Bonn, lieb frauencey 7) मुनिश्री जम्बूविजयजीनी भलामण द्वारा मने मोकली हती आ फिल्म ज्यारे मने मळी त्यारे मूल ग्रन्थ (Text) लगभग छपाई गयो हतो छतां ये पाछळथी आ फिल्म वांचता प्रति प्राचीन अने उल्लेखनीय जणाई. प्रतिना १९४ पृष्ठ छे अने दरेक पृष्ठमां १३ पंक्ति छे. अंतमां लेखकनुं नाम आपेलुं छे.

॥ छ ॥ ० श्रीग(छ)र० हीरजीनिभंडाररक्षणीक सा० राघवनी लेखक भ० जीवराज ।

पृ० १९४ना पृष्ठभागमां लखेल छे के—पो० ३५ प्र० २६ ॥ खंभा(त) यतिना भंडारनी प्रति छे.

आभार-विधि

प्रस्तुत ग्रंथना संपादनमां सहायक थनार उल्लेखनीय व्यक्तिओमां पू० चिदानन्द मुनिजीओ मने सतत उत्साह अने प्रेरणा आपीने मारुं कार्य सरल बनाव्युं छे.

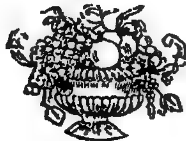
डॉ० हरिवल्लभ भायाणीजीओ (अध्यापक, भाषा विज्ञान विभाग, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद) पोतानो अमूल्य समय आपीने खास आ ग्रंथ माटे विद्वत्तापूर्ण पुरोवचन लखी आपी आ ग्रंथनुं गौरव वधार्युं छे, आ माटे हु तेमनो अत्यन्त ऋणी छुं. आज रीते प्रो० सुरेश अं० उपाध्याय (भारतीय विद्या भवन, संस्कृत संशोधन विभाग, चोपाटी, मुंबई.) के जेमणे मारा कार्यना अतसुधी दरेक रीते सलाह-सूचनो आपीने मने अत्यन्त उपयोगी बन्यां छे ते बदल हु तेमने भूली शकुं तेम नथी.

पू० मुनिश्री जम्बूविजयजी म० अने प्रो० अेफ. आर हाम द्वारा प्रतिनो माइक्रोफिल्म हु मेळवी शक्यो ते बदल तेमनो पण आभारी छुं.

संपादनना क्षेत्रमां हु अनभ्यासी होई क्षतिओ माटे क्षमा-याचना.

मुंबई,
ता ३-४-६७

—मुनिश्री मृगेन्द्रमुनि.



"प्रबन्धपंचशती"नी भाषासामग्री अने कथासामग्री

लेखकः—डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी

(अध्यापक—भाषाविज्ञान, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद.)

बारमी शताब्दी पछीथी रचावा मांडेला संस्कृत प्रबन्धो ओ मोटे भागे तो गुजरात-राजस्थानना विशिष्टपणे जैन रचनाप्रकार छे. 'प्रबन्धचिंतामणि' 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' वगेरे संग्रहोना प्रबन्धो उपरथी जोई शकाय छे के तेमां अेवी व्यक्तिओनो वृत्तांत गूथातो, जे व्यक्तिओ परंपराथी विख्यात होय अने जेमणे जैनधर्मना वृद्धि-विकास अने रक्षण-पालनमां स्मरणीय फाळो आप्यो होय. आमां जैन आचार्यो राजवीओ, मन्त्रीओ, श्रेष्ठीओ वगेरे जेवी इतिहास, पुराण के दन्तकथामां जाणीती व्यक्तिओनो समावेश थतो अने अे प्रभावक व्यक्तिओना चरित्रनी मुख्य विगतो अने सालवारी अथवा तो तेमना जीवननी कोई विशिष्ट घटनाओ, रसिक प्रसंगो अने टुचकाओ क्वचित् आलंकारिक भाषा अने शैलीनो पुट आपीने रजू करवामां आवतां प्रयोजन इतिहास आपवानुं नहीं पण प्रभावकता दर्शाववानुं होवाथी भार कथाना के दृष्टांतना तत्त्व पर रहेतो अने समय जतां, जेम प्रस्तुत संग्रहमां बन्युं छे तेम, लोक-प्रचलित के साहित्य-प्रचलित दृष्टांतकथाओ अने परंपरागत लोककथाओने पण प्रबन्धोमा स्थान मळ्तु गयु

धार्मिक व्याख्यान प्रसंगे उपयोगमां लई शकाय ते दृष्टिअे जाणे के तैयार थया होय तेवा आ संग्रहोमां भूतकाळनी अनेक शक्तिशाळी महान् व्यक्तिओअे जैन धर्मनी महत्ता अने गौरव वधारवा माटे करेलां कार्योनी वातो, उपरांत जीवननी सामान्य नीतिरीति माटे बोधप्रद होय तेवी घणीये लोकप्रिय कथा-वार्ताओ, प्रसंगो अने टुचकाओ पण अपायां छे

आ प्रबन्धसाहित्यनी संस्कृत भाषा पोतानी आगवी विशिष्टता धरावे छे प्रबन्धोनुं संस्कृत अे व्याकरणनी शिष्टपरंपराने मान्य अेवु विशुद्ध प्रशिष्ट संस्कृत नथी अे संस्कृत अेक प्रकारनुं लौकिक संस्कृत छे. तेमां तत्कालीन लोकभाषानो, तेना उच्चारण, व्याकरण, शब्दभंडोळ अने रूढि प्रयोगोनो गाढ प्रभाव पडेलो छे जेम जेम पाछलना समयमां आवता जईअे छीअे तेम तेम आ प्रभावनुं प्रमाण वधतु जाय छे, बौद्ध अने जैन अे बन्ने परंपरामां पंडितमान्य रूढ संस्कृतने बदले बोलचालना प्रयोगोना पासवाळु लौकिक संस्कृत वापरवानुं वलण हतु. विशाळ मध्यम वर्गने ते समजवु सरळ पडे, व्यवहारभाषा अने उपदेशभाषा वच्चेनु अंतर ओछुं थाय अने छतां उपदेश-भाषानो ऊंचो मोभो जळवाई रहे अेवा हेतुओ आ प्रकारनी 'सवकी संस्कृत' द्वारा सिद्ध थता.

प्रशिष्ट संस्कृतथी आ संस्कृत जुदी शैलीनु होवाने कारणे, तेमज मध्यम भारतीय-आर्य तथा अर्वाचीन भारतीय-आर्य लोक-भाषाओनां तत्त्वो धरावतु होवाने कारणे तेणे अनेक अर्वाचीन विद्वानोनु ध्यान खेंच्यु छे अने ते अनेक अध्ययन-संशोधननो विषय बनतु रह्युं छे संस्कृतना

प्रकाण्ड विद्वान् अने येइल युनिवर्सिटीना संस्कृतना अध्यापक सद्गत फ्रेन्कलिन ओजर्टने बीश वर्षना अभ्यासने परिणामे १९५३ मा "बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत" विशेना व्याकरण अने शब्दकोश प्रसिद्ध कर्यां जैन संस्कृत भाषा कोई प्रखर विद्वानना सतत अनुशीलननो लाभ मेळववा हजी सुधी भाग्यशाळी नथी बन्यु छतां तेनो अमुक अमुक पासाओनु, अथवा तो कथित कृतिओना प्रयोगोनुं अध्ययन समय समय पर अनेक अभ्यासीओने हाथे थतु रह्यु छे

जैन संस्कृतना महत्त्व तरफ विद्वानोनु लक्ष्य खेंची तेना जुदा जुदा पासाओ तारवीने अेक विशिष्ट अध्ययन पहेलवहेला प्रस्तुत करवानो यश अमेरिकाना महान संस्कृत विद्वान् सद्गत मोरिस ब्लूमफिल्डने फाळे जाय छे तेमणे सन् १९२४ मा जर्मन विद्वान वाकर्नागेल्नने समर्पित सन्मान ग्रन्थ Anudoron मा प्रकाशित Some aspects of Jain Sanskrit—आ लेखमा नीचेना जैन कथाग्रंथोमांथी विशिष्ट भाषासामग्री तारवी आपीने तेनी विचारणा करेली–

'अघटकुमार कथा' 'भरटकद्वात्रिंशिका' 'शालिभद्रचरित्र' 'अंबडचरित्र' 'धर्मपरीक्षा' हेमविजयकृत 'कथारत्नाकर' कथाकोश' 'पालगोपालकथानक' 'पंचदण्डछत्रप्रबन्ध' 'परिशिष्टपर्वन्' भावदेवसूरिकृत 'मल्लिनाथचरित' प्रबन्धचिन्तामणि' 'प्रभावकचरित' हेमचन्द्रकृत 'महावीरचरित' जिनप्रभचन्द्रकृत 'पार्श्वनाथचरित' 'रौहिणेयचरित' 'सम्यक्त्वकथासंक्षेप' 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' 'उत्तमकुमारचरित'

जैन संस्कृतनी केटलीक विशिष्टताओ अने लक्षणो पांच वर्ग नीचे तेमणे गोठवीने मूक्या छे ते पांच वर्गो आ प्रमाणे छे –

(१) गुजराती वगेरे स्थानिक बोलीओनो प्रभाव दर्शावता प्रयोगो

(२) प्राकृत शब्दसामग्री अने व्याकरणप्रयोगोनो स्वीकार अने तेमनु संस्कृतीकरण

(३) शुद्ध संस्कृत शब्दोनो पण क्वचित अतिसंस्कार

(४) संस्कृत व्याकरणसाहित्य अने कोशसाहित्यमांथी सीधो ज केटलीक सामग्रीनो स्वीकार

(५) केटलीक हवी पण सामग्री जोवा मळे छे, जेने माटे प्रशिष्ट भाषामां के स्थानिक बोलीओमां क्शो आधार नथी, जे विशिष्टपणे जैन अंश छे

ब्लूमफिल्डना आ दृष्टिपूर्ण व्यवस्थित लेखथी जैन संस्कृतना शास्त्रीय अभ्यासनी दिशा स्पष्ट थई अने पछीना प्रयासो माटे ते घणो प्रेरक बन्यो ते पूर्वे पण "उपमितिभवप्रपञ्चाकथा"ना संपादनमां पिटर्सन अने याकोबीओ विशिष्ट संस्कृत शब्दो अने प्रयोगोनी एक यादी भूमिकामां आपेली

पूर्णभद्रकृत 'पंचाख्यानक'ना तेमना संपादनमा हर्टेले, 'जैन गुर्जरकविओ'नी भूमिकामां मो. द. देसाइए, हेमचन्द्राचार्यना 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'ना अंग्रेजी भाषान्तरना जुदा जुदा खंडोमा हेलन जोन्सने असाधारण के विरल संस्कृत शब्दो अने प्रयोगो तारवीने अर्थ साथे आप्या छे प्राकृत अने जैन साहित्यना मूर्धन्य विद्वान आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येओ सिंघी जैन ग्रन्थमाळामां प्रकाशित हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश'नी तेमनी भूमिकामां (१९४३) जैन संस्कृत विशेना पूर्ववर्ती अध्ययनोनो ख्याल आपीने 'बृहत्कथाकोश'मांथी तारवेला नोंधपात्र प्रयोगोनी अेक विस्तृत सार्थ यादी रजू करी छे पण अमुक कृतिओ लईने तेमांना अमुक अमुक दृष्टिओ नोंधपात्र बधा शब्दो अने प्रयोगोनी पद्धतिसरनी यादी अर्थ अने

अर्वाचीन समान्तर प्रयोगो सहित रजू करवानो विस्तृत प्रयास भोगीलाल. जे सांडेसरा अने जे. पी ठाकरना Lexicographical Studies in Jain Sanskrit (१९६२)मां थयो. तेमां 'प्रबन्धचिन्तामणि', 'प्रबन्धकोश' अने 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'मांथी लगभग अढी सो पृष्ठ भरीने सामग्री आपी छे अनेक स्थळे मूळमांथी उद्धरणो, समान्तर प्रयोगस्थानो, व्युत्पत्तिबोध के अर्वाचीन भाषाओमांथी तुलनात्मक सामग्री पण प्रस्तुत करी छे. तेमना अध्ययननो आगळनो खंड पण तेमणे 'जर्नल ओफ धी ओरिअेन्टल इन्स्टिट्यूट–वरोडा'ना गोविंदलाल भट्ट स्मारक अंक (पृ० ४०६–४५६) मां प्रकाशित कर्यो छे. तेमां लगभग एकावन ग्रंथोमांथी सामग्री तारवीने आपी छे. प्रबन्धोनी तथा इतर जैन संस्कृत कथाग्रंथोनी भाषा लोकभाषाना प्रयोगोथी अेटली भरचक होय छे के अेक ज ग्रंथमांथी सॅंकडो प्रयोगो तारवीअे तो पण घणा प्रयोगो वणनोंध्या रही जाय आ दृष्टिअे सांडेसरा अने ठाकरे 'प्रबन्धकोश' मांथी तारवेली सामग्री साथे Jozef De'euअे तेमना Lexicographical Addenda from Rajasekharasuri's Prabandha Kosa (Indian Linguistics Turner Jubilee Volume II १९५९, पृ० १८०–२१९) अे लेखमां तारवेली सामग्री सरखाववा जेवी छे जोसेफ डेलेउनो लेख वधु पद्धतिसर, झीणवटवाळो अने सामग्रीना वर्गीकरण परत्वे वधु माहिती आपतो छे तो गुजराती वगेरे भारतीय भाषाओनो अने जैन साहित्यनी परंपरानो जे लाभ सांडेसरा अने ठाकरना कार्यने मळ्यो छे तेथी डेलेउने वंचित रहेवु पडयु छे. उपरांत बनेनी पसंदगीनी दृष्टिमां पण सारो एवो फरक छे बने प्रयासने एकबीजाना पूरक गणवाना रहे छे

'प्रबन्धपंचशती'मांथी अहीं आपेली सामग्री पण नि शेषकथननी दृष्टिअे तारववानो प्रयास नथी कर्यो, तेम करवा जतां अेक स्वतन्त्र ग्रन्थ ज तैयार करवो पडे. अहीं नमूना रूपे ज केटलाक शब्दो अने प्रयोगो आप्या छे. आमां केटलाक प्रयोगो सीधा कशा फेरफार विना गुजरातीमांथी संस्कृतमां लई लीधेला छे तो बीजा केटलाक स्पष्टपणे तत्कालीन गुजराती शब्दो अने प्रयोगोने संस्कृतरूप आपीने घडी काढेला छे. संस्कृतमांथी प्राकृतमां आवतां शब्दोना ध्वनिपरिवर्तननां जे व्यापक वलणो प्रतीत थाय छे, तेमने यांत्रिकपणे लागु पाडीने प्रचलित गुजराती शब्दनु पूर्वरूप कृत्रिम रीते घडी काढवामां आव्यु छे. तेमां खरेखरा मूळनी कशी चिंता नथी करी, तेम संस्कृत अने गुजराती विभक्तिसम्बन्धो वच्चेना भेदने अने बदलायेली अर्थछायाओ अने रूढिप्रयोगोने पण अवगण्या छे. आ दृष्टिअे ख्याल आपवा माटे 'प्रबन्धपंचशती'मांथी विशिष्ट शब्दोनी यादी आपवा साथे अहीं केटलाक गुजरातीमूलक रूढिप्रयोगो (तेम ज कोईक अन्य विशिष्ट प्रयोगो) नोंध्या छे

आमां मुस्लिम राजवीओ साथेना प्रसंगोनी वातमां फारसी शब्दोना प्रयोगो छे. जेम के— 'कलन्दर', 'कागद' 'खरशान' 'गोहरि' 'बीबी' 'भूत' 'मसीत' 'मीर' 'मुद्गल' 'मुलाण' 'मुशलमान' 'सुरत्राण' 'हज' 'हरीमज' इत्यादि.

'प्रबन्धपञ्चशती'मां आपणने अेवा पण अनेक शब्द मळे छे, जेमनो अर्थ अस्पष्ट के अज्ञात रहे छे. आनां विविध कारणो छे. संस्कृतीकरणने लीधे पायानु गुजराती रूप कळवु मुश्केल बने, तत्कालीन गुजराती शब्द अत्यारे वपराशमांथी लुप्त थयो होय के बोलीओमा ज प्रचलित होय, प्रयोग पूर्वना प्रबन्धोनी भाषामाथी लीधो होय पण पछीनी लोकभाषामां ते अप्रचलित होय, लहियाओनी भूलथी मूळ शब्दरूप विकृत थईने जळवाई रह्यु होय वगेरे.

'प्रबन्धपंचशती'मांथी मने जेमनो अर्थ बेठो नथी तेवा शब्दोनी ओक यादी जुदी तारवीने आपी छे व्युत्पत्ति के अर्थचर्चानी दृष्टिओ कशो विस्तार कर्यो नथी मुनि जिनविजयजी संपादित 'उक्ति-व्यक्तिप्रकरण' के 'औक्तिकसंग्रह'मां आपेली यादीओमां गुजराती-राजस्थानी शब्दो अने प्रयोगोनुं जे विशाळ पाया पर संस्कृतीकरण थयुं होवानुं जोवा मळे छे ते उपरथी कही शकाय के आ जातनी भाषा अने शैलीनी घणी लांबी परंपरा हती अने वर्णन माटे जेम वर्णकोमांथी, तेम भाषा माटे औक्तिकोमांथी केटलीक तैयार सामग्री मळी रहेती अने 'प्रबन्धपंचशती'ने तो, जेम वस्तुनी बाबतमां तेम भाषानी बाबतमां पुरोगामी प्रबन्धसाहित्यमांथी सारो एवो लाभ मळेलो छे अनेक प्रयोगो आगला साहित्यमांथी पण तुलना माटे टांकी शकाय तेम छे

जैन संस्कृत प्रबन्धोना अने कथाग्रंथो तथा टीकाग्रन्थोना संस्कृतनुं सर्वांगीण अने व्यवस्थित अध्ययन एक बृहद् प्रयास मागी ले छे तेमां कोश अने व्याकरण ओ बन्ने पासाओनो समावेश थवो जरूरी छे कोशमां नवा शब्दो अने नवा अर्थो नोंधाय अने व्याकरणमां उच्चारण, जोडणी, समास, शब्दसाधक प्रत्ययो नामिक अने आख्यातिक विभक्तिप्रयोगो, वाक्यरचना, रूढिप्रयोगो अने विशिष्ट कहेवतोनी नोंध थाय आमां सातमी-आठमी सदीथी लईने सोळमी-सत्तरमी सदी सुधीना साहित्यमांथी कालक्रम अने पायानी बोलीओना भेदने लक्षमां राखीने सामग्रीसंचय थवो जोईओ

गमे तेम पण प्राकृत-अपभ्रंशना अने विशेषे तो प्राचीन अने मध्यकालीन गुजराती राजस्थानी (अने हिन्दी)ना अभ्यास माटे प्रबन्धोमां अने कथाग्रन्थोमां, वृत्तिग्रंथो अने औक्तिकोमां अढळक सामग्री भरी पडी छे अने ओ दृष्टिओ-ते साहित्य अमूल्य खजाना जेवुं छे

उपरांत मध्यकालीन लोककथाना अध्ययननी दृष्टिओ पण आ प्रबन्धोमांथी घणी सामग्री प्राप्त थाय छे पंचतंत्रादि लोकप्रिय कथाग्रंथोमांथी घणी कथाओ 'प्रबन्धपंचशती'मां लीधेली छे अन्य लोक-प्रचलित के जैन परंपरामां प्रचलित कथाओ पण थोडाक फेरफार साथे अहीं स्थान पामी छे कथा घटकोनी परंपरानी तपास करनार माटे प्रबन्धसाहित्य जोवुं पण अनिवार्य गणाय

'प्रबन्धपंचशती'नी जे केटलीक कथाओने मळती कथाओ के घटको अन्यत्र जाणीता छे तेनो पण नीचे सहेज निर्देश कर्यो छे

आ रीते जैन परंपरानी दृष्टिओ तथा इतिहास अने दन्तकथानी दृष्टिओ 'प्रबन्धपंचशती'नुं महत्त्व होवा उपरांत, गुजराती भाषा अने लोककथाओना अध्ययननी दृष्टिओ पण तेनुं केटलुं महत्त्व छे तेनो कांईक ख्याल मळशे

जेमनो उपर निर्देश कर्यो ते (१) शब्दसूचि, (२) संदिग्ध अर्थवाळा शब्दो, (३) केटलाक नोंधपात्र प्रयोगो अने (४) कथाओ विशे टूंकी नोंध नीचे आप्या छे



शब्द-सूचि



अग्रे	२-१७, १८, ३-२, ४-९	आगळ
अङ्गरक्षिका	२५७-१, २	अगरखो, अेक प्रकारनुं बखतर
अङ्गीष्टक	६-१६ १७	अगीठु, तापणुं
अट्ट	१६६-३१	हाट (?)
अद्दागार पत्र	३८-१०	अद्दागरपान (नागरवेलीनु)
अणक्षक	१५२-२	सरखावो गुज० "अणख" 'अणकख' 'अदेखाइ' अेना उपरथी बनावेलुं व्यक्तिनाम (जुओ १५२-१०मां अणक्ख)
अधकल्ये	५५-५	आजकाल
अनस्ति (स्त्री०)	३१४-२९	अणाथ, अछत, अभाव, खोट
अंधल	२४-१३	आंधळो (प्रा. अधल)
अपभ्राजना	३३-१६	अवहेलना
अपलप्	७७-१८, २५	ओळवबुं
अपवरक	१३७-१७, ३४८-१०	ओरडो
अवोटिकाः	२७२-१	अवोटिया
अमत्र	८७-३०	प्यालो
अयोगोवरह	३४७-१	(?)
अररि	२९८-८	बारणानु पाटियु, फळी
अलवडी महिषी	२०४-११	अल्वाई, एक-वे मासना बच्चा वाळी भेंस
अवटु	२७३-२४	ओड
अवरक	२५४-२२	ओरडो
अवहीळना	१००-८, ९	अवहेलना
अवाह	२४२-२९	हवाडो, आवाह
अहिफीण	२४५-१४	अफीण
आ+कार्	४ २७	बोलावबु
आभछिटी (?)	२३५-१०	आभडछेट

आयाति	१०३ ४	आवडे छे
आलम् (कुन्म् आलम्)	३३-१५ २१	(कूडु) आळ
इङ्गिटकम्	२८-१६	अगीठु तापणु
इलिका	१७-५	इयळ
इष्टिका	३-९	ईंट
उकेशज्ञाति	४ १६	उपकेशज्ञाति, पोरवाड ज्ञाति
उत्घाट	३० १६, २०६-३५, २२९-२१	उघाड
उच्चै कृ	२५३ १०	ऊंचु करवु
उच्छूवसित	५ २	अंदरथी हवा नीकळी (?)
उच्छाल्	२ १२	उछाळवु
उज्जागरित	३२१ १३	जागवु
उज्वालित	४८-१८	उजाळी-घसीने उजळी करी
उड्डाह	२४-४, २५० २८, २७२-१५	निंदा (प्रा०)
उत्करटक	११०-१९, १२५-८	उकरडो
उत्खिल	२४८-४, ३१०-१६	उखेळवु
उत्तर्	१-१९, ३ ७८, ५-२३	ऊतरवु
उत्तारक	५४-२४	उतारो
उत्पाद्	४६ २७ ९५-११ २०० ८	उपाडवु
उत्पत्	२-२८	ऊपडवु
उत्सूर	१४-२२ ७५ २८, १२९-९ २१४ २६ २३० १३	मोडु असूरु
उद्गार्	३०१ २४	ऊगरवु
उद्दाल्	३४० ३	आंचकी लेवु
उद्धार	२४३ ७	उधार
उद्घाणक	६९ ५	गीरवी अडाण (अड्डाणक ने बदले ?)

उद्वलिता	२४६-२०	उगरी (सरखावो हिं० उबरी. सं० उद्+वृ०, प्रा० उव्वर)
उद्वस	३२-५	उज्जड
उन्दिर	३०५-२३, २४	ऊंदर
उपलक्ष्	३०-२२, २६३-९	ओळखवुं
उपवरक	२१५-१०	ओरडो
उल्लोचन	३४८-२७	उल्लोच, चंदरवो, छत
ऊर्ध्वस्थितः	१०-३	ऊभो ऊभो
ओलगा	२३४-२४	चाकरी
कच	११-२४	काचुं
कच्चोल	१४७-१०	कचोळुं
कच्चोलक	२९१-२५	
कच्छडक	२११-२४	काछडो
कच्छडक	२५६-१०	
कणवीर	२५३-१०	कणेर, करेण
कण्ठ	३०९-१३, ३३०-१२	कांठो
कण्डक	२४३-१, ३ ५	तावीज, मादळियुं (प्रा० कंडय)
कपिशीर्ष	९६-२	कणसलुं
कपिशीर्ष	३१२-२७	कांगरो, कोशीशुं
कम्बा	२५३ १०	कांब, कामडी, सोटी,
करणबार, करणवारकारक	२१३-७, २१६-३,	न्याय न्यायाधीश
कर्कर	२-२१	कांकरो
कर्त्	१४४-२ २०८-३०	कांतवुं
कर्णाटक	२४१-३ ४	देवळना चणतरनुं काम (?)
कर्ष्	२५-३, ९४-१७, १६८-२१. १८९-१०, २३२-७	काढवु
कलंदर	३४६-२९-३०	फकीर (अरबी)
कल्ये	४-९, १७०-२३	आवती काले
कल्हरी	८४-१२, १७९-१८	कालरी, घासनी गजी
काका	५५ ४ १०१-३०, १०२-१९	काका
कागद	२७-६ ९ १९४-२, ३१२-७	कागळ (फारसी)
काछिक	१२९ १७	काछियो

काणक	१२९-१७	काणो
कापोती	१३६-१६	कावड
कामुक (कार्मुक ?)	१६० २८ १६१-१	काम करनार नोकर
कापटिक	३८-२६	रखडतो भिक्षुक, कापडी
कामण	७८-२, ३१५-२	कामण
कार्वाटिक	१९६-६, १०, १२,	कषाडी कठियारो
कावडि	१३६-१२, १५	कावड
कावडिका	१६-४	
काहलिक	६८-३	(?)
काविक	१०७-६	(?)
कांसारा°	१९०-१	कसारा (स कांस्यकार प्रा कसार)
कांस्यताल	५२ २१	कसाळ, कांसाजोड
किरवार	३४७-१	करवार छूरिकाओ
कुंकुमपत्रिका	१९१-१७	कंकोत्री
कुतप	१ -८	कूडलु
कुदाली	२३६-१५	कोदाळी
कुरुकुल्ला	४५-२६	अे नामनी अेक देवी
कुद्दालिका	२३६-१५	कुहाडी
कुक्कुट	११-११	कूकडो
कुविन्द	१३७-५, ७, ८	शाळवी
कुहेडा	५४-३०	कोयडा
कूट	४-२, १०६-१२, २४६-२, ३२३ ११	कूडुं, खोटु
कूप	१९२-२	(तेलनो) कूपो, कूडलु
कूपिका	३५-५	कूपी
कूपिक	१४-२२	कूडलु ऊपाडनार (?)
कूपग्राहक	३७-१९	कूवामांथी पाणी काढी खेती करनार (?)
केळथ	५४-३२	केळवतु
कोकिल	२९८-५, ६	अेक कोळीनु विशेष नाम (कोळीनी अेक जात)
कोत्थलक	२७८-८	कोथळो
कोथल	२०८-२९ २०९-१	कोथळो

कोरउट्टिका (? कुट्टिका ?)	(सूत्र कोरउट्टिका ३१०-१५)	कोकडी (सूतरनी कोकडी)
कोरकवस्त्र	३१६-१८	कोरुं कपडुं
कोरणिकार	२४०-१८	कोरणी कोरवावाळो
कोल	२५-२	कोळ, जबरो ऊंदर
कोलिक	५६-१५	वणकर
कोष्ठिका	२०६-१४	कोठी
कौटुंबिक	३०-५, १६६-२१	कणबी
कौसुंभिका	२३६-१२	कसुंबी वस्त्रनो टूकडो (?) (बळदने शींगडे बांधवानो)
क्रम	१७१-८	पगलुं
क्रमेलक	३२८-२८, ३२९-४	ऊंट
क्रयाणक	९६-१३	वेचवानी वस्तु
क्षारा	१२-६	खारी
क्षिप्रचट	२९८-२७	खीचडो
क्षिप्रचटिका	३०-१०	खीचडी
क्षीरपूपिका	१६६-३	दूधनी पूरी (?)
खग	८२-२५, २७	विद्याधर
खञ्ज्	९८-१७	खजवाळवुं
खटिका	२५१-६	खडी
खड् खड शब्द	९४-२	खडखडाट
खडी	१२९-१	खडो
खनिः	३५-११	खाण
खरण्ट	३९-१३, १०७-९	खरडवुं
खरशान	४०-२७	खुरासान (फारसी)
खरशाण	४० २८	
खरसाणी वणिक्	४-१६, २२, २३	(?)
खलखलम्	२८३-२२	खळखळ अवाज साथे
खलि	३९-१३	खळ
खा	७० ३, ६	खावुं (सं॰ खाद्, प्रा खाअे)
खातिका	३४९-१८	खाइ
खाल (पु॰)	२८३-२२	खाळ

(नगरखाल	१५ २३, २४	नगरनी खाळ)
खासरक	११६-२२	खासडु
खिङ्ग	५० २७	बिट भडवो
खिराहिलिक (थिराहलिक)	२७१-२५	कोलसा (?)
खिलिका	२०२ ६	खीली
खुङ्खारक	२९८ १०	खोंखारो
खुण्टक	८५-२०	कथाह (?) (नट बिट अने खुण्टक ओवा सदर्भमा)
खेट्	३० ५ ९१-७ २०६-७	खेडवु (खेतर), हांकवु (गाडु)
खेल्	२५४ २२	खेलवु रमवु
गजवेळी	५५-१०	गजवेल
गञ्जरिका	७३-१३	गाजर
गद्दीयानक	१३० १९ १६१-६	गदियाणो
गलदुम्पक	१६१-१७	गळाटूंपो
गलमी	२०४-१७, १८	गळामां पहेरवानी सेर के माळा
गल्ल	३४१-७	गाल
गाल्लिक	१२९-८ ९	गाळा वांसफोडो
गाल्लिका	१४७ २७	वांझण
गाद्दह	२०४, १०-१५	गधेडो (स गर्दभ, प्रा गद्दह)
गिरिनार	४-५	गिरनार (स-गिरिनगर)
गुच्छनक	३१४-१२	गूछळुं
गुप्तिगृह	२७-२२	कारागृह (सर०-जू० गुज० 'गोतिहर')
गुफा	१५५-२२	गुफा
गूढर	४९ १	तबू (उपजावेलु संस्कृत "गुरुदर" पण अन्यत्र मळे छे)
गूहली	१८२ ९ ३५१ ४	गहुंली सुशोभन माटे फूल लिंपण वगेरेथी पाडेली भात रंगोळी
गूहलिका	१८४-१७ ३५१-३०	
गृहालिक	३१७-२१ २४	
गृहोलिका	१४१ १४ १५, १४७ ११ १७८ १०	गरोळी

गोमाणि	२०६-१३, ३२ }	गमाण
गोमाणिका	२०६-१५	
गोलानदी	१८५-१०	गोदावरी नदी (प्रा. गोला)
गोस्वामिन्	३-२७	महीपति, राजा
गोहरि	३४७-५	घोर, कब्र (फारसी)
गौरव	१७०-२३	भोजन वगेरेथी करातुं स्वागत
ग्रथिल	२१-१७, ५४-३, ७७ २५, २०९-२	घेलुं
ग्रन्थि	५७-१२	गांठडो, पैसानी गांठडी
ग्रहण-के मुक्तम्	३९-२७, ४०-८	घराणे मूंक्युं
ग्रास	६२-२४	गरास
ग्रैथिल्यं	७८-१	घेलापणु
घट्	८८-१३	घडवु
घटन	२४१-४	घडवु ते
घटक	२४१-५	घडनार
घन	२८-२२	घणु
घरटिका	२१४-२७	घटी
घर्घर	२३६-११	घूघरा
घसमसाट	८९-४	घसमसाट
घाञ्चिक	१३९-१६, १९२-३	घांची
घाञ्चिका	९६-२९, ९७-४, १६९-४	घाचण
घाणिका	१३९-१७	घाणी
घींघणी	२५६-१०	अे नामनो अेक छन्द
घृतवर	१६६-३	घेवर
घोटक	५३-८	घोडो
घोटिका	१९७-१३, १४, १७०-९	घोडी
घोलवटक	१४१-२१	अेक प्रकारनां वडां
चट्	६-१०	चडवु
चटितः	४४-२९	हाथे चड्यो, हाथ आव्यो
चट उत्तर	१६२-१	चड (अने) उत्तर (आज्ञार्थ)
चटक } चटिका	२३०-२२, २३	चकलो-चकली
चटी	१५९-१३	चकली
चटक	२१८-५	चटको

चटुक	३२२-८	चाटवो
चट्टु	३२२-६ २२	
चट्टक	३२२-२१	
चणिचणिका	३४६ ८	चणचणाट
चतुरिका	२७८ ८	चोरी (छत्री)
चन्द्रिका	८१-८ ३२४-१ २,५	चाँदी माथामां के शरीरे
चन्द्रिका	३३८-१९, २१-२३	चहतु नानु चांदु
चन्द्रोदय	३४८-२३	चदरवो वितान
चमत्कृ	२ १९ २१	चमत्कार पामवो चोंकवु
चम्पू	२७-१५ १०२ ४	चांपवु
चमटिक	३१-१५	चीमटु
चमट	६१ ५	
चवळ	२०६ १ ५	चोळा
चालहिका	३९-२६ ४० ४	चालडी
चाडिका	१०२ १७	चाडो
चारि	७६-१२ १३० ,, २०८-१३	चार (दोरती)
चाळनी	३४ ५	चाळणी
चाळिनी	२२० ९	
चिकचिकाय्	२६२-२	चकचकवु
चिक्खिल्ल	२८३ २३	कीचड, चीखल
चित्रकर	२० २१ २२	चितारो (सर० हिन्दी 'चितेरा')
चिमट	६१ ५ ३२३ ९	जुओ 'चमटिक
चुक्किता	१६१ १९	चूकी
चुकलडा	२३३-४ ५ ६	चाकळण, बे मोढा वाळो आंधळो सर्प
चुट्टक	१४१ २४	चोट, मुक्का वडे प्रहार (?)
चुणि	८२ १६ ३३१-२७	चण
चुण्ट्	१५२-६	चूंटवु
चुल्लक	३२ २५	चूलो
चुल्हक	९२-६ ७	
चूरिम	३२१ ५ १७	चूरमु

चेल्लक	१४-२ ५ २७१-२१	चेलो
चेल्लक=पल्लुं		
तुलाचेल्लक	१२२-१७	त्राजवानुं पल्लुं
चोक्ष	१६५-२१	चोक्खुं
चोपड्	१४२-१	चोपडवुं
चैत्रयष्टि	३२०, १२-१४-१५	मूरख, गमार
छगण	१५८-१२, २११-२४	छाण, १६९-३ छाणुं
छत्रिका	२२८-१४	छत्री
छत्रम्	६-२०, १२-३, १६९ ३, २०७-१, ३२१-१४	छातुं छातुं
छाया	६२-७, २९०-२, ३२८-२	छाय
छार	१४५-९	राख
छारपुञ्ज	१०१, १३-१४	राखनो ढगलो
छिक्का	११४-२	छींक
छिक्का	६७-१५	
छिम्पिका	४९,२१-२३	छीपण (कपडा पर छापकाम करनारी स्त्री)
छुट्	२७-११, २९-१४, १६६-२३ ३५१-३१	छूटवुं
छोतरक } छोत्तरक }	छोतरुं आम्रछोत्तरकं १७१-२३	केरीनुं छोतरुं
छोति	५५-३७	छूताछूत, आभडछेट
जड वस्त्रं	३१६-२०-२२,	जाडुं कपडुं
जडित	२०२-७	जडेलुं
जन्मपत्री	२७४-२९	जनमोतरी
जम्पाण	९६-२७	ठांठडी
जालि	३५-२५	पीलुडीनुं जाळुं
जिम्	२-१, ३-१२, २०६-१०	जमवुं
जी-जी कृ	१०२-५	'जी जी' करवुं
जुहार	१०२-१९	जुहार, वंदन
जेमन	२०४-१७	जमवुं ते
जेमनवार	११६-२९	जमणवार
जोत्कार	२०६, ६-१४	नमस्कार, जय जय
जोत्कारं कृ	३-२२	नमस्कार करवो
ज्ञ	१९-३, ४, २५-२०	ज्ञानी

ज्योतिष्कक	१७१–२० १७२–१	जोशी
झगझगायू	१५८–९	झगमगवु
झगटक	४ २१	झगडो (सिद्धहेम ८-४-४२ उपरनी टीकामां झकट''अेवा रूपे आपेलो छे)
झम्पा	१२९–२५	कूदको
झर	२– ६	झरवु
झल	१७१–२४	जळवु दाह थवो
झूर	२०, ९	झूरवु
झोंका	१४ ७	झोळी
टङ्कक	४, ६–११	सिक्को (सरखावो गुज० टको' व टाका', व टकशाळा)
टालि	१०७, २–३–८	टाल
टीड	३६–२१	तीड (देश्य 'तिड्ड')
टुम्पक	१६१–१७	(गळा)टूपो
टोकरक		टोपलो (हिन्दी टोकरा')
वंशटोकरक	१३८–२४	वांसनो टोपलो
टोडर	४५–२१ ३५०–२३	तोडो
टोप	२५७ १–२	अेक प्रकारनु शिरस्त्राण टोप
टोपिका	२ १२–१४	टोपी
टोहन	११ –१	टोचु ते, पक्षीओने टोचो करीने उडाडवा
ठीकरी	१३०–२२	ठीकरी
ठुण्ठक		ठूठु
वृक्षठुण्ठक	५०–१०	झाडनु ठूठु
डाकिन	२०६–२२	डाकण
डोक्कर	२०८ ९	डोकरो
ढल	१४५ १९–२२	ढळवु
ढाल	७७ १२	ढाळवु
ढालन	१५८ ८ २३६–११	ढाळवु ते
ढकन	४ ८	ढांकवु ते
ढंकनिका	३५०–४	ढांकणी
ढीकी	२ २२	ढिक्का

ढेढ	२५-२६, १०९, २८-२९ १६५-१९, २५०-२८	ढेढ
ढोल	१०१-१	ढोल्वुं
तटी	२८-१	तोफानी नदी, दुस्तटी,
तडफडायमान	२७१-४	तडफडतुं
तनुगमनिका	२३३-२९	जमीन पर वहेता वरसादना पाणीनो नानो प्रवाह
तप्ति	२९९-२	चिंता, पंचात (प्रा० तत्ति, जू. गुज ताति)
तमलगक (?)	३-९	'तमंग' के 'तवग' नामनो
लंगक (?)	३-१०	किल्लानो बूरज जेवो भाग (?)
तम्बोल	२९-२३	तंबोल (सं. ताम्बूल)
तर्णक	३६-१७	वाछडो
तलहट्टिका	१९०-२	तळेटी
तलिकातोरणबन्धन	२००-१७	तळियां तोरण बाँधवां
ताजनक	३४६-४	ताजणो, चाबुक
तुडाटिका	११२-८	तगोटी (नानो तंबू)
तुरी	२२४-४	वणकरनुं वणवानुं अेक साधन (देश्य 'थुरी' 'तूरी')
तुलसी	११६, ८-९-११-१५-१६	तुलशी
त्रपु	१३०-१९	कलाई
त्रपुसी	१०७ ४	काकडी
दण्डक	२१०-२७	केडो, मार्ग, पगदंडो
दवरक	१६२-१४, २९५-४	दोरो
दवरिका	९६ २	दोरी
दारिद्रत्व	१८६-३१	दळद्दर, दळद्दरीपणुं
दीनार	३-२१	अेक सिक्को
दीपवर्तिक	८८-७	दीवेटियो
दुर्गा	१७२, १४-१६ २००-२५, ३१२-३	समळी
देवगृह	२ २८	देरूं
द्रह	७०-२६	धरो (सं. ह्रद)
धटी	३१२-१६	धडी, वजननुं अेक माप
धाटी	७३-२३, ८३-३	धाड
धीरा	६७-१०, २१३-१८	धार (स्त्री.), धीरज

धुरि	४४-२६ १६५-२६	सौथी आगळ, सौथी पहेलो (सर गुज धुरथी)
धूरिधावक	२३९-७	धूळधोयो
धोरणा	१००-१०	सतत धारा
धौतक	१६२-२२	?
धौतिक	१७, १५-१६ ११९-४, ३४६-१	धोतियु
ध्रुवक	२९८-१५	धूवको धुमाको
नक्र	१५२ ८	नाक
नवडाकारेण	१० १४	नवडाना आकारे
नाटक	५३-२४	नृत्य
नाणावटी	१९१ ९ १०	नाणावटी
नात्रक	२२-७ १३४ ७, १३५-१४	नातरु सगाईसम्बन्ध
निन्दन	३०-५	नींदण करवो ते (स निर्+दो)
निर्घाट्	७०-२	काढी मूकवु
निश्रेणी	२४६-८	नीसरणी
निःसरणी	२४६-९	
नेत्रक	१४३-१३	धोती
नौवित्त	२४३ १७-२९	वहाणवटी
पक्वान्न	८-११	पक्वान मिष्टान्न
पटकुटी	४९-१	तंबु
पटह	३४ ६	पडो, घोषणा करवानो ढोल
पट्टकः	५३ २२, १६७-२३	पाटो
पट्टकूल	३५-१४ ५५-२१	पटोळु
पट्टयक्ष	२१६ ५	पटेल
पण	२४६ ४	पण प्रतिज्ञा
पतद्ग्रह	२ १	पात्र वासण
परिणेतृ	२०० ५	परणेतर
परिधाप्	४ २४	पहेरामणी करवी
परिवारित	२११-२७	परवारयु
पर्षद्	२-५	परिषद्
पाखण्डी	३९-१४	पाखण्डी, ढोंगी धर्मथी छेतरनारो
पानीयहारिका	२-१७, १६८ १०-१२	पानीयहारी
	२१० २६-२७	पाणियारी, पनीहारी
पापर्धि	२९-२०, २१९ ८	शिकार

पार्श्वे	१-१२, ३-१८ ४, ११-१९	पासे
अेकस्मिन् पार्श्वे	२-२४	अेक बाजु
पालनक	१६९-१५	पारणुं (बाळकने सुवाडवानुं)
पित्तल	१५८, ४-६	पित्तळ
पिप्पल	१६६, ७-८-९	पीपळो
पिप्पलवृक्ष	८३-२४	पीपळानुं झाड
पिप्पलाद	२९-३०	पिप्पलाद (विशेष नाम)
पीठक	१९२-२	पीठुं
पूजारक	३४६-२०	पुजारो
पूळक	१४७-१८, २९९-५	पूळो
पृष्टि	८६-५, १००-१४, २१५-१६	पीठ
पृष्ठि	४२-२	
पृष्ठवाह	९३-८	बळद
पेटा	८४, २३-२४, १३४-९	पेटी
पेटिका	५५-१९	
पोतिका	३३९-२०	पोतडी
पोषि पोसि	९१, ७-१३	गाडु हांकवानो शब्द (सर० पोइस पोइस)
पोलत्व	७८-५	पोल
पोटलिक	१४-२२	पोटलुं उपाडनारो, पोटलियो
पोट्टलक	३४३-९	पोटलुं
पौषधशाला	१८४-२४	पोशाळ (उपाश्रय)
प्रगे	४७-६	वहेली सवारे, पहो फाटतां, (जू० गुज० 'प्रहि')
प्रति (स्त्री.)	१९३, २५-२६, २०३-२१	हस्तलिखित प्रत
प्रतिकार	५५-१०	पडियार, म्यान
प्रमाद्दि भूप	५५, १६-२०	परमर्दी राजा
प्रमिला	३२ २२	निद्रा
प्रस्तर	५-२४ ३४०-२	पथरो
प्राघूणक	३२२-८	परोणो, अतिथि
प्रातिवेश्मिक	१२९ १०	पाडोशी
प्राध्वरमार्ग	२१४-१३	पाधरो रस्तो
फालक		आटी

सूत्रफालक	२००-१८	सूतरनो आंटी (सर० 'फाळको')
फुल्लक	२६ १९-२० २३-२४	फूल
फेत्कार	६१-१०	फु फवाडो
फेर्	२५३-१०	फेरववु
बजरिका }	१०९-२८ }	बाजरी
बजरा	१०९ २९ ११०-१ }	
बाउलक	५३ १४ २०	बावळ
बांठ	१८६-३	बांठियो, वामन
बाहिरली	११४ ३०-३१	बहारनो
बाह्याली	२४७ २०	घोडाने खेलाववानो माग (जू० गुज० बाह्याळी' 'बाहियाली' पण मळे छे)
बिळालिका	१३९ १८-१९	बिलाडी
बीटक	४८ २६-२७-२९ }	(पाननु) बीडु
	९५-११ २०९ १६-१७ }	
बीबी	१८२ १३	बीबी (फारसी)
बुस	२७४-२०	भूसु, फोतरां
बेडी	२३३-२०	होडी
बोक्कट	१४७, १८-१९-२०-२१	बोकडो
भुण्ड	२७१ ३	हूंडु ढोंडु
भड्	२८८-१९	भूडवु
भट्ट	५०-२७ १६६-२१	भाट
भड्	६८-२६	भडवु युद्धमां अेक बीजा साथे भडवु
भण्	७१ २० २०३-१८	भणवु
भण्डन	६८ २२	भांडण, युद्ध (प्राकृत)
भरटक }	१७८ २५-२७, २५९-४ २५१-२१	} भरडो (शैव साधु के पुजारी माटे कुत्सावाचक संज्ञा)
भरडक	१७८-२६	
भलापित	२६४ ३	भलाववु
भसकवर	२३४ २५	भिस्ती
भक्षिका	८३ १० १३	वमण
भाण्डागार		भण्डभंडार
भामी	२०८ ४	भामी

मास्मिक	१६५-१८, २७	'डोळी' अेटले के देव, चांडाक (सं० मम्मा)
मारपट्ट	२७९-३, ३५१-१०	मारवाटियो, पाटलो.
मारिका	३१४-२५	मारी
मिल्लपाली	८९-२१	कुटार भीलोनुं झाडुं
मूवः	२-२५	बुत, मूर्ति (फारसी)
मूतस्थानक	२-२७	देवस्थान
भ्रावृज	१०२-१९	भत्रीजो
मक्षिका	८३-५	मांखी
मञ्जरी	३०६ १५-१६	(कूकडानी) मांजर
मठवासजिका	१६५-२२	मठवासिनी
मठवासिका	१६५-२८	
मठी	१६७-१५	मढी
मढ्	२३२-११	मढवुं
मढि	२५१-१०	मढी
मढी	७१, १६-१७	(सं मठिका)
मण्ड्	३-२९, ६-८	मांडवुं, गोठववुं
मत्त	२११, १२-१३	मातो
मत्स्यबन्ध	१०९, २-४	माछी
मत्स्यबन्धक	३३०-७	
मदन	६, ९-११-१२-१३, १७६-१५	मीण (प्रा. मयण, सं. मदन)
०मध्ये	३-१९, ६-२०	०मां
मन्द	१०२-१४	मांदो, रुग्ण
मर्कोटक	३१८-२५	मकोडो
मसीत	२-२३, ३४६-२८	मशीद (अरबी)
मसीतिका	२, २३-२४	
महानुभाग	११-१३	महानुभाव
माछिक	३०५, १३-१६	माछी
मात्रिका	२०३-२८	वर्णमाळा, मातृका
मात्स्यिक	१४०-६, ३०४, १९-२०	माछी
मान्	१३२-१	मानवा राखवो
मानक	३१-४, ८५-१२, २९८-२८	माणुं
माम, मामक	२०६ ६	मामो
मार्ग	१७-१७	मांगवुं

मार्ळक	३२७ ३०, ३३०-२३	माळो
माडिक	६६, १२-१३	माळो
माळिका	६६, १२-१३	माळण
माहिळ्ळो	११४-२०	माहळो, अंदरनो
मिळ्	१२-६	(ने) मळ्वु (प्राप्त थवु एवा अर्थमां)
मिष्ट	२३९-१२	मीठु
मीणाकाराः	१८९-३१	मीनाकारी करनारा
मीर	१४३-१५	सरदार (फारसी)
मुकुटवर्धननृपा	२७९-७	मोडवधा राजा (जू० गुज० 'मडहावा')
मुक्त	४२-११	मूकेलु
मुत्कल	५-१० ८२-२७	
	१६३ १४, २१८-२१	मोकळुं छुट्टु
मुद्गल	४०-२७	मोगल (तुर्की)
मुल्लाण	२ १७-१८-२०, ३४६-१५, ३४७-६	मुल्ला (अरबी)
मुल्लाणक	२-१२	
मुसलमान	३४७ ३	मुसलमान (फारसी)
मुष्टि	५५, ८-२०	मूठ
मूढक	४५-९	मूडो, बो मण
मूढक	६, २१-२३-२४ १९० २३	
मृत्स्ना	५०-१३ २७४-२०	माटी
मृष्टा	३ १४	मीठी
मेळ	११३-६	मेळ
मोचिक	१६६, १४-३०	मोची
मोट्	१५२-८	मरडवु (हिं मोडना)
मोटिम	१५२-२	मोटाइ, मोटम
मैनिक	१४०, ९-१२-१९	माछीमार
यानपात्र	५-२२	वहाण (प्रा जाणवत्त)
युज्	२५-२०	जोडायेलो सहित
युगन्धरी	२८-३०, २९-१, ३१८-१९	जुवार
युगाम्धरी	२०० २५	घूसरी
रक्ष	३१-२०, ४१-३	राखवु
रक्षपाळ	२२३ ३	रखवाळ
रक्षा	१ ७ १२-१३	राख

रट्	४२-२३, १३४-१६	रडवुं
रन्धनी	१२-३	रांधनारी, रांधण
रबारिक	९२-१२	रबारी, ऊंटनो रखवाळ
रक्षा	२४५, १७-१८, २७१, २१-२२	राख
रळ्	१११-२६, २१२-९	रळवुं, कमावुं
रसवती	८-१२, १६६-४-५-१८-१९	रसोई
राउळ	५४-२९	राजकुळ, राजदरबार
राजपाटिका	७१-२४, २८०-८	राजा फरवा नीकळे ते, रथवाडी
राटि	३२४-२०	राड, बूम
राटि	२९८, २३-२८	झगडो, कळह
राणिमा	२३४-२६	राजत्व, राजपद
राव	८५-३०	राव
रिंख्	१६९-१५	रींखवुं
रिञ्छः	२३, १-२-३	रींछ (सं. ऋक्ष)
रीरी	३५१-८	पित्तळ
रुत	७४-२८, २०८, २९-३० २०९-१, २४३-२७, २७८-८	रु कपास
रोक्क	२४३-६	रोकडुं
रोक्यद्रव्य	७२-२६	रोकडुं द्रव्य, रोकड
रै	४७, ३-७-८	धन
रोर	२८९-८	भिखारी, निर्धन
लक्ष्मी	४, ११-१५	धन
लग्	३४४-२३, ३४८, २३-२६	आग लागवी, बळावुं
लग्न	३४८, २३-२६	आग लागी, बळयुं
लगाप्	१०७-१२	लगाववुं
लघुनीति	२०९-७	लघुशंका
लपनश्री	१८६-१७ }	लापशी
लप्पनश्री	२०६, १४-२०-२२ }	लापशी
लहन	२४६-८	लेणु
लहनक	१२९-२६, १६१-२५	लहेणुं
लिप्सय	२८३-२३	लपसवुं
लिम्ब	६-१३	लीमडो (स. निम्ब)
लिलासुः	५०-५	लेवानो इच्छावाळो ('ला'='लेवु 'नु' इच्छादर्शक वि०

लुट्	१३३-३	लूटवु
लुप्	१६४ ५	लूछवु
लेउआ कौटुम्बिका	१९०-१	लेउआ कणबी
लेखशाला	६५ ९	निशाळ
लेखशालिक	६५-५	निशाळियो
लोट्टक	४४ २८	लोटो
लोमाशक	३३६, १-६-८	लोमडो, लोंकडीनो नर
लोहडिक	१६४ १५	लोढानो सिक्को (?); ओछामां ओछी किम्मतनो सिक्को
वपणि	४-७	वण (देश्य 'वपणी' =कपास, दे० ना० ६-८२, ७-३२)
वणन	९६-२	वणवु ते
वधूटी	३४ ११ २०७-२६	पुत्रवधू
वनक	१२०-१३	वणकर
वनकपुष्प	७४ २७	वणनु फूल
वन्योल	३४६ २९	वटोळियो
वल्	७-३ ८८-३ १६४-१२	वाळवु
वर्त्मभंग	२४३ २३	वाट (मार्ग) पाडवी ते
वधक्	३ १९, ३ २६, ४ ६	वधाववु ते (दीवो) ओलववो ते
वय	२-१३ २ २०, २-२९	सारु उत्तम सरस
वल	५-१०	पाछु वळवु
वल्ल	९७ २७	वाल
वल्लक	९७-२८	
वसहिका	२६९ २२	उपाश्रय (स वसति, प्रा वसहि)
वस्कारिका	५, २२-२३-२४	वखार (स उपस्कर)
वहिका	५४, २-३ २४३-५ २८१-२७	वही
वाटक	२० ११ १३	वाडो
वाडी	१०७, ४ ५	वाडी, बगीचो
वारक	८-१२	वारो
वारके	५४ २९	वारोमां वखतमां
वाध्र	७० ९	वाधर
वाडीनाह	३५१ ६ ७	अेक व्यंतर

वायनिका	१४-७, २३-४, १८९-१०-११-१२, १६१-२२, १९६ १८, २३०, १५-१७, ३०६-१०	वासली (पैसा राखवानी)
वाह्	२८-२६, ९६-१६	
	१७२-२७, २४४-२०	छेतरवुं
वाहन	७३-२०	वहाण
वाहनिका	६१-२५, ६२, २-३-६-१३-१६	मोजडी (जू. गुज 'वाहणी', सं. उपानह्-+इका, प्रा वाहणाओ)
वाहरा	८५-७, २०९-२३	वार, मदद, कुमक
विगोप्	१२७-१७, २४५-१९, ३२६-२१	वगोववु
विचट्	२१५-३०	उखडवुं, छूटुं थवुं (हि.बिछडना)
विचाले	८४-२८, १७७-१	वचाळ, अधवच
विटाल्	१६५-२८	वटाळ करवो, वटलाववुं
विण्टनक	५५-२१	वींटणुं, वेष्टन, वीटेलुं वस्त्र
विध्याप्	५१-६, ३४८-२६	बुझाववुं
विलक्ष	८५-२९	विलखुं, छोभीलुं
विलगित	२१५-४	वळगवुं
विशुष्का	२००-२१	वसूकी गयेली
विश्वलप्रिय	२१५, २४-२६-२७-२९-३१	वीसलप्रिय नामनो द्रम्म
विस्तर	८४-८	भपको, आटोप (प्राकृत 'विच्छड्ड')
विहर्	६-२३, १०४-२७	
	३१४-१०, ३१६, १८-२२	वहोरवुं
विंशोपक	५०-१	ए नामनो नानो सिक्को (जू. गुज. वीसा. सर. अर्वाचीन प्रयोग "वीश वसा" "सो वसा")
वृद्ध	४, १-२-४-६	वडुं मोटुं (हिं बढिया)
वेलाकूल	५-२१, १४८-५	बंदर (तेमांथी गुज 'वेरावळ')
व्यवस्था	१६३-२३	वीगते
व्यापार	२३८, ७-८	वेपार
शकुनिका	४१-२४, ३५०-२२	समडो, समळी
शण्ड	५८-१ १४१-२ }	सांड, सांढ
शण्ढ	१ ६-१० }	(सं. षण्ड.)
शव	२९७-४	शब (सं. शव.)

शाड्वल	*९४-४ १०७-२६	झोलो (स शाड्वल)
शाकापति	*१३६-२८	साळवी
शिक्षय्	११३, ५-७	शीखववु
शिलकुट्टक	१५५-१५	सलाट
शिलापट्टका:	५१-२६	सलाट
शुंडक	३१२-१	सूंढलो
शुण्डलक	*१३९-१६	सूंढलो
शृगाल: श्रेष्ठी	४४-१७	सगाळ्शा शेठ
शेर	३०-४	शेर
शोधि	१३८ १५	शुद्धि (प्रा सोही)
श्राद्ध	५ ६	श्रद्धालु जैन श्रावक
श्राद्धी	३१४-१५	श्राविका
श्रीकरी	२३६-११	श्रेक जातनी पालखी
श्वभ्र	७२ २८ ७३-१, ७५, ८-९	नरक
श्वभ्रपात	७८-१४	नरकमां पडवु
षष्ठित तुल	११-१५	साठी चोखा
सुषद्रुम	३२८, १६-२४	शरीरंना शियाळवु घरेलु प्रभावक नाम
सकालम्	३९-२३ }	
सकाल	१४-२२ }	वहेलु
सकुल	२१७-१२	सांकळं
सज्जीक	३३-२२, ११५-१३, ३५०-८	साजु करवु
सडक	२०-२९	अंगुठो अने पहेली आंगळी
सत्क	१०८-११	०नु
सन्दूरिक साप	३५० १९-२०	सींदूरियो साप
सर्षि (स्त्री)	३५० १	सर्षि
समक्षिका	८०-२५, ८१, १५-१६-१७	वाजनी मादा, श्येनिका (मर०—गुज० समळी)
समा (स्त्री)	४-२२	सम, सोगन
समेति	१०३-३	आवडे छे
सम्भाल्	१७-२४ २७३ २३	संभाळवु
समुलं	२-१३, ६-१८	साजु
सरट / सरड / सरढ	६८, १५ २२-२५-२८	सरडो काकीडो

सर्वावसर	५५-४	दिवाने आम
सहेलक	३४५, १०-११-१२	शेळो
साकेतनपुर	४७-२	साकेतपुर
सातूआ	१८५-१३	साथवो
साधु	४-९	शाहुकार
सारा	६९-२६, ९२-२२, १०८, २०-२२, १३०-८	सार, सारसंभाळ मदद
सिंदर	१९५, ९-१०	सींदरु
सिन्दूरिका सर्पः	४५-२१	सींदूरियो साप
सिमिसिमायमान	२७१-४	समसमतु (अप० सिमिसिम्)
सीमाल भूप	२५७-१२	सीमाडियो राजा सीमाडा पासेना राज्यनो राजा
सुकुमारिका	१०४-८	सुंवाळी
सुखासन	५४-४	पालखी
सुरङ्गा	५३-१३	सुरंग
सुरत्राण	२, ११-१५, ३, १-३	सुलतान (अरबो)
सूघरी	१५९-१३	सूवरी
सूचिक	१९२-३	सइ, दरजी
सेजवाल	१८२-२१, २३६-१२	अेक प्रकारनी पालखी
सेतिनका	८५-११	सेतिका, अेक माप
सेर	८७ २३	शेर
सेरिका	६५-११	शेरी
सेल्लहस्त सेल्पहस्त	९६-१९ ९६-२१ }	दंडनायक (सं० शल्यहस्त, प्रा०-सेल्लहत्थ अप०-गुज०-'शेलत')
सेवधि	४९-२५	खजानो, (सं० शेवधि)
सोनी	१९१-६	सोनी (सं० सौवर्णिक, प्रा० सोवण्णिअ)
स्कन्धिक	९६-२७	खांधियो
स्त्यानघृत	२५५-८	थीनुं घी
स्थग्	४४-५	ढांकवुं

स्थगी	२६६ २५-३०	पाननो बाडवो उपकरणार
	२६७, १-७	सेवक=तांबूलवाहक
		(जू गुज थइयाइत)
		('स्थगी' 'बाडवा'ना अर्थमां होय छे-जेमके 'तांबूलस्थगीधर' अही जेवा सेवक माटे वपरायो लागे छे)
स्थक (न)	२३, ४-६-७, ८५-१२ ११४-२६, १६८-१७ २४०, २४-२५	फाटियु के बीजो कोई सिक्को (?)
स्फेट्	१३-८, ८३ ४	फेडवु'
स्वक	१२२ ७	सगु
हक्क्	५-१४, ६-१४	हाक मारीने, धमकावीने काढवु'
हज	२४२ १७, २८, २९	हज, मक्कानी जात्रा (अरबी)
हडि (हिडि)	२०१-२५, २०२, १-३	हेड, पगमां जडावी लाकडानी जेक जातनी बेडी (शृंखला)
हद्	१२३-८	हगवु
हरीमजद्वीप	५-२२	होरमजनो टापु (फारसी)
हल्ल् मल्ल्	१०० १८	हाल्वु माल्वु
हला (स्त्री०)	१०० १७	हल
हाडि हाडि	२०२-१४	हड हड
हिण्ड्	१३८ ८	हींडवु , भमवु
हिण्डोला-खट्वा	२१५-९	हींडोळा खाट
हृदित	१६८-८	हग्यो, मळत्याग कर्यो (सं हदित)

(१) संदिग्ध अर्थवाळा शब्दो

कपरिक	२५२-१८	अेक प्रकारनी गुप्त नोंधपत्रिका (राजशेखरना 'प्रबन्धकोश'मां १०, २७-२८मां "कपरिका" अने २४, १९-२०, २५-२६, २५, १-२ मां "कपलिका" छे)
ग्रंथि छ	२०५-२५	शोक्य उपर ते नडे नहीं ते माटे नवी पत्नी तरफथी गांठ बांधवी (सरखावो 'प्रबन्धचिन्तामणि' १०४-२९, १०५-४)
ग्रामहट्टकः	१७, २३-२४	गामनो मुखी (?)
चुरडक-		मोरियो
तक्र-चुरडक	२१४-१७	छाशनो घडो, के मोरियो (?)
छल्लि	५०-१३	'छल्लि' छाल (?) ("छल्लिछिन्नद्रुम इव")
छीत्कारय्	२७४-१०	अडकाववुं, स्पर्श कराववो. (०सर प्रा. "छिक्क"=स्पृष्ट.)]
जिह्वयाल्लिक (?)	२२१-२०	(सर्पने मारवा माटेना औषधि-प्रयोगना संबंधमां 'जिह्वयाल्लिक' उपायनी वात छे)
टुपरिका	२३३-२९	टोपी (?) (वरसादना जलप्रवाहमां नानो बालक कागळ वगेरेनी जे होडी तरावे ते माटे "टुपरिका" प्रवाहमां वहेती मूकवानी वात छे.)
त्राहिफ	१७७, २०-२१-२४-२५	रोपो (?) (मञ्जिष्ठत्राहिकानि=मजीठना रोपा ?)
दण्डालक	५९, १४-२०-२१	सोनीनो अेक घाट (?)

दशाघपूजा	३८, ७-८	प्रहार करवो के थूंकीने अप-मान करवु (?) (अपमान करवा माटे माथा उपर "दशाघपूजा" कर्यानी वात छे)
निछारक	११७-२६	घरनो अेक भाग (?) (कुशील स्त्री घरमां निछारकमां जतां पण बीअे त्यारे नवीना खूणा खांचरा पण जाणे अेवी वात छे)
पतीयानका' पतीआनका	२४०, २३-२५ २७२, १-७	जेमनो जमीनमां भाग छे के जमीन के मन्दिर उपर परंपरागत भोगवटानो हक छे तेओ (अेक सदर्भमां जमीन उपरना हकनी वात छे बीजामां मन्दिर उपरना हकनी)
पदक	२४७-२५ (?)	ढाकडीने 'पदकमूता' कही छे
पयवसाय (के 'पयवसाय्')	२८-११, ११२-७	जेम तेम करीने समजाववु [अेक सदर्भमां पिताने पराणे समजावी चंदनकाष्ठनु गाडु भरीने वेपार माटे परदेश जवानी वात छे अन्यत्र पति सासु-ससरा अने मात-पिताने गमे तेम समजावीने पतिनी साथे परदेश जवानी वात छे 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह" ८२, २०-२१ मां पण जेनु घर बळी गयु छे तेने लोकोअे समजावी लीधानी वात छे सांडेसरा अने परीख 'पय वस्याप' होवानु सूचवे छे ते मूळनी दृष्टिअे कदाच विचारवा जेवु, पण जोडणी अही पण 'पयवसाय्' छे]

पल्लयन पल्ययन }	१४५, १०-११	वारदान(?) (सोनुं भरेली गुण खाली करीने बाकीना वारदानने "स्वर्णपल्लयन" कह्युं छे)
पादशीर्षिक	२७४-१०, ३४६-१	पगना मोजां के पगे पहेरवानुं कोइ वस्त्रविशेष (?) (अेक स्थळे पराजितने 'पादशीर्षिका'थी स्पर्श करीने मानभंग कर्यानी वात छे. अन्यत्र पगरखां माग्या पछी 'पादशीर्षिका' माग्यानी वात छे)
प्रक्षालन	३४२-१६	(नख) कापवा (?) (नापित शेठाणीना "नखप्रक्षालन" माटे आव्यानी वात छे.)
प्रथमालिका	१०४-९	पहेलुं भोजन के सवारनो नास्तो (?) (विवाहमां बाळकोने सवारमां सुंवाळीनी 'प्रथमालिका' आप्यानी वात छे)
प्रशक्किका शिक्किका	१७८-२ १७८-६ }	जैनसाधुनुं अेक उपकरण (प्रतिलेखना करती वेळा 'प्रशक्किका' उतारवानी अने उदर 'शिक्किका' खाई जवानी वात छे)
बालि	१६७-१५	वालिका (?) (योगिणे 'वालि' की स्थाप्यानी वात छे.)
बूची	२०४, १०-१५	अडवु, मूर्ख [पोताना गरीब भाईओथी लाजती श्रीमंत बहेन तेमने 'गादह'=गधेडो अने 'बूची' अेवा नामे ओळखावे छे.]
भूतेल	३४६-२९, ३४७-१	भूतिओ वंटोळ (?) (वंटोळने 'भूतेल' कह्यो छे)
मट्टिणिम पर्व मट्टिणिकाद्दय पर्व }	१९, १३-१४ २७२-२	देवीपूजा माटेनुं आसो सुद नोम सुधीनुं पर्व, नवरात्र.

रयळाणी	५४, १२-१६, ५५, १२-१४	(योगीनी सिद्धि बुद्धि नामनी शिष्याओने "रयळाणी" कही छे)
छोहिड	१४२-२७	एक नानो सिक्को (प्र० को १७ २६ मां पण आ शब्द आवे छे सांडेसरा अने ठाकर ते 'छोहडिया"नुं संस्कृत रूप होवानुं सूचवे छे)
वतुलक वतळक वतुंळ	४४, ५-७ ८७ ६ १२५-२६	नानो गोळ वाटको (?) (८७-६ मां कानमां पाणी भरेलुं 'वतळक' मूकवानी वात छे १२५-२६ मां तेल भरेलुं 'वतुळ' लई जतां तेमांथी तेलनां टीपां पडवानी वात छे ४४-५ मां सोपारी जेवडा आकारनी उपर 'वतुलक' ढांकवानी वात छे आ उपरांत प्र० को० मां बे भरेला 'वतुलक'नो निर्देश छे)
वत्स्यमुख	१०९, ९-१०-२०	वाट (?) [माछली माटे 'वत्स्य मुख' मान्युं] अने तेने छोडीने ते बहार नीकळी गयानी वात छे]
विषणी	१४० २५	(?) [हाथीने 'पदकथुना' अने विषणीमया' कह्या छे]
शर्कराखड	५४-२७	बीजोड (?)
शबरी	१४२-२५	साधुने वहोराववानी कोई खाद्य वस्तु (?)
शिक्किका	१७८-१	जुओ०- मशकिका'
शृंगारिकोटिशाटी	४९-८	करोडनी किंमतनी शणगारेली साडी (प्र० चि० ८१ १२-१३ पुरा प्र० ४०-२ ४६-२८)

संथारक	२३३-१०	खाल्कूवो (?) [गुस्से थईने पुत्रने अशुचि संथारकमां नाख्यानी अने तेमांथी काढीने पाणीथी नवराव्यानी वात छे प्र० चिं. ३४, २०-२१ मां माघ पंडितनी समृद्धि वर्णवतां तेना 'सथारक'नुं भूमितल काचनुं होवानुं जणाव्युं छे]
समारित	१६६-१०	पलाटेलुं (?) ('असमारित' बळदने खेतरमां खेडवा माटे हांकवानी वात छे)
सहोलिक (पुं)	१६९, ४-८	(तेलनो) कूंपो ?
स्फरक	१३२-१	(?) लूटाराओ कोने उपाडी गया तेने छोडाववा चारसो स्फरक वाणियाओ मान्यानी वात छे 'स्पर्धक' ने बदले हशे]
हव	३४७-२२	हाथ



(३) केटलाक नोंधपात्र प्रयोगो

व्याकरण दृष्टिओ प्रबन्धोनी भाषानी केटलीक लढणो अत्यन्त सुविदित छे. परोक्ष भूतकाळना रूपोनो प्रचुर प्रयोग; 'कह्युं' विगेरे माटे 'जगौ' वगेरे; 'बोल्यो' माटे 'अवग्', बोले छे' वगेरे माटे 'जल्प्' ना रूपो; 'लेवुं' माटे 'ला'; 'विचारवुं' माटे 'ध्यै', 'लागवुं' माटे 'लग्', मूकवुं' माटे 'मुच्'; 'काढवुं' माटे 'कर्ष', प्रेरणार्थ प्रत्यय 'आप्'नो व्यापक वपराश ('प्रबन्ध पञ्चशती'मां 'कथाप्' 'कष्टाप्' 'घटाप्' 'छोटाप्'—अेकवार तो सीधुं गुजराती 'छोडव्' 'मडाप्' 'मुत्कलाप्' वगेरे)

गुजराती वगेरेना संयुक्त क्रियारूपोनुं प्रतिबिंब जेमके 'गच्छन्नस्मि' १७८-२७ 'जाउं छुं', 'जल्पन्नस्मि' १७४-२९ 'बोलु छुं' गच्छन्नस्ति' ११६-२८, 'नयन्नसि' ४२०-७ 'क्रियमाणोऽस्ति' ९७-१०, 'प्रोच्यमानमस्ति' १६६-२६, 'स्थाप्यमानास्ति' १६७-११, 'वमन्नभूत्' ८१-२८, 'नमन्नभूत्' १०२-२ वगेरे.

क्रियारूपो परत्वे आवी केटलीक उपर उपरनी विगतो नोंधी शकाय नामिक विभक्तिना प्रयोगोमां पण गत्यर्थ सप्तमी ('समीपे गत' 'ग्रामे गत' वगेरे), चतुर्थी माटे षष्ठी ('सुरत्राणस्य प्रोक्तं' वगेरे) पंचमीने बदले सप्तमी ('कस्मिन् पुरद्वारे निस्सरामि') ३०-६-७, 'मध्ये', 'पार्श्वे', 'पश्चात्', अग्रे' उपरि, स्थित' वगेरेनो अनुग तरीके प्रयोग, 'वह्निगमनाद् अनु 'देवतापार्श्वात् स्थापयामास' जेवामां गुजरातीना विभक्तिसम्बन्धीनु प्रतिबिंब वगेरेनो निर्देश करी शकाय भाववाचक रूपने लघुतावाचक क' प्रत्यय लागीने थयेलु मथका' (=मथा ३-२३) जूना समयना आवा अनेक रूपोनु अेकमात्र अवशेष छे आ बधा करतां वधु नोंधपात्र छे केटलाक गुजरातीमांथी उचकेला रूढिप्रयोगो तेमां 'पडवु' 'लागवु' 'काढवु' 'चडवु' 'मांडवु' वगेरेनी जे अनेक लाक्षणिक अर्थ छायाओ गुजरातीमां विकसेली छे तेनो संस्कृत 'पत्' लग्' कर्ष्' 'चट्' 'मण्ड्' वगेरे उपर आरोप करी देवामां आव्यो छे अने केटलाक तो आखाने आखा वाक्यो थोडा फेरफारे गुजराती वाक्यरचना रजू करतां देखाय छे अहिं नीचे अेक नमूना रूपे थोडी आपु छु

१	पादो अवधार	२३५-१	पधारवु
२	कसूर कृ	२१४-२६	मोडु करवु
३	उच्चै कृ	१०-२	ऊंचु करवु
४	बहिः कर्षय	५-२४	बहार काढवु
५	भूमध्यस्था कर्षय्	१८९-१०	भोमांथी काढवी
६	हस्ते चट्	१२-१२, ८६-४	हाथ चडवु
७	ताव' चट्	८४-२८, १७८-३	ताव चडवो
८	मुत्कलं जातं	५-१०	छूटु थयु
९	उत्तारको दापितः	५४-२४	उतारो देवराव्यो
१०	चीरां दा	६७-१०	चीर आपवी
११	शिक्षां दा	१९-१९	शीख आपवी
१२	पृष्ठि दा	१४२-१३	पीठ देवी
१३	द्वारं दत्तवान्	३४८-७	बारणु दीधु
१४	खात्र पातय्	२०८-१७	खातर पाडवु
१५	दुष्कालोऽपतत्	३१-२८	दुकाळ पडयो
१६	सध्या पतिता	६३-६	सांज पडी
१७	टाढि पतिता	१०७-२	टाढ पडी
१८	पट्टक बन्ध्	५१ २२, १५७-२३	पाटो बांधवो
१९	कच्छक बन्ध्	२११-२४	काछडो बांधवो
२०	ग्राम भग्नः	२ २२	गाम भांग्यु
२१	कुद्देडा भग्ना'	५४-३३	कोयडा भांग्या
२२	गणितु मण्डितानि	२१४-१६	गणवा मांड्या

२३	शकुनं मान्	३१२–४	शुकन मानवा
२४	वरं मार्गय्	३५–१०	वरदान मागवुं
२५	ग्रहणके मुच्	३३५–१९	घराणे मूकवुं
२६	शून्या मुच्	२००–५	सूनी मूकवी
२७	उद्घाट मोचय्	१९३, ४–५	उघाडुं मुकाववुं
२८	मुत्कलो मुच्	२१८–२१	मोकळो मूकवो
२९	पठितु मुच्	२०७–२५	भणवा मूकवो
३०	नष्ट्वा या	९–२४	नासी जवुं
३१	करौ योजय्	४८–२८	हाथ जोडवा
३२	हस्तौ योजय्	१९१–१६	
३३	रक्षां लगाप्	१०७–१२	राख लगाडवी
३४	हस्तं लगय्	२–२८	हाथ लगाडवो
३५	छोतिः+लग्	५५, ३०–३१	आभडछेट लागवी
३६	गालिः + लग्	१२२–१९	गाळ लागवी
३७	बुभुक्षा लग्	१९०–७, ३३८–२, ७६–३	भूख लागवी
३८	तृषा लग्	४६–१९, तृट् लग्–६३–६	तरस लागवी
३९	पापं लग्	६–१४, १६६–७८	पाप लागवुं
४०	द्विप्रहरी लग्	१८३–४	बपोर थवी
४१	वेला लग्	६४–१२	वार लागवी
४२	कर्तुं लग्	५–२३	करवा लागवुं
४३	कारयितुं लग्	१८३–११	कराववा लागवुं
४४	लहनकं ला	१६९–२७	लहेणु लेवुं
४५	पश्चात् वल्	२३५–२४	पाछुं वळवुं
४६	चुल्हक संधुक्षय्	९२, ६–७	चूलो संधूकवो
४७	जिह्वां संभालय	२७३–२३	जीभ सभाळवी
४८	ऊर्ध्वं स्था	१०–२, ४०–३१	ऊभा थवुं
४९	चामरढालन	७७–१२	चामर ढाळवो ते
५०	गलटुम्पकदान	१६१–१७	गलाटूंपो देवो ते
५१	चंदिकरुजन	३४४–२५	चांदी रूजावी ते
५२	चुल्हीसंधुक्षण	२०८–२	चूलो सधूकवो ते
५३	नालिकेरस्फोटन	२७३–५	नालियेर फोडवुं ते
५४	'स्व मस्तक खज्जय्'	९८–१७	पोतानुं माथुं खजवाळवुं
५५	उपरि या	१–१४	उपर जवुं
५६	पश्चाद् या	७–४	पाछा जवुं

५७	आयम् आया	१-२, १-१	सामे आववु
५८	संमुख विलोक्य	६-१८	सामुं जोवु
५९	वत्म विलोकम्	१३७, २५-२६	वाट जोवी
६०	मौनी भू	२-२१	मूंगा थई जवु
६१	मार्गे चलन्	१-२०	रस्ते चालतां
६२	चर्यं कृतम्	१७० २३	साद कर्युं
६३	मस्तक भद्रीकृ	१२४-५	माथु मुंडावयु
६४	बाह्या धाविता	८९ ६	बाहर धाई
६५	सकाल विकाले	१२० २७	वहेलु-मोडु
६६	दीपो वध्यताम्	१७२-२७	दीवो वधेरो
६७	घटिकायोजनाष्ट्री	२६७ ५	घडियाजोजन सांढणी
६८	किं अद्यकल्ये नाऽऽगम्यते	५५, ४-५	आजकाल केम आववानु थतु नथी
६९	गोष्ठीं कुर्वाणा उपविष्टाः	२-११	वात करता बेठा हता
७०	ज्वलितं वा न ज्वलिता वा	२०९ ३ ४	सळग्या के सळगशे
७१	त्वादृशा मत्फूत्कृतेन उड्डीयन्ते	२०४ २८	तारा जेवा मारी फूंके उडी जाय
७२	लक्ष लक्ष नमस्कारा मानिता	४५ ६	लाख लाख नमस्कार मान्या
७३	पृच्छनेन सृतम्	१६९-१९	पूछवाथी सर्युं
७४	त्वया किं स्यात्	२०१ २	ताराथी शुं थाय तेम छे
७५	अद्य किमपि रद्धुं न शकितं मया	१७०-२३	आज काई पण रांधी नथी शकायुं
७६	न शीत लगन् मयि	९० २२	माराथी क्यांक ठंडी न लागी जाय
७७	ढोलस्य पोलत्वम्	७८ ५	ढोलनो पोल
७८	जीवन्नरो भद्राणि लभते	१७३-२	जीवतो नर भद्र पामे
७९	कीटकोपरि कटकारम्भ	२१२ ९, २९८-१२	कीडी उपर कटक

आ यादी सारा प्रमाणमां लंबावी शकाय तेम छे वाक्योनी आवी वाक्यरचना तेमनो ढाळो अने शैली माटे भागे गुजरातीना होवानु सूचन करे छे संस्कृतना वेशमां गुजराती भाषा होवानु अनेक स्थळ भान थाय छे शताब्दीओ सुधी (अने बाजारू हिन्दीनी जेम) विविध भाषी प्रदेशोमां राष्ट्रभाषा तरीके—संस्कृत भाषा तरीके अखिल भारतीय व्यवहारमां रहेली संस्कृत केटली बधी वाळी वळे तेवी बनी शकती ते वस्तु प्रबन्धोनी भाषा स्पष्टपणे बतावी आपे छे आम मान्य भाषाना उद्भव अने घडतरनी व्यापक दृष्टिए पण प्रबन्धोनी भाषा घणी रसप्रद जणाशे

(४) कथाओ विशे टूंकी नोंध

'प्रबन्ध पंचशती'मां पूर्ववर्ती प्रबन्ध साहित्यमांथी केटलीक ऐतिहासिक अने अनुश्रुत्यात्मक सामग्री उपरांत सामान्य कथा-साहित्यनी सामग्री पण मोटा प्रमाणमां आवेली छे. ए रीते कराय

तेनुं 'पंचशती प्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्ध' ओ नाम पण सार्थक गणाय अने केटलीक कथाओने स्पष्टपणे 'लौकिकी'के हितोपदेश माटे होवानुं कह्युं छे. ५७६ थी ६१२ सुधीना प्रबन्धोमा पंचतंत्रनी घणी कथाओ आवी जाय छे आगळा भागमा पण घणी कथाओ पंचतंत्रशैलीनी छे. वळी जातककथा वगेरेना समयथी कथाप्रवाहमा वहेती थयेली केटलीक वार्ताओने पण अहिं स्थान मळयु छे—८९मा प्रबंधनी कथा पुण्यवंत जातकमा तथा जैनसाहित्यमां मळे छे १७४ वाळी वानरयूथपतिनी वात अथवा तो प्राणीभाषा जाणनार राजानी वात पण जातकमांथी छे ७३ मानो धुतारा नगरीवाळो प्रसग रत्नचूडरासमा पण छे. ९६ मा अने ३७२ मा प्रबंधमानुं कथाघटक (गुप्तवेशे पति पासेथी पुत्र प्राप्त करवानी शरत पूरी करवी.) घणी लोककथाओमां मळे छे. ५३४ वाळी सोढीनी वात रत्नचूड रासमां पण छे १०२ मा प्रबन्धमा आखी नंदबत्रीशीनी कथा, ५४३ मा गुणचद्रसूरिना "महावीर चरिय"थी जाणीती चंदन मलयागिरिनी कथा, तो १०४ मा प्रबन्धमां शामळनी 'सिंहासन–बत्रीशी' मा छे ते वेताळभट्टनी कथा आपेली छे.

१०७ मा प्रबन्धनी कथा ते "ज्ञाताधर्मकथा"नुं 'कूर्मज्ञात' छे. २२० मा कुबेरदत्त–कुबेर सेनानी अढार नातरानी जैन परंपरामां घणी प्रचलित कथा छे. १२१ मा अने १५६ मां धर्मव्याधनी महाभारतना समयथी जाणीती कथा छे. १२७ मा वसुदेवहिण्डी वाळी चारुदत्तनी कथा छे

लोक–कथाओनी अनेक जाणीती प्रकृतियो (Types) अने घटको अहिं ओळखी शकाय छे

आर्यनन्दिलसूरिनी ४६० मांनो वात नागपाचमीनी लोककथाने मळती छे. आपकर्मी अने बापकर्मी (१२३ शामळनी 'सिंहासनबत्रीशी' मांनी समुद्रनी सुदरी के पाताळ–पदमणीनो वात,) तेम ४११=शामळनी सिंहासन बत्रीशी'मां मळती, विधातानी शोधमां (१९३=शीतळा सातमनी वातनुं कथाघटक), बे भाई के जादुई पक्षीहृदय (२०, ५४६ = काष्ठमुनिनी वात), परकायाप्रवेश (५६६, सिंहासनबत्रीशीमां मळती), वडला उपर चढीने जादुई शक्तिथी द्विपान्तरमां विहार करती पुत्रवधूओ (४१८, चंदराजानी वातमां पण आ मळे छे) वगेरेनो उल्लेख करी शकाय.

३५७ अने ५४२ मांनी वार्तानु घटक घणियो अने घणकीनी लोककथामां, ५१३ वाळं जपी अने तपीनी लोककथामां, ५४१ वाळुं राजानु माथुं मुंडावतो चकलीनी लोककथामा, ५०१ वाळु तोड़ा जोशीनी लोककथामा, २०८ वाळुं बावराभूतनी वातमां, तो ५०३ वाळुं 'घी चोरीओ घी चोरीओ स्वाहा' वाळी लोककथामा मळे छे. आ तो मात्र अगुलिनिर्देश कर्यो छे. "प्रबन्ध पंचशती'ना कथा सामग्री पण व्यवस्थित अभ्यास मागी ले; तेवी अने तेटली छे.

श्रीशुभशीलगणिनी अन्य कृतिओ पण भाषानी अने कथासाहित्यनी दृष्टिओ भरपूर भंडारनी गरज सारे तेम छे

मुनिश्री मृगेन्द्र मुनिजीओ आ महत्त्वनो ग्रथ सपादित अने प्रकाशित करीने साहित्यनी सेवा करी छे अने अभ्यासीओ माटे अणमूल सामग्री सुलभ करी आपी छे



५७	सार्धम् आया	
५८	समुद्र विलोकय्	
५९	धम विलोकम्	
६०	मौनी भू	
६१	मार्गे चलम्	
६२	वर्यं कृतम्	
६३	मस्तके भङ्गोक	
६४	बाहरा धाविता	
६५	उकाल विकाले	६
६६	दीवो वध्यताम्	१
६७	घटिकायोजनाष्टौ	२६
६८	किं अद्यकल्ये नाऽऽगम्यते	५५,
६९	गोष्ठी कुर्वाणा उपविष्टाः	२-१
७०	वत्लित सति वत्लिता वा	२०९
७१	त्वादृशा मफु कृतेन वञ्चीयन्ते	२०४
७२	लक्ष लक्ष नमस्कारा मानिता	४१ ६
७३	पुच्छनेन सुनम्	१६९-१५
७४	त्वया किं स्यात्	२०१ २
७५	अद्य किमपि रद्धु न शकितं मया	१७० २२
७६	न शीत लगन् मावि	३७ २२
७७	हास्य पोटलम्	७८ ५
७८	जीवन्नरो भद्राणि लभते	१७३-२
७९	कीटकोपरि कटकारम	२५२ ९, २९८

आ बधी भारा प्रमाणमां लंबावी शकाय तेम छे वाक्योनी ढाळो अने शैली भाटे भागे गुजरातीना होवानु आभास करे छे सरल होवानु अनेक स्थळे प्रतीत थाय छे शताब्दीओ सुधी (अने बाजार भाषी प्रदेशोमां राष्ट्रभाषा तरीके—संस्कृत भाषा तरीके अखिल भारतीय वेटली बधी वाळी पण तेवी बनी शकती ते वस्तु प्रबन्धोनी भाषा स्पष्टपणे मान्य भाषाना उद्‌भव अने घडतरनी व्यापक दृष्टिअ पण अगत्योनी भाषा

(४) कथाओ विशे टूकी नोंध

'प्रबन्ध पचशती'मां पूर्ववर्ती प्रबन्ध साहित्यमांथी अनेकेनी अतिहासिक बालक सामग्री उपरांत सामान्य कथा–साहित्यनी सामग्री पण मोटा प्रमाणमां आवेली छे. आ रीते कराय

प्रबन्ध-पञ्चशती

अनुक्रमणिका

अथ प्रथमोऽधिकारः ।

प्रबन्ध-पञ्चशती

अनुक्रमणिका

अथ प्रथमोऽधिकारः ।

अथ द्वितीयोऽधिकारः

अथ तृतीयोऽधिकार

अथ चतुर्थोऽधिकारः

समाप्त

● આગમ પ્રભાકર મુનિ શ્રી પુણ્યવિજયજી

આજે વિદ્વાનોના કરકમલમા પંચશતી પ્રબંધ નામનો ગ્રંથ ઉપહૃત કરવામાં આવે છે આ ગ્રંથ એક ઐતિહાસિક ગ્રંથ છે એના રચયિતા શ્રી શુભશીલગણી છે શ્રી શુભશીલગણી, એ વિક્રમના પંદરમા-સોળમા સૈકાના એક વિશિષ્ટ ગણી શકાય તેવા વિદ્વાન હતા તેમણે ભરતેશ્વર બાહુબલીવૃત્તિ, શત્રુંજયકલ્પવૃત્તિ, કથાકોશ આદિ જેવા દસ દસ હજાર શ્લોકપ્રમાણ, મહાકાય કહી શકાય તેવા અનેક ગ્રંથોની રચના કરી છે દાનાદિકથા, પુણ્યસારકથા, સ્નાત્રપંચાશિકા જેવા નાના-મોટા કથાગ્રંથોની પણ રચના કરી છે, ઉણાદિનામમાલા, પંચવર્ગસંગ્રહનામમાલા જેવા ગ્રંથો રચ્યાનો ઉલ્લેખ પણ 'જૈનગ્રંથાવલિ'મા જોવામા આવે છે તેમજ શાલિવાહનચરિત્ર, ભોજપ્રબંધ આદિ જેવા ઐતિહાસિક સામગ્રી પૂરા પાડતા ગ્રંથો પણ રચ્યા છે. પ્રસ્તુત પંચશતી પ્રબંધ સંગ્રહ ગ્રંથ એ આ કોટિમા મૂકી શકાય તેવો એક ઐતિહાસિક ગ્રંથ છે શ્રી શુભશીલગણીએ આ ગ્રંથમા ઘણી ઘણી ઐતિહાસિક સામગ્રીનો સંચય કર્યો છે અલબત્ત આવા ગ્રંથોમા કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓનો સંગ્રહ કે સમાવેશ થતો હોવાથી એને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રંથ ન કહી શકાય એમ વિદ્વાનો માનતા હોય છે, તેમ છતા કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓમા ઇતિહાસના બીજ પડેલા હોઈ આવા ગ્રંથો વિદ્વાનો માટે ઐતિહાસિક ગ્રંથ જ બની જાય છે આજે આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસના સર્જનમા આવા પ્રબંધોનો ઘણો મોટો ફાળો છે જો આવા ઐતિહાસિક સામગ્રીઓ પૂરા પાડતા ગ્રંથોની ઉપેક્ષા કરવામા આવે તો આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસને શોધી કે લખી જ ન શકીએ ઘણી વાર એવું બન્યુ છે અને આજે પણ બન્યે જ જાય છે કે વિદ્વાનો જેને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રંથ કે સામગ્રી તરીકે માનતા હોય છે તેવા ગ્રંથો કે સામગ્રીમા પણ પૂર્વ-ગ્રહ, પક્ષપાત કે સાપ્રદાયિક આદિ રંગોથી રંગાએલા વિદ્વાનોએ તેના આલેખનમા અતિશયોકિત અને હીનોકિતદોષો કરેલા જોવામા આવે છે એટલે ભિન્ન ભિન્ન દૃષ્ટિએ ઐતિહાસિક વિદ્વાનો ગમે તેવી માન્યતા ધરાવતા હોય તે છતા એ હકીકત તો નિર્વિવાદ છે કે ઇતિહાસલેખક કે ઇતિહાસજ્ઞ મધ્યસ્થ વિદ્વાનો માટે આવા પ્રબંધસંગ્રહો ઇતિહાસને લગતી ઘણી વિશાળ અને મહત્ત્વની સામગ્રી પૂરી પાડે છે આ દષ્ટિએ જોતા પ્રસ્તુત પંચશતી પ્રબંધ ગ્રંથનુ ઐતિહાસિક ક્ષેત્રે ઘણુ ઊંચું સ્થાન છે શ્રી શુભશીલગણી એ પોતાના યુગના એક ઇતિહાસરસિક મહાનુભાવ વિદ્વાન હતા તેઓશ્રીએ અનેક મહત્ત્વની વિગતો અને માહિતીઓથી પ્રસ્તુત પ્રબંધસંગ્રહને સમૃદ્ધ કર્યો છે આશા છે કે આવો એક અમૂલ્ય પ્રબંધસંગ્રહ અનેક પ્રતિઓ દ્વારા શુદ્ધ અને વ્યવસ્થિત કરી વિદ્વાનોના કરકમલમા અર્પણ કરવામા આવે છે, એ અવશ્ય વિદ્વાનોને ઉપયોગી બનશે જ.

અંતમા જે મહાનુભાવોએ પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધન-પ્રકાશન આદિમાં અનેક રીતે શ્રમ લીધો છે અને જે મહાનુભાવોએ આવા અમૂલ્ય ગ્રંથના પ્રકાશન માટે પોતાના ધર્મ્ય ધનની સહાય કરી છે તેમજ જે સંસ્થા આ ગ્રંથનુ પ્રકાશન કરે છે તેઓને હાર્દિક ધન્યવાદ અને અભિનંદન છે

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध)सम्बन्धः — प्रबन्धपञ्चशती

(रचना, वि. सं. १५२१)

A-संज्ञकप्रति, छाणी(वडोदरा)ना श्रीजैन श्वे. ज्ञानमंदिरना उपा. श्रीवीरविजयजी-शास्त्रसंग्रहनी प्रतिना प्रथम पृष्ठनी प्रतिकृति.

॥ अर्हम् ॥

श्रीशुभशीलगणि-विरचितः

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध) सम्बन्धः

(प्रबन्धपञ्चशती)

युगादिदेवादिमवर्द्धमाना-न्तिमान् जिनान् केवलिनः परांश्च ।
श्रीपुण्डरीकादिगुरून् यतींश्च, नमाम्यहं बोधिसमाधिहेतोः ॥१॥
किञ्चिद्गुरोराननतो निशम्य, किञ्चिन्निजान्यादिकशास्त्रतश्च ।
ग्रन्थोह्ययं पञ्चशतीप्रबोध-सम्बन्धनामा क्रियते मया तु ॥२॥

लक्ष्मीसागरसूरीणां, पादपद्मप्रसादतः ।
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥३॥

[1] अथ श्रीगौतमस्वाम्यष्टापदतीर्थवन्दनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीअष्टापदतीर्थनमनफलं श्रीवर्धमानजिनपार्श्वे श्रुत्वा श्रीगौतमस्वामी यदा अष्टापद-तीर्थसमीपे गतः तदा तत्रस्थास्तापसा दध्युरेष किं करिष्यतीति, एवं तेषु ध्यायत्सु गौतमस्वामी सूर्यकिरणानवलम्ब्य तीर्थस्योपरि ययौ ।

तत्र भरतकारितप्रासादे चतुर्विंशतिजिनेन्द्रान् मानप्रमाणदेहाऽऽकारवर्णादिकान् अनुक्रमेण वन्दते स्म[1] ।

चत्तारि अट्ठ दस दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१॥

तत्र देवान् नमस्कृत्य तीर्थादुत्ततार यदा तदा १५०३ तापसा गौतमस्वामिवचसा प्रबुद्धाश्चारित्रं जगृहुः । ततः श्रीगौतमो मार्गे चलन् कस्माद्ग्रामात् [कुतश्चिद्ग्रामात्] शुद्ध क्षीर-

१. C प्रतौ नास्ति ।

भृतं पतद्ग्रहमानीय स्वाङ्गुष्ठं तन्मध्ये क्षिप्त्वा सर्वान् तापसान् भोजयामास । तेषु जिमत्सु गौतमस्वामिलब्धिं ध्यायत्सु ५०० तापसानां केवलज्ञानं जातम् । ततो वर्त्मनि श्रीवर्द्धमानजिनवर्णनं श्रुत्वा ५०० तापसानां केवलज्ञानं बभूव । प्रभौ दृक्पथागते ५०३ तापसानां ज्ञानमुत्पन्नम् । गौतमस्वामी केवलज्ञानोत्पत्तिमजानन् तान्प्रति प्राह—प्रभोः प्रदक्षिणा दास्यन्ते [दीयन्तामिति] ततस्ते प्रदक्षिणां दत्त्वा यत्र केवलिपर्षदुपविष्टा तत्र गौतमः प्राह—ये मूर्खास्ते मूर्खा एव प्रभुं न वन्दन्ते चलिता अपि तदावग् वर्धमानः स्वामी केवल्याशातनां मा कुरु [कार्षीः] गौतमः प्राह—भगवन् ! का केवल्याशातना ? तत्र प्रभुणा तेषां केवलज्ञानोत्पत्तिसम्बन्धः प्रोक्तः ततो गौतमः तेषां पादान् नत्वा क्षमयित्वा च प्रभोः पुरः प्राह—एषामहं दीक्षां दास्य [प्रादाम्] तेषां केवलज्ञानं मम न ततः तन्खेदं गौतमे दधाने प्रभुः प्राह तथापि केवलज्ञानं भविष्यतीति ॥१॥

[2–17] षोडश श्रीजिनप्रभसूरिप्रबन्धा ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयः पीरोजसुरत्राणेन समं गोष्ठीं कुर्वाणा उपविष्टाः । तदा तत्र मुलाणका आगताः, एकेन मुलाणकेन निजटोपिका आकाशे उच्छालिता, सा च तत्र निराधारा तस्थौ सुरत्राणः श्रीजिनप्रभसूरिसमुखं प्रेक्ष्याऽऽह—अहो महदाश्चर्यं ! सूरिः प्राह—वयम् । ततः सूरिणा तत्रैव स्तम्भिता । ततः सुरत्राणोऽवग्—आनीयतां टोपिका, ततः स आकर्षणमन्त्रं प्रयुञ्जयामास परं नैति सा ततः सुरत्राणः प्राह—जिनप्रभसूरे ! त्वमानय । ततः सूरिणा क्षिप्तो रजोहरणस्तत्र गत्वा टोपिकामानिनाय ततःसुरत्राणश्चमच्चक्रे ।

द्वितीयदिने मस्तकस्थवारिभृतघटा पानीयहारिका यावद्राज्ञोऽग्रे चचाल तावत्तथा मुलाणेन कृतं यथा घटयुगं व्योम्नि निराधारं स्थितं स्त्री तु अग्रे गता घटं मस्तके अदृष्ट्वा तत्र [तद्] निराधारं च वीक्ष्य राजा चित्ते चमच्चक्रे । ततो राज्ञा स प्रशंसितो यदा तदा गुरुः प्राह—निराधारं जलं यदि तिष्ठति तदा यथा कला । ततो राज्ञोक्तः स मुलाणस्तत्कलामजानन् मौनीबभूव ततो गुरुणा कङ्करेणाऽऽहत्य घटयुगं जलं निराधारं स्थापितं [दृष्ट्वा] राजा चमच्चक्रे ।

एकदा सुरत्राणेन कान्हडग्रामो भग्नः, तत्रत्या श्रीवीरप्रतिमानीय यवनैः ढील्यां मसीतद्वारे सोपानकस्थाने स्थापिता । ततः एकदा सुरत्राणः श्रीसूरिस्कन्धे हस्तं दधानो मसीतिकायां यावत्प्रविशति तावत्सूरिः वीरप्रतिमां वीक्ष्यैकस्मिन्पार्श्वे स्थितः । तदा सुरत्राणोऽवग्—एवं किं कृतं ? जिनप्रभसूरिः प्राह—प्रभुर्देवोऽस्ति । सुरत्राणोऽवग्—अयं भूतः किं जानाति ? न किंचित् । सूरिः प्राह—अयं देवः सत्यवादी ज्ञानी विद्यते । भूपोऽवग्—तर्हि जल्पय । सूरिः प्राह स्वामिन् ! भूतस्थानकमुपदेशाय कार्यते तत्र मह्यते पूज्यते ततः पृच्छयते ततः पृष्टं कथयति, ततः स्वामिना देवगृहं कारितं । यदा प्रतिमा नोत्पतति तदा सूरिः प्राह—त्वं हस्तं लगय यथोत्तिष्ठति, ततस्तथा कार्ये कृते प्रतिमां तां देवालये निवेश्य वयमोगेन पूजयित्वा अन्तरा वस्त्रं बन्धयित्वा राजा वयद्वंशसम्बन्धं पृच्छति तत्तस्योत्तरं दत्तं । २१ मियाः प्रोक्ता सुरत्राणो हृष्टः, शङ्कया वस्त्रेऽपसारितेऽपि तथैव प्राह । ततो विशेषतो वीरः पूजितः, कान्हडोमहावीर इति [च] ख्यातिरभूत् । इति कान्हडा[ड] महावीरस्थापनजिनप्रभाचार्यसम्बन्धः ॥२॥

1 दिल्ही' इति भाषायाम् । —सपा ।

एकदा सुरत्राणो ग्रीष्मे पुराद्बहिः वटवृक्षे स्थितः, सच्छायं वटवृक्षं वीक्ष्य प्राह–जिनप्रभाग्रे [जिनप्रभसूरिणः पुरतः] यदि एवंविधा शीतला छाया सार्द्धमायाति तदातीव सुखं भवति । ततः सूरिणोक्तं समेष्यति सार्द्धं वृक्षः, ततश्चलति सुरत्राणे सोऽपि वृक्षश्चचाल याव यावत्, पश्चाद्विलोकित स्थान तत्र न ज्ञातः [ज्ञातं] पश्चाद्विसर्जितो वृक्षः स्वस्थाने गतः, राजा चमत्कृतः ।। इति वृक्षचालनसम्बन्धः ।। ३ ।।

एकदा सुरत्राणेनोक्त जिनप्रभसूरे ! त्व विज्ञोऽसि, कथय अद्य अह कस्मिन्पुरद्वारे [केन पुरद्वारेण] निस्सरामि । ततो जिनप्रभसूरिणा पत्रे लिखित्वा मुद्रयित्वा लेखोऽर्पितः, सुरत्राणस्य प्रोक्त च पुरस्य [पुराद्] बहिर्गमनादनुवाचनीयो लेखः । ततः सुरत्राणो वप्रस्यैकविंशति [त]मलगक[?]पार्श्वे इष्टिका अपसार्य वहिर्निर्गतः, ततो लेखं वाचयामास यथा निर्गतस्तथैव लिखितमभूत् राजा हृष्टः ।। इति वप्रलंगकनिर्गमनसम्बन्धः ।।४।।

एकदा सुरत्राणोऽवग्—अद्याहं किं भोक्ष्ये, ततः सूरिर्लेखं लिखित्वा मुद्रयित्वा ददौ, जेमनादनुवाच्यः ततः सुरत्राणेन खलो भक्षितः ततो लेखे विलोकिते खलभक्षणलिखन दृष्ट राजा हृष्टः ।। ।। इति खलभक्षणसम्बन्धः ।।५।।

एकदा सुरत्राणोऽवग्–सूरे ! कथय, शर्करा कस्मिन् क्षिप्ता मृ[मि]ष्टेति, मन्त्रिणः पण्डिताः पृष्टाः, केनापि नोक्तं यदा तदा सूरिर्जगौ "मुखे क्षिप्ता" ।।६।।

एकदा सुरत्राणो वहिरुद्याने गतः, महत्सरो जलभृत दृष्ट्वा सर्वेपामग्रे प्राह—एतत्सरो रजःपूर्णं विना कथं लघु भवति । एवं प्रोक्ते यदा न केनापि उत्तरो दत्तस्तदा सूरिः प्राह—अस्य पार्श्वे द्वितीय सरो महत्तमं कार्यते तदा भवति लघु, राजा हृष्टः ।।७।।

एकदा सुरत्राणो मरुस्थलीमध्ये समायातो । यदा ग्रामनार्योऽक्षतानानीय वर्द्धयन्ति । सुरत्राणो धन विलोक्य प्राह—कथमाभरणरहिताः स्त्रियो दृश्यन्ते, केन लुण्टिता दण्डिता वा ? सूरिणा प्रोक्तं—इयं मरुस्थली रुक्षा धनहीना विद्यते, ततः सुरत्राणः स्त्रियं स्त्रियं प्रति शत दीनारान् दत्त्वा जोत्कार चक्रे ।। ८ ।।

एकदा सुरत्राणो जगौ–यथा चमत्कारितीर्थं कान्हडकमहावीरोऽस्ति, तथाऽन्यदपि किमस्ति ? ततः शत्रुञ्जयतीर्थव्याख्यान कृतं, ततः ससघो जिनप्रभसूरियुतः शत्रुंजये गतः, तत्र तीर्थं दृष्ट्वा चमत्कृतो यदा, तदा[1] सूरिः प्राह—मुक्ताफलैरिमा [रिय] राजादनीयादि [यदि] वर्ध्यते तदा क्षीर झरति, ततस्तथा कृते राजादनी क्षीर वृष्टा, राजा [राज्ञा] सघपतेराचारः कारितः तत्र लेखितो, योऽस्य तीर्थस्यावज्ञां करिष्यति स गोस्वामिन करोति । ततस्तत्र सप्तरेखा कारिता पाषाणैः । ततोऽधस्तादुत्तीर्य सर्वान् जनान् प्रति प्राह—आत्मीयमात्मीय देवमानयत । ततो लोकैः स्वस्वदेव. हर–हरि–ब्रह्म–जिनादिरानीतः, राज्ञा सर्वान् मण्डयित्वा पृष्टम् एतेषु—

१ तदेति B प्रतौ नास्ति ।

[पृष्टमेतेषु][1] देवेषु को वृद्धः ? यदा लोको न वदति तदा जिनप्रतिमां मुख्यस्थाने उपविश्य [उपवेश्य] हरिब्रह्मादिप्रतिमाः परितो निवेशिताः स्वयमासने उपविश्य परितः सेवकान् सायुधान् स्थापयित्वाह—को वृद्धः ? लोका जगुः स्वामी एव वृद्धः । सुरत्राणः प्राह—यद्येवं तर्हि जिनो वृद्धः शस्त्ररहितत्वात् सायुधाः सर्वे सेवकाः, ततो लोकैरुक्तं प्रभुवचः प्रमाणमिति ॥९॥

ततः सुरत्राणो गिरिनारगिरौ गतः तत्र अच्छेद्याभेद्यप्रतिमां नेमिनो ज्ञात्वा घातैः स्फुलिङ्गनिःसरणे सुरत्राणः प्रभुं प्रणम्य क्षमयित्वा १०० मितैः स्वर्णटङ्कैर्वर्द्धयामास ॥१०॥

एकदा जिनप्रभः पृष्टः सुरत्राणेन भूमौ किं पुष्पं वृद्धम् ? सूरिः प्राह— वडणि[2] (?) नगढकनचान ॥११॥

एकेन सुरत्राणस्याग्रे प्रोक्तं—जगसिंहः साधुः कूटं न जल्पति, ततः सुरत्राणेन पृष्टः जगसिंह ! तव गृहे कियत् धनं विद्यते ? तेनोक्तम्—कल्ये कथयिष्यते । ततो गृहे गत्वा साधुः स्वगृहलक्ष्मीसंख्यां कृत्वा सुरत्राणपार्श्वे गत्वा प्राह—मम गृहे ८४ लक्षाः हेमटङ्कका विद्यन्ते । ततः सुरत्राणेन सत्यं तं ज्ञात्वा १६ लक्षाः स्वकोशादर्पिताः कोटीध्वजः कृतः सः ॥ १२ ॥

एकदा सुरत्राणेन स्वहस्ते वयरत्नं गृहीत्वा प्रोक्तं—भो जगसिंह ! अस्माद्रत्नादन्यत् किमपि महद्धर्यं रत्नं विद्यते न वा ? साधुः प्राह—अस्माद्धर्यो भवान् रत्नं । सुरत्राणो रञ्जितः बहुलक्ष्मीं ददौ ॥ १३ ॥

अन्यदा उकेशज्ञातिमुख्यसाधुजगसिंहगृहे कोऽपि खरसाणी (?) वणिग् पञ्चलक्षटङ्ककान् न्यासीकृत्य गतः । सप्तवर्षाणि गतानि । इतस्तेन जगसिंहं मृतं श्रुत्वा ध्यातं न्यासीकृतं धनं गतम् पुनर्ध्यातं तस्य पुत्रो मुहणसिंहो विद्यते, तस्य परीक्षा क्रियते । ततस्तत्रागत्य स प्राह भो मुहणसिंह ! तव पिता मम मित्रमभूत्, मया तु तव पितुः पार्श्वे पञ्चलक्षटङ्कका न्यासीकृता तानर्पयेन्नानीं । मुहणसिंहोऽवग्—यदि मम पितुरक्षराणि दर्शयिष्यसि तदाऽर्पयिष्यामि । तत्र [तस्य] पार्श्वेऽक्षराणि न सन्ति, झगटके जाते सुरत्राणपार्श्वे गतौ स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचतुः । स खरसाणी प्राह—भवान् पितुः समां[3] करोतु । मुहणसिंहः प्राह—पञ्चलक्षैः पितरं किं विक्रीणीये ? ततः पञ्चलक्षा दत्ता तस्मै । खरसाणी जगसिंहाक्षराणि दर्शयित्वा प्राह—सिंहात्सिंह एव जायते सत्यम् । ततो मुहणसिंहः एकलक्षेण परिधापितः मैत्रीकृत्य स मुहणसिंहः उभयकालं प्रतिक्रमणं त्रिकालं देवपूजां करोति । साधून् विहार्यैव जिमति । वर्षमध्ये साधर्मिकवात्सल्यत्रयं संघार्चात्रयं करोति स्म ॥ १४ ॥

एकदा सुरत्राणस्याग्रे केनचिद्रत्नत्रयं विक्रेतुमानीतं, रत्नपरीक्षका आकारिताः सर्वे रत्नानि न्यावर्णितानि, ततो जगसिंहाय दर्शितानि । साधुर्जगौ एकममूल्यं, द्वितीयं लक्षमूल्यं तृतीयं

---

१ एतेषु को वृद्ध इति B प्रतौ वर्तते ।

२ वपथ सोपन इति भाषायाम् । सपा

कपर्दिकामूल्यं। राज्ञा पृष्टं कथं ज्ञायते ? प्रथमं घनघातशतेनापि न भग्नम् । द्वितीयं घनघात-दशके मनागुच्छ्वसितम् । तृतीयं घनघाताद्विधा जातम् । प्रथमघाते मध्ये मण्डूकिका सूक्ष्मा निर्गता, ततः साधुर्मानितः, तस्य वणिजः प्रथमरत्नस्य लक्षत्रयं दापितं, द्वितीयस्य लक्ष दापित, तृतीयस्य कपर्द्दिका दापिता ॥ १५ ॥

एकस्मिन्पुरे श्राद्धमध्ये रोग उत्पन्नः कथमपि न निवर्त्तते, नतः श्राद्धद्वय श्रीजिनप्रभसूरि-पार्श्वे प्रेषित। तौ श्राद्धौ जिनप्रभसूरीणां ध्यानं कुर्वंता पार्श्वे यावन्नायातौ तावद् गुरुपार्श्वे युवतीद्वय ददर्शतुः। ततस्तौ दध्यतुः, गुरूणा स्त्रीणा परिग्रहो विद्यते, ततो यावद्वलितौ स्तम्भितौ, ततां ध्यानानन्तर ते देव्यौ प्रोचतुः—आवा कथमत्रानीते ? गुरुभिः प्रोक्त युवाभ्या श्रीसंघस्योपद्रवः क्रियतेऽतः शिक्षा [शिक्षां] दास्ये। ततस्ते प्रोचतुः अद्यप्रभृति श्रीसघस्योपद्रवो न कार्यः । ततस्ते विसर्जिते। श्राद्धद्वय मुत्कलं जात, गुरवो नताः, स्त्रीसम्बन्धः पृष्टः। गुरुभिः प्रोक्त भवता पुरे श्राद्धानामुपद्रवः श्रुतः, स चाधुना निवारितोऽस्ति, भवद्भ्या दृष्टम्, ततस्तौ श्राद्धौ स्वपुरे गत्वा गुरुकृत ज्ञापितवन्तौ ॥ १६ ॥

एकदा मेदपाटीयः पाल्हाको वैद्यः सुरत्राणचिकित्साकृते आगतोऽभूत्, स च कोमल्ल-सूरिशालायां गतस्तत्र श्रीतपागच्छसूरिवराणा तैर्निन्दा कृता, ततस्तेन हक्कितास्ते यतयः कोमलाः, ततः कलिर्जातः केषांचित् हस्तो भग्नः, केषाचिन्मुखं ततः सर्वे वादं कुर्वाणाः सुरत्राणपार्श्वे गताः सुरत्राणेन सर्वेषा चेष्टितं ज्ञात्वोक्तम्—कस्य दण्डः क्रियते, सर्वे न्यायिनः, सर्वे चान्यायिनः, अद्यप्रभृति केनापि कलहो न कर्तव्यः । ॥ इति समतायां पीरोजसुरत्राणसम्बन्धः ॥ १६ ॥

॥ इति कियन्तो जिनप्रभसूरीणामवदातसम्बन्धाः ॥१७॥

[18] प्रस्तररत्नप्राप्तौ जगडूसम्बन्धः ॥

भद्रेश्वरपुरे वेलाकूले श्रीमालज्ञातीय जगडू साधुर्वसति, स च जलस्थलव्यवसाय करोति स्म । एकदा जगडू वणिजो यानपात्र वस्तुभिर्भृत्वा हुरीमजद्वीपे गतः तत्र वस्कारिका गृहीता वस्तु उत्तारित, क्रयविक्रये[यौ] कर्तुं लग्नः तत्र च बहवो वस्कारिकाः सन्ति ।

एकदा द्वयोर्वस्कारिकयोरन्तरे महान् प्रस्तरो निर्ययौ । स च बहिः कर्षितोऽन्तराले स्था-पितः। तस्योपरि उपविशतो द्वावपि वणिजौ । क्रमाद्विवादोजातः। एकः कथयति मदीयः अपरोऽपि वक्ति मदीयोऽयम् । एव विवादे जाते राजपार्श्वे गत्वा अपरेण वणिजा सहस्रत्रयं टङ्कानां मूल्य कृतम् । जगडूवणिजा बहुधनं दत्त्वा स प्रस्तरो गृहीतः, याने क्षिप्तः, यानपात्र चलित भद्रेश्वरोपकण्ठे समागत यावत्तावदेकेन नरेण जगडूपार्श्वे प्रोक्त भवतो वाणिजकः प्रचुरं धन-मुपार्ज्यागतः वयं एको महान् पाषाण आनीतोऽस्ति तेन गेहमपि भरिष्यति। इति हास्येनोक्ते जगडूः प्राह—"वणिजो यदि वर्ज्यं चावर्ज्यं चानयन्ति तच्छ्रेष्ठितः प्रमाणमेव। यादृशं भाग्य धनिकस्य भवति तादृगेव वस्तु आयाति, लाभोऽपि तादृक्ष एव भवति, अत्र विचारो न क्रियते। ततो जगडूः समुद्रतीरे तस्य सम्मुखं गत्वा सन्मान्य वणिक्पुत्र प्रस्तरं च स्वगृहे नीतवान् प्राह

च लोकाग्रे हसितेन रुदितेनापि कर्मणः पुरः को न [तु] मृते, धर्मं कृतमनेन मम महत्त्व तत्र रक्षित ततो गृहस्यांगणे मुक्त प्रस्तर । यदा जगडूः प्रस्तरस्योर्ध्वमुपविशति तदा चिन्तयति—पृथिवीं धनार्पणात्सुखिनीं करोमि । ततो गुरुपार्श्वे प्रस्तरस्वरूपं प्रोक्त, प्रस्तरमध्ये किमपि धर्यं विद्यते ततो विदार्य प्रस्तरो विलोकित सपादलक्षमूल्यानि रत्नानि निर्गतानि, बह्वी लक्ष्मीर्जाता ॥ १८ ॥

[19] जगडूसाधुसम्बन्ध ॥

भद्रेश्वरे भाइलभूपो राज्य चक्रे । पत्तने वीसलराजः सेवां करोति । सालगश्रेष्ठिन श्रीदेवी पत्नी पुत्रा–जगडू–पद्मराज–मल्लाह्वा बभूवुः । जगडूसाधुः समुद्रतीरे हट्ट मण्डयामास । एकदा जगडूपार्श्वे यानपात्रैका समुद्रस्तेना आगताः तैः प्रोक्तम्–अस्माकम् एक यान मदनभृत घटित मस्ति यदि भवतो रोचते तदा धन दत्त्वा ग्राह्यम् । ततो जगडूस्तत्र गतो मूल्य कृत्वा यानपात्र मदनभृत लली शकटानि भृत्वा जगडूगृहे समेतः, जगडूकर्मकराः जगडूपत्न्याः पुर प्राचु जगडूसाधुना मदनं गृहीत कुत्रोत्तार्यते । जगडूपत्नी प्राह—अस्माक गृहे मदन पापनि बन्धन नोत्तार्यते । तया तु नोत्तारयितु दत्तम् । ततो मदनेष्टिका गृहांगणलिम्बवृक्षस्याध उत्तारिता । जगडू पत्न्या सम कलह चक्रे हक्किता वक्ति मदन व्यवसाये बहुपाप लगति ततो मिथः कलिं कृत्वा स्थौ जगडूः प्रियां न जल्पयति पत्नी जगडू न जल्पयति एव मासत्रये जाते शीतकालः समायात । जगडूपुत्रेण अग्नीष्टक कृत तत्र तृणाग्नीनि क्षिपति तापनार्थं । इतो बालचापल्यादेका मदनेष्टिकामग्नीष्टके चिक्षेप । मदन गलितं, स्वर्णमयीष्टिका दृष्टा पत्न्या । पत्नी अजल्पन्त्यपि धन लोभात् जगडू प्रति 'इतो विलोक्यतां' ततो जगडूः सम्मुखमपि रुष्टो न विलोकयति तत पत्न्योक्तम् आत्मनो मदनेष्टिका स्वर्णेष्टिका जाता ततः सम्मुख यावद्विलोकयति तावत्स्वर्णेष्टिका दृष्टा । ततो ऽपरासामिष्टिकानां परीक्षा कृता स्वर्णेष्टिका ज्ञाताः ततः छन्नं स्वर्णेष्टिका गृहमध्ये आनीता मदनं पृथक्कृत्वा विक्रीत पञ्चशतप्रमाणा । स्वर्णेष्टिका जाता ततः पत्नी पतिं प्रति प्राह—गुरव आकार्यन्ते गुरूक्ते धर्मे धन व्ययते धन शाश्वतं न भवति ततो गुरव आकारिताः सुमहोत्सव पूर्व गुरवो मदनव्यवसाय जगडूसाधुना कृत श्रुत्वा जगडूगृहे विहर्तुं न यान्ति ततो गुरवः प्रोचुरस्माभिश्चल्यते ततो गुरवो देववन्दनार्थ क्षुल्लकयुता आकारिताः । गुरवो गृहे देवान् वन्दन्ते तदा क्षुल्लकः प्राह—भगवन् ! जगडूगृहे किं लङ्का समागता ? इतो वीक्ष्यतां ततो गुरुभिः स्वर्णेष्टिका दृष्ट्वा जगडूः पृष्टः का [कुत इमा] स्वर्णेष्टिकाः ? जगडूः प्राह इष्टिकाग्रहणसम्बन्ध सर्वम् ततो गुरवो हृष्टा जगडूसाधुना विहारिता स्वउपाश्रये [स्वोपाश्रये] आगताः । ततो जगडूः प्राह मया मदनभ्रान्त्या इष्टिका गृहीता जाता सुवर्णमय्यः, उच्चैर्न जल्प्यते राजभयात्, टङ्कानां कोटिर्जाता जगडूगृहे ।

एकदा गुरुभिः संवत् १३१५।१३१६।१३१७ वर्षत्रये भावि दुर्भिक्ष ज्ञात । ततः भाषासमित्या जगडूसाधुर्ज्ञापित । ततो जगडूसाधुः ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे वणिक्पुत्रान् धान्यमूढकलक्ष प्रमाणान् सभाह्वयामास । ततस्तस्मिन् दुष्काले समागते ११२ महासत्रागारा मण्डितास्तेषु मनुष्यसहस्रदशपञ्चाशज्जिमन्ति । राजानः सीदन्तोऽभवन् धान्य विना, अष्टौ मूढकसहस्राणि वीसलदेवस्य राज्ञः पत्तनस्वामिनो ददौ, द्वादशमूढकसहस्रान् हम्मीरभूपस्यार्पितवान् । इतो

गीजनीसुरत्राणो जगडूसमीपे धान्यं याचितुमागतः तदा जगडूः संमुख गतः सुरत्राणेनोक्तं को जगडूः ? जगडूः प्राह "हुँ जगडू" । ततः सुरत्राणः प्राह—न्यायेन त्व जगत्पिता अतस्त्वया जगदुद्धृतं धान्यदानात्, ततो धान्य याचितं सुरत्राणेन। जगडूः प्राह–गृह्यताम् । ततः कोष्ठागारे "रंकनिमित्त"मित्यक्षराणि वीक्ष्य सुरत्राणः प्राह–अहं पश्चाद्यास्यामि रंकनिमित्त धान्य न ग्रहीष्ये । ततो जगडूः अस्य रंकनिमित्तव्यतिरिक्तं एकविंशतिमूढकमितं धान्य सुरत्राणाय ददौ ।

अट्ठय मूढसहस्सा वीसलरायस्स बारहम्मीरे ।
इगवीसा सुरताणे तइ, ढिद्धा जगडू दुब्भिक्खे ॥१॥

दानमाल जगडूतणी, केती हुई समागि ।
नउकरवाली भणी अउ तेहि अग्गला विआर ॥२॥

सत्रागारे पत्तनपार्श्वस्थे राजा वीसलो गतस्तत्र मनुष्यान् विंशतिसहस्रमितान् जिमतो दृष्ट्वा राजा जगडूसाधुं प्रति प्राह–"अन्नं तवात्रास्तु घृतं मम परिवेष्यता" तथा कृते घृते निष्ठिते राज्ञा वीसलराज्ञा [राजेन] तैलं पर्यवेष्यते [पर्यवेष्यत] पुरा जगडूः स्वस्मिन्सत्रागारे घृतं पर्यवेपयति [त्] ततोऽन्यदा राजा जगडूपार्श्वात् 'जी–जी' कारयत्। श्रुत्वा चारण प्राह—

वीसल तूं विरुइं करइं, जगडू कहावइ जी ।
तुं नमावइ [1]फातेलसुं (?) उअ नमावइ घीइ ॥३॥

ततो जगडूसाधुः १०८ जिनप्रासादान् कारयामास श्रीशत्रुंजये सविस्तरा[र] यात्रात्रयं चकार वर्षमध्ये साधर्मिकवात्सल्याष्टकं सघार्चाष्टकं अनेके दीनदुःस्था उध्धा[द्धा]रिता धान्यदानात् ॥१९॥

[20] श्रीजिनप्रभसूरिदेवगिरिप्राप्तिसम्बन्धः ॥

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयः पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे देवान्नमस्कर्तुं चलिताः। श्रीअहम्मदापरनामपीरोजसुरत्राणेन सह देवगिरौ प्राप्ताः। तत्र तेपा पुरप्रवेशमहोत्सवेन बहुधन व्ययित श्राद्धैः। जिनप्रभसूरयः सर्वेपु प्रासादेपु देवान्नमस्कृत्य गृहचैत्यानि वन्दमानाः सा० जगत्सिंहगृहे गताः, तत्र वर्यवैडूर्यरत्नमयस्फटिकरत्नमयस्वर्णमयरूप्यमयप्रतिमा ववन्दे सूरिः, ततस्तद्गृहत्तीर्थं दृष्ट्वा सूरयो मस्तकं धूनयन्तः। ततः जगत्सिंहेन पृष्ट शिरः कस्माद्धूनितम् ? गुरवो जगुः अस्माभिः स्थाने स्थाने ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे देवा वन्दिताः गुरवोऽपि वन्दिताः, परमधुना एकमिदं भवद्गृहचैत्यम् अपरं अघराल्पुरे तपा श्रीसोमतिलकसूरयो वन्दिता अतोऽधुना तीर्थद्वय सर्वोत्कृष्टं मनसि आयातम, अत' शिरोधूनितम्, तीर्थवन्दनेन मुक्तिसुखमर्ज्यते, यत'—

अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥१॥

१ 'तैल' इति टीप्पणाम् A प्रतौ ।

धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः ।
सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

इति धर्मोपदेशं श्रुत्वा धर्मिष्ठानुरागं च ज्ञात्वा जगसिंह साधुः सविशेषां श्रीजिनप्रभ सूरीणां भक्तिं चक्रे वर्षंवस्त्रान्नपानदानात्[१] ॥२०॥

[21] साधर्मिकभक्तौ जगसिंहसाधुसम्बन्धः ।

सार्धमिकवात्सल्यफलं मुक्तिसमर्पकं श्रुत्वा जगसिंहसाधुर्देवगिरौ ३६० प्रमाणा [णान्] स्वतुल्यव्यवहारिणो धनं व्यवसायादि-साहाय्यकरणादिभिः साधर्मिकाश्चक्रे ततः प्रतिदिनमेकै-कस्मिन् गृहे पक्वान्नादिरसवती निष्पाद्यते[२] । तत्र सकुटुम्बाः सर्वे श्राद्धाः जिमन्ति स्म । तत्र दिनं प्रति [प्रतिदिनं] ७२ सहस्रद्रव्यव्ययो भवति । एवं प्रतिगृहे जिमतां वर्षप्रान्ते द्वितीयवारं वारकः समायाति ततो धर्मकृत्यं कुर्वाणेन जगसिंहसाधुना भरतदण्डवीर्यराजानौ स्मारितौ ॥२१॥

[22] जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ।

एकदा जगसिंहसाधुः श्रीसोमतिलकसूरिपार्श्वे धर्मरूपं [स्वरूपं] पप्रच्छ । तदा गुरुभिः प्रोक्तमेव धर्मतत्त्वम् ये मिथ्यात्वतिमिरान्धा न भवन्ति तेषां पुर एव धर्मः प्रोक्तव्यः जैनमते—

धम्मेण धणं विउलं, आउं दीहं सुहं च सोहग्गं ।
दालिद्द दोहग्ग अकालमरणं अहम्मेण ॥१॥

कथमुत्पद्यते धर्मः, कथं धर्मो विवर्धते ।
कथं वा स्थाप्यते धर्मः, कथं धर्मो विनश्यति ॥२॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो, दयादानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥३॥
अहिंसालक्षणो धर्मो-ऽप्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिना नित्यं, कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥४॥
स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः ।
यं समालम्ब्य[लम्ब]मानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥५॥
संयमः सूनृतं शौचं, ब्रह्माकिञ्चनता तपः ।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥६॥

---
१ पानप्रदानात् B २ निष्पद्यते B. C

धर्मसिद्धौ ध्रुवं सिद्धि-र्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि ।
दुग्धोपलब्धौ सुलभा, संपत्तिर्दधिसर्प्पिषोः ॥७॥

नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
गजेन्द्रपदजं नीरं, निर्द्वन्द्वं भुवनत्रये ॥८॥

कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
शत्रुञ्जयं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥९॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१०॥

इत्युपदेशं श्रुत्वा जगसिंहसाधुरेकोनत्रिंशत्शतमितशकटसहस्रानुमितघोटकद्वापञ्चाशद्देवाल्यादिश्रीसंघः श्रीसोमतिलकसूरियुक्तः श्रीशत्रुञ्जय-गिरनारयोर्यात्रां चक्रे ।

यस्मात् श्रीभरतेश्वराग्रिमनृपाः संजज्ञिरे चक्रिणः ।
श्रीमच्छ्रेणिकसम्प्रतिप्रभृतयस्तीर्थेशभावांचिताः ॥
निःसीमद्रविणानुवन्धिसुकृताः श्रीशालिभद्रादय-
स्तस्मिन्निर्मलधर्मकर्मणि सदा कार्यः प्रयत्नो बुधैः ॥११॥

फलं च पुष्पं च तरुस्तनोति, वित्तं च तेजश्च नृपप्रसादः ।
वृद्धिं प्रसिद्धिं तनुते सुपुत्रो, भुक्तिं च मुक्तिं च जिनेन्द्रधर्मः ॥१२॥

इति जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ॥२२॥

[23] नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे भीमस्य भूपस्य नापितः प्रधानो बभूव । मन्त्रिणो न मन्यन्ते मनागपि, क्रमात् वैरिभिः परितो व्याप्तं राज्यम् । ततो नैके जल्पन्ति मन्त्रिणो विना राज्य यास्यति । मित्रैरपि प्रोक्तम्-नापितस्य परीक्षा कुरु, वैरिषु समेतेषु कथं राज्यं रक्षिष्यति । एकदा राज्ञा नापितः पृष्टः । यदि कदाचित्परचक्र समेष्यति तदा त्वया कथं जेष्यते, का बुद्धिः कथं करिष्यते च ? । ततो नापितोऽवग् आदर्शान् हस्ते कृत्वा निर्गमिष्यते [निर्गमिष्यामः] पुराव तैरादर्शैरेव युद्ध करिष्यते ततस्ते नष्ट्वा यास्यन्ति । ततो राज्ञा ज्ञातमेष नापितो न प्रधानः, यन्मया मन्त्रिणोऽपमानितास्तदयुक्तं कृतम् । यदि मन्त्रिणो न मानयिष्यन्ते तदा राज्यं गमिष्यति । ततो राज्ञा मन्त्रिणो मानिताः । ततो मन्त्रिबुद्धया ये ये वैरिणोऽभूवन् ते ते वशीकृताः ॥

इति नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ॥२३॥

[24] आलस्ये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्ध ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिन पुत्र कुन्तलाभिध परिणयनयोग्य श्रुत्वा चन्द्रपुरात् मदनश्रेष्ठी स्वां पुत्रीं रूपवती दातु समागात् । तदा श्रेष्ठिपुत्र पादमुच्चै कृत्वोर्ध्वस्थित सूर्याभिमुख स्थित्वा च कलशीमध्ये मूत्रयामास । तदा मदनश्रेष्ठी तत्रस्थस्वमित्रपार्श्वे श्रेष्ठिपुत्रस्य कुन्तलस्य वरस्य स्वरूप पप्रच्छ । अस्य धनस्य श्रेष्ठिन कियन्त पुत्रा सन्ति ? तेन यदृच्छवचनात्प्रोक्तम्— अस्य नवपुत्रा सन्ति । क्षणात्पुन पृष्टम् कियन्त पुत्रा श्रेष्ठिन स्म ? तत स प्राह—पञ्च पुत्रा सन्ति । पुन पृष्ट तेन कियन्तोऽस्य पुत्रा ? ततस्तेनोक्त—त्रय पुत्रा । पुन पृष्ट कियन्त पुत्रा श्रेष्ठिन स्म ? तत स प्राह—पञ्च पुत्रा सन्ति । पुन पृष्ट तेन कियन्तोऽस्य पुत्रा ? ततस्तेनोक्त—त्रय पुत्रा । पुन पृष्ट कियन्त पुत्रा अस्य सन्ति ? [स प्राह,] एक एव पुत्र । ततो मदन प्राह—मित्र ! त्वयाऽहं भ्रान्तौ कथ पातित पृथक्पृथग् जल्पनात् ? मित्र प्राह— यन्मयोक्त तत्सत्यमेव यतोऽसौ श्रेष्ठिपुत्र उच्चै स्थित्वा सूर्याभिमुख भूत्वा कलशीमध्ये मूत्रयामास अतोऽस्मिन् श्रेष्ठिपुत्रे त्रयत्व मयोक्तम् यत पञ्च मनुष्या यावन्मात्रमाहार भुञ्जते तावन्मात्रमेक एवाय भुङ्क्ते अत पञ्चपुत्रभाव प्रोक्तो मयाऽस्मिन् निद्राक्षणे कुण्डलीदेहकरणात् [देहकुण्डलीकरणात्] नवडाकारेण [नवाकारेण] स्वपित्यसौ अतोऽस्मिन्नवपुत्रत्व विद्यते यत एवविधो वरोऽन्यत्र कुत्रापि न दृश्यते अत एकपुत्रत्वमस्य मयोक्तम् । एवंविधगुणो वरो विद्यते यदि रोचते तव तदा दीयतां पुत्री, स मूत्रयश्च त्वया दृष्ट. किं कथ्यतेऽधिक तत । श्रेष्ठी समुत्थाय स्वपुर गत । ततो वर विलोकयन् पद्मपुरे वीरमहेभ्यस्य भरणपुत्राय श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं ददौ । तत इतो धनश्रेष्ठिना बहुशिक्षितोऽपि पुत्रो नालस्य मुमोच । ये ये वर द्रष्टुमायान्ति ते त तादृग् दृष्ट्वा ददुर्न स्वपुत्रा यत—

> गच्छन् जल्पन् हसंस्तिष्ठन्, शयानो भक्षयन्पुन ।
> मूर्ख सर्वत्र लभते, पदं पदे पराभवम् ॥१॥

तत साऽलसता श्रयन् न परिणीत तत्पितरि मृत मूर्खत्वाऽलसत्वाभ्यां पराभव-स्थान बभूव ॥ इति अलसत्वविषये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्ध ॥२४॥

[25] नागार्जुनसम्बन्ध ।

सुराष्ट्रदेशभूषणे ढुकपर्वते राजा रणसिंहो राज्य कुर्वन् न्यायाध्वना पृथिवीं पालयति स्म । तस्य पद्मावती पत्नी बभूव । तयोर्भोपालाह्वा सुताजनि क्रमात्सा विद्याकला पाठिता क्रमाद् राजा वर विलोकयन् नवसारिकानगर अरिसिंहनरेन्द्राय ददौ इतस्तस्या रूपेण मोहितो वासुकिरभूत् यत —

> अक्खाण[र]सणी कम्माण मोहणी, तह वयाण बंभवय ।
> गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥ १ ॥

ततो वासुकिः शुक्र(रूप)परावृत्तिं कृत्वा तां सेवते । पुत्रः क्रमादभूत् । तस्य नागार्जुनेति नामाभूत । स च जनकेन स्नेहेनाभ्येत्य सर्वासामौषधीनां फलानि मूलानि दलानि भोजितो । बलेन तस्य प्रभावात् सिद्धपुरुषो जातो, विख्यातः स च क्रमात्प्रतिष्ठानपुरे शातवाहनभूपस्य विद्यागुरुरभूत्, यतः—

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ २ ॥

स च नागार्जुनो व्योमगामिविद्यार्थं श्रीपादलिप्तानकपुरे श्रीपादलिप्ताचार्यान् सेवते स्म । ते चाचार्याः पादलिप्तौषधीबलेन वरेऽवसरे अष्टापद–समेतशिखर–शत्रुञ्जय–गिरिनारार्बुदाचल-तीर्थस्थान जिनेन्द्रान् वन्दते स्म । तेषां पश्चादागतानां सूरीणां पादौ प्रक्षालयन्नागार्जुनो नासा-बलेन सप्तोत्तरशतौषधीनां नामानि जज्ञौ, गुरूपदेशं विनापि ताभिरोषधीभिः पादलेपं कृत्वा कुर्कुटपोत इवोत्पतन् निपतति भूमौ, ततो व्रणजर्जरिताङ्गोऽन्यदा गुरुभिः पृष्टः किमेतदिति, ततस्तेन यथास्थिते प्रोक्ते तस्य च कौशल्येन चमत्कृतमानसा गुरवः शिरसि हस्तं दत्त्वा जगु, महानुभाग[व] ? सम्पूर्णमाम्नाय गुरुदत्तं विना विद्या न स्फुरति नृणाम । तेनोक्तम—भगवन् ! प्रसन्न विद्याम्नायं देहि, ततो गुरुणोक्तम—यदि त्वं शत्रुञ्जयादिपञ्चतीर्थं नत्वैवासि तदाहं अष्टोत्तरशतमोषधं कथयिष्ये ततस्तेन गुरूक्त प्रतिपन्नं, ततो गुरवो जगुः—षष्टितन्दुलोदकेन सर्वा औषधीर्वर्पयत, ततस्तासां लेपेन पादलिप्तेन व्योमगामी भविष्यसि, त विद्याम्नायं प्राप्य नागार्जुनो व्योमगामी बभूव । ततः स प्राप्तखगविद्यो गुरूक्त देवनतिं कृत्वैवास्ति । एकदा गुरुमुखात्स्वर्ण-रससिद्धिनिष्पत्तिं श्रुत्वा साधयितुं प्रवृत्तः रसो निष्पादितः पर स्थैर्यं न याति ततो गुरुपार्श्वे रसस्थैर्यस्वरूपं पप्रच्छ, गुरुभिरुक्तं–सप्रभावायाः श्रीपार्श्वप्रतिमायाः दृष्टौ साध्यमानो रसो लसल्लक्षणलक्षितया महासत्याखिया मृद्यमान स्थिरो भविष्यति, एतत् श्रुत्वा नागार्जुनेन वासुकिः स्वपिता ध्यातः प्रत्यक्षोऽभूत् । पृष्टं च तस्य पार्श्वनाथप्रतिमा दिव्या कथय । वासुकिः प्राह—पूर्वं द्वारवत्यां कृष्णेन श्रीपार्श्वप्रतिमा सप्रभावा श्रीनेमिमुखात् श्रुत्वा सप्तवर्षौं यावत्पूजिता द्वारवत्या दाहे समुद्रमध्ये देवेन मुक्ता । काले कान्तिपुरीवासिनो धनदत्तस्य समुद्रमध्ये यानं वलितं तत्र देवतयाभ्येत्योक्तम्—अत्राधस्तात् श्रीपार्श्वबिम्बं समस्ति तच्च कचसप्ततन्तुभिर्मु-क्तैर्बहिः समेष्यति, तेन तथा कृते पार्श्वबिम्ब निर्गतम् । कान्तिपुर्यामानीतम् यतः—

सुप्रभावमयं पार्श्व–नाथबिम्बं मनोहरम् ।
कान्त्यां पुरि जनैः पूज्य–मानमस्ति जिनालये ॥३॥

ततो नागार्जुनस्तत्र गत्वा बहुषु लोकेषु वन्दनार्थं दिवानिशमाग[च्छ]त्सु हर्तुं न शक्नोति । एकदाऽवसरं प्राप्य छलेन सा प्रतिमा तेन हृता सेढीनदीतटे रसबन्धनार्थं मण्डिता सातवाहनस्य भूपस्य चन्द्रलेखां महासतीं रसमर्दनार्थं तत्रानिनाय, सा नागार्जुनेन भगिनीति कृत्वा स्थापिता रसं मर्दयति स्म, तया तदौषधीनां रसमर्दनकारणे पृष्टे स्वर्णसिद्धिनिष्पत्तिहेतुं स तस्याः पुरो

गतौ तथा च तत्रागतयोर्द्वयो महोक्षयो[1] पुरो रससम्बन्धस्वरूप प्रोक्तम्, ततस्तौ राज्यसुखं मुक्त्वा रसलुब्धौ कैतवेन नागार्जुन सेवेते स्म । रस जिघृक्षू यत्र नागार्जुनो जिमति तत्र तौ छन्न रन्धनीं पृच्छत स्मेति । अत्र क को जेमितुमायाति । तथा नागार्जुनागमनमुक्त ताभ्यामुक्त च तत त्व नागार्जुनाय सलवणां रसवतीं कुर्या सदा यदा स क्षारां वदेत् तदा प्रोक्तव्य[प्रवक्तव्य]मस्म पुर । षष्ठी भीरर्पिता ताभ्यां तस्या' । अन्येद्यु षण्मासान्ते तथा प्रावतद्—अद्य तन क्षारा रसवती प्रोक्ता ततस्ताभ्यां राजकुमाराभ्यां रसो मिलितो ज्ञात', ताभ्यां पृच्छद्भ्यां वासुकिना प्रोक्त कुशाङ्कुरात् मरणम[मरणमस्य] नागार्जुनस्य ज्ञातमितो नागार्जुन क्षुद्ररसेन कृतपौ द्वौ भूत्वा दु कपवतस्य गुहायां रहसि चिक्षेप । तत पर्वताद्वलमानो नागार्जुनो विमृर्ग[विमग] विना ताभ्यां क्षत्रियाभ्यां दर्भाङ्कुरेण जघ्ने तदा मृत' स' ।

अजाते चित्रलिखिते, मृते च मधुसूदन ।
क्षत्रिये त्रिषु विश्वास-श्चतुर्थो नोपलभ्यते ॥४॥

तौ कुतुपौ देवतयाधिष्ठितौ राजपुत्रयो किमपि न घटित हस्ते देवतया हृतौ तौ पापिनौ नरक गतौ एव जीवा पापपरा पापफल सद्यो लभन्ते । रसस्तम्भनात्तत्त्वावत्यास्तम्भननामा भूत् । पार्श्वदेवस्यापि स्तम्भनमिति नाम तत कालान्तरे सेढीनदीतटस्थं स्तम्भनपार्श्वनाथबिम्ब स्तम्भनपुरे समायात तद्यापि तत्र पूज्यते ॥ इति नागार्जुनसम्बन्ध ॥ २५ ॥

[26] खलभक्षणे धनश्रेष्ठिकथा ।

चन्द्रपुरे धनश्रेष्ठी तस्य गृहे सुवर्णस्य चतस्र' कोटय सन्ति । सदा मधुराहारवरवस्त्र परिधापनदेवगुरुश्रीसङ्घपूजादिना सज्जनसम्मानादिना च कालं गमयति ।

एकदा राजा राजमार्गे गच्छन् तस्य सदनस्योपरि चतस्रो ध्वजपताका दृष्ट्वा मन्त्रि पार्श्वे पप्रच्छ किमतो ध्वजपताका अत्र दृश्यन्ते मन्त्रिणोक्तम्—अस्य गृहे चतु कोटिमित स्वर्ण मस्ति ततस्तद्गृहीतुकामो भूपोऽन्यत्र ग्रामान्तरे गत', तदानी श्रेष्ठिनस्तदाकस्मात् खलभक्षणे वाञ्छा जाता ज्ञात तेनेति एतया वाञ्छया राजा मम धन ग्रहीष्यति अथवा चौरादयोऽन्यो ग्रहीष्यन्ति यत—

दायादा स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्तिच्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भ प्लावयति क्षितौ विनिहित यक्षा हरन्ते हठात्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधन धिग्बह्वधीन धनम् ॥ १ ॥

एव विमृश्य तेन श्रेष्ठी सर्वा श्रिय सप्तसु क्षेत्रेषु दीनदुस्थादिषु व्ययीचक्रे । राजा पश्चादागच्छन् ध्वजपताका अदृष्ट्वा लक्ष्मीव्ययसम्बन्धं च ज्ञात्वा चमत्कृतोऽभूत्, चेतसि श्रेष्ठी

(१) महोदरयो B C.

आकारितः । पृष्टो राजा [राज्ञा] तदावदत् स्वसम्बन्धं खलभक्षणदोहदलक्षणं च ततो राजा हृष्टस्तस्मै स्वकोशाच्चतुःकोटिमितं स्वर्णं दापयामास । तस्य पुण्यप्रभावात्ततो यावन्मात्रां श्रियं व्ययति तावन्मात्रा श्रीरकस्मान्मिलति, ततश्चिरं स्वां श्रियं सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययन् कालक्रमात् दानवितरणेन स्वर्गं श्रेष्ठी ययौ ॥ इति खलभक्षणे धनश्रेष्ठिकथा ॥ २६ ॥

[27] नीचकुलोत्पन्नोप्युत्तमो भवतीति द्विजकथा ।

कस्मिन्पुरे [कस्मिंश्चित्पुरे] वेश्या क्रमाज्जरती जाता, तस्या एकः पुत्रोऽस्ति । तया चिन्तितं मया बहु पापं कृतं पुत्रजननात्, यदि हन्यते तदापि पापं भवति अतोऽहं गङ्गाया गत्वा पापं स्फेटयिष्यामि इति ध्यात्वा सा वेश्या पुत्रेण सह तत्र नद्या गता मठवासिकारूपं कृत्वा स्थिता गंगाया स्नानादिपुण्यं पुत्रयुता करोति, द्विजमुखाद्वेदस्मृतिपुराणादि जज्ञे । स वेश्यापुत्रः । क्रमात्तत्र द्विजो मुकुन्दस्तं तादृक्ष विचक्षणं वेदविदुरं बहुदानपरं दृष्ट्वा दध्यौ अयं वर्यो वरोऽस्ति मम पुत्री विद्यते विवाहार्हा जाता यद्यस्मै दीयते तदा वरमस्य माता च धर्मशीला विद्यते, गृहे धनमप्यस्ति एवं विमृश्य द्विजेन पुत्री तस्मै मठवासनिकापुत्राय दत्ता । पुत्रं वधूयुतं परिणीतं स्कन्धयोरुभयतः कृत्वा नर्त्तयन्तीति प्राह—

सोनईशाखा धनिं कुलकोड्ड वेद वियारि ।
दे मति केरो बेटडो परिणइ दीक्षित कुआरि ॥१॥

ततस्तेन मुकुन्देन तस्याः पार्श्वात्तस्य वरस्य सम्वन्ध श्रुत्वा मौनं कृतं, बहुलक्ष्मीविद्यादि-गुणयुतत्वात् अतो न कुलादि वीक्ष्यते किन्त्वाचार एव यतः—

कैवर्तीगर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जात-स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
शुशुकी[शशकी]गर्भसंभूतो, ऋष्यश्रङ्गो महामुनिः ।
तपसा० ॥२॥
मण्डूकीगर्भसंभूतो, माण्डव्यश्च महामुनिः ।
तपसा० ॥३॥
उर्वशीगर्भसंभूतो, वशिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा० ॥४॥
शीलं प्रधान न कुल प्रधानं, कुलेन किं शीलविवर्जितेन ।
बहवो जना नीचकुले प्रसूताः, स्वर्गं गताः शीलमुपेत्य वर्यम् ॥५॥

ततः सर्वेषु द्विजेषु वेदविदुरेषु मुख्योऽभूत् ॥

इति नीचकुलजातोऽप्युत्तमो भवतीति ब्राह्मणकथा ॥२७॥

[28] निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा

एकस्मात्पुरात् योगी चेल्लकयुतोऽचालीत्, अग्रे गच्छन् योगी च द्रपुरमार्गं पप्रच्छ, पुमान् प्राह—एको मार्गः सरलोऽदूरेऽस्ति पर चौरादिविघ्न विद्यते तत्र। द्वितीयो मार्गो विषमोऽस्ति पर निरुपद्रवः। तदा योगी द्रव्यरहितः सोपद्रवेऽपि मार्गे गन्तु वाञ्छति चेल्लकस्तु नेच्छति द्रव्यापहरणभयात् मार्गे योगी दध्यौ असौ चेल्लकः कथ स्तेनक्लेशयुक्तमार्गं गन्तु नेच्छति एव ध्यायन् चेल्लकस्य वचोऽवगणय्य सोपद्रवमाग चलितु तस्थौ इतश्चेल्लके पुरान्तरे गते कस्मैचित्कार्याय झोलिकामध्ये रूप्यटककभृता वासनिका वीक्ष्य दध्यौ। असौ चेल्लको धनगमनभयात् सोपद्रवमार्गं यान्तु नेहते ततो द्रव्य न वर तपस्विन। एव ध्यात्वा वासनिका छन्न कूपे चिक्षेप। चेल्लकः पुरादागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—यस्मिन् मार्गे रोचते तत्र गम्यताम्। ततो द्वावपि निर्ग्रन्थीभूतौ निर्भयौ सोपद्रवेऽपि माग चेलतु। ततो धन तपस्विना क्लेशभूत मत्वा निस्पृहौ श्वेताम्बरश्रीदमघोषसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैनीं दीक्षा गृहीत्वा तपस्कुर्वाणौ स्वर्ग जग्मतुः क्रमा मुक्ति गमिष्यतः॥

इति निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा ॥२८॥

[29] धर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा।

एकदा भीमसाधोरावासार्थं वर्यकाष्ठानि आगतानि। तदा हृष्ट भीम दृष्ट्वा पत्नी प्राह—गृहाणि वर्याणि वयतराणि भवे भवे कारितानि सन्ति स्वर्विमानेऽपि स्थितं भूरिशः। पर तत्सर्वमिहलोकार्थं धर्मकार्ये यदि धर्मशालादिनिष्पत्तये काष्ठानि समायान्ति तदा वरं। भीमः प्राह—कुत्र धर्माय काष्ठानि स्थापयिष्यन्ते? भार्या जगौ—धर्मशाला कार्यते तत्र बहुपुण्यं भवति यत—

वसही–सयणासण–भत्त–पाण–भेसज्ज–वत्थ–पत्ताइं।
जइवि न पज्जत्तधणो थोवावि हु थोवयं देइ ॥१॥

एव विमृश्य स्तम्भतीर्थे आलिगवसत्यां धर्मशाला कारिता पुण्यार्थं। तत्र १४०० टंकका लग्ना। तदैकेन केनचित् पुंसा भीमसाधुपुरतः प्रोचे—द्रव्य बहु व्ययित शाला तु पुराद्बहिरस्ति तत्र को धर्मं कर्तुं समेष्यति? ततो भीमोऽवग् कदाचिदुत्सूरे सकाले वा कोऽपि कृपिकः पौटलिको विश्रामार्थं स्थित एकसामायिक लास्यति तदा शालाल्लनथनादनन्त पुण्य भविष्यति, यतः—

सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेण, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥ १ ॥
सामाइअं कुणंतो, समभाव सावओ घडीदुग्ग।
आउं सुरे सुबधइ, इत्तीमित्ताइं पलिआइं ॥ २ ॥
बाणमइकोडीओ, लक्खा गुणसट्ठि, सहस्सपणवीसा।
नवसय पचवीसाए, सतिहा अडभाग पलिअस्स ॥३॥

अंकतः ९२,५९,२५,९२५ एकसामायिकलाभः ॥ इत्यादिधर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा ॥२९॥

[30] धर्मदृढतोपरि आलिंगविप्रप्रासादकथा ।

आलिंगवसतीति नाम जातम् । पूर्वम आलिंगाह्वो द्विजोऽभूत् । तेन श्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे जिनप्रासादादिकरणे महत्पुण्यं भवति [तीतिश्रुतम्] । एकदाऽसौ अवग्–भगवन् ! लोका वदन्ति सन्तानं विना स्वर्गो न भवति । गुरवः प्रोचुः—सन्तानं विनाऽपि स्वर्गं गच्छन्ति जनाः, सन्ताने सति कदाचित्स्वर्गः, पुण्यप्रभावादेव । सन्तानेन यदि स्वर्गः स्यात्तदा शुनीशुनादि [श्वानादि] जीवा बह्वपत्याः प्रथम स्वर्गं गच्छन्ति [गच्छेयुः] । असन्ताना अपि [च] मुक्तिं गमिष्यन्ति [गच्छन्ति], यतः—

बहूनि हि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणा–मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥१॥

गुरुणोक्तं–श्रीऋषभदेवस्य यदि कृष्णवर्णा प्रतिमा कार्यते तदाऽनन्तं पुण्यं मुक्तिगमनयोग्यं भवति, परं सन्तानं न भवति । अग्रतः एतव् श्रुत्वा आलिंगो जगौ—भगवन्नहं श्रीऋषभदेवस्य कृष्णवर्णां प्रतिमा कारयिष्यामि, बहुपुण्यलाभात्, सन्तानेन किं प्रयोजनम् ? सन्ताने सत्यपि रावण–श्रीकृष्ण–दुर्योधन–सुभौम–ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादयो बहवो नरकं गताः । अतोऽह श्रीऋषभदेवप्रतिमा श्यामवर्णां कारयिष्यामि । ततस्तेन सन्तानाभावमवलम्ब्यादि[पि] श्रीऋषभदेवप्रतिमा श्यामवर्णा कारिता, स्थापिता स्वकारितप्रासादे, तत आलिंगेन तत्र प्रतिमां ता पूजयता मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमुपार्जितम् ॥ इति धर्मदृढताविषये आलिंगविप्रप्रासादकथा ॥३०॥

[31] शनि–शिवसंवादसम्बन्धः ।

एकदा बहुपु ब्रह्मादिदेवेपु मिलितेपु स्वस्वोत्कर्पं जल्पत्सु शनिना प्रोक्तम्—अह सर्वेपु देवादिपु सुखदुःखे कर्त्तुं समर्थः । तदेश्वरेणोक्तम—ज्ञास्यते तव कृतं सुखं दुःखं च । एव प्रोच्य शम्भुः स्वगृहेऽभ्येत्य पार्वतीं प्रति स्वचेष्टित जगौ । ततः शम्भुः स्वय महिषरूपं, पार्वत्या महिषीरूपं कारयित्वा नगरखाले अशुचिमये स्थितौ, द्वावपि तृतीये दिने तस्मिन् व्यतीते ईश्वरपार्वत्यौ खालान्निर्गत्यागतौ गृहे, तत ईश्वर शनिपार्श्वे गत्वाऽवग्–त्वदीया दशा गता कल्ये त्वया किमपि मम दुःख न कृतम् । शनिर्जगौ त्व कुशस्थाः [कुत्राऽस्थाः ?] ईश्वरः स्वस्थितिं जगौ, ततः शनिः प्राह्—अहं किं स्कन्धे हन्मि जेतु हृदये वा किन्तु तां तादृशीं धियं ददामि यया स्वयं दुःखे पतति त्वं त्वशुचिमये खाले स्थितः अतः परं किं दुःखम् अह यद्दुःखादि जनेभ्यो ददामि तदपि कर्मणा प्रेरितः । ततः शम्भुर्जगौ सत्यमेव कर्मकृत सुख दुःख जीवा लभन्ते—

यादृशं क्रियते चित्त, देहिभिर्वर्णनादिपु ।
तादृशं कविवन्नूनं, जायते सततं जने ॥१॥

इति लौकिककथा शनिशम्भुजल्पनविषया समाप्ता ॥३१॥

[35] धर्मे भोजकथा ।

भोजराजा मरणसमये सर्वजननिनो यथायोग्य सन्मान्य मन्त्रीशानाकार्य जगौ—'पुण्य स्तोक कृत पाप बहु तेन भवद्भिर्मम मरणादनु मम एको हस्तोऽञ्जनलिप्तो, मनाक्च चन्दनरसालिप्तो हस्तो द्वितीयो विधातव्य । मन्त्री प्राह—कथमेव प्रोच्यते ? भोजः प्राह—लोको मामेवविध मत्त्वा [मत्वा] पुण्य कुर्वन्ति । ततो भोजे मृते तथैव कृत्वा दाहार्थं नीयमानं भोज भूप, लोका जगु—कथ राज्ञो हस्तावीदृशौ कृतौ । ततो मन्त्रिभिर्भूपोक्त प्रोक्त ततो बहवो जना पुण्ये कृतान्तरा बभूवु ॥ इति धर्मविषये भोजकथा ॥ ३५ ॥

[36] कृपणत्वे छलभूपकथा ।

एकदा क्षाल्लोवाटिकाधिपच्छलराजा पूर्वं दान न ददौ । मरणसमये दानेच्छाऽभूत् । पुत्राणामग्रे प्राह—मम एतासा गवा एतेषा घोटकाना एतेषा रथानां, [एतासां च] रमाणां दाने च्छाऽस्ति । तदा मन्त्र्यादिभि पुत्रैश्च विमृष्ट—असौ सर्वं राज्य दास्यति, उत्तरमस्य दीयते ऽधुना—'मरणादनु सर्वं दास्यते' । एव जल्पिते [जल्पिता] ते भूभुजा पुत्रा किमपि न ददु, स च मृत । एव यत्स्वहस्तेन प्रथम दीयते, तदेवात्मीय नान्यत् । मरणसमये हिता अपि पुत्रा विघटन्ते ॥ इति कृपणत्वे छलभूपकथा ॥३६॥

[37] धर्मदृढतोपरि डीसावालसारङ्गसम्बन्ध ।

वटप्रद्रे डीसावालः मन्त्री सारङ्गाह्व, स च मिथ्यात्व करोति । तस्य माता जैनं धर्म करोति । एकदा माताऽवग् पुत्र ! त्व तु मिथ्यात्व कुरुषे जिनधर्मं तु न कुरुषे । जिनधर्मं विना मुक्तिर्न भवति वीतरागासेवनत्वात् । मम तु मरणावसरोऽस्ति, त्वया मम मरणादनु जैना साधवो धर्मशालायां वन्दनीया । सारङ्गो जगावेवमस्तु त्वयाचिन्ता न कर्तव्या । मातरि मृतायां सारङ्गो जैनान् साधून् न वन्दते मिथ्यात्वमेव करोति । माता स्वर्गता सती पुत्रस्नेहात्पुत्रबोधनार्थं रात्रावभ्येत्यैक श्लोक दत्त्वाऽवग्—योऽस्य श्लोकस्यार्थं कथयति तस्य पार्श्वे त्वया धर्म कार्य । अह तव माता । एव प्रोच्य गतायां मातरि, सारङ्ग स्थाने स्थाने द्विजादीनां पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ, पर न जज्ञौ । तत सिद्धपुरे श्रीदेवसुन्दरसूरेस्तपागच्छाधिपस्य पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ जज्ञौ—

कामकान्त व्रजे स्थान, शिशिरा वापय भुते ।
अरोदित मत प्राप, त्वया पुत्रान्तदर्शनात् ॥१॥

मत जैन शिवाय ते' ततो जैनं धर्मं प्रपद्य सम्यक्त्वधारी श्राद्धोऽभूत् । शत्रुञ्जये गत, तत्र श्रीऋषभ नत्वा स्तुतिमेव चक्रे 'धन्य स मास, धन्य स दिवस धन्य स पक्षः' इत्यादि देवैरपि चालित सन् न चालित ॥ इति धर्मदृढताविषये डीसावालसारङ्गसम्बन्ध ।

[38] प्रस्तरतरणे राममहिमा ।

एकदा पीरोजसुरत्राणेन मुकुन्दपण्डितस्याग्रे प्रोक्तम्—अहं महान् अथवा रामः ? ततस्तेन ज्ञेन जलमानायितं, तत्र अयं पाषाणो जले क्षिप्यतां । राज्ञा पाषाणो जले क्षिप्तो ममज्ज । ततो राज्ञोक्तम्-[व्यक्त्या] व्यक्तं जल्प, भयो नानेयः । ततो ज्ञोऽवग्-रामस्य सेवकैर्हनुमदादिभिर्जले मुक्ताः प्रस्तरास्तेरुः, अयं तु पाषाणो मग्नः, यत.—

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे,
वार्द्धौ वीर (?) तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च ।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः,
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा सोऽयं समुज्जृम्भते ॥१॥

एवं प्रोक्तो राजा हृष्टः ॥ इति प्रस्तर तरणे राम महिमा ॥३८॥

[39] औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छाग–छागमातृकथा ।

एकदा छागो मातरं प्रति जगौ मातर ! दीपालिका समेष्यति मदीयौ शृंगौ त्व भूषयेस्तदा माताऽवग्–पुत्र ! यदि महिणिमाया (?) अश्विनशुद्वनवम्या तव कुशलं भविष्यति तदा तव कथितं करिष्ये । एतच्छ्रुत्वा भीमभूपेन छागमारणेऽभिग्रहो गृहीतो, महिणिम पर्वणि जीवहिंसा त्यक्ता, अन्यत्पक्वान्नादिबलिश्च कृतः ॥

इति औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छागछागमातृकथा ॥३९॥

[40] अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ।

भोजराजोऽन्यदा रात्रेर्मध्ये काव्यपदत्रयमेवं पुन' पुनरुच्चैर्जजल्पेति—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः, सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः, ... ॥ इति

पदत्रयं भूपेन प्रोच्यमान पुनः पुनः श्रुत्वा चौरः पूर्वं गृहान्तः प्रविष्टो जगौ—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' इति

ततो राजा त चौरं मत्वा भृत्यपार्श्वात् धृत्वा प्रातस्तं विज्ञं लक्ष्मीदाने[न]सम्मानयामास ॥ इति अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ॥४०॥

[41] अनित्यतायां वस्तुपालमन्त्रिकथा ।

एकदा श्रीवस्तुपालमन्त्री स्तम्भतीर्थे ययौ । तदा लोकाः समेत्योचु —'युष्माकं शरीरे कुशलमस्ति ! तदा वस्तुपालमन्त्री अवग्—

[32] निष्कूपोपरि मरुस्थलीवर्णनम् ।

माता गंगासमं तीर्थं, पिता पुष्करमेव च ।
तीर्थं फलति कालेन, माता-तीर्थं पुनः पुनः ॥१॥

इत्यादि ध्यात्वा मातापितरौ कावडिकायां स्थापयित्वा विप्रस्तीर्थानि करोति। तीर्थानि कुर्वन् मरुस्थल्यां गच्छन् अधः प्रचुरसिकतायां हिण्डितुमशक्नुवन् जलं स्तोकं पिबन् मृगतृष्णिकां पश्यन् पदे पदे जलभ्रान्त्या धावन् खिन्नः सन् प्रथमं पितरं स्कन्धादुत्तारयामास। पिताऽवग् अहमक्षमस्तीर्थं [कर्तुं] कथमुत्तारयसि ? पुत्रोऽवग् इयं तु मरुस्थली कष्टा एवं मातरमपि स्कन्धादुत्ताय स्वेच्छयाऽचालीत्। मातापितरौ पादचारिणौ पुत्रस्य पृष्ठौ [पृष्ठतः] दुःखेन चलतः ॥

इत्यादि मरुस्थलीवर्णनं निष्कूपोपरि ॥३२॥

[33] ध्याने [विचारे] वैद्यकथा ।

यादृशं क्रियते चित्त, सदसद्वस्तुवर्णने ।
कवेरिव भवेत्तादृग्, जनानां भावुकात्मनाम् ॥१॥

तथाहि—एकदा श्रीरामस्य सुबुद्धिनामा कविरभूत् स च श्रीरामकारितं पम्पासरः काव्यैर्नित्यं वर्णयति स्म। वैद्या बहवः श्रीरामस्य परिवारस्य रोगोत्पत्तौ चिकित्सां कुर्वन्ति स्म। अन्यदा सुबुद्धिकवेः सरो वर्णयतस्तद्ध्यानाज्जलोदरं वर्द्धितं, वैद्यो विचारविज्ञस्तस्य चिकित्सां कारयति बहुप्रकारैः, परं गुणो न भवति यतः—

वैद्यस्तर्कविहीनो, निर्लज्जा कुलवधूर्व्रती पीनः ।
कल्कं च प्राघूर्णको, मस्तकशूलानि चत्वारि ॥२॥

ततः एकस्तत्र वैद्यो वृद्धो विचारज्ञः समागात्। राज्ञा तस्य रोगचिकित्सायै आदिष्टम्। ततस्तेन वृद्धेन वैद्येन शरीरस्वरूपं विलोक्य शालिशालिघृताम्बियं [भोजनं दत्तम्] ददता तस्य तथा भोजनं कुर्वाणस्य वैद्येनेत्यादिष्टम् मरुस्थलं वर्णय। ततः एवं वर्णयति—

मृगतृष्णां सदा दर्शं, दर्शं तृषितवक्षसम् ।
ओष्ठं तालु गलादीनि, शुष्यन्ति स्म दिने दिने ॥३॥

इत्यादि वर्णयतस्तस्य रोगिणो जलोदररोगो गतः। श्रीरामेण पृष्टं-भो वैद्य ! मरुस्थलवर्णनेन कथमस्य रोगो यातो ? वैद्योऽवग् पूर्वमनेन सरो जलभृतं भूरिशो वर्णितं तेन जलोदररोगोऽभूत् सरोध्यानात्, अधुना मरुस्थलवर्णनाद् रोगो गतः यादृशं ध्यानं तादृशं मनः यादृग्मनस्तादृग्वपुर्भवति शुभाशुभवर्णनाच्छरीरी प्रसन्नोऽप्रसन्नो भवति, यतः—

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य, सरागत्वं तु निश्चितम् ॥४॥

येन येन हि भावेन, युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणी यथा ॥५॥

इलिका भ्रमरीध्यानात्, भ्रमरी जायते यथा ।
तथा ध्यानानुरूपः स्यात्, जीवोऽशुभशुभात्मवान् ॥६॥

अतोऽस्य मरुस्थलं वर्णयतो रोगो गतः । ततो वैद्यो मानितः । यतः—

अलंकरोति हि जरा, राजामात्यभिषग्यतीन् ।
विडम्बयति पण्यस्त्री–मल्लगायन[क]सेवकान् ॥७॥

इति ध्याने वैद्यकथा ॥३३॥

[34] नीचानीचविचारविषयिकी लौकिकी कथा ।

जन्मना तु ध्रुवं वर्य–मवर्यं जायते कुलम् ।
प्रायो भवति मर्त्यानां, क्रियया विप्रवज्जने ॥१॥

तथाहि—कस्यचिद्विप्रस्य विज्ञस्य यजनयाजनाध्ययनाध्यापनादिषट्कर्मकारकस्य गृहे एकस्तपस्वी स्वं धौतिकं मुक्त्वा गतस्तीर्थयात्रायै, स तपस्वी देवदत्ताह्वः तपःप्रभावाद्ब्रह्मायुष्कः सन् तीर्थे भ्रमति स्म। इतः स द्विजो मृत्युसमये स्वं पुत्रं प्रति प्राह—इदं धौतिकं तपस्विनो देवदत्तस्यास्ति यदा मार्गयति तदाऽर्पणीयं त्वया। पितरि मृते क्रमाद् द्विजपुत्रो निर्वाहाभावात् कुम्भकारकर्म करोति। इतः स तपस्वी तत्रागतः स्वस्य धौतिकस्यार्थं गृहं पृच्छन् (जज्ञौ)। परमस्य गृहे कुम्भकारकर्म दृष्ट्वा धौतिकं तथैव मुक्त्वाऽन्यत्र तीर्थयात्रायै गतः। क्रमात् स द्विजः कुम्भकारकर्म्म मुक्त्वा भारवाहोऽभूत्। पुनस्तत्रागतः स्वं धौतिकं पूर्ववत्तत्र दृष्ट्वा तथैव मुक्त्वा गतः। स भारवाहः परलोकं गच्छन् स्वपुत्राय परम्परागतं धौतिकसम्बन्धं जगौ। ततस्तस्मिन् तत्पुत्रो राजसेवकोऽभूत्। तत्रापि पूर्ववत्तत्रागतस्तस्य गृहेऽन्यत्कर्म दृष्ट्वा यात्रायै गतः, स सेवको मृतः, तस्य पुत्रो ग्रामहट्टकोऽभूत्। पुनः स तपस्वी तत्रागात्। तस्य गृहे अनीदृशं कर्म्म दृष्ट्वा धौतिकं सम्भाल्य तथैव मुक्त्वा गतः। ततो ग्रामहट्टको वैदिकद्विजयोगात् चतुर्वेदी द्विजो जातः। इतो भ्रान्त्वा तपस्वी तत्रागात् पूर्वक्रियां वैदिकीं यजनयाजनादिकां दृष्ट्वा हृष्टोऽभूत्। ततस्तेन द्विजेनोक्त—भो तपस्विन्! भवता कथं हृष्टं, तपस्व्यवग्–यजनादिविद्ब्राह्मणादारभ्य सर्वं सम्बन्धं तस्याग्रे, ततः स तपस्वी स्वधौतिकं लात्वा जगौ—यादृशो योगस्तादृक् पुमान् भवति। उत्तममध्यमजघन्यादिविचारो न क्रियते। ततः स तपस्वी स्वस्थानं ययौ ॥

इति नीचानीचादिविचारकथा लौकिकी ॥ ३४ ॥

[35] धर्मे भोजकथा ।

भोजराजा मरणसमये सर्वदर्शनिनो यथायोग्य सन्मान्य मन्त्रीशानाकार्य जगौ—'पुण्य स्तोक कृत पाप बहु तेन भवद्भिर्मम मरणादनु मम एको हस्तोऽञ्जनलिप्तो, मनाक्चन्दनरसालिप्तो हस्तो द्वितीयो विधातव्य' । मन्त्री प्राह—कथमेव प्रोच्यते ? भोज प्राह—लोको मामेवविध मत्त्वा [मत्वा] पुण्य कुर्वन्ति । ततो भोजे मृते तथैव कृत्वा दाहार्थे नीयमानं भोज भूप, लोका जगु—कथ राज्ञो हस्तावीदृशौ कृतौ । ततो मन्त्रिभिर्भूपोक्त प्रोक्त ततो बहवो जना पुण्ये कृतादरा बभूवु ॥ इति धर्मविषये भोजकथा ॥ ३५ ॥

[36] कृपणत्वे छलभूपकथा ।

एकदा झाझोवाटिकाधिपच्छलराजा पूर्वं दान न ददौ । मरणसमये दानेच्छाऽभूत् । पुत्राणामग्रे प्राह—मम एतासां गवां, एतेषां घोटकानां एतेषां रथानां, [एतासां च] रमाणां दानेच्छाऽस्ति । तदा मन्त्र्यादिभि पुत्रैश्च विमृष्ट—असौ सर्वं राज्य दास्यति, उत्तरमस्य दीयते ऽधुना— मरणादनु सर्वं दास्यते" । एव जल्पिते [जल्पिता] ते भूभुजा पुत्रा किमपि न ददु, स च मृत । एव यत्स्वहस्तेन प्रथम दीयते, तदेवात्मीय नान्यत् । मरणसमये हिता अपि पुत्रा विघटन्ते ॥ इति कृपणत्वे छलभूपकथा ॥३६॥

[37] धर्मदृढतोपरि डीसावालसारङ्गसम्बन्ध ।

वटप्रद्रे डीसावाल' मन्त्री सारगाह्व, स च मिथ्यात्व करोति । तस्य माता जैन धर्मं करोति । एकदा माताऽवग् पुत्र ! त्व तु मिथ्यात्व कुरुषे जिनधर्मं तु न कुरुषे । जिनधर्मं विना मुक्तिन भवति वीतरागासेवनत्वात् । मम तु मरणावसरोऽस्ति, त्वया मम मरणादनु जैना साधवो धर्म शालायां वन्दनीया । सारगो जगावेवमस्तु त्वयाचिन्ता न कर्तव्या । मातरि मृतायां सारगो जैनान् साधून् न वन्दते मिथ्यात्वमेव करोति । माता स्वर्गता सती पुत्रस्नेहात् पुत्रबोधनार्थं रात्रावभ्येत्यैक श्लोक दत्त्वाऽवग्—योऽस्य श्लोकस्यार्थं कथयति तस्य पार्श्वे त्वया धर्म' कार्य । अह तव माता । एव प्रोच्य गतायां मातरि, सारग स्थाने स्थाने द्विजादीनां पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ, पर न जज्ञौ । तत सिद्धपुरे श्रीदेवसुन्दरसूरेस्तपागच्छाधिपस्य पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ जज्ञौ—

> कामकान्त व्रजे स्थान, शिशिरा वापय श्रुते ।
> अत्रोदित मत श्राद्ध, रम्या पुत्रान्तदर्शनात् ॥१॥

'मत नेन शिवाय ते तत्तो जैनं धर्मं प्रपद्य सम्यक्त्वधारी श्राद्धोऽभूत् । शत्रुञ्जये गत', तत्र श्रीऋषभ नत्वा स्तुतिमेव चक्रे 'धन्य' स मास , धन्य' स दिवस, धन्य' स पक्ष' इत्यादि दवैरपि चालित सन् न चालित ॥ इति धर्मदृढताविषय डीसावालसारंगसम्बन्ध ।

[38] प्रस्तरतरणे राममहिमा ।

एकदा पीरोजसुरत्राणेन मुकुन्दपण्डितस्याग्रे प्रोक्तम्—अहं महान् अथवा रामः ? ततस्तेन ज्ञेन जलमानायितं, तत्र अयं पापाणो जले क्षिप्यता । राज्ञा पापाणो जले क्षिप्तो ममज्ज । ततो राज्ञोक्तम्-[व्यक्त्या] व्यक्तं जल्प, भयो नानेयः । ततो ज्ञोऽवग्-रामस्य सेवकैर्हनुमदादिभिर्जले मुक्ताः प्रस्तरास्तेरुः, अयं तु पापाणो मग्नः, यत.—

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे,
वार्द्धौ वीर (?) तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च ।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः,
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा सोऽयं समुज्जृम्भते ॥१॥

एवं प्रोक्तो राजा हृष्टः ॥ इति प्रस्तर तरणे राम महिमा ॥३८॥

[39] औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छाग–छागमातृकथा ।

एकदा छागो मातरं प्रति जगौ मातर ! दीपालिका समेष्यति मदीयौ श्रृंगौ त्वं भूषयेस्तदा माताऽवग्-पुत्र ! यदि महिणिमायां (?) अश्विनशुद्धनवम्या तव कुशलं भविष्यति तदा तव कथितं करिष्ये । एतच्छ्रुत्वा भीमभूपेन छागमारणेऽभिग्रहो गृहीतो, महिणिम पर्वणि जीवहिंसा त्यक्ता, अन्यतपक्वान्नादिबलिश्च कृतः ॥

इति औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छागछागमातृकथा ॥३९॥

[40] अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ।

भोजराजोऽन्यदा रात्रेर्मध्ये काव्यपदत्रयमेवं पुनः पुनरुच्चैर्जजल्पेति—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः, सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः, ...॥ इति

पदत्रयं भूपेन प्रोच्यमान पुनः पुनः श्रुत्वा चौरः पूर्वं गृहान्तः प्रविष्टो जगौ—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' इति

ततो राजा त चौरं मत्वा भृत्यपार्श्वात् धृत्वा प्रातस्तं विज्ञं लक्ष्मीदाने[न]सम्मानयामास, ॥ इति अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ॥४०॥

[41] अनित्यतायां वस्तुपालमन्त्रिकथा ।

एकदा श्रीवस्तुपालमन्त्री स्तम्भतीर्थे ययौ । तदा लोकाः समेत्योचु —'युष्माक शरीरे कुशलमस्ति ! तदा वस्तुपालमन्त्री अवग्—

लोकः पृच्छति मे वार्तां, "शरीरे कुशलं तव" ।
कुतः कुशलमस्माकं—मायुर्याति दिने दिने ॥१॥

इत्यनित्यताया सम्बन्धः ॥४१॥

[42] कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ।

कस्मिन् [कस्मिंश्चित्] पुरे श्रेष्ठी कूटमानतुलादिभिः कूटं व्यवहरति । एकपुष्कर-द्विपुष्कर-त्रिपुष्कर-चतुष्पुष्कर-पञ्चपुष्करेत्यादीनि मानतुलानां नामानि न्यौ । अधिकं गृह्णाति, स्तोकं दत्ते इत्येवं कुर्वतो व्यवसायात् मिलितं धनं वर्षप्रान्तेऽग्निना दह्यतेऽथवा स्तेनैर्गृह्यते राज्ञा वा । एकदा लघुपुत्रवध्वा कूटादिव्यवहारं दृष्ट्वा प्रोक्तं—कूटव्यवहारे श्रीर्यात्येव । ततो वध्वा स्वर्णमयं गोलकं कारयित्वा जले क्षेपितः । पुनः स एव मात्स्यिकैर्धिमध्यात् कर्षितमी नद्दयात्प्राप्यसेरभ्रान्त्या दत्तः । ततो वध्वोक्तं—भो श्वसुर ! शुद्धमार्गेण व्यवसायं कुर्वतः एवं गृहान्निष्काशितापि श्री समेति स्वयम्, यतः शुद्धं व्यवसायं कुर्वतस्तस्य गृहे स्थिरा श्रीर्जाता ॥

इति कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ॥४२॥

[43] बुद्धिविषये मृगावतीकथा ।

कौशाम्ब्यां शतानीको भूपः, तस्य पत्नी मृगावती चेटकभूपपुत्र्यभूत्, अन्यदा राजा सभास्थो दूतमप्राक्षीत्, मम राज्ये यादृशं विद्यते तादृक्कस्यचिदन्यस्य विद्यते न वा ? दूतोऽवग चित्रसभा यथा नास्ति । ततो राज्ञा चित्रसभा कारयितुमारब्धा, चित्रकृन्मुख्यः सोमश्चित्रकृत् चित्रशालां चित्रयति । सोमोऽन्यदा मृगावत्याः पदाङ्गुष्ठं दृष्ट्वा मृगावत्या रूपं चित्रयति स्म, परं तस्या गुह्ये कृष्णो बिन्दुः पुनः पुनरपसार्यमाणः पपात । ततो राज्ञा राज्ञ्या रूपं चित्रलिखितं कृष्णबिन्दुं गुह्यस्थं च वीक्ष्य दध्यौ । अनेन चित्रकृता किं मम पत्नी सनग्ना दृष्टा ? ततो राज्ञा सोमो वधायादिष्टः । तदाऽन्ये चित्रकारा जगुः असौ न हन्यते अस्य दैवतवरोऽस्ति, तथाहि—साकेतनपुरे सुरप्रियो यक्षोऽभूत् । स च प्रतिवर्षं चित्र्यते चित्रकरं च हन्ति कोऽपि न चित्रयति यदा तदा पुरं हन्ति । ततो राज्ञा चित्रकराणां वारकः कृतः । चित्रलेखने यस्य नाम घटमध्यात् निर्याति स चित्रयति यक्षम् । एवं प्रतिवर्षं क्रियमाणे एकदा एकस्याः स्थविर्याः [स्थविरायाः] एक एव पुत्रस्तस्य वारकः समागात्, तदा माता रोति तदा तत्र सोमश्चित्रकरः समागात्, ज्ञातं तस्याः पुत्रस्य वारकागमनं, जगौ सोमः मातस्त्वं मा रोदीः तव पुत्रं रक्षिष्यामि । ततः षष्ठं कृत्वा शुचीभूय मुखकोशं पिधाय यक्षं चित्रयितुं लग्नः सोमः । यक्षस्तुष्टः जगौ—वरं याचस्व । चित्रकृतोक्तम्—अतः परं त्वया जीवहिंसा न कार्या । मम च दृष्टांशे दृष्टे सम्पूर्णदेहचित्रकला करणशक्तिं देहि तेन तुष्टेन यक्षेण तथाकृतं सोऽत्रागतोऽसौ सोमः । ततो राज्ञा (तस्या) अङ्गुष्ठं दर्शयित्वा राज्ञ्या रूपं चित्रयामास । ततो राजा चमत्कृतः । पुनस्तस्य छिन्नसदंशको हस्तः कारितो राज्ञा । ततः स चित्रकृत् मृगावत्या रूपं पट्टे लिखित्वा चण्डप्रद्योतनायादर्शयत् । चण्डप्रद्योतनः शतानीकपार्श्वात् मृगावतीं याचते स्म । स न दत्ते । प्रद्योतनस्तत्रागात् । दुर्गं वेष्टयामास । तदा

तमरिं दृष्ट्वाऽकस्मात् शतानीको मृतः। पत्युर्मृत्युकृत्यं कृत्वा मृगावत्या धीमत्या ज्ञापितं मम भर्त्ता मृतः। अहं त्वां वाञ्छामि। परं पुत्रस्य लघोर्दृढं वप्रं कारय पश्चादहं त्वामङ्गीकुर्वे। यदि बलात्कारं करोषि तदात्महत्या करोमि। ततो राज्ञा वप्रो दृढः कारितः धनधान्यादिभिः पूरितश्च। ततो नायाति सा चण्डपार्श्वे, ततः योद्धुं लग्नः परं दुर्गं लातुं न शक्नोति। इतः श्रीवीरस्तत्रागात्, राजा तत्र गतः, मृगावत्यपि तत्रागात् नन्तुं प्रभुम्। उपदेशः श्रुतो द्वाभ्याम्। मृगावती दीक्षां याचते तदा चण्डो मोहं त्यक्त्वा मृगावतीं क्षमयामास। मृगावती दीक्षामलात्। चण्डप्रद्योतनः प्रभुं महासतीं च नत्वा स्वस्थानमगात्॥ इति बुद्धिविषये मृगावतीकथा॥४३॥

[44] गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा।

एकदा श्रीधराचार्यो नितवासनिकात्रिशतिकादिगणितग्रन्थान् कृत्वा तेषां प्रान्ते स्वनाम लिखित्वा गर्वं दधान एकं काव्यं चकारेति—

उत्तरतः सुरनिलयं, दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत्।
प्रागपरोदधिमध्ये, नो गणकः श्रीधरादन्यः॥१॥

तस्य कवेः 'सरस्वतीपुत्रे'ति विरुदं नाम दधानस्य सरस्वती दध्यौ, अहो एष विज्ञोऽपि मूर्खः, यत एव गर्वं धत्ते। ततो ब्राह्मी जरतीस्त्री [जरत्स्त्री] रूपं कृत्वा श्रीधराचार्यपार्श्वे समेत्येदं प्राह—अहं लेखकं न जाने त्वं तु सर्वं जानासि तेनेदं कथय एकेन द्विकेन किं भवति, श्रीधरोऽवग्-त्रयो भवन्ति, एवं न प्रोच्यते, सम्यग् कथय, ततः श्रीधरः प्राह—द्वादश भवन्ति, एवमपि न भवति। श्रीधरोऽवग्- भो जरति! त्वं ग्रथिलाऽसि एतदपि न जानासि, मदुक्तं क्वचित् कूटं न भवति, स्त्रियोक्तम् एकविंशतिः, अङ्कानां वामाङ्गत्वात्। ततः श्रीधरो धूनितशिराः प्राह—मातः! का त्वं, तयोक्तमहं कास्मी[श्मी]रदेशवासिन्यस्मि, तव गर्वं स्फेटयितुमत्राऽगा। श्रीधरोऽवग् को गर्वो मया कृतः, तयोक्तम्—"उत्तरतः सुरनिलयेति" श्लोककरणमेव गर्वस्तव, श्रीधरोऽवग्-मातस्त्वं स्वरूपं प्रकटय, मा कथं विप्रतारयसि, ततो ब्राह्म्या निजं रूपं प्रकटितं। वाग्देवीरूपं दृष्ट्वा श्रीधर उत्थाय तस्याः पादयोः पतित्वाऽवग्-मातरहं मुग्धोऽस्मि, यत एव मया गर्वः कृतः। तयोक्तं-पुत्र! त्वयाऽतः परं गर्वो न कार्यः, गर्वेण जीवा दुःखिनः स्युरिह परत्र च, यतः—

ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अमृतं यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते॥२॥
विद्ययैव मदो येषां, कार्पण्यं विभवे सति।
तेषां दैवाभिभूतानां, सलिलादग्निरुत्थितः॥३॥

एवं ब्राह्मीवचः श्रुत्वा श्रीधरो गर्वं तत्याज॥ इति गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा॥४४॥

[45] गर्वोपरि कृष्णद्वी[द्वै]पायन कथा।

महाभारतान्ते श्रीकृष्णद्वी [द्वै]पायनव्यासेनाभिमानिना श्लोक ईदृशोऽलेखि—

अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा (नवा) ।
भारतं भारती वेत्ति, देवो जानाति केशवः ॥१॥

दक्षिणसमुद्रात् ११४ योजनैरुत्तरस्यां दिशि अयोध्यातः कुम्भकारो जैनो गिरिनारगिरौ यात्रार्थं गतः तत्रस्थैः कृष्णद्वी[द्वै]पायनशिष्यैरुक्तम्—अस्माकं गुरुः सर्वं वेत्ति, कुम्भकृद्व्याचेव सर्वज्ञं विना न कोऽपि वेत्ति ततः स कुम्भकारः कृष्णद्वी[द्वै]पायनपार्श्वे गतः स प्राह—भारते भवत्कृते कथायाः पतिः कः ? कृष्णद्वी[द्वै]पायनोऽवग् युधिष्ठिरादयः कथेशाः, द्रौपद्याः समं तेषां कः सम्बन्धो भवति कानि नात्रकानि भवति सनो यासोऽवग् न जाने ततः कुम्भकारोऽवग—

पतिश्वसु[श्वशु]रताज्येष्ठे पतिदेवरताऽनुजे ।
मध्यमेषु च पाञ्चाल्या-स्त्रितयं त्रितयं त्रिषु ॥२॥

ततः उत्थाय द्वी[द्वै]पायनः कृताञ्जलिर्जगौ—

त्वमेव विदुरो धीमान् त्वमेव धर्मशेखरः ।
त्वमेव वन्दनीयोऽसि, त्वमेवासि कलानिधिः ॥३॥

अहं मूर्खोऽस्मि मूढोऽस्मि, गर्ववान् पापवान् पुनः ।
कृतघ्नोऽस्मि निष्फलोऽस्मि, निर्गुणोऽस्मि च कुम्भकृन्[त् ?] ॥४॥

इति गर्वोपरिकृष्णद्वी[द्वै]पायनकथा ॥४५॥

[46] दाने धनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी महेभ्यः, तस्य बहवः स्वजनाः तस्य भार्या धनवती, पुत्रः कमलः, तस्य पत्नी कमला, धने पत्नीयुते स्वर्गं गते कमलः क्रमात्स्वल्पधनोऽभूत्, कमलस्तु गुणवान् भार्या च पतिहितकारिणी, प्राघूर्णका बहवः समायान्ति। कमला सर्वेषां प्राघूर्णकानां पत्यानीतानां भक्तिं करोति । अन्यदा श्रेष्ठी कृशशरीरां पत्नीं वीक्ष्य प्राहेति—

किं दीससि पिए सयइ, दुब्बला सुगुणावहे ।
जं ते अत्थि अणूरइ, तं पूरेमि कहेह ॥१॥

भार्याऽवग्—घरि आवइ घरि मग्गिहुंज, पिय तुम्ह नामगुणेहिं ।
तिणि कारणि हूं दूबली, झूरउं रातिदीएहिं ॥२॥

ततो विशेषाद्धनानुसारेण दानं ददतो मुक्तियोग्य पुण्यमर्जयतस्तौ ।

इत्यादिदाने धनकथा ॥४६॥

[47] धीविपये रिंछग्राहिकथा ।

कोऽपि पुमान् मार्गे निर्ययौ, वने तस्य मार्गे मिलित एको रिञ्छः । यदा रिञ्छस्तस्य पृष्टौ प्रधावति हन्तुं तदा तेन पुंसा कर्णे घृतो रिञ्छः । यथा रिञ्छो तं हन्तुमिच्छति तथा तथा स कर्णयोर्दृढं मर्द्दयितु लग्नः । तदा तस्य वासनिका त्रुटिता, कियन्ति स्पर्धकानि पतितानि भुवि तदा इतोमार्गे कोऽपि आगन्छन्पुमान तं तथा दृष्ट्वा जगौ किं त्वया क्रियमाणमस्ति तेनोक्तं असौ रिञ्छः कर्णयोर्मृद्यमानः स्पर्धकानि मुञ्चन्नस्ति, द्वितीयोऽवग्–यदि त्व मह्यमसु ददस्व तदाऽहमपि कियन्ति स्पर्द्धकानि अर्जयिष्यामि, तेनोक्तमेवं कथं रिञ्छोऽसौ मया तुभ्यं दीयते । द्वितीयोऽवग्–त्वं कृपापरोऽसि, ततस्तेन रिञ्छो दत्तस्तस्य हस्ते । स च तस्य कर्णौ मर्द्दयितु लग्नः । प्रथमः स्वस्पर्द्धकानि गृहीत्वा जगौ—कियन्ति स्पर्द्धकानि तव हस्ते चटितानि न वा । स रिञ्छकर्णौ मर्द्दयन जगौ—असौ तु किमपि न दत्ते हन्तु मा वाञ्छति असौ, परोऽवग् , तर्हि मुञ्चासुं । रिञ्छग्राह्यवग्—रिञ्छकर्णागृहीतो लातु मोक्तुं न शक्यते, ततः स दुःखी जातः । प्रथमः स्वस्पर्धकानि लात्वा सुखीभूत्वा बुद्धया स्वगृहे गतः ॥

इति धीविपये रिञ्छग्राहिकथा ॥४७॥

[48] उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः ।

एकदा श्रीकुमारपालोऽवग् भगवन् ! ससारे कुत्र बहुसुख पुनः बहुदुःख, कुत्र सदासुखं पुनर्दुःखमत्यन्तं कुत्रास्ति ? गुरवो जगुः—

अनुत्तरविमानात्तु नाधिकं विद्यते क्वचित् ।
सप्तमं नरक मुक्त्वा दुःखं नास्त्यधिकं क्वचित् ॥१॥

यतः—अनुत्तरविमानवासिना सुराणा त्रयस्त्रिंशत्सागराणि नित्यं सुख, सप्तमनरकवासिना नरकाणा दुःख भवति त्रयस्त्रिंशत्सागराणि यावत् । मुक्तश्च सदा निरन्वय सुखं [प्राप्नोति] जन्ममरणजराद्यभावात् । अतः कारणात् जीवेन पुण्ये आदरः कर्त्तव्यो, न पापे इति उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः ससारे यत्र भवतीति तत्कथा ॥४८॥

[49] श्री प्रभाचन्द्रकथा ।

चन्द्रपुरे श्रीधरो दिगम्बरोऽभूव । तस्य शिष्यः प्रभाचन्द्रआसीत । एकदा प्रभाचन्द्रोऽवग्—भगवन्नहं सर्वविद्यापारगाम्यस्मि । तेन यथाऽऽदेशो दीयते श्रीपूज्यैः तदाह पूर्वगत श्रुत सस्कृत स्फेटयित्वाऽङ्कवत्प्राकृत करोमि । गुरुणोक्तम्—तव पाराञ्चित प्रायश्चित्त लग्नम् । प्रभाचन्द्रोऽवग्—कथ ममास्मात्पापान्निस्तारो भविष्यति ? गुरुणोक्त–राजान प्रतिबोधय । ततः श्रीपुरे श्रीधरभूपस्य प्रतिबोधाय गतः । तेन राज्ञा स्वपुत्री पाठनाय अर्पिता । यदन्तरे ता कन्या भरतशास्त्रादि पाठयामास । क्रमात्तयोः प्रीतिरभूत् । तयो रागान्मैथुनमपि जातं, ज्ञात राज्ञा । राजा तयोश्चरित्रं दृष्टु तत्रागात् प्रच्छन्नम् । तदा प्रभाचन्द्रेण काव्य प्रोक्तम्—

अहो संसारजालस्य, विपरीतः क्रियाक्रमः ।
न परं जड[ल]जन्तूनां, धीवरस्यापि बन्धनम् ॥१॥

एतदाकर्ण्य राज्ञा तस्यैव स्वपुत्री दत्ता। क्रमाद् गुरुभिर्ज्ञात शिष्यस्वरूप, ततो गुरुभिरिति ज्ञापितम्—

मसार हयरिहिणा, महिलारूवेण मंडिअ कूड।
बज्झति जाणमाणा, अयाणमाणा न बज्झति ॥२॥

तेन गुरुपुरो ज्ञापितम्—

ताव महत्त्व पाण्डित्य, कुलीनत्व विवेकिता।
यावत् ज्वलति नाङ्गेषु, हतः पञ्चेषुपावकः ॥३॥

गुरुप्रोक्तमवगणय्य स्थितस्तत्र तदा गुरुणा ध्यातम्—

नान्य कुतनयादाधि-र्व्याधिर्नान्यः क्षयाऽऽमयात्।
नान्य सेवकतो दुःखी, नान्यः कामुकतोऽन्धल ॥४॥

कालेन तस्य सर्वा विद्या विस्मृता, मूर्खो बभूव, यत—

नारीभक्तो जनस्तातं, पितर भ्रातर तथा।
विद्या न विन्दते लक्ष्मी-वानिव क्वचिदेव तु ॥५॥

एव केचिन्नारीवशीकृता कृत्याकृत्ये न जानन्ति ॥ इति प्रभाचन्द्रकथा ॥४९॥

[50] लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा।

पद्मपुरे लक्ष्मीधरो राजाऽऽसीत्। तस्यामात्या बहव। राजा तु याचकेभ्यो भूरिदानं दत्ते। मन्त्रीश्वरा जगुः-एवं दानात्कोशो रिक्तो भविष्यति।

यथा तथा प्रजाः सर्वा, प्रपीड्य विभवश्चिरम्।
मलित किं मुधेदानीं व्ययतेऽर्थिप्रदानत ॥१॥

ततो राजा जगौ—यो मां विशिष्टश्लोककरणेन रञ्जयिष्यति तस्मै दानं दास्ये, नान्यस्मै। ततोऽनेक बुधा नवकाव्यानि कृत्वा राज्ञः पुर कथयन्ति। पर राज्ञ [राजा] शिरो न धूनयति। इत कोऽपि कविरेवंविध श्लोक कृत्वा प्रभाते राज्ञः पुरः प्राह—

उत्तिष्ठ नृपशार्दूल! मुख प्रक्षालयस्व ट।
यदा भाषयते (?) कुर्क-स्तदा रात्रिर्विभावरी ॥२॥

तदा राज्ञोक्त—'प्रक्षालयस्व ट' अत्र त्वया टो निरर्थः कृत। कविनोक्त-कुक्कटशब्दस्य यो 'टो' विद्यते स 'मुख प्रक्षालयस्व ट' इत्यत्र टः क्षिप्त। एवंविधां लक्षणकलां तस्य दृष्ट्वा राजा जहर्ष भूरिदानं तस्मै दत्ते ॥ इति लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा ॥५०॥

[51] सहसाकृतकार्योपरि–कृष्णकोलयोः कथा ।

वृद्धपुरे विप्रो मुकुन्दोऽभूत्। तस्य कृष्णाह्वः पुत्रः। तस्य गृहमध्ये एकः सदा कोलो मृत्तिका कर्षयति स्म । एकदा मुकुन्देन धूलिमध्ये रूप्यटङ्को ददृशे। तेन स गृहीतश्च । द्वितीयेऽह्नि पुनः रूप्यटङ्कः प्राप्तः। एवं सप्तदिनेषु सप्त रूप्यटङ्काः प्राप्ताः । एकदा पितरि ग्रामे गते कृष्णो दध्यौ बिल खनित्वा सर्वे रूप्यटङ्का ग्रहीष्यन्ते यदि तदा वरं भूयसी श्रीर्भवति । मद्गृहे आवास कारयामि । ततो बिले खनिते कोलो निर्गतः । हतश्च तेन निर्दयेन। अग्रतो बिल बहु खनित किमपि न निर्गच्छति । इतः पिता ग्रामादागात पुत्रः पृष्टः किमिदमारब्धं त्वया ? पुत्रोऽवग्–रूप्यटङ्कार्थं। पिताऽवग्–मुधाऽयं कोलस्त्वया हतः। कोलाना विवराणि भूमौ बहुप्रकाराणि भवन्ति। को जानाति कस्मिन् विवरे गच्छति कस्मि[कस्मा]न्निर्गच्छति तेनास्य हननाच्छ्रीरायान्ती स्वगृहे त्वया निषिद्धा । ततः पुत्रो दुःख करोति। तदा पिताऽवग्–"यस्य यद्भावि तद्भवति" यतः—

यस्य यादृक्स्वभावः स्यात्, जायते सोऽन्यथा नहि ।
वक्रं पुच्छं पुनः केन, सरलीक्रियते क्वचित् ? ॥१॥ इति ।

सहसा कार्यं कृतमनर्थाय भवति, यतः—

सहसा विदधीत न क्रिया–मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥२॥

ततो द्वावप्यलब्धविभवौ दुःखिनौ जातौ चिरम् ॥

इति सहसाकृतकार्योपरि-कृष्णकोलयोः कथा ॥५१॥

[52] आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥

कस्मिंश्चित्पुरे मदनस्य द्विजस्य गौरी प्रिया, श्रीधरः पुत्रोऽभूत्। स क्रमात्तरुणो भूत्वा विद्यां भणितु विदेशेऽगच्छत् । श्रीपुरे गदाधरविप्रस्यान्ते[न्तिके]चतुर्दश विद्या पपाठ । त तादृश ज्ञ ज्ञात्वा स्वा पुत्रीं तस्मै बहुश्रीयुता ददौ। स तया पत्न्या युक् बहुश्रीकस्त गुरुमुत्कलाप्य क्रमात्स्वपितु पार्श्वे सोत्सवमगात्। अन्येद्युस्तस्य पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवोऽभूत् वर्धमान इति नाम दत्त तस्य । ससमानवयोभिः क्रीडति सदा । एकदा तस्य गृहाङ्गणे राजपुत्रवणिजादयो बालाः क्रीडितु लग्नाः । वणिक्कुमारो धूल्या हट्टं कृत्वा क्रयाणकानि विक्रेतु लग्नः । द्विजपुत्रो मृता महिषीं स्वधिया प्रकल्प्य कर्षितु लग्नः । इत्यादि बहून् क्रीडापरान् मदनो दृष्ट्वा दध्यौ—अय पुत्रः ईदृशीं क्रीडा किं कुरुते । चकितः सन् मदनः श्रीधर पप्रच्छ—किं तव पत्नी ढेढपुत्री सम्यक् त्वया पृ[प्र]च्छनीया । ततस्तेन रहसि पत्नी पृष्टा—त्व तु मया परिणीता, पुत्रोऽपि त्वयि जातः त्वया सम मयाऽनेकशो भुक्तम, सत्य जल्प, कस्य त्व पुत्री ? तयोक्तम्—अह पूर्वं चाण्डालकुले उत्पन्ना, अह पञ्चवार्षिका[की]जाता । तावन्मत्पिता सकुटुम्बो विदेश प्रति चलितः । क्रमान्मम मातापितरौ मृतौ । अहमेकाकिनी तत्र स्थिता । अह दुःखिता सती अग्रतो गत्वा कस्मिंश्चिद्देवकुले स्थिता ।

इतस्तत्र गदाधरद्विज समागात्, तेन साह पृष्टा त्व का ? मयोक्तम्—अह द्विजपुत्री ।

मम मातापितरौ मृतौ, अहं निराधाराऽभूवं । ततस्तेन द्विजेन निरपत्यकेनाहं गृहे नीता । पुत्रीवाऽहं वर्धिता, तुभ्यं चाभीष्टत्वाद्दत्ता । तत्र पुत्र पितुरग्रे पत्नीस्वरूपं प्राह । ततो मिथो विमृष्टं रहसि पूर्वमेको द्विज॰ चण्डाली[त]जात॰, यत॰—

कैवर्त्तीगर्भसम्भूतो, व्यासो नाम महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
मण्डूकीगर्भसम्भूतो, माण्डव्यश्च महामुनि ।
तपसा॰ ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥२॥
शशकीगर्भसम्भूतो, ऋष्यशृङ्गो महामुनिः ।
तपसा॰ ॥३॥
उर्वशीगर्भसम्भूतो, वशिष्ठस्तु महामुनिः ।
तपसा॰ .. ॥४॥

तस्मादाचार एव प्रधानः, यत॰—

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषितम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम् ॥५॥

ततो न केनापि स्वपूर्वजातसम्बन्ध॰ प्रोक्त॰ कस्याग्रे (कस्यचिदग्रे) प्रवचनीय॰ ।

इति आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥५२॥

[53] उचितवैद्यविषये कथा ॥

यो यादृशो भवति तस्य तादृश उपदेशो दातव्यस्तथाहि—लक्ष्मीपुरे चन्द्रभूपो राज्य कुरुते । स च दयावान् एकदा स्वकर्मकर एक इन्धनानि समानयत् । एकाक्षिसमुत्पन्नफुल्लको दृष्टो राज्ञा । करुणया राज्ञा(तेन)पञ्चशतवैद्यस्याग्रे प्रोक्तम्—अस्य निःस्वस्य नेत्रात्फुल्लकमपसारय । तेन वैद्येन तदा जीर्णकुटीरतीरस्थजीर्णतृणान्यादाय प्रज्वाल्य च तद्भस्मना तस्य नि[निः]स्वस्य नेत्रमञ्जितम् । द्वित्रिवारे तस्मिन्नञ्जिते नेत्रात्फुल्लक गतम् । अन्येद्युर्भूपो निज नेत्र कृत्रिमफुल्लयुक्त कृत्वा वैद्यस्याग्रे प्राह—मम नेत्रोत्पन्नं फुल्लकमपसारय । वैद्येन जात्यमुक्ताफलरत्नादि[दीनि]भस्म कृते आनायिते । राजाऽवग्—नि[निः]स्वस्य तृणभस्मना फुल्लकं गत मम त्वेवमौषध किं क्रियते । भो वैद्य ! तस्य नि[नि]स्वस्य नेत्रफुल्लकाऽपसारायान्यदञ्जन कृत, मम च बहुमूल्यमौषध कथम् ? । वैद्येनोक्तम्—राजन् त्वं भूपस्तेन बहुमूल्यमौषध नि[निः]स्वस्य तु दरिद्रत्वात्तादृशमेव युक्तम् । ततो राजा यथास्थितनेत्र कृत्वा प्राह—वरं त्वया कृत, त्वमुचितज्ञोऽसि । ततो वैद्यो वस्त्रभूषणादिना मानितः ॥ इति उचितवैद्यविषये कथा ॥५३॥

[54] मणकपरीक्षितवैद्यकथा ।

वीरपुरे भूपडनृपस्य वैद्यानां पञ्चशतानि विद्यन्ते । तस्य चैको मणको राज्ञां मनो रञ्जयति । सर्वान् वैद्यान् विदुपमन्यान् दृष्ट्वा मणको वैद्यस्योपान्ते गत्वा नालिकेरमेकं तस्मै ददौ, प्राह चेति ममातीव शिरोर्त्तिर्विद्यते, स्फेटय त्व, ततस्तेनौपध[प्र]योग' प्रोक्त । एव प्रच्छन्न सर्वेषां वैद्याना गृहेपु गत्वा नालिकेरं दत्त्वा शिरोर्त्तिस्फेटनविपये पृथक्पृथगौपध जज्ञे । सर्वेषा वैद्यानामुक्तान्यौषधानि कागदे लिलेख मणकस्तेपा हस्तेभ्यः, ततो राज्ञोऽग्रे प्राह मणकः स्वं कृतम् । एते वैद्याः किमपि न जानन्ति । ततो भूपोऽवग्–भो वैद्या ! यूय किं सम्यग् रोग-स्वरूप न जानीथ ? तैरुक्तम्—अस्माभिर्ज्ञायते सम्यग् । ततो मणको वैद्यलिखितौपधमयं कागदं राज्ञा[ज्ञोऽ]ग्रे मुक्त्वाऽवग्–मम रोगस्य स्वरूपं न ज्ञात, कथमन्येपा नृणा ज्ञास्यति ? अह मुधा दण्डितोऽस्मि भवद्भिः । एवं लोका अपि दण्ड्यन्ते । मम शिरोर्त्तिस्वरूप न ज्ञातं ततो राजाऽवग् अस्य मणकस्य यद्गृहीतं तद्दशगुणं ददत, नो चेन्न छुटिष्यते । ततोऽखिलैर्वैद्यैर्दश-गुणं प्रत्यर्पितम् ॥ इति मणकपरीक्षितवैद्यकथा ॥५४॥

[55] कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ।

चन्द्रपुरात् धनश्रेष्ठी सेवकयुक् चचाल विदेश प्रति । मार्गे वृक्षस्याधस्तात् तस्थौ श्रेष्ठी । भृत्यः पादौ श्रेष्ठिनश्चम्पयति स्म । वार्त्तां कुर्वन् सेवकः प्राह—स्वामिन् ! यदि तव राज्य भवति तदा त्व कथं राज्यं पालयति ? श्रेष्ठी प्राह—त्वां मन्त्रिण करिष्ये सर्वाः प्रजा' सुखिनीश्च करिष्ये । ततः श्रेष्ठी प्राह—कदाचित् कर्मयोगात्तव राज्यं स्यात्तदा त्वं कथं राज्यं करिष्ये[सि ?] । भृत्योऽवग्–यद्यहं राज्य लभिष्ये[लप्स्ये] तदा सर्वं जनं दुःखिनमेव करिष्ये । ततश्चलित श्रेष्ठी मार्गे गच्छतोस्तयोरकस्माल्लक्ष्मीपुराधीशे पुत्ररहिते मृतेऽमात्यैर्गजाद्यधिष्ठानयोगतः श्रेष्ठिसेवकस्य चम्पकस्यास्य राज्यं दत्तम्। जाते राज्ये भृत्योऽवग्—असौ मम स्वामी गच्छन् वाल्यताम्, ततो भीतः श्रेष्ठी, पश्चादानीतोऽमात्यैश्चम्पकभूपोपान्ते । तेन राज्ञा श्रेष्ठी मन्त्रिमुख्य कृतः । राजा सर्वान् वहुकरग्रहणात् दुःखीचकार, केचिल्लोका गुप्तिगृहे क्षिप्ताः, केचित्कदर्थ्यन्ते, केचिद्बद्धाः शृङ्खलायाम् ।

इतो दीपालिका समागात्तदानीं गुप्त्यादिस्थैर्जनैः श्रेष्ठी प्रोक्तः वर्षेण दीपपर्व समागच्छ-न्न[दस्ति]स्ति । यदि दिनत्रय[दिन]चतुष्टय वा राज्ञा मोच्यन्ते[मोच्यामहे] वय तदा वय स्वजने मातृपितृभ्रात्रादिभिः[मातापिताभ्रात्रादिभिः] सह मिलित्वा सुखमनुभवामः । ततः श्रेष्ठिनाऽमात्येन राजान विज्ञप्य लोकः स्वस्वगृहं प्रेषित , मिलिताः स्वजनादिभिः सह वर्यान्नपानमोदकादिभि भक्षणात्सुखिनोऽभूवन् ।

इतो रात्रौ राज्याधिष्ठितदेवेन समेत्य राजान कशाघातैस्ताडयन्नाह—त्वं मया राज्ये स्थापितोऽसि लोकाना दुःखोत्पादनार्थं, कथ सुखिनस्तान् करोषि, यद्यतः पर लोकान् सुखिनस्त्व करोपि तदैव कुट्टयिष्यते मया । प्राग्वत् राजा लोकान् तथैव दुखिनश्चकार । श्रेष्ठी प्राह—स्वामिन् ! कथ कुट्यन्ते एते लोकाः ? राजा तदा रात्रिस्वरूप प्रोक्तवान्, अहं कथं करोमि

"इतो व्याघ्र इतस्तटी'। ततो लोकैरुक्तम्—अस्माकं भाग्यानुसारेण भवानेव राजाकृतो दैवेन कस्य दोषो दीयते ॥ इति कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ॥५५॥

[56] स्वभाग्यविषये मेघकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रभूपो राज्यं करोति स्म । तत्र धीर श्रेष्ठी, धारिणी [तस्य]प्रियाऽभूत् । क्रमात्पुत्रो मेघाख्योऽभूत् । धर्मकर्मशास्त्राणि पाठितः । स पित्रा परिणायितः । एकदा पितुः पार्श्वे पुत्रोऽवग्—अहं श्रियोऽर्थं विदेशं यास्यामि । यतः—

विदेशे मनुजाः प्राप्ता, प्रायोऽर्जयन्ति वैभवम् ।
स्वस्य शक्तिं च जानन्ति, चरित्रं देहिनामपि ॥१॥
यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च माननीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥२॥

इत्युक्त्वा बलात् पितरं प्रपृच्छ्य चन्दनैः शकटानि भृत्वा चलितुं प्रस्थानं बहिर्ददौ, तदा पिताऽवग् यदि त्वं कुसुमपुरेऽगमिष्यः[गमिष्यसि] तदा तत्र त्वया सावधानेन चिन्त्यम् । तत्र धूर्ताः सन्ति । ते तु त्वां छलयिष्यन्ति । प्रथमं तत्रत्या मण्डविका ग्राह्या चन्दनं तु स्वर्णतौल्येन विक्रीष्यते त्वया । पुत्रः प्राह—तव वचः प्रमाणं । ततश्चलितो मेघो गच्छन् कुसुमपुरार्वाग् पञ्चगव्यूतीगतः । तदा तत्र चत्वारो धूर्त्ताः तत्र [तस्य] सम्मुखमीयुः । सार्थसमीपे चन्दनैः रिङ्खिकं कृत्वा शीतमुत्तारयितुं तस्थुः । इतस्तत्रागतो मेघश्चन्दनं ज्वाल्यमानं दृष्ट्वा प्राह—किं भवद्भिश्चन्दनं ज्वाल्यते ? तैरुक्तम्—अस्मत्पुरे चन्दनं कणसमं तोलयित्वा विक्रीयते गृह्यते च । मेघो दध्यौ—अत्र चन्दनं स्वर्णतुल्यं श्रुतं साम्प्रतमेते चन्दनं कुर्वन्ति सन्ति । ततः किं करिष्यते मया । तदा मेघं कृष्णास्यं वीक्ष्य ते जगुः—किं भवता कृष्णास्यं कृतं ? सम्मुखमागतं स्वागमनपितृजल्पनादिस्वरूपं अजल्पत् सः । कोऽत्र चन्दनस्य लाभोऽस्ति । विक्रीयतोऽत्रैव मया शुल्कमुद्धरति । यूयं चन्दनं यदि ग्रहीष्यथ तदा भवद्भ्यो दास्ये । ते जगुरस्माकं चन्दनेन किं प्रयोजनम् । अस्मद् गृहेऽपि चन्दनं घनं विद्यते । पुरेऽपि च यदि चन्दनं विक्रेतुं वाञ्छाऽस्ति तदाऽत्रैव पुरे वणिग्भ्यो दापयिष्यतेऽस्माभिः । ततस्तैस्तत्र वणिजां कर्णबन्धेन कणतौल्येन दापितम्, सत्यकारोऽपि दत्तः । स च मेघश्चन्दनं तेभ्यः सत्यकारतो दत्त्वा पुरमध्ये गतो दृष्टुं पुरीं चन्दनं स्वर्णतौल्येन विक्रीयमाणं दृष्ट्वा कृष्णाननोऽभूत् किं करिष्यते ? चन्दनं तु पुरा विक्रीतम् । कामसेना वेश्यागृहे गतः तया पृष्टः, स चन्दनविक्रयसम्बन्धं जगौ । वेश्ययोक्तं—त्वं वाहितस्ते अत्र धूर्त्ता एव बहवः सन्ति ते वैदेशिकं छलयन्ति । यदि मदुक्तं कुरु तदा तथा धियं दास्यामि यथा तव चन्दनं वलति । तेनोक्तं—भवदुक्तं करिष्यते मया । वेश्या जगौ—त्वं तत्र गच्छ, चन्दनं कथयित्वा चन्दनग्राहकाणां पुरः प्रोक्तव्य[प्रवक्तव्यम्] कणा[न्] आरावानयन्तु यथा तैः सह चन्दनं तोलयित्वा दीयते । यदा तैर्गन्धरी तत्रानीयते तदा त्वया वक्तव्य—वयं तु वैदेशिकाः स्वर्णमूल्यं चन्दनं ज्ञात्वाऽऽगच्छामः । भवद्भिस्तु कणैरित्युक्त्वा चन्दनं गृहीतम् ।

तेन मुक्ताकणा आनीयन्ता भवद्भिः। युगन्धरीयमस्मत्पुरेऽस्ति, ततो विवादे जायमाने राजपार्श्वे तैः सह गन्तव्यम्। राजा मुक्ताफलैः सह तोलयित्वा चन्दकं तावकं तेभ्यो दापयिष्यते। ततो वेश्योक्तमङ्गीकृत्य मेघो राजपार्श्वे तैः सह विवादेन सदृशं कं (कण्ठ) शिथिलं कारयामास। ततो मण्डविकाः पितुर्वचसा लात्वा शनैश्चन्दनं विक्रीय बह्वीः कोटीरर्जयामास मेघः, ततोमदनावेश्यायै बहुधनं दत्त्वा पश्चात्स्वपुरीमागात्। पितुर्मिलितः पिता मुमुदेतराम्। ततः सप्तक्षेत्र्या श्रियं व्ययति स्म पितरि स्वर्गं गते स्वयं गृहस्वामी भूत्वा दानादि ददानो महातीर्थेषु शत्रुञ्जयादियात्रा चकार, मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमर्जयामास।

मेघस्यापि सोमनामा पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवः कृतः, पाठितः धर्मकर्मशास्त्राणि, परिणायितश्च। श्रेष्ठी मेघः समुत्पन्नवैराग्यः पुत्रे गृहभारं मुक्त्वा दीक्षा ललौ, कर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ मेघः॥ इति स्वभाग्यविषये मेघकथा ॥५६॥

[57] कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा।

एकदा अनिरुद्धराजा प्राह—गुरुपार्श्वे-भगवन्! पाण्डवा विज्ञा अभूवन्। तैरेवं युद्धं किं कृतम्? तेषां वारके श्रीनेमिनाथो जिनोऽभूत्।

गुरवो जगुः—भवितव्यताग्रे को [कोऽपि] न छुटति।

अनिरुद्धोऽवग्-यदि सावधानीभूय स्थीयते तदा किं करोति कर्म? तदा—

गुरवो जगुः—त्वयैतानि कार्याणि न कर्तव्यानि, यद्येतानि करिष्यन्ते तदाऽनर्थो भविष्यति।

अनिरुद्धोऽवग्—कानि कार्याणि?

गुरुराह—त्वया चतसृषु दिक्षु न गन्तव्यं। यदि कार्यं कदाचिद्भवति तदा न पूर्वस्यां गन्तव्यम्। यदि पूर्वस्यां गच्छेस्तदा पापर्द्धिर्न कार्या। यदि पापर्द्धिं कुरुषे तदा सूकरो न हन्तव्यो। यदि सूकरं हनिष्यसि तदा सूकरी न हन्तव्या। यदि सूकरीं हसि तदा धवला त्याज्या। यदि धवला हता तदा त्वया गृहे न नेया। यदि गृहे नयसि तदा तस्या मांसं न भक्षणीयम्। यदि भक्षयसि मांसं तदा त्वया उपरि पानीयं न पेयं। यदि पानीयं पिबसि तदा तम्बोलो न भक्षणीयं [ताम्बूलं न भक्षणीयम्] इत्यादि नियममङ्गीकृत्यऽनिरुद्धभूपः स्वगृहे समागात्, क्रमात्सर्वं नियमं विसस्मार। कुष्ठी जातः, ततस्तं तादृशं दृष्ट्वा गुरुभिरुक्तं—कर्मणोऽग्रे कोऽपि न छुटति। ततो विशेषतोऽनिरुद्धभूपः पुण्यं कुर्वाणः पूर्वकृतानि कर्माणि नाशं चकार, यतः—

कत्थई जीवो बलिओ, कत्थइ कम्माइं हुंति बलिआइं।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइं वयराइं ॥१॥

एवं सर्वैं जीवैरपि कर्मवशगतैः संसारे दुःखसुखानि पापपुण्ययोगाल्लभ्यन्ते।

इति कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा ॥५७॥

[58] अतिथिसंविभागव्रते सान्तलकौटुम्बिकादि कथा ।

वीरपुरे धीरस्य कौटुम्बिकस्य मदनाह्वा पत्नी बभूव । क्रमात्तयो सप्त पुत्रा बभूवु । नामान्यमूनि तथाहि—

चन्द्र-भीम-सोम-देवदत्त-धनदत्त-मदन-सान्तला इति सप्त परिणायिता ।

एकदा समस्तु पुत्रेषु हलानि खेटयत्सु सप्तापि वध्व कौटुम्बिकेन नि दनार्थं प्रेषिता । तदा सप्तापि वध्वो निन्दनाय क्षेत्र प्रतिचेलु । मेघे वर्षति सप्तापि वध्वो वटवृक्षस्याध स्थिता मिथो वार्ता कर्तुं लग्ना ।

इत कौटुम्बिकोऽपि क्षेत्र प्रति चलितो मार्गेऽब्दे वर्षति छन्न वटतरो समीपे वधूजल्पितं श्रोतु स्थित वृद्धा वधू प्राह—मम क्षीर रोचतेतराम् ।

द्वितीयाऽवग्—क्षिप्रचटिकाम् ।

तृतीया प्राह—सालिदालिघृता[दीन्] रोचते ।

चतुर्थी—ओदनं मुद्गघृतयुतम् ।

पञ्चमी—पक्वान्नम् ।

षष्ठी—मोदकान् ।

सप्तमी जगौ—यदि भवति किमपि तदाऽतिथिभ्यो दत्त्वा जिम्यते यादृशमन्नादि यदा चटति तदा तादृशेन निर्वाह क्रियते । उत्कटो नानीयते च सन्तोष एव कर्तव्य । किं करोति श्वश्रूश्वसु[श्वसुर]रादिक । कर्म एव प्रधानं वीक्ष्यते ।

एवत्तासां प्रोक्त श्रुत्वा श्वशुरो गृहे पश्चात्समेत्य भार्याया पुर (कौटुम्बिक) प्राह— षण्णां वधूनां क्षीरादि देयं, सप्तम्याश्चोद्धरितं कदन्न दातव्यं, ततस्तया तथा कृतं यथा सप्तमी दु खिनी जाता कान्तस्याग्रे प्राह—नाहं प्रभु कदन्न दत्तेऽहं मरिष्यामि ।

सान्तलोऽवग्—भो प्रिये ! त्वया दुःख न कार्यम्, अहं दिश [विदेशं] गत्वा तथा करिष्ये यथा सर्वेप्सित भविष्यति । ततो मातुरहं कदाचिद्बहुकालाच्च मिलामि तदा त्वयाऽहमुपलक्ष्यसे [क्षिष्ये] नवेति मातरं पप्रच्छ ।

माताऽवग्—यो गर्भे नवमासान् व्यूढ स कथ नोपलक्ष्यते । ततो रात्रौ प्रियापार्श्वेऽवग् स त्वयाऽयं कञ्चुको नोतार्य ।

एव प्रोक्त्वा[प्रोच्य] सान्तलो विदेशं प्रति चचाल सूर्यपुरोपान्ते सान्तल स्थितो विश्रामार्थम् ।

इत तस्मिन् पुरे नृपे पुत्ररहिते मृते पञ्चदिव्यैरभिमन्त्रिते सान्तलस्य राज्य तत्रत्यमभूत् । 'सहस्रमल्ल' इति स्व नाम कथयामास राजा । क्रमाच्चतुर्दश प्रिया अभूवन् । मातापित्रो सहोदराणां नामापि चिरात् विस्मृत [व्यस्मरत्] ।

राज्ये जाते नृणां सर्वे, मातापित्रादिसोदराः ।
न चित्ते स्मृतिमायान्ति, यतोऽन्धं कुरुते रमा ॥१॥

तत्र पुरे स्तोकं वारि ज्ञात्वा सरो मन्त्रिपार्श्वात्खानयितुं राजा[ज्ञा] प्रारब्ध, बहवो जनाः सरः खनन्ति स्म, नरं प्रति मानकं धान्यस्य घृतस्यार्धशेरं दीयते एकैको द्रम्मश्च ।

इतश्चान्यदा राजा सरो द्रष्टुं गतः। सरो विलोकयन स्वकुटुम्ब सरः खनन वीक्ष्य राजा दध्यौ—किमिदं मम कुटुम्बं विद्यते । कर्मणः पुरः कोऽपि न छुटति । स्वं कुटुम्ब दृष्ट्वा राजा गृहे गतो द्वितीयदिने धीरस्य सकुटुम्बस्याप्यर्धं ग्रासं राजा चकार । क्रमान्मातापित्रामन्त्रिपार्श्वात सरः खनन निषिद्धम । धीरो दध्यौ किमयं राजा करोत्येवम। ततो राज्ञोक्तमन्यदा एकैका वधूर्वारकेण तक्रार्थं मम गृहे प्रेष्या । ततो दिनं दिनं [प्रतिदिन] वधूरेकैका तक्रं ग्रहीतु याति । राजगृहे यदा षड् वध्वो यान्ति तदा राजा तक्रं दापयति, यदा सप्तमी याति राजगृहे तदा नृपो दुग्धं दधि वा दापयति स्म तस्यै। यदा सा स्वगृहे याति तदा परा वध्वो जल्पन्ति-इयं कुशीलिनी विद्यते, तेन न ज्ञायते मार्गे स्थास्यति न वा, सान्तलस्तु कुत्र गतो न ज्ञायते । जीवन्नस्ति मृतो वा । एकदा राज्ञोक्तम्—भो स्त्रि ! जीर्णं कञ्चुकं त्यज, नवीनं परिधेहि । साऽवग्—त्वं लोकस्य पाताऽस्ति तवैवं वक्तुं न युक्तं । सर्वे तपस्विनो दुर्बला निराधारा प्रे[प्रो]-षितभर्तृकादयो ये वर्त्तन्ते तेषां धर्ममार्गे राजा स्थापयति । यदि वृत्तिश्चर्भटिकान भक्षयति तदा को रक्षिता । पूर्वं परिणीतं पतिं मुक्त्वाऽस्मिन् भवे नान्यमङ्गीकरोमि । यदि बलात्कारं करिष्यसि तदाहं तुभ्यं स्वस्य हत्या दास्ये । त्वं प्रजापालोऽसि, मया किमुच्यते ।

इतो राज्ञा कौटुम्बिक सकुटुम्बमाकारयितु[तुं]भृत्यान् प्रेषीत । भृत्यास्तमाकारयितुं यदा गताः तदा स कौटुम्बिको नन्दनान्प्रति आह—न ज्ञायते राजा किं करिष्यते । प्रथम भूपेन लघुपुत्रपत्नी रक्षिता । आत्म[अस्मा]भिरन्यायः कोऽपि न कृतः । राजा दुष्टो भवति, यतः—

वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो, नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादाश्च, न विश्वास्या इमे क्वचित् ॥२॥

ततो चिन्तयन कौटुम्बिकः सकुटुम्बो राजपार्श्वे गतः, राज्ञोक्तम—भवद्भिः सरो रुचिरं न खनितं तेन त्वं कारागृहे क्षिप्यसे । कौटुम्बिकोऽवक्—अस्माभिरपराध. कोऽपि न कृतः । यथा रुचिस्तव स्यात तथा कुरु । ततो राज्ञा स्वगृहोपान्ते स्थापितः । स्वयं स्नानं कर्त्तुमुपविष्ट', तदा हस्ते चिह्नं वीक्ष्य प्राह—भूपोऽयं मत्पुत्रः । ततो राजा स्नानं विधाय मातापित्रो भ्रातृणां भ्रातृ-जायानां च पादेषु विनयात्पपात । ततो जनकं भूपोऽप्राक्षीत्—तात ! त्वमत्र कथमागा ? कौटुम्बिकोऽवग्—तत्र नीवृति[तौ] दुष्कालोऽपतत् ततोऽस्माक निर्वाहो दुःशको जातः । ततोऽस्माभिः पृथ्व्यां भ्रमद्भिरत्रागतम् । ततो राजा तां पूर्वपत्नीं पट्टराज्ञीं चक्रे प्राहेति भूप'—त्वमात्मीयं मनोरथं दानादिषु पुण्यात्पूरय । लक्ष्मीस्तु भूयस्यस्ति । मातरं प्रति प्राह—त्वया पूर्वं प्रोक्तं यो गर्भे उद्वहते स बहुकालादुपलक्ष्यते तदर्थं मयैतत्कृतम् । तत. सर्वेषां सोदराणां ग्रामाणि पञ्च

पञ्च ददौ । ततो लक्ष्मीवन्तो जाता सन्तो लघुभ्रातरं अपि विनयेन न मन्यन्ते । प्रायः श्रीमतां विनयो न भवति—

भक्ते द्वेषो जडे प्रीति—रुचिस्त गुरुलङ्घनम् ।
मुखे कटुकतात्यन्त, धनिनां ज्वरिणामिव ॥३॥

क्रमात्तेषामन्यायेन चलतां मामा उद्वसा जाता पुनर्दुःखिनो जाताः सन्तो भूपं सेवन्ते श्रियोऽर्थं "क्षीणश्च द्रः सूर्यं सेवते" । ततो राज्ञा सज्जनत्वात्ते भ्रातरो मानिता लक्ष्मीदानात् ।

अन्येद्युस्तत्र गुरुरागात् । धर्मं श्रोतु नृपोऽगात् । धर्मं पप्रच्छ, मया किं कृतं पुण्यम् ! गुरुभिरुक्तम्—

पूर्व श्रीपुरे कमलश्रेष्ठी बभूव । तस्य भार्या कमला । तौ द्वावपि गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वाऽतिथिसविभागव्रतं ललतु । तद्व्रतं सम्यक्प्रपाल्य त्वं स प्रियो भूपोऽभूः, ततो विशेषतोऽतिथिसविभागव्रतं शुद्धमाराध्य पञ्चमस्वर्गे राजा राज्ञी च मर्त्यजन्म प्राप्य कर्मक्षयात् मुक्ति जग्मतु ॥

॥ इति अतिथिसविभागव्रते सा तलकौटुम्बिकादिकथा ॥५८॥

[59] सत्योपरि मुनिकथा ।

एकस्मिन् पुरे कोऽपि मुनि कस्यापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्ट । तेन नत्वा मुनिः पृष्ट— भगवन् ! त्रिगुप्तिगुप्तोऽसि । मुनिनोक्त—नाह गुप्त । कथम् ? तेनोक्तम्—

एकदाऽह कस्यापि गृहे भिक्षार्थमगमं, तस्य प्रियाया वेणीदण्ड दृष्ट्वा स्वभार्यां स्मृतवानहम् । अतो मनोगुप्तिर्मम नास्ति । पुनरेकदा भिक्षार्थमन्यगृहेऽगममह तेन कदलीफलानि मे दत्तानि अन्यगृहे मया पृष्टेन व्याहृतम् । तेन तद्वैरिणा तत् नृपाय निवेदितम्, देव ! भवद्वाटिकाया रम्भाफलानि श्रीदश्रेष्ठिगृहे यान्ति । राज्ञोक्तम्—कथ ज्ञायते ?

तेनोक्तम्—श्रेष्ठिना मुनेर्दत्तानि मया तु मुनिमुखात् श्रुतम् । एवंविधानि सदाफलकदलीफलानि भवद्वाटिकां मुक्त्वाऽन्यत्र न सन्ति, तच्छ्रुत्वा नृपेण श्रेष्ठी दण्डित, अतो मे वाग्गुप्तिर्नास्ति । येन श्रेष्ठिदण्डनेऽहं हेतुरभूवम् । तथाऽहमेकदाऽटव्यां श्रान्त विश्रान्तश्च प्रमिला[प्रमीला]भापम् । तत्रैक सार्थ स्थितोऽभूत् रात्रौ सार्थपतिनोक्तम्—प्रातरग्रे चलिष्यते तेन सकालमन्नानि कुरुत जना तत सर्वो जनोऽन्नपाके लग्न एकेना धकारवशादेकस्मिन्पक्षे मम मस्तकपार्श्वे पाषाण मुक्त्वा चुल्लकः कृतः तन्मध्ये वह्निरुद्दीपित, मया शिरोऽपाकृतम् अतो मे कायगुप्तिरपि नास्ति । अतो नाह भिक्षाह । तस्य सत्यभाषणे श्रेष्ठी हृष्टः प्रतिलाभ्य प्रेषितो मुनिः । श्रेष्ठी प्रशंसयाऽनुसरद्विमानाग्निसुखमर्जितवान् । मुनिस्तु यादृश तादृशमात्मान निन्दन् चिरं चारित्र प्रपाल्य क्रमाद्दिव गत ॥ इति सत्योपरि मुनिकथा ॥५९॥

[60] पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ।

नो चेव भासिअव्वं, अत्थिणा दुक्खकारणं ।
अलियं अभक्खाणं, पेसुन्नं मम्मवेहाई ॥१॥
संतो विहु वत्तव्वो, परस्स दोसो न होइ विवुहाणं ।
किं पुण अविज्जमाणो, पयडो छन्नो अ लोअस्स ॥२॥
विअरइ अब्भक्खाणं, इअरस्स वि जो जणस्स दुब्बुद्धी ।
सो गरिहिज्जइ लोए, लहइ दुक्खाइ तिक्खाइं ॥३॥
जो पुण जईण समिआण, सुद्धभावाण बंभयारीणं ।
अब्भक्खाणं देई, मच्छरदोसेण दुट्ठमई ॥४॥
निव्वत्तिऊण पावं, पावेइ सो दुहमणंतं ।
सीआ इव पुव्वभवे, मुणि-अब्भक्खाण-दाणाउ ॥५॥

यथा अत्रैव भरते मिणालाकुण्डपुरे श्रीभूति पुरोधाः, सरस्वती भार्या, पुत्री वेगवती, तत्रकदा साधुः शुद्धव्रत आगात्, उद्याने प्रतिमा स्थितः, लोको वन्दते भक्त्या, साधुपूजा दृष्ट्वाऽलीकमात्सर्येण वेगवती लोकानाह—एष मुण्डः पाखण्डी किं पूज्यते ? ब्राह्मणान्मुक्त्वा, एष मया रमण्या सह रममाणो दृष्टः इति कूटमाल साधोर्दत्तवती । लोका मुग्धास्तदनु साधुपूजनादिभ्यो निवृत्ताः, मुनिनापि लोकविरक्त्या ज्ञातम्—तदलीककलङ्कादि, ततो जिनशासनेऽपभ्राजना मन्निमित्ता[मा] भूयादिति मनसि कृत्वा यावत्तैष कलङ्को नोत्तरति तावता मया न भोक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गे स्थितः । ततः शासनदेवतासान्निध्यात्—

ततो—"वेगवईए देहे वि[वे]अणा समुट्ठिआ तिव्वा ।
पाउब्भूया अरई सूणं वयणं च सहसत्ति ॥१॥"

तस्तया सजातपश्चात्तापया साधुमूले गत्वा सर्वलोकसमक्षं स्वनिन्दापरया मुधैव तदाल साधोर्दत्तं मात्सर्येणेति क्षमयित्वा पादयोर्लग्ना, ततः शासनदेव्या सज्जीकृता, धर्मं श्रुत्वा दीक्षा गृहीत्वा चिरं पालयित्वा सौधर्मे देव्यभूत् । ततो जनकसुता सीता जाता । क्रमाद्रामेण परिणीता, रावणेनापहृता, सा च पश्चादानीता तदा पश्चाद्भवात्म्यस्थितालीककर्मयोगाल्लोकैः कलङ्को दत्तः । ततः पुण्ययोगादग्निचिताप्रवेशत. शुद्धा, ततो जिनशासने प्रभावना जाता ।

इति पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ॥६०॥

[61] सुभद्रा-कथा ॥

कायोत्सर्गे इहलोके यत्फलमभूत्सुभद्रायाः, तत् उदाहरण वक्ष्ये ।

वसन्तपुरे जिनदासश्रेष्ठी, तस्य सुता सुभद्रा बौद्धभक्तेन चम्पापुरीनिवासिना नरेण कपटश्राद्धीभूय बुद्धदासेन स्वगृहं परिणीय नीता, सा कुटुम्बकलहे पृथग्गृहे स्थापिता सा, तत्र

प्रायो भिक्षार्थं अनेके साधव आगच्छन्ति। एषा संयतेषु रक्ता इति अन्यवचोभिर्भर्त्सिताऽपि तेषु साधुषु भक्तिं करोति। अन्यदा साधुलोचने पतितं तृणं जिह्वया कर्षयन्ती सुभद्रा दृष्ट्वा [श्वशुर]लोकेन तिलको भाले सक्रान्तो भर्तुर्दर्शितः स मन्दस्नेहोऽभूत्प्रियायां, सुभद्रया स वृत्तान्तो ज्ञात, प्रवचनोड्डाहभीतया रात्रौ कायोत्सर्गः कृतः। ततस्तदा तत्र शासनदेव्योक्तं—प्रातरस्याः पुर्या द्वारेषु स्तम्भितेषु मया, चालन्याऽऽकृष्टोदकेन त्वया प्रतोली उद्घाट्या, ततो जिनशासनप्रभावना भवति। तदा बह्वीभिः सतीभिरनुद्घाटितेषु द्वारेषु पटहस्पर्शनपूर्वं सुभद्रया देवतयोक्तविधिना प्रतोलीत्रयमुद्घाटितं, चतुर्थमद्यापि तथैवास्ति तत्र ततो विशेषाज्जिनशासनप्रभावना जाता, ततः सर्वकुटुम्बेन जैनो धर्मः प्रपेदे, साधव आराधिता, जिनेन्द्र आराधितः, मिथ्यात्वं त्यक्त्वा सुभद्रा[भर्ता]दयोऽपि पुण्यमर्जयामासुः। इति सुभद्रा कथा ॥६१॥

[62] निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा।

सुस्थितग्रामे गोपालकुटुम्बी वसति तस्य प्रिया गुणवती, पुत्रः कालकः, वधूटी कामदेवी सर्वेऽपि विरहासहाः सुस्नेहमानसाः एकत्रैव तिष्ठन्ति स्म, न विदेशं गच्छन्ति च।

अन्येद्युस्तत्रागतश्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे संसाराऽसारतां श्रुत्वा अनित्यतां भावयन्ति स्मेति—

एगोहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सई।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासई ॥१॥

अन्यदा वर्षाकाले कालके हलखेटनाय गते तत्र पितृमातृवध्वाद्याः समाजग्मुः।

अत्रान्तरे स्वर्गे कोऽपि देवोऽन्यदेवं प्रति प्राह—अधुना यादृशं गोपालकुटुम्बं निर्मोहं मिथोऽस्ति तादृशमन्यन्न दृश्यते ततस्तत्रैत्य तौ देवौ मनुष्यरूपं कृत्वा गतौ। एकः सर्परूपं कृत्वा हलं खेटयन्तं पुत्रं दशति स्म। पुत्रेऽचेतनीभूते यदा पित्रादयः शोकं रोदनादि न कुर्वते, तदा अपरो देवो मनुष्यरूपभृत्प्राह—भो भो गोपालादयः कालके मृतेऽपि भवद्भिः कथं न रुद्यते पिता प्राह तदा—अनाहूतो मया यातो, न मया प्रेषितो गतः।

यथाऽऽयातस्तथा यातः का तत्र परिदेवना ॥१॥

जननी प्राह— एकवृक्षसमारूढा, नानारूपा विहंगमाः।
प्रातर्दिशो दिशं यान्ति, का तत्र परिदेवना ॥२॥

कलत्रं परिजगौ—पृथक्पृथक्स्थिते काष्ठे, अपरे तटिनीपतौ।
संयुज्येते वियुज्येते, तत्र का परिदेवना ॥३॥

ततस्तौ देवौ प्रकटीभूय निर्विषीकृत्य पुत्रं निर्मोहमिदं कुटुम्बमिति व्यावर्ण्य स्वस्थाने गतौ। इति निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा ॥६२॥

[63] प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ।

आरासणे मं० गोगासुत पासिलो दौर्बल्यादतीव दुःखितोऽभूत् । यतः—

वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं, जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वसने च वल्कल, न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम् ॥१॥

अन्यदा तैलपूर्णां कूपिका गृहीत्वा पत्तने विक्रयार्थं गतः । तत्र त्रिभुवनविहारप्रासादे देवान्नन्तुं गतः । देवान्नत्वा विहारस्तम्भादिषु प्रमाण गृह्णन् तत्र वास्तव्या[१] श्र० छाण्डापुत्र्या हसितं, किमियत्प्रमाण प्रासादं कारयिष्यसि ?

पासिलेनोक्तम्—यदि कदाचिद्भगिनि ! प्रासादः कार्यते तदा प्रतिष्ठासमये त्वयाऽऽ-[गन्तव्यम्] गम्यम् । गतः स्वपुरे पासिलः । १० उपवासैरयम्बिकाऽऽराधिता प्रसन्नाऽभूत । यतः अम्बिकाऽवग्—मार्गय [वृणु] वरम् । तेनोक्तम्—यथा नवीनः प्रासादः निष्पाद्यते तथा कुरु । देवतयोक्तम्—सीसकखनि रूप्यमयी कृता । ततस्तेन नमिनाथस्य प्रासादः कारितः ।

स च बिम्बप्रतिष्ठावसरे पत्तने गत्वा तां छांडापुत्रीं स्वभगिनीत्वेन प्रतिपन्ना[न्नः]ऽऽनीता सन्मानिता च तेन । सा प्रतिष्ठा जाता संघभक्त्यवसरे प्रथमं गुरून् परिधाय श्रीसघः पट्ट[दु] कूलवस्त्रै. परिधापितस्तेन । भगिन्या तया पट्टकूलेषु दीयमानेषु प्रोचे इमानि मम बहूनि सन्ति परं त्वया प्रासादः कारितः परं ममायं मण्डपोऽस्तु । तेनोक्तमेव भवतु । तदा गुरुभिरिदं काव्यमुक्तम्—

गोगाकस्य सुतेन मन्दिरमिदं श्रीनेमिनाथप्रभो-
स्तुङ्गं पासिलसंज्ञकेन सुधिया श्रा[व]वता मन्त्रिणा ।
शिष्यैः श्रीमुनिचन्द्रसूरिसुगुरोर्निग्रन्थचूडामणे-
र्वादीन्द्रैः प्रभुदेवसूरिगुरुभिर्नेमेः प्रतिष्ठा कृता ॥२॥

तत्पुण्येन स पासिलः स्वर्गसौख्यमासाद्य क्रमात्स शिवं गमिष्यति ।

इति प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ॥६३॥

[64] प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ।

एकदा श्रीदेवसूरयो मेडताग्रामे चतुर्मासकं कृत्वा फलवर्धिग्रामे मासकल्प स्थिताः । तत्रत्य पारसाभिधश्राद्धेनान्यदा जालिमध्ये अम्लानपुष्पपूजितो लेष्टुराशिर्दृष्टि । ततः श्रीगुर्वादेशेन तद्विरलीकरणे श्रीपार्श्वबिम्बं दृष्टम् , तस्य प्रासादकारणाय श्रीपार्श्वनाथेनोच्यते स्वप्ने समागत्य । तत' श्राद्धेन तेन पारसेन स्वस्य द्रव्याभावे उच्यमाने प्रत्यह मदग्रढौकिताक्षतसुवर्णीभवनेन द्रव्य बह्वपि भावीति प्रत्ययो दर्शितः । ततः कारितः प्रासाद , एकस्मिन्पार्श्वे मण्डपादि सर्वं निष्पन्न तावता तत्पुत्रेणैतद्द्रव्यं कुतः समेतीति निर्बन्धपूर्वं पृष्टेन सा० पारसेन यथावत्कथनेऽक्षता न सुवर्णभवन् । द्रव्याभावात्प्रासादस्तावानेव तस्थौ । सं० ११९९ वर्षे फा० शु० १० बिम्बस्थापनं

१ 'मि' इति विद्यते, D प्रतौ ।

सं० १२०४ माघ शु० १३ कलशध्वजारोप । श्रीदेवसूरिप्रहितात्मीयशिष्यश्रीमुनिचन्द्रसूरिभि: श्रीगुरुपादै प्रतिष्ठित [प्रतिष्ठापित] प्रासाद ।

तत्र फलवर्धिपार्श्वे अजमेरनागपुरादिमाद्धा गोष्ठिकाश्चिन्ताकारा जाता: । तत्र प्रासादे ऽधुनाऽप्येका प्रतिमा पूज्यते । द्वितीया प्रतिमा न सहते पार्श्वदेव ।

इति प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्प ॥६४॥

[65] अथान्तरिक्षपार्श्वकल्पः ।

स्नात्रजलैस्तैलैरिव, साम्प्रतमपि यस्य दीप्यते दीप ।
स श्रीमदन्तरिक्ष–श्रीपार्श्वः श्रीपुरे जयति ॥१॥

रावणराज्यसमये पुष्पबटुकेन स्वस्वामिमालिविद्याधर पूजाकृते भविष्यत् श्रीपार्श्वप्रतिमा वालुकामयी विधया कृताऽमतश्चलिते च सरसि क्षिप्ता प्रतिमा सा च देवसान्निध्यादखण्डितरूपा चिङ्गलिकदेश चिंगल्लकपुराधिपतिश्रीपालराज्ञा(राजेन] समुत्पन्नासाध्यकुष्ठेन तस्मिन्सरसि स्नानं कृतं । तस्या: प्रतिमाया पार्श्वराज्ञ [राजस्य] कुष्ठ गत । सुमहोत्सव राजा गृहे समायात: । राज्या पृष्ट कुतो रोगोऽगमत् ।

राज्ञोक्तम्—अस्मिन्सरसि स्नात्रकरणात् ।

राज्योक्तम्—अत्र कोऽपि देवोऽस्ति, मध्ये बलि: कृत अन्यया प्रत्यक्षीभूयोक्त बिम्ब निष्पत्तिस्वरूप च, ततश्चोक्तम्—

सप्तदिनजाततण्णकादिरथ कृत्वाऽत्रागन्तव्य । ततो मया बिम्बमर्पणीय तयाकृते देव्योक्तम्—भवता पश्चान्न विलोकनीय प्रतिमा पश्चादायाति नवेति विकल्पादकस्मात् राज्ञा पश्चाद्विलोकितम् । अन्तरिक्षे स्थिता प्रतिमा । तत्रैव श्रीपुरं वासितं । प्रतिमानयनसमयेऽन्वाया व्यमाया समागच्छन्त्या एक: सुतो विस्मृत:, तस्यानयनाय क्षेत्रपाय प्रोक्तम्, तेनापि विस्मारित, ततोऽन्वया रोषेण स सिरसि दण्डेन हतः, सोऽद्यापि क्षेत्रपशिरसि दृश्यते, ततो देवस्नात्रोदकेन सिक्तो दीपो वर्धते दीप्यते देवस्नात्रजलेन, रोगा उपशम गच्छन्ति । इति अन्तरिक्षपार्श्वकल्प ॥६५॥

[66] टीडासम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिन्नगरे टीडाह्वो ज्योतिष्कोऽस्ति । एकदा टीडेन रात्रौ मण्डका: क्रियमाणा रात्रौ लग्न सुप्तेन गणिता: । प्रातस्तत्रैत्य मण्डकप्रमाण प्रोक्त, ततो ज्योतिष्कोऽपि ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कुम्भकारस्य गर्दभो गतः । तेन धन दत्त्वा पृष्ट—मम गर्दभः कदा लप्स्यते ? बुधोऽवग्—लभ्यते, रात्रौ गर्दभस्थितिं वीक्ष्य प्रावजगौ ।

अतीव ख्यातिरभूत्तस्य । कस्यचिद्धारो गतस्तेन बुध: पृष्ट: । बुधेन मुद्रिकादासी हार गृहीता [गृहीत्री] ज्ञाता, ततो लग्नं मण्डयित्वा हारो वालित: । ततो राज्ञा टीडमञ्जलिमध्ये कृत्वा प्रोक्तम्—किं मम हस्तमध्येऽस्ति ? टीडोऽबुधो यदा न जानाति तदा राज्ञा पृष्ट: प्राह स्व स्वरूपमिति—

सूतइं सूतइं मांडा गण्या, राति ममंतइं गादह लाघ ।
मुद्रडीइं इह हारज गलिओ; हवडां टीडो जोसी ग्रहीओ ॥१॥

तत. राजा चमत्कृतो राजा बुधं तं बहुधनदानेन सन्मानयामास बुधोऽवग्—भूपाद्य-प्रभृति मया यथा तथा न वक्तव्यम् । इति टीडासम्बन्धकथा ॥६६॥

[67] "गरुआ सहजिइं" गाथा सम्बन्धः ।

गरुआ सहजिइं गुणकरइं, कंतमकारणजाजाणि ।
करसणसींचइं सरभरइं, मेघ न मागइं दाणु ॥१॥

तथाहि—कस्मिँश्चिन्नगरे धनदत्ताभिधो वणिग्वसति स्म । तस्य गृहे कश्चित्प्राघूर्णक आगतः । अस्य भोजनं देयमित्यभिधाय श्रेष्ठी हट्टे गतः । स प्राघूर्णकः स स्वादु रसवत्या प्रीणितस्तया, तेन प्राघूर्णकेन पत्राणि अडागराणि भक्षितानि । कानिचिन्निर्विकल्प्य भगिनीत्य-भिधाय तस्यै अर्पितानि । ततो धनदत्तो गृहे आगतः तानि पत्राणि पत्यै अर्पितानि तया [तदा] तेन चिन्तितमहो असदृशमेतत्, ततस्तया मनोगतं भावं तस्य पत्युरवगत्याभिहितं—"गरुआ सहजि" इमां गाथां पूर्णां प्रोक्त्वा [प्रोच्य] तस्य निर्विकारप्राघूर्णकाऽर्पितपत्रसम्बन्धं प्राह पत्नी—भो पते ? त्वया किमपि अलीकं न चिन्त्यं, पत्राणि भक्षय, ततस्तेन पत्न्योक्तं कृतम् ।

इति 'गरुआ सहजिइं' गाथासम्बन्धः ॥६७॥

[68] कूपकम्बलिकापातकसम्बन्धः ।

व्ययन्ति केचिन्मनुजा धनं मुधा—विमृश्य कार्यैकपरा जडाशयाः ।
स कूपवाहा इव कूपकम्बली—प्रधातकान्मानवतोऽतिधूर्त्तकान् ॥१॥

तथाहि—कस्मिंचिन्नगरे बहवः कूपवाहका गोधूमान् वयन्ते स्म । अत्रावसरे कश्चित् पथिकस्तस्मिन्मार्गे समागात्, तेन जलयन्त्रघट्या जल पीत्वा प्रोचे भो कूपवाहकाः ! कः कूपमध्ये एता जलघटीर्जलैः पूरयति ? ततस्तैः कूपवाहकैः प्रोक्त हसद्भि—भवत्पिता घटीर्भरति । पथिको ऽवग्—यदि मम पिता घटीर्भरति तन्न शीतं लगन्[द्] भावि । ततस्ते प्रोचुरतो निजपितुः शीत-रक्षायैका कम्बलिका[किं] न दीयते ? ततः प्राह तर्हि इय कम्बलिका कूपे मया शीतरक्षायै क्षिप्यमाणाऽस्ति, एवं प्रोच्य कम्बलिकां क्षिप्त्वा गतः । ततो यदा गोधूमा निष्पन्नाः तदा ते विभागीकर्त्तुं लग्नाः । ततः पथिकः प्राह—मम पित्रा कूपाज्जलं कर्षितमस्ति ममापि भागः कर्त्तव्योऽतः, ततो विवादं कृत्वा राजकुले स्व भाग याचते स्म । तदा सर्वैरप्युक्तं—कूपे कम्बलिका तेन क्षिप्ता, अतोऽस्यापि गोधूमभागो दीयता । ततः सोऽपि गोधूमभागं प्राप ।

इति कूपकम्बलिकापातकसम्बन्धः ॥६८॥

[69] मनोनियन्त्रणे तापसप्रबन्धः ।

एकस्मिन्पुरे चन्द्रो भूपो राज्यं करोति स्म । तत्र पुराद्बहिरेकस्तापसस्तपस्तपन् नारीमुखं न वीक्षते कदाचित् । यदा चतुष्पञ्चाष्टाद्युपवासे पारणकं समायाति । लोकैरभ्यर्थितो लोकगृहे पृथक् पृथक्पारणकं चक्रे । एकदा स भूपेन पारणकायाभ्यर्थितः भूपगृहे पारणकं कर्तुं गतः । भूपेन भक्तिः कृता यथोचिताहारदानात् । ततो राज्ञा बहुमानतो वर्यसुखासनारूढः स्वस्थानकं प्रति चचाल राजमार्गे । इतोऽकस्मात्तस्य कामलतापण्यस्त्री सम्मुखा मिलिता, तापसो नेत्रे निमीलयामास । ततस्तया तस्य शीर्षे दृढं दशार्द्धपूजा कृता । ततः स सद्यः पश्चाद्वलितो, राज्ञो ज्ञापितं वेश्याऽवहीलनस्वरूपम्, ततो वेश्या साऽऽकारिता राज्ञा पृष्टा च । त्वया कथमेष ऋषिदशार्द्धपूजया पूजितः । सा प्राहाऽयमेव पृच्छ्यताम् । ततः स पृष्टः प्राह—मयाऽस्याः सम्मुखाऽऽगताया नेत्रे निमीलिते । ततस्तयोक्तम्—

आंखि म मींचिसि मिंचि मन, नयनि निहाली जोइ ।
जइ मन मींचिसि आपणउ, अवर न बीजी कोइ ॥१॥

मनो यदि नियन्त्रितं तदा नेत्रे अपि वशीकृते यतः—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।
अत एव मनो गाढं, नियन्त्रणीयमन्वहम् ॥२॥

ततः स तापसो मनो नियन्त्र्य मृत्वा स्वर्गं गतः ।

इति मनोनियन्त्रणे तापसप्रबन्धः ॥६९॥

[70] सुसंगतिकुसंगतौ हस्तिप्रबन्धः ।

पद्मपुरे भूपस्य हस्ती सहस्रयोधी सदा साधुशालायाः समीपे बध्यते । स च साधोः शान्तदान्तत्वादि दृष्ट्वा शान्तोऽजनि । ततो वैरिणो भूपहस्तिनं शान्तं ज्ञात्वा राज्यं ग्रहीतुं वाञ्छन्ति । क्रमाद् मन्त्रिणा श्रुतं, राज्ञो ज्ञापितं च ततो भूपेनोक्तं—सर्वत्र मन्त्रि[मन्त्री]बुद्ध्या राज्यरक्षां करोति । ततो मन्त्रिणा स एव हस्ती शौनिकशालायाः समीपे बद्धः । ततस्तेषां कर्म दृष्ट्वा हस्ती युद्धाय सज्जो भवति स्म । इति सुसंगतिकुसंगतौ[त्योः] हस्तिप्रबन्धः ॥७०॥

[71] यादृग्भूपमनस्तादृग्लोकमनःप्रबन्धः ।

एकदा विक्रमादित्यो भट्टमात्रयुतो बहिरुद्याने गतः ।

विक्रमार्कः प्राह—मम मनो गच्छतां कार्पटिकानां मारणेऽस्ति ।

भट्टोऽवग्—तर्हि तेषामपि तव मारणे समस्त्यधुना ।

ततो मन्त्रिणाऽग्रे भूत्वा तेषां पुरः प्रोक्तं—विक्रमार्को मृतः, ततस्तैः प्रोक्तं—तर्हि वयं जातम् । अद्यास्माकं दारूणि महार्घ्याणि भविष्यन्ति । तेऽग्रे गताः । ततः राज्ञो जल्पितं—तेषां ज्ञापितं, ततो राज्ञोक्तम्—आगच्छन्त्य एता आभीर्यो भोज्यन्ते परिधाप्यन्ते ।

भट्टमात्रोऽवग्—एतासां मनो वर्यं भविष्यति ।

ततस्तासामग्रे भट्टमात्रेणोक्तं—विक्रमार्को मृतः ।

ततस्ताभिर्झटित्येव दध्यादिभाजनानि भग्नानि प्रोक्तं—हा विक्रमार्क ! सत्यवादक ! सात्त्विक ! न्यायप्रवर्त्तक ! सर्वजीवसुखकारक ! किं मृतः । ततस्ता भूमौ लोठं लोठं रुदन्ति ततस्तासामीदृशं चेष्टितं राज्ञा प्रकटीभूय बहुधनदानान्मानितास्ताः ।

इति यादृग्भूपनस्तादृग्लोकमनःप्रबन्धः ॥७१॥

[72] दानपरीक्षायां कर्ण-युधिष्ठिरसम्बन्धः ।

युधिष्ठिरराजो दानं ददानः केनापि न चाल्यते ।

कर्णभूमिपतिर्दत्ते, दानमभ्यर्थिते सदा ।
युधिष्ठिरस्तु पूर्वाह्णे, नापराह्णे कदाचन ॥१॥

इति श्रुत्वा द्वौ देवौ धार्मिकरूपं विधाय नृपगृहद्वारे गतौ, तदा दानं दत्त्वा राजा सुप्तः । प्रतीहारेण साधर्मिकागमन ज्ञापितं राज्ञ । युधिष्ठिरेण ज्ञापितं—सदावसरो न भवति दानदाने ।

ततस्तौ कर्णभूपगृहद्वारे गतौ, प्रतीहारेण तयोरागमन ज्ञापितं, ततः कर्णः स्नानार्थमुपविष्टः खलिखरण्टितदेहः प्राह—प्रेष्येता तौ, दानं दास्यते यतः—

चल चित्तं चलं वित्त, चलं जीवितमावयोः ।
विलम्बो नैव कर्त्तव्यो, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥२॥

कर्णस्यैतद्वच श्रुत्वा तौ देवौ प्रकटीभूय प्रोचतुः-अधुना तव तुल्यो दानी भुवि न विद्यते । इति दानपरीक्षायां कर्णयुधिष्ठिरसम्बन्धः ॥७२॥

[73] अथ बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ।

ताम्रलिप्तिपुरात्पुत्रस्य विदेशे व्यवसायार्थं गच्छतस्ताततेनेति शिक्षा दत्ता—अन्यायपुरपत्तने न गम्यम् [गन्तव्यम्] । तत्र च अन्यायो नृप, अविचारको मन्त्री, सर्वग्राह्यारक्षक., अशान्ति-नामा पुरोहितः, गृहीतभक्षः श्रेष्ठी, मूलनाशः तत्सुतः, यमघण्टा कुट्टिनी, रणघण्टा तत्पुत्री, अन्ये द्यूतकारा बहवस्तत्र । धूर्त्त सर्वलोक. ।

ततः पितुः शिक्षामादाय चलन् दैवादनीतिपत्तने गत । प्रथम तत्र चत्वारो मीलिताः श्रेष्ठिनः, तैरुक्त—व्यवसायकरणमिह दु शकं, क्रयाणकमस्मभ्य देहि, चलिता यन्मार्गयिष्यसि तदा वस्तुना तव यान भरिष्यते। ततस्तेन सर्वं वस्तु तेभ्यो दत्तं, साक्षिण कृताः, ततः स पुरमध्ये चचाल, वर्त्मनि एको धूर्त्तो वर्ये चाखडिके प्राभृतीकृत्य प्राह—यदा त्वं चलतः पुरात् तदा मां हृष्ट कुर्या । ततोऽग्रत एकधूर्त्तः सहस्रटङ्ककान् मम पित्रा नेत्रं ग्रहणके तव पितुः पार्श्वे मुक्तमस्ति तद्वलतार्प्पणीयम् । ततः श्रेष्ठिसूः प्राह—अग्रे सर्वं वर्यं भविष्यति । ततः स श्रेष्ठिपुत्रः पुर्याः शोभां विलोक्य वेश्यापुत्र्या गृहे गतः । तत्र स्थित, तया समं प्रीतिर्जाताऽत्यन्त, ततस्तेन स्ववस्तुविक्रयादिस्वरूप तस्याः पुर. प्रोक्त, तयोक्तं—वर्यं न कृतं, तथापि तथा करिष्ये यथा ते सुख भविष्यति । ततः सखीवेष कारयित्वा रणघण्टाया मातुर्गृहे तं साऽनैषीत् । तदा रात्रौ

ते चत्वारः श्रेष्ठिनं समेत्य पप्रच्छुः । अस्माभिरेकस्मान्नराद्वस्तु गृहीतमस्ति तस्याग्रे प्रोक्तमस्ति यदा त्वं चलिष्यसे तदा यानं भृत्वा दास्यते । वेश्याऽवग्—कदाचिन्मशकैर्यानं भृतं मार्गयिष्यति तदा किं क्रियते भवद्भिः । ते प्रोचुरेवं बुद्धिस्त्वस्य कुतः ।

ततः उपानद्दाता धूर्तः समागतः तेनाप्युक्तं—मया तस्यैव चालक्यौ दत्ते प्रोक्तं—हृष्टं मां कुर्याः, अहं तु हृष्टो न भविष्यामि, ततस्तस्य वस्तु ग्रहीष्यते । वेश्याऽवग्—यदि स त्वां भूपपार्श्वं नीत्वा वदिष्यसि—राज्ञः सुतो जातः, त्वं हृष्टोऽथ न तदा किमु ।

तत एको धूर्तः पुनरागतः प्राह—मया सहस्रटङ्ककान् दत्त्वा तस्य श्रेष्ठिसूनोः प्रोक्तं—मम पित्रा तव पितुर्गृहे चक्षुर्ग्रहणके मुक्तं तच्चलता दातव्यम् । यदा चलिष्यति स तदा चक्षुर्मार्गयिष्यामि ।

वेश्याऽवग्—त्वयं न कृतं कदाचित् स गदिष्यति अस्मत्पितुः पार्श्वे बहूनां जनानां नेत्राणि ग्रहणके सन्ति, तेनात्त्वं स्वचक्षुस्तुलायां मुञ्च, ततस्तेन द्वितीयचक्षुषा समं तोलयित्वा दास्यामि ततस्त्वं हारयिष्यसि ।

एवं प्रोच्य सर्वे स्वस्थानं गताः । एतत् श्रुत्वा चलनावसरे मशकराजपुत्रजन्म-चक्षुस्तोलनयुक्तिभिः साधिकां श्रियं तेभ्यो ललौ । इति बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ॥७३॥

[74] निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे द्वौ भ्रातरौ वैद्यौ वैद्यकशास्त्रकुशलौ लोकान् चिकित्सयन्तौ लक्ष्मीमर्जयतः स्म । एकदा वृद्धभ्राता कस्मिंश्चिद्ग्रामे गतः । तत्र कमपि पुरुषं चिकित्सयित्वा धनमादाय पश्चादागच्छन् स्वपुरसमीपे समागात्, तत्र चितां प्रज्वलन्तीं दृष्ट्वा तु दध्यौ । अहं ग्रामे ऽन्यत्रागममेकः कोऽपि मृतोऽत्र तस्य चिता ज्वलन्ती दृश्यते । मम भ्रात्रा अस्य नाडिं विलोक्य किमपि धनं गृहीतं न वेति । ततो वैद्यो दध्यौ—

साम्प्रतं दृश्यतेऽत्रैव, प्रज्वलन्ती चिता किल ।
ग्रामममागामहं मे तु भ्रातुः किं चरितं नवम् ॥१॥
चितां प्रज्वलितां दृष्ट्वा, वैद्यो विस्मयमागतः ।
नाहं गतो मम भ्रातुः, कस्येदं हस्तलाघवम् ॥२॥

इति निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ॥७४॥

[75] ताजिकग्रन्थविरचनसम्बन्धः ।

एकदा गूर्जरधरित्र्यां मुद्गलाः बहवः खुरशानतः समागताः । तैर्गूर्जरधरित्रीमनुजा धृताः । तेषु मध्ये एको विद्वान् आचार्यो धृतः । स च नीतः खुरसाणे स च तत्रस्थस्तेषां मुद्गलानां भाषां स्तोकदिनैर्जज्ञौ । एकदा यस्य मुद्गलस्य गृहे तिष्ठति स्म । स मुद्गलो वैरिग्रामं लुण्ठितुं गतः ।

इतो मध्याह्नसमये तस्य मुद्गलस्य माता पदच्छायामवित्वा विलोक्य क्षणमूर्ध्वस्थिता उदरं कुट्टयन्ती रोदितुं लग्ना । हा पुत्र ! कथं हतः ? किं करोमि त्वया विनाऽहम्, तथाऽऽधारे

इदं कुटुम्बमासीत्, इत्यादि विलप्य विलप्य रुदतीं श्वश्रू दृष्ट्वा पुत्रवधूः पदच्छाया विलोक्य हृष्टमनाः श्वश्रूं प्रति प्राह—मातर्मा रोदन कुरु, तव पुत्रः कुशल्यस्ति। एकः शरो मस्तके लग्नोऽस्त्येकः पादे, एको वामहस्ते च, क्षेमेण सन्ध्याया समेष्यति, ततः श्वश्रूर्वध्वा रुदती रक्षिता। सन्ध्याया यादृश वध्वा प्रोक्त तादृश तेनाचार्येण दृष्ट। ततो दध्यौ—एते द्वे अपि कुशलिनी[न्यौ], पर वधूस्तु (श्वश्रा) अप्यधिका। ततस्तेन सूरिणा तत्रस्थेन यवनिक शास्त्र पठित्वा ताजिको ग्रन्थो नवीनो बद्धः। ततः सोऽत्र गूर्जरधरित्र्या सूरिणा नीतः। सूरिस्तु ततस्तत्क्षणमत्रागतः, ग्रन्थस्ततो निराम्नायोऽभवत्। तस्मिन् ग्रन्थे अतीतानागत—भाविभूतादिसर्वं प्रोक्तमस्ति पर तादृग्बुद्धि विना सम्यग् न ज्ञायते। स चाधुनाऽत्र विद्यते। इति ताजिकग्रन्थविरचनसम्बन्धः ॥७५॥

[76] मकरवानरसम्बन्धः।

एकदा पुष्पाकरवनादेको वचनप्रियो वानरः कदाचिद् भ्रमन् वने वने फलाहारं कुर्वन् समुद्रतटे गतः। तत्रैक समुद्रमर्यादाजलान्तर्लुठन्तं मकर वीक्ष्य वानरः प्राह—मित्र! किं जीवितनिर्विण्णोऽसि त्व यदत्र व्याधभूमौ समागाः? ततो मकरोऽवग्—

यस्य यद्विहितं स्थानं, यस्य यद्धेतवे कृतम्।
तत्रैव रमते चित्त, तत्र नान्यत्र वानर! ॥१॥

उक्तं च—सर्वस्वर्णमयी लङ्का, न मे लक्ष्मण! रोचते।
पितृपर्यागतायोध्या, निर्धनापि सुखावहा ॥२॥

किंच—जणणी[1] जम्मुप्पत्ती,[2] पियसंगो[3] जीवियं[4] धणासा य[5]।
पच्छिमनिद्दा[6] वरकामिणी,[7] पंचवि [सत्तवि] दुक्खेण मुच्चंते ॥३॥

अद्याहं सफलजन्माऽभूवं तव दर्शनेन, उक्तं च—
साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः।
तीर्थं पुनाति कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥४॥

तस्मादत्र भवान् स्थलोत्पन्नः समागतः। भवादृशा गोष्ठ्यपि दुर्लभा। ततो वानरः प्राह—हे मकर! अद्यप्रभृति त्व मे प्राणाधिकमित्रं वर्तसे, मित्रस्य पुरः स्वसुखं दुःखं च प्रोच्य प्रायः सुखी जनो भवति। उक्त च—

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना, न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रिसगतं, मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥५॥

ततो मिथो वानरमकरयोः प्रीतिरजनि। वानरो वर्यफलानि मकराय विश्राणयति, मकरश्च निजपत्न्यै दत्ते, साऽपि फलाऽऽनयनसम्बन्ध पप्रच्छ। ततस्तेन वानरमित्रसम्बन्धः प्रोक्तः। ततः सा सगर्भा मकरी चिन्तयामास। यो वानरो नित्यमीदृशानि फलानि सुस्वादूनि भक्षयति तस्य हृदय पीनमतीव मृष्ट मासममृतोपम भवति, ध्यात्वेति पतिं प्रति मकरी प्राह—मम गर्भानुभावात् तव मित्रवानरहृदयभक्षणदोहदो जातोऽस्ति। त दोहदपूरण विना मम प्राणा गमिष्यन्ति।

ततो दयिताकदाग्रह मत्वा सोऽन्यदा वानर प्रत्यवग्-मित्र ! त्वदीयभ्रातृजाया त्वामाकारयति, तत्र तव भक्ति करिष्यति । तत स वानरो भ्रातृजायामिलनार्थं मकरपृष्ठिमारूढः कियन्ती वेलामतिक्रान्ता* । तत कपि प्राह—मया तत्रगतेन किं कर्त्तव्य ? तव पत्नी मम कीदृशीं भक्ति करिष्यति । तदहो मकरो दध्यौ–मया तु बहुजले समानीतोऽत्र । इद जलमुत्तीय पश्चाद्गन्तु मया विना न शक्नोति । अत सत्यमेव वच्मि । तत पत्न्या दोहदस्वरूपं प्रोक्त तेन वानराग्रे । ततो वानरो दध्यौ–तत्र यदि गतोऽह तदा मृत एव, अतो बुद्धिर्विधीयते मया । ततोऽवग्वानरः-मित्र ! मां त्व तत्र नयन्नसि पर भ्रातृजयामनोरथ एव पूर्णो न भावी। मकरोऽवग्–किमिद वदसि ? वानरोऽवग्—मम वटे चित्त विद्यते । हृदय तूदुम्बरे वृक्षे समस्ति, तेन गृहीत्वा यदि गम्यते तदा भ्रातृजायामनोरथ सफलो भवति । ततो मकर पश्चाद्वलित अब्धितटे समागात्। ततो वानरो तत्पृष्ठित उत्तीय वृक्षमारूढ प्राह–मित्र गच्छ, पश्चात् मैत्र्याः श्रित [स्थिति] मम भ्रातृ जाया अग्रे प्रोक्त य–वानरो वटाचित्तमुदुम्बरात् हृदय मुक्त लातु गतोऽस्ति । अह तु त्वया सह मैत्रीं न करिष्येऽत पर, यत —

जलज तुचरैर्नित्य, जलमार्गानुसारिभि ।
स्थलजै सगतिर्न स्याद्-ब्रुवन्ति मुनयो ध्रुवम् ॥६॥

इति वटचित्तमुदुम्बरिहृदयम् । इति मकरवानरसम्बन्ध ॥७६॥

[77] सत्पात्रदानसम्बन्ध ।

दान धर्मेषु रोचिष्णु, तच्च पात्रे प्रतिष्ठितम् ।
मौक्तिक जायते स्वाति–वारि शुक्तिगत यथा ॥१॥
केसिं च होइ वित्त, चित्त केसिं पि, उभयमन्नेसिं ।
वित्त चित्त पत्त, तिन्नि पुण्णेहिं लब्भति ॥२॥

कश्चिद्राजा दानपराङ्मुखोऽन्यदा महाटव्यां गतः । सपरिवारोऽटवी पश्यन् भूपो मधूकाभिधस्य[वृक्षस्य]अधस्तात् स्थित, स मधूको वृक्षस्तदा बिन्दून् मुञ्चति । राज्ञोक्त—भो पण्डित ! अय मधूक कथ रटति ? तदैकेन पण्डितेन भूपप्रतिबोधायेति प्रोक्त—

यदास्ति पात्र न तदास्ति वित्तं, यदास्ति वित्त न तदास्ति पात्रम् ।
एवं हि चिंतापतितो मधूको मन्येऽश्रुपातै रुदन करोति ॥३॥

श्रुत्वैतद्भूप सत्पात्रदानपरोऽभूत् । इति सत्पात्रदानसम्बन्ध ॥७७॥

[78] दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ।

चम्पापुर्यां जिनदासश्रेष्ठी, तस्य गृहे महिषीपालः सुभगनामा बभूव । स च सदा महिषी चारयितु वने याति । एकदा शीतकाले वनमध्ये कायोत्सर्गस्थितं यतिं दृष्ट्वा दयापरो

* न्तो इति शुद्ध दृश्यते । अथवा–न्त । अथवा कियन्ती वेलाऽतिक्रान्ता ।

महिषीपालस्तस्य साधोरुपरि शीतरक्षानिमित्तमेकं कम्बलं ददौ। तत्पुण्येन क्रमात्तस्य श्रेष्ठिनः सुदर्शननामा पुत्रोऽभूत्। स च क्रमात्पुरोहितपत्नीकपिलयाऽभयाराज्ञ्या चाक्षोभितः सन् ताभ्यां छलाच्छूलायां क्षेपितः। शीलमाहात्म्यात्सा शूली स्वर्णमयं सिंहासनमभूत्। इत्यादिसम्बन्धः स्वयमेव ज्ञातव्यः। इति दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ॥७८॥

[79] दाने कृष्णकथा।

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती।
अणुव्रतिसहस्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥१॥
महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तीर्थकृत्।
जिनाधिपसमं पात्रं, न भूतं न भविष्यति ॥२॥

एकदा मथुरायां नगर्यां नन्दगोकुलेन स्वपुत्रो नारायणो वने भ्रान्त्वा समागतः पृष्ट इति भो वत्स ! त्वया भोजनं कृतं नवेति ? तदा नारायणेनोक्तं—

स्वच्छन्दतः स्वभवने स्वयमर्जितान्नं, कान्ताकराग्रपतितं यतिदत्तशेषम्।
ये भुञ्जते सुरपितॄनपि तर्पयित्वा, ते भुक्तवन्त इह, तेन, मया न भुक्तम् ॥३॥

यतः—पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ।
असईसुविहियाणं, भुंजेई कयदिसालोओ ॥४॥

इति दाने कृष्णकथा ॥७९॥

[80] दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा।

कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणः, ब्राह्मणी, तत्पुत्रश्च एते त्रयः प्रीतिपरास्तिष्ठन्ति। एकदा स्वगृहागताभ्यां साधुभ्यां स्वस्वभागसक्तुमध्याद्भावात्सक्तवस्तैर्दत्ताः। तद्दानपुण्येन तस्मिन्नेव भावभूरिस्वर्णकोटिवृष्टिरभ्येत्य सुरैः प्रशंसा कृता तेषां च ततस्तेन पुण्येन मुक्तिमपि गमिष्यन्ति।

इति दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा ॥८०॥

[81] प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा।

एकदा युधिष्ठिरभूपो द्यूतहारितराज्यः भीमादिभ्रातृयुतो वनं प्रति चचाल। कस्मिंश्चिद्वने सन्धा[न्ध्यायां] तरोरधस्तस्थौ। तदानीं सामायिकं गृहीत्वा प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण] कृत्यं कृत्वा स्मृतपञ्चनमस्कारो यावत्स्वपिति तावद्भीमोऽवग्—वने उपसर्गा उत्पद्यन्ते, रात्रौ तु विशेषतो भयं स्यात्तेनाऽहमादौ प्रथमयामे जागर्मि। भीमस्य जाग्रतः कलिनामा राक्षसस्तत्रागाद्भीमं क्षोभयितुं तदा मिथो द्वाभ्यां युद्धं बाढं कृतं न कस्यापि जयविजयौ भवतः स्म। मिथः खिन्नौ तौ पृथक्पृथक्स्थितो भीमस्तु सुप्तः। ततो द्वितीयप्रहरे अर्जुनो जागर्त्ति, तत्रापि भीमवद्भमर्जुनेन तेन समं युद्धं कृतं ततो मिथस्तौ खिन्नौ पृथक्स्थितौ। तृतीयप्रहरे तथैव सहदेवनकुलौ तेन समं युद्ध

चक्रतुः । चतुर्थप्रहरे युधिष्ठिरराजः स्वयमेवोत्थाय सामायिकं कृत्वा नमस्कारान् गणयन् तस्थौ, यावत्प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण]कर्तुकामो धर्मध्यानपरोऽभूत् तावदितः सोऽपि असुरः कलिः सप्ततालप्रमाणं वस्तु [वपु] कृत्वोपसर्गयितुं लग्नः । एवं षट्पञ्चचतुस्त्रिद्विप्रभृतिहीनहीनतरव्याघ्रादिरूपाणि कृत्वा युधिष्ठिरं ध्यानाच्चालयितुं लग्नः । युधिष्ठिरस्तु प्रतिक्रमणं कुर्वन् सर्वथा मुक्तवैरः सन् स्थितः । तदा तेन [शरीरं] कृष्णक्रमुकप्रमाणं कृतं यावत् तावद्युधिष्ठिरेण वर्तुलकेन स्थगितः सः प्रातर्भीमादीन् सर्वान् भ्रातॄन् सुप्तान् दुःखेनोत्थाप्य युधिष्ठिरः पप्रच्छ—भो भ्रातरः ! कथमेवं सुप्ता यूयं ? तदा तैः स्वं स्वं रात्रिवृत्तान्तमुक्तं । तदा युधिष्ठिरोऽवग्—सोऽसुरोऽत्रास्ति यावद्वर्तुलकं पश्चात्करोति तावत् स कल्यसुरः सन्तुष्टः स्वरूपं प्रकटीकृत्य युधिष्ठिरं तुष्टावेति—

धन्यस्त्वं पुण्यवान्भाग्यात् सौभाग्यसरलाशय ।
विश्वसे धरणीपीठे, जगद्वन्द्यक्रमाम्बुजः ॥१॥

कल्यसुरोऽवग्—एवं यः क्षमां करोति स कलावपि स्वं कार्यं करोति भुक्तिभोग्यं सात्मजयति च । ततो युधिष्ठिरोऽपि प्रतिकम[प्रतिक्रमण] कृत्वा सामायिकं पारयित्वाऽवग्—भो असुर ! मया तव योऽपराधः कृतः स क्षम्यतां त्वया । एवं मिथस्तौ क्षमयांचक्रतुः ।

इति प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा ॥८१॥

[82] अथ कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः ।

कर्णः स्वर्णदानं भूरि दत्त्वा स्वर्गं गतः । तत्र स्वर्णमेव पश्यति, नान्यत् । ततः पृष्टो गुरुः प्राह—न त्वयाऽन्नादिदानं दत्तं, तेन हेम पश्यन्नभूत् । ततो दातुं चम्पपुरे शृगालः श्रेष्ठी बभूव । तत्रान्नं दत्त्वा जिमते एकदा कोऽपि नायातः तदा खिन्नः श्रेष्ठी । कोऽपि देवश्चालयितुं योगिरूपभृत् अन्नं लातुमागतः, श्रेष्ठी भोजनं दातुमुत्थितः । सोऽवग्—नाहमन्नं गृह्णामि, किन्तु तव पुत्रमांसं । ततः पुत्रं हत्वा तन्मांसं ददौ । ततः श्रेष्ठी जगौ मां स्वर्गं नय । स देवरूपभृत् तव पुत्रं विना नाहं स्वर्गं दातुं क्षमः । ततः खिन्ने श्रेष्ठिनि देवेन पुत्रः प्रकटीकृतः ततो विशेषतोऽन्नदानं ददौ । इति दाने कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः ॥८२॥

[83] तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः ।

मन्त्रिवाग्भट्टेन तीर्थोद्धारे विधीयमाने तदर्थद्रव्यार्थं सर्वव्यवहारिनामसु लिख्यमानेषु एकेन मारवेन—दुर्गतेन यात्रागतेन स्वसर्वस्वं द्रम्मपञ्चकं पुण्यार्थं मन्त्रिणोऽर्पितं । मन्त्रिणा तन्नामनि धुरि लिखिते व्यवहारिणो रुष्टाः । तान् रुष्टान् दृष्ट्वा वाग्भट्टमन्त्री जगौ, एतेन सर्वस्वमर्पितं तथा चेद्भवद्भिरर्प्यते तदा भवतां नाम धुरि स्यादिति वचसा प्रसन्नीकृतास्ते महेभ्या उत्थाय तत्पदौ प्रणेमुः । तेन मारवेन पादलिप्तपुरे रन्धनाय चारीं यच्छता द्रम्मसुतो लोहको लब्धः । पारणानन्तरं मन्त्रिणोऽग्रे मुक्तः । मन्त्री तं दृष्ट्वा जगौ त्वद्भाग्येनायं भवतश्चटितस्तेन त्वमेव गृहाण । ततो मारवेन लब्धधनार्द्धं तत्र तीर्थे व्ययितम्, मन्त्रिणः सन्मानितः, स क्रमात्प्रासादो निष्पन्नस्ततः बहुधनं व्ययितं मन्त्रिणा, यथाहि—

लक्षत्रयीविरहिता द्रविणस्य कोटीस्तिस्रो विविच्य किल वाग्भटमन्त्रिराजः ।
यस्मिन् युगादिजिनमन्दिरमुद्धधार, श्रीमानमौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१॥

इति तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः ॥८३॥

[84] लूणिगवसहीति नामसम्बन्धः ।

पूर्वं धवलके लूणिग-माल[देव]-वस्तुपाल-तेजपाला सोदरा निर्द्रव्या वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थाया पुण्यव्यये लक्षलक्षनमस्कारा मानिताः भ्रातृभिः । तैरुक्तं च—अपरं वस्तु याचस्व । विमलवसहिकाया देवकूलिकामनोरथोऽभूत् मे, यदि सिद्धयति तदा मम मनःसमाधिर्भवति । भ्रातृभिरुक्तम्—यदि श्रीः संपत्स्यते तदा कारयिष्यते । तदनु भाग्याज्जाते राजव्यापारे श्रीअर्बुदे श्रीमाताबोडापार्श्वाद् भूर्द्रम्मैराच्छाद्य गृहीता । ३६ द्रम्ममूटका[आ]स्तीरिताः । तैरुक्तमतः पर न त्वं द्रम्मैः पर्वतमपि गृह्णासि ।

[सं०] १२८३ आसादारम्भः । १२९२ सम्पूर्णः ।

द्रव्यकोटी १२५३ लक्षलूणिगवसहिकायां व्ययिताः ।

इति लूणिगवसहीति नाम दत्तम् ॥८४॥

[85] अथ देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ।

अन्यदा भृगुकच्छे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडकाह्वयोगी ८४ सर्पकरण्डिकाश्चाऽऽदायागतः । मया समं वादं कुरुत, आसनं वा स्वं त्यजत यूयम् । गुरुभिरासनोपविष्टैः परितः सप्त रेखाः कृताः । उक्तं च—मयि सर्प्पान् यथारुचि मुञ्च । ततः कान्हडकेनैकोऽहिर्मुक्तः । एकां रेखामपि गुरुकृता नाक्रमति स्म । द्वितीयो द्वितीयाम्, एव वहवोऽह्यो मुक्ताः, परं षष्ठी रेखा केनापि सर्पेण नाक्रमिता नाक्रामि वा । योगिनोक्तमेकशो [मेकैकशो] भूमावुपविशन्तु । प्रभुभिरुक्तं—किं भूमावुपविशनेन, यः सवलोऽहिस्समहिं मुञ्च । ततश्च कान्हडेन नलिकान्तः आकृष्य [नलिकान्तराकृष्य] रक्तः सिन्दूरिकः सर्पो दृष्टिपातमात्रेण कदलीपत्रं भस्मसात्कुर्वन् मुक्तः । वाहनसर्पो रेखा न लङ्घते । इतः सिन्दूरसर्प्पेणोत्तीर्य जिह्वया रेखा भग्ना । वाहनसर्प्प उपरितनप्रेरणया आसनपादे चटितु प्रवृत्तः । लोको हाहारव कुरुते । गुरवो ध्यानपरायणा बभूवुः । एतस्मिन्नवसरे गुरुध्यानप्रभावादेत्य शकुनिकया सर्प्पद्वयमुत्पाद्य[त्य]दूरतर क्षिप्तं । जितो योगी दीनवदनीभूय टोडरमुत्तार्य गुरुचरणयो. पतितः प्राह—प्रभो ! ममैतदेव सर्पद्वयमाजीविका तेन क्वास्ति तत्सर्पद्वयम् ? प्रभुभिरुक्त नर्मदातीरे कुरुकुल्लयागत्योवाच । मास ४ [मासचतुष्टयं] संमुखवटाधिरूढया व्याख्यान श्रुतं, तेन कथ प्रभूणां गुरूणामुपद्रवं द्रष्टुं शक्नोमीति सर्पोऽपाकृतः । गुरुभिः स्तुतिरूपं काव्यं जगदे । देव्योक्त—इदं कोशे तिष्ठतु, न प्रकाश्यं । प्रातर्द्वारलिखितं काव्यत्रयं मत्स्तुतिरूप यः पठिष्यति तस्य सर्पोपद्रवो न भविष्यतीति विज्ञप्य स्वस्थानं गता । कान्हडो गुरुजितः । स्वां कलां सर्वां मुक्त्वा गुरुपादसेवापरोऽभूत् ।

इति देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ॥८५॥

[86] सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

अन्येद्युः कर्णराजो दानफलं मुक्त्यादिसौख्यं श्रुत्वा प्रतिप्रभाते भारशतमितं सुवर्णं दत्त्वोत्तिष्ठति सिंहासनात् । अत्रान्तरे एकदा कर्णस्य सत्पात्रदानेच्छायां प्रातः प्रथमं चारणद्वयं आद्यमिथ्यात्वधर्मवासितं समागात् । तदा ध्यातं कर्णेनेति, सत्पात्राय मया पूर्वं दानं दातव्यं, सद्गतिसिद्धेतवे, यतः—

अन्नदातुरधस्तीर्थंकरोऽपि कुरुते करम् ।
तच्च दानं भवेत्पात्रे, दत्तं बहुफलं यतः ॥१॥

एवं ध्यायन् कर्णः पात्रपरीक्षापरो यावद्दानं न दत्ते तावदेकेन चारणेनोक्तं—

पत्तपरिक्खह किं करुह, दिज्जउ मग्गताह ।
वरसंतह किम्व अबुदह, जोइ सम-विसमाई ॥२॥

तदा कर्णः प्राह—वरसु वरसु अवरहत-वरसीडा फल जोइ ।
धत्तूरइ विस इक्खुरस, एवडु अंतर होइ ॥३॥

इति सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

[87] अथ संसारासारतायां कथा ।

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहिवेअणापउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसिअं धम्मं ॥१॥

यथाहि—श्रीपुरे धनश्रेष्ठी, धनो प्रिया, चन्द्रः पुत्रः, तस्य पत्नी रूपश्री चन्द्रः पत्नीमोहितः पत्न्योक्तं कुरुते । एकदा पत्न्योक्तं—मां प्रति श्वशुरादयो यथातथा जल्पन्ति । ततः स माता-पितॄन् मुक्त्वा विदेशं प्रत्यचलत् । मार्गे तृषा लग्ना पत्न्याः । सा च जल्पति स्म पयो विना मम जीवितं नास्ति । ततो जगदे तेनाग्रतश्चलतं सरो यावत् । साऽवग्—अत्रानय पयः । ततस्तस्या मोहितः स पयो नेतुं चचाल । सिंहो दृष्टः, जीवितमन्यं तृणमिवावगणय्य सरसि गत्वा पयः पश्चादानीतवान्, तावत्प्रियाऽभूदचेतना । तां क्रमात्सचेतनीकृत्याग्रतश्चचाल । ततः कस्यचित्पुरोपान्ते कूपोपकण्ठे भार्यां मुक्त्वा पुरमध्ये भक्तमानेतुं गतः । तत्रस्था सा समीपकूपे एकं कुष्ठिनं पङ्गुं रागं कुर्वाणं दृष्ट्वा मोहिताऽभूत्, भर्तृविषये निःस्नेहाऽभूत् । तथा पङ्गुपुरः [पङ्गोः पुरः] प्रोक्तं—त्वं मम भर्ता भव । तेनोक्तं—कथमेवं जल्पसि ? क्वाहं क्व त्वं ? ततः क्षणाद्भर्ताऽगात् । आनीतं भक्तं त्रिधा कृत्वा एकं भागं स्वस्य, एकं पङ्गोः, एकं पत्युः कारितं तया । ततश्चलन्त्या तया स पङ्गुः सार्धं नीतः । मार्गे कदाचित्स पुण्यमुत्पादयति । कदाचित्सा, क्रमाद्धन्तुमि-च्छति सा पतिं, क्रमात्कस्मिंश्चित्पुरे पुरपार्श्वे गत्वाऽवग् सा, ममापहृत्य यात्ययं, ततो राजाऽऽगात् । तयोक्तं—ममाय पङ्गुभर्ता असौ मुधाजल्पकः । ततो राज्ञा निष्कासितोऽसौ चन्द्रो दध्यौ—

यस्यै निजं कुलं त्यक्तं, जीवितार्धं च हारितम् ।
सा मयि भवति निस्नेहा, कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ॥२॥

ततो राज्ञां स्वस्वरूपं प्रोच्य संसारं तत्याज सः । इति संसारासारतायां कथा ॥८७॥

[88] अथ पुण्यसारकथानकम्

साकेतनपुरे भानुप्रभस्य भूपस्य मान्यो धनामित्राभिधः श्रेष्ठी बभूव । तस्य श्रेष्ठिनो धनमित्राभिधा प्रियाऽभूत् । साऽन्यदा रैकुम्भं स्वप्नेऽपश्यत् । क्रमात्सा पुत्रमसूत । जन्मोत्सव कृत्वा तस्य सूनोः पुण्यसार इति नाम दत्तं पितृभ्याम् । क्रमाद्यौवनं प्राप सः । धन्या कन्या धर्मकर्मशास्त्रकुशलः पुण्यसार' पितृदत्ता समह् परिणिन्ये । क्रमात् पितरि स्वर्गं गते पुण्यसारस्य स्वप्ने लक्ष्मीरभ्येत्येवमवोचत्—अहं त्वद्गृहे त्वदर्जितपूर्वपुण्यादेष्यामि । पुण्यसारोऽवग्— कथमेष्यसि त्व ? तयोक्त—प्रातस्त्वया गृहस्य चत्वारः कोणा विलोकनीयाः । तत. प्रगे चत्वारः कुम्भा रैभृताः दृष्टा कोणेपु पुण्यसारेण । ततोऽनर्थभिया भूपस्याग्रे गत्वा रैकुम्भागमनोदन्त जगाद । राजा तत्रागतस्तान् रैकुम्भान् दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत् । लोभाद्राजा तान् रैकुम्भान् स्वकोशे निनाय । द्वितीयेऽह्नि पुण्यसारस्तथैव रैकुम्भान् दृष्ट्वा भूपाग्रे जगाद । रैकुम्भस्वरूपं लोभाद्भूपस्तानपि कुम्भान् स्वगृहे नीतवान् । एवं तृतीयेऽपि दिने भूपेन रैकुम्भा गृहीताः । चतुर्थे दिने तथैव कुम्भेपु आनीतेपु भूपेन मन्त्री जगाद-कुम्भाः सर्वे गताः । न ज्ञायते केन हृताः । तदा देव-तयोक्तं—भो राजन् ! पुण्यसारस्य पुण्येन । तस्य पुण्यसारस्य गृहे रैकुम्भा. मया मुक्ताः । त्वं तु मुधा गृह्णासि । ततो राजा तान् सर्वान् कुम्भान् श्रेष्ठिगृहे दृष्ट्वाऽवग्—भो श्रेष्ठिन् ! त्वं धन्योऽसि यस्येदृक्ष भाग्यं विद्यते । ततो राज्ञा सन्मानितः श्रेष्ठी गजारूढः स्वगृहे समागात् । ततो भूपस्तस्य श्रेष्ठिमुख्यता ददौ । लोको जगौ—'लक्ष्मी' पुण्यानुगामिनी' भवति । ततः स पुण्यसारः सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं सफलीचक्रे ।

तत्र सुनन्दः केवली समागात्, भूपो नन्तु ययौ, पुण्यसारोऽपि गतः, सर्वेऽपि उपविष्टाः धर्मं श्रोतुं । देशनान्ते धनमित्रोऽवग्-भगवन् ! मत्पुत्रेण प्राग्भवे किं पुण्य कृतं ? सूरिरवग्-अत्रैव पुरे धनाढ्यो नरोऽभूत् । सद्गुरोः पार्श्वे धर्मं जीवदयामयं श्रुत्वा जिनधर्ममङ्गीकृत्य शुद्धां जीवदयां पपाल । दान शुद्ध दत्ते च यतिभ्यः, क्रमाद्गुरुपार्श्वे व्रतं जग्राह । सदा सिद्धान्तपठने श्रवणे गुरुवैयावृत्ये परः प्रान्तेऽनशनेन विपद्य तृतीये स्वर्गे देवो महर्द्धिकोऽभूत् । तत्रायुः प्रपाल्य पूर्वपुण्ययोगात्तवाङ्गजोऽजनि । तदा पुण्यसारः पश्चाद्भवसम्बन्धं श्रुत्वा जाति-स्मृतिं प्राप्य विशिष्य ततो महातीर्थेपु शत्रुञ्जयादिपु स्वां श्रिय व्ययति स्म । पिताऽपि धर्मं करोति स्म । क्रमान्मातापितृभिः समं पुण्यसार सयम जग्राह । तपस्यां शुद्धामाराध्य स्वर्गे सुरा अभूवन् । ततो मनुष्यभव प्राप्य शिव यास्यन्ति सर्वेऽपि । इति पुण्यसार कथानक प्रबलपुण्यविषये ज्ञातव्य भव्यजनैः । इति प्रबलपुण्यविषये पुण्यसारकथानकम् ॥८८॥

[89] अथ जीवदयायां चतुर्मित्राणां कथा ।

सत्थवाहसुओ दक्खत्तणेणं, सिट्ठिसुओ सुरूवेण ।
बुद्धीइ अमच्चसुओ, जीवइ पुण्णेहिं रायसुओ ॥१॥
दक्खत्तं पंचरूयं, सुंदरे सयसमं विआरिज्जा ।
बुद्धी पुण्णसहस्सा, सयसहस्साइं पुण्णाइं ॥२॥

तथाहि—अमात्यपुत्र १ राज(ज)पुत्र २ श्रेष्ठिपुत्र ३ सार्थवाहपुत्र ४। एते सुहृदो मिथः, राजपुत्रेणोक्तं—अहं पुण्यर्जीविष्यामि। अमात्यपुत्रेणोक्तं बुद्ध्या। श्रेष्ठिपुत्रेणोचे—रूपेण। सार्थवाहपुत्रेणोक्तं—अहं दक्षत्वेन जीवामि। ते चत्वारो विदेशं प्रति चलिताः। कस्मिंश्चिदुद्याने स्थिताः। दक्षः सार्थवाहपुत्रः पुरमध्येऽगात्। कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो हट्टे गतः। तदा तस्य हट्टे बहुग्राहकजनः समागात्। भूरिलाभोऽभवत्। श्रेष्ठिना ध्यातं-अस्य दक्षत्वेन मम बहुलाभोऽभूत्। ततः श्रेष्ठी जगौ-उत्थीयतां, जिम्यते। सार्थवाहपुत्रोऽवग्—वयं चत्वारो मित्रा[मित्राणि]स्मः। एकैकं विना न जिमामः। ततः सर्वं तत्राकार्य श्रेष्ठिना जिमिताः सर्वेऽप्यानात्। पञ्चरूपकव्ययस्तत्राभूत्।

द्वितीयदिवसे श्रेष्ठिपुत्रः रूपवान गणिकागृहे गत्वा शतमितप्रमाणं भोजनं लब्धवान्समित्रः।

तृतीयदिने अमात्यपुत्रः पुरमध्ये गतः। द्वयोः सपत्न्योरेकस्मिन्पुत्रे विवादोऽभूत्। केन भङ्क्तुं न शक्यते। तत्रामात्यपुत्रो जगौ द्विधाकृत्वाऽयं द्वयोर्दीयते तदा सपत्न्योक्तमेव भवतु। मात्रोक्तं अस्या अयं भवतु। ततोऽमात्यपुत्रोऽवग्—अस्या अयं पुत्रो ज्ञातव्यः, ततः सहस्रमितै रूप्यैर्जेमनं सर्वेषाममूत्।

चतुर्थे दिने पञ्चदिव्ययोगेन राजपुत्रो राजाऽभूत्। ततः सर्वे सुहृदः सन्मानिता राज्ञा त्रयाणां मित्राणां मनो मानयामास। गुरवस्तत्रागताः। गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राजा पप्रच्छ-मया किं कृतं येन राज्यसमून्मम ? सार्थवाहपुत्रश्रेष्ठिपुत्रामात्यपुत्रैः किं कृतम् ? गुरवो जगुः—राजन् ! त्वं पूर्वभवे श्रीधनः कौटुम्बिकोऽभूत्, गुरुपार्श्वे जीवदयामयं धर्मं श्रुत्वा जीवदया शुद्धा पालिता, तेनात्र भवे राजाऽभूत्। सार्थवाहपुत्रेण प्राग्भवे गुरुभक्तिः कृता, तेनास्य दक्षत्वं जातं। श्रेष्ठिपुत्रेण जिनस्य प्रतिमा एकदोज्वालिता तेनास्य रूपसम्पदभूत्। अमात्यपुत्रेण ज्ञानवतां भक्तिः कृता तेनाऽमात्यपुत्रस्य बुद्धिर्जाताऽत्र। धर्मं श्रुत्वा सर्वेऽपि सविशेषं धर्मं कृत्वा स्वर्गं गत्वा क्रमान्मुक्तिं गमिष्यन्ति। इति जीवदयायां चतुर्मित्राणां कथा ॥८९॥

[90] अथ मल्लिकार्जुनभूपजेता श्रीआम्बडप्रबन्धः।

पुहविकरडे बभंड,-मप्पुडे भमइ कुडलिज्जतु।
तुह अंबडदेव जसो, अलद्धपसरो भुयंगव्व ॥१॥ कोविदान।

अथ कदाचित् सर्वावसरे स्थितः चौलुक्यनृपतिः। तदा कोङ्कणदेशीयमल्लिकार्जुनस्य राज्ञो मागधेन 'राजपितामह' इति विरुदं प्रोक्तं। कुमारभूपालः श्रुत्वा दध्यौ-एतस्य मल्लिकार्जुनस्य राजपितामहेति विरुदं मयोत्तारणीयं। अन्यदा सभायां राजबीटकं हस्तेकृत्य भूपः प्राह—यस्य तस्य निग्रहणार्थं शक्तिरस्ति स सुभटो बीटकं गृह्णातु। श्रुत्वैतत् कोऽपि सुभटो बीटकं न गृह्णाति, तस्यातीवबलं श्रुत्वा। ततः आम्बडेन करौ योजयित्वोक्तं—स्वामिन्नादेशो दीयतां मम त्वया त्वत्प्रसादात्तं विरुदं तस्मान्नपसारयामि ततो। राजा हर्षितो बीटकं तस्य ददौ। ततो महतीं सेनामादायाम्बडमन्त्रीश्वरो भूपं प्रणम्य पत्तनाच्चलितः। ततश्चलन्मन्त्री दुस्तरवारिपूर्णां कलविणीं नदीमुत्तीर्य परस्मिन् कूले सेनानिवेशं कृतवान्। आम्बडमन्त्रिणमागतं श्रुत्वा मल्लिकार्जुननृपोऽकस्मात्तत्रायातः। ततो मन्त्री सपरिवारो युद्धं क्षणं कृत्वा पश्चाद्वलितः। आम्बडो

मल्लिकार्जुनभूपपराभूतः कृष्णवदनः कृष्णच्छत्रालङ्कृतमौलिः कृष्णगू-रादिपटकुटीक (?) पत्तनपरिसरेऽभ्येत्य स्थितः । स्वागमन कस्यापि न ज्ञापितं तेन । इतः कुमारपालभूपेन वहिरागतेन पृष्टं कस्य ईदृशी सेना कृष्णाम्वरा ? तत एकेन नरेणोक्तं—मल्लिकार्जुनभूपपराभूतस्याम्वडस्य, सेनायां लज्जया वहिःस्थितोऽस्ति । ततो राज्ञा चिन्तितं यदीदृक्षी लज्जा तस्य तदाऽनेन मल्लिकार्जुनो वशीकरिष्यते । ततस्तमाम्वडं सन्मान्य पुनः सार[स]परिवारं तं वैरिणं जेतुं भूपश्चालयामास । ततश्चलन् क्रमात्तेनैव वर्त्मना कुङ्कणदेशे गत्वा स द्विधा सैन्यं कृत्वान्तरा मल्लिकार्जुन क्षिप्त्वा युद्धं कर्तुमाम्वडः सज्जोऽभूत् । क्रमादाम्वडो युद्ध कुर्वन् हस्तिस्कन्धात्पातयित्वा जगाद-स्मरेष्टदैवतं । ततोऽपि आम्वडेन मल्लिकार्जुनशिरच्छिन्न, सुवर्णपात्रेण तच्छीर्षं स्थगयित्वा मल्लिकार्जुनश्रृङ्गारिकोटिशाटीप्रभृतिवस्तूनि लात्वा पत्तन प्रति चचालाम्वडः । ततः क्रमात्पत्तने जयजयेति विरुदं कारयन्नात्मनः पुरमध्ये आम्वडः प्रविष्टः । तत्रात्मीयं मन्त्रिणं मुक्त्वा मल्लिकार्जुननृपस्य समभ्येत्य श्रीकुमारपालनृपतेः पुरा प्रणामपूर्वं मल्लिकार्जुनमस्तकं स्वर्णस्थगित । श्रृङ्गारकोटिशाटिका १ । माणिकओ पच्छेवडओ २ । पापक्षयंकरहारु ३ । संयोगसिद्धिसिप्रा ४ । तथा हेमकुम्भ ३२ । मुटकपट् । मुक्ताफलाना । श्वेतचतुर्दन्तहस्ती १ । पात्राणा १२० सार्द्ध १४ कोटिरूप्यटङ्ककान् मुमोच । ततस्तानि श्रृङ्गारकोटिशाटिकादीनि आम्वडमन्त्रिणा प्राभृतीकृतानि दृष्ट्वा राजा जहर्ष, तत आम्वडमन्त्रिणो राजपितामह इति विरुद ददौ ।

इति मल्लिकार्जुनभूपजेता श्रीआम्वडप्रवन्धः ॥९०॥

[91] अथोदयनमन्त्रिप्रवन्धः ।

मारुमण्डलवास्तव्यः श्रीमालवंशीय ऊदाभिधो वणिक् वर्षाकाले घृत विक्रेतु गच्छन्-कस्मिन्ग्रामेऽन्तरा केदारान् रात्रौ वध्यमानान्प्राह—कस्य यूय सेवकाः ? तैरुक्तं—वयममुकस्य कामुकाः, वणिजोक्तं-मम कामुकाः कुत्र सन्ति ? ततः स ऊदाकः सकुटुम्वस्तत्र गत्वा वायटीयजिनायतने विधिवद्देवान् वन्दते स्म । त तथा देव वन्दमान दृष्ट्वा कया छिम्पिकया श्राविकयोक्त—कस्यातिथिर्भवान् ? तेनोक्तं—वैदेशिकोऽहं, भवत्या एव, ततः सुश्राद्ध तं मत्वा कस्यचिद्गृहे स्वद्रव्यदानेन छिम्पिकया भोजितस्तया स सकुटुम्वः । तृणमय कुटीरकमर्प्पित तस्य । सुश्रावकत्वात्तया कालेन प्राप्तविभवः ऊदाको गृहं कारयितुमिष्टिकानिचयं लात्वा खातं कारयन् महान्त सेवधिं प्राप । ऊदाकेन सा छिम्पिका वहुद्रविणदानेन सन्मानिता । ततः लक्ष्म्या उदयस्तस्याभवत्तेन 'उदयन' इति नाम जातं, यतः—

कृतप्रयत्नानपि नैति कांश्चन, स्वयं शयानानपि सेवते परान् ।
द्वयेऽपि नास्ति द्वितयेऽपि नास्ति, श्रियःप्रचारो न विचारगोचरः ॥१॥

तेन कर्णावत्यामतीतानागतभविष्यचतुर्विंशतिजिनसमलङ्कृतः प्रासादः कारितः । तत्र श्रीऋषभजिनो मूलनायकः कृतः । क्रमादुदयनमन्त्रिणस्तस्य पुत्राश्चत्वार. क्रमाद्भूवन्-वाहडदेव[१]-वाहड[२]-आम्वड[३]-सोल्ला.[४] । इति उदयनमन्त्रिप्रवन्धः ॥९१॥

[92] अथ भाग्ये आभडप्रवन्धः ।

श्रीमालज्ञातीयः श्रीपत्तनवास्तव्य उच्छिन्नवंश्य आभडनामा वणिग्वभूव । कांस्यकारक

हट्टेषु घघरकघर्षणं कुर्वन् पञ्च विंशोपकानर्जयित्वा दिनव्ययं कुर्वाणो द्विःसन्ध्यमपि श्रीहेमसूरिपार्श्वे प्रतिक्रमणादिपरस्तिष्ठति । अन्यदा रत्नपरीक्षाशास्त्रार्थं विज्ञाय तद्विषयेऽतीवकुशलोऽजनि । कदाचिच्छ्रीहेमसूरिपार्श्वे परिग्रहपरिमाणं गृह्णन् श्रीहेमसूरिभिस्तद्देहलक्षणविज्ञानविचक्षणैर्लक्षत्रयद्रव्यपरिमाणं कारितः । क्रमादाम्भडस्य पुत्रोऽभूत्। पत्न्याः स्तन्यं न । तेन छागी गृहे लिलापुरभूत् । कस्मिंश्चिदवसरे कस्यचिद्ग्रामसमीपे छागीयूथं अवाहे[आवाहे] पानीयं पिबन्तीं [पिबन्त] ददर्श । एकस्याश्छाग्या जलं पिबन्त्या जलं द्विधाभूत् । तत्कण्ठे घघरकबद्धमणिं वीक्ष्य तां छागीं द्रव्येण जग्राह । तद्रत्नं समुत्तेजयित्वा[समुत्तेज्य] सपादलक्षटङ्कैः सिद्धराजभूपस्य ददौ । ततो व्यवहारी जातः । एकदा मञ्जिष्ठावाहिकानि बहूनि विदेशादागतानि जग्राह । तन्मध्ये स्वर्णकुशा बह्व्यो निर्गताः । तत प्रभृति दिनेदिने वर्द्धन्त्या श्रियालङ्कृतः । ततः प्रतिवर्षं श्रीशत्रुञ्जयस्य यात्रां महासमुदायेन चकार सः । जैनप्रासादाः भूरिशः कारिताः । निजप्रशस्तिरहिताः जीर्णोद्धाराश्च । गुप्तवृत्त्या साधर्मिकेभ्यो धनं यच्छन् साधुभ्योऽन्नपानवस्त्रादि च स्वजन्म सफलीचकार ।

छलिच्छन्नद्रुम इव, मृत्स्नाच्छादितसमस्तबीजमिव ।
प्रायः प्रच्छन्नकृतं, सुकृतं शतशाखतामेति ॥ १ ॥

इति आमडप्रबन्धो भाग्ये ॥९२॥

[93] अथ सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ।

'राजपितामह' इति बिरुदं वहन् श्रीआम्रभटोऽभवच्छ्रीकुमारपालस्य मन्त्री,—

द्वात्रिंशद्द्रम्मलक्षान् भृगुपुरवसते, सुव्रतस्यार्हतोऽग्रे ।
कुर्वन् माङ्गल्यदीपं ससुरनरनरश्रेणिभिः स्तूयमानः ॥
योऽदादर्थिव्रजाय त्रिजगदधिपतेः सद्गुणोत्कीर्त्तनायां ।
स श्रीमानाम्रदेवो जगति विजयतां दानवीरोऽग्रयायी ॥१॥

कुमारे परलोकं प्राप्ते अजयपालो राज्ये उपविष्टः । ततः सर्वे मन्त्रिणस्तं भूपं नेमुः । आम्रभटेनोक्तं—देवबुद्ध्या वीतरागस्य, गुरुबुद्ध्या हेमचन्द्रसूरेः, स्वामिबुद्ध्या कुमारपालस्य नतिर्मया कार्या, नान्यस्य । (जैनधर्मवासितसप्तधातुरनमन्) अजयपालेनोक्तं —यदि मम प्रणामं करोषि तदा ते जीवितव्यं भविष्यति नान्यथा । ततः श्रीजिनबिम्बं प्रपूज्यानशनं गृहीत्वा संग्रामायाजयपालेन सार्द्धं सवपुसे, संग्रामं कुर्वन् जिनध्यानेन मृत्वाऽऽम्रभटः स्वर्गं जगाम । यतः—

वरं भट्टैर्भाव्यं वरमपि च खिङ्गैर्नकृते,
वरं वेश्याचार्यो [र्यै]वरमपि महाकूटनिपुणैः ।
दिवं याते दैवादुदयनसुते दानजलधौ,
न विद्वद्भिर्भाव्यं कथमपि बुधैर्भूमिवलये ॥२॥

इति सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ॥९३॥

[94] अथ शत्रुञ्जयोद्धारप्रबन्धः भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च ।

अन्येद्युः सुराष्ट्रीयं सुसरनामान राजपुत्र जेतुमुदयनमन्त्री कुमारपालेन चालितः शत्रुञ्जयपार्श्वे गत्वा दध्यौ, रणे जीवितव्यसन्देह इति विमृश्य शत्रुञ्जये देवं नन्तुं गतः। स मन्त्री महापूजादीन् विधाय रात्रौ प्रभोः पुरो ध्याने उपविष्टः। तदाऽकस्मान्मूषको दीपवर्त्तिमादाय प्रासादान्तर्गच्छन् दृष्टः, चिन्तित च मन्त्रिणा—अय प्रासादः काष्ठमयस्तेन कदाचिद्विध्वसो भावी, तदा का गतिः, दीपवर्त्तिर्विध्यापिता। ततो जीर्णोद्धार चिकीर्षुरभिग्रहं लात्वोदयनः स्कन्धावारे आगमत् ।

तत्र गत्वा युद्धं वैरिणा कृत, वैरिबले जिते वैरिण्यपि हतेऽकस्मात् शरः कुस्थानके लग्नः भूमौ पतितोऽश्वात्, ततः सकरुण क्रन्दन् आवासे कटकमध्ये आनीतः पृष्टः, किं सेवकेन दुःख विद्यते भवतः। तेनोक्त—सङ्ग्रामे जयाजयौ विद्येते एव। एक एवाभिग्रहो मे मनस्यपूर्णोऽभूत। सेवकेनोक्त—कोऽभिग्रह ?

उदयन प्राह—श्रीशत्रुञ्जये प्रासादोद्धारः, भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्चिन्तितः मया। तौ न जातौ यावत्तौ न भविष्यतस्तावन्मया भूशयेनैकभक्तकराभिग्रहो लले। यदि मदीयावभिग्रहौ मम वाग्भट्टादयः पुत्राः शृण्वन्ति तदा ते पुत्राः सिद्धिं नयन्ते स्म।

ततः स्थगीक, तेनोक्त—यावदहं भवतः पुत्राणामग्रे नाकथयिष्य तावन्मम भवतः ।

ततः उदयनमन्त्री हृष्टोऽवग्—त्वमपि वन्यः पुनरेको मनोरथोऽस्ति, स्थगीका(?)ऽवग् कथ्यता द्वितीयोऽपि मनोरथः।

तत उदयनो जगौ—यदि साधवोऽत्रागच्छन्ति तदा ममाराधना कारयन्ति, ततः सद्गतिः स्यात्, ततः कमपि वण्ठं साधुवेष कारयित्वाऽग्रे आनीतो, जिनबिम्बमानीत, द्वौ प्रणम्याराधनां कृत्वा क्षमित सर्वजीवः स्वर्गं गतः। वण्ठेनाग्रतः सम्यक्सयम आराधितः। तत्र स्वसेवकान् मुक्त्वा उदयनस्य पश्चात् कटकं पत्तने आगतम्। उदयनमरणाभिग्रहग्रहणादिवृत्तान्त सर्वः स्थगीकेन वाग्भट्टाऽऽम्रभट्टादीनामग्रे प्रोक्त। ततो द्वाभ्यामाम्रभट्टवाग्भट्टाभ्या द्वावभिग्रहौ गृहीतौ। ततस्ताभ्यां बहुद्रव्यव्ययाच्छ्रीशत्रुञ्जये जीर्णोद्धारः कारयितुमारब्धः। वर्षद्वयेन शत्रुञ्जयप्रासादे निष्पन्ने वर्द्धापनिकायामागतायां तस्य सुवर्णजिह्वा कारिता। क्षणाद्द्वितीया प्रासादपतनज्ञापिका वर्द्धापनिकागता, तस्य हेमजिह्वाद्वय कारित। यतो मम पश्चात्क उद्धार कारयिता, ततस्तत्र गत्वा चतुःसहस्रैरश्वैः शिलापट्टकः पृष्ट, किं क्रियते, तेनोक्त—पूर्वंसभ्रम प्रासादो वातेन पातितः। यदि निभ्रमः प्रासादः कार्यते तदा चिरं तिष्ठति, पुनः सन्ततिर्न भवति।

ततस्तेनोक्तं—प्रासादकविधानात् भरतभूपपङ्क्तिर्लभ्यते तदा सन्तत्या किमेव विमृश्य सं० १२११ प्रासादः पुनः कारित। वाहडनाम्ना पुर स्थापित, तत्र त्रिभुवनपालविहारः कारितस्तत्र पार्श्वबिम्ब स्थापित। तीर्थपूजाकृते चतुर्विंशत्यारामान् नागर परितो वप्रं देवलोकस्य च ग्रामवासादिकृत—

सप्तषष्टियुता कोटी, व्ययिता यत्र काञ्चनी ।
स श्रीवाग्भट्टदेवोऽयं, वर्ण्यते न बुधैः कथम् ॥१॥

आम्रभट्टेन भृगुपुरे शकुनिकाविहारोऽकारि, तत्र षट्कोटिमित हेम्नां लग्नम् ।

इति शत्रुंजयोद्धारप्रबन्ध , बहुद्रव्यव्ययाद्भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च कारित ॥९४॥

[95] अथ ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्ध ।

अन्यदा सिद्धराजजयसिंहो रुद्रप्रासाद महान्त कारयित्वा ध्वजारोपणसमये सर्वजैनप्रासादानां ध्वजोत्तारण कारितवान्, मन्त्रिभिवारितोऽपि न तस्थौ । स भूपो मालवमण्डले गत्वाऽन्येद्यु श्रीनगरमहास्थाने आगमत् । सर्वेषु प्रासादेषु ध्वजारोप वीक्ष्योक्त भूपेन, केषां प्रासादा एते ? तैरुक्त—शिव-ब्रह्म-जिनप्रासादा एते । ततो रुष्टो राजाऽवग्-मया सर्वेषां जैनप्रासादानां ध्वजारोपो निषिद्ध , भवद्भिरिद पताकादि किं क्रियते जैनप्रासादेषु । तैरुक्त शृणु—

पुरा श्रीमन्महादेवेन कृतयुगप्रारम्भे महास्थानमिद स्थापितम् । श्रीऋषभदेव-श्रीब्रह्मप्रासादौ स्वय स्थापितौ प्रदत्तौ च नौ । तस्मान्नयो प्रासादयो सुकृतिभिरुद्ध्रियमाणयोश्चत्वारो युगा व्यतीता [चत्वारि युगानि व्यतीतानि] । श्रीशत्रुञ्जयमहागिरे पुरा नगरमेतदुपत्यकाभूमि, यतो नगरपुराणेऽप्युक्तम्—

पञ्चाशदादौ किल मूलभूमे–र्दशोर्ध्वभूमेरपि विस्तरोऽस्य ।
उच्चत्वमष्टैव तु योजनानि, मानं वदन्तीति जिनेश्वराद्रे ॥१॥

इति कृतयुगे आदिदेव श्रीऋषभस्तत्पुत्रो भरतस्तन्नाम्ना भरतखण्डमिति प्रथीत—

नाभेरुता (?) स वृषभो मरुदेविसूनु–र्यो वै चचार समदृग् मुनियोगचर्याम् ।
तस्यार्हन्त्यसोमुपय (?) पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरुणः समदृक्सुधीश्च ॥२॥

अष्टमे मरुदव्या तु नाभेर्जाते उरक्रमः ।
दर्शय वर्त्म वीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृत ॥३॥

इत्यादि पुराणोक्तानि भूरिशो भूपाग्रे कथितानि तैर्द्विजै, यथा तेन तदाद्यस्थापनाय ऋषभदेवीक कोशात् श्रीभरतनामाङ्कित पञ्चजनवाद्य कांस्यतालमानीय भूपस्याग्रे मुक्त द्विजै । ततः प्रभृति स्व निन्दयित्वा भूप सर्वेषु जिनप्रासादेषु पुनर्ध्वजारोपणं चकार ।

इति ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्ध ॥९५॥

[96] जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा ।

कस्मिंश्चिद्वने शमीपादपे शुक शुकीयुतो वसति स्म । क्रमात्तयो शुक पुत्रोऽभूत् । एकदा शुक्योक्त–पुत्रो मदीय, शुकेनोक्त–पुत्रो मदीय ततो विवादे जायमाने भृश सप्रति भूपतिपार्श्वे ययौ । शुकीशुकौ स्व स्व रुचित प्रोचतु ।

ततो राज्ञोक्त—अय शुकस्य पुत्र ततः शुकी दुःखिताऽजनि, शुक स्व पुत्र गृहीत्वा गत । शुकी जिनालये गत्वाऽऽदिजिनप्रतिमां वीक्ष्य नत्वा वनात्पुष्पाण्यानीय पूजयामास । तत क्रमाज्जिनध्यानेन मृत्वा शुकी मन्त्रीश्वरपुत्री तिलोत्तमा नामाऽभूत् । वर्द्धमाना पित्रा सर्वकला पाठिता पुत्री ।

एकदा जिनप्रासादे श्रीयुगादिप्रतिमां वीक्ष्य क्षणा[णं] मूर्च्छित्वा जातिस्मरणं प्राप्य पश्चात् शुकीभव ददर्श। ततो ज्ञातं राज्ञः स्वरूपं ततस्तया धर्मकर्म कुर्वत्याऽन्यदा पितुरग्रे प्रोक्तं–तात ! त्वया स्वीयास्तुरङ्गमा राज्ञा वडवान भोगाय मोक्तव्या । ततस्तथाकृते मन्त्रिणा वह्वयो राजवडवा वहून् किशोरकान् प्रसूताः। तदानीं राज्ञ' सर्वे किशोरका नृपपार्श्वात्तातगृहे तया नीताः ।

ततो राज्ञोक्तं—मन्त्रिन् ! कथ मम किशोरास्त्वया गृहे गृहीताः। मन्त्रिणोक्तं—मत्पुत्र्या मदालये आनीताः । ततो राज्ञोक्तं–मन्त्रिपुत्रीपार्श्वे त्वया कथ मदीयाः किशोरा. स्वपितुर्गृहे नीताः ? मन्त्रिपुत्र्योक्तं भवद्राज्ये एव विधो न्यायो वर्त्तते । यः पुत्रः स पितुरेव, ततो ये ये किशोरास्ते ते घोटकस्वामिनो भवन्ति, तेनैते किशोरा मम तातस्य ।

राजा ध्यातं—इयमतीव विदुप[षीं]मन्या वर्त्तते। तेन मया प्रथम परिणीय तथा कर्त्तव्या यथा दुःखिनीभूता एतस्याः कृत जल्पित च एतस्या मस्तके पतति ।

ततो राज्ञा मन्त्रिण सन्मान्य वस्त्रादिना महता प्रपञ्चेन तिलोत्तमा परिणीता । कियद्दिनानन्तरं प्रोक्त—रे विदुप[षीं]मन्ये ! त्वया मद्गेहे पुत्रयुक्तयाऽऽगन्तव्य, नान्यथा । ततः सा पितृगृहे गत्वा बुद्धिमती पितृपार्श्वाद्द्रव्यमादाय राजगृह यावत्सुरङ्गा दापयामास छन्न । ततस्तत्र तया देवविमानतुल्य मद्दद्भूमिगृहं कारित । तत्र वाउलकवदरीरोपिते। ततः वर्यपल्यङ्कादिरचना कारिता । पञ्चपा सखीयुता तत्र देवीरूपतुल्या विशिष्टाभरणादिभूपितगात्रा ताम्बूलादि आस्वादयन्ती तिलोत्तमा वादित्रादि वादयामास।

तदा क्रमाद्राजा तं दिव्यवादित्रनिनाद श्रुत्वा त विलोकितुकामोऽभूत् । इतः तिलोत्तमा स्वा सखीं विदुषीं राज्ञ पार्श्वे प्रेपयामास ।

राज्ञोक्त—त्वं का ? तयोक्त–ज्ञानवती विद्याधरी पवनवेगविद्याधरपुत्रीसेविकाऽस्मि । राजा दध्यौ–यस्या एवंविधा सेविकाऽस्ति सा कीदृशी भविष्यति । ततो राज्ञोक्त–यत्र तव स्वामिनी वर्त्तते तत्र मा नेष्यसि। तदा तयोक्तं—यदि भवतो रोचते तदा तत्र त्वामेकाकिन नेष्यामि । ततो राजा हृष्टस्तया तत्र रात्रौ नेत्रयोः पट्टकं वन्धयित्वा नीतः । चक्षुषः पट्टकोऽपचक्रे, ततः तां दिव्यरूपा कन्या वीक्ष्य दध्यौ स। किमियं विद्याधरी, किमिय देवाङ्गना, किमिय पातालकन्या च ? इय यदि मम प्रिया भवति तदा कृतार्थोऽहं भवामि। तत्र नाटकादि निरीक्ष्य छन्न राजा पश्चादागतः । एव सा विद्याधरी राजान तत्रानयति ।

एकदोक्त–सा विद्याधरी भवत्स्वामिनी मा वृणुते न वा ? मम स्वामिनी विद्याधर वर समीहते। ततो राजा दध्यौ, एकदा तस्या भोगो मम भवति तदाहं कृतार्थो भवामि एवं चिन्तयामास । एकदा राजा यावत्तत्र गतस्तावत्सा सखी कुत्र गता कार्यार्थमपरा अपि तत्सेविका अन्यत्र गता। तदा तिलोत्तमयोक्त—काऽस्ति या तु पादुके मदीये आनयति ? तदा राज्ञा पादुके मस्तके कृत्य तस्यार्पिते । तयोक्त–कस्त्व ? तेनोक्तमद्य त्वा विलोकितु त्वत्सेविकयाऽऽनीतः । तयोक्त–वर जातम् । एव द्वितीयदिने तयोक्तं काऽस्ति या वदरीवाउलकपत्राणि आनयति मदीयक्षते वन्धनार्थं, ततस्तेन तदपि कृत । ततो राज्ञोक्तम्—एकशो मम त्वा भोक्तुमिच्छाऽस्ति । ततस्तयोक्त–यथातथा कमपि मत्कान्त मुक्त्वाऽन्य पुरुपं न समीहे, परं तव भक्त्या तुष्टास्मि, यदि तव रोचते तत्कुरु ।

ततो राज्ञा मुक्त्वा तिलोत्तमा क्रमादाधानमभूत् पुत्रोऽप्यभूत् । ततस्तया सर्वं भूमिगृहादि विसर्जित, यद्यद्राज्ञाकृत गमागमादि तत्सर्वं पितुःपार्श्वाद्वहिकायां लिखित तया । ततो राजा तां कन्यां स्मार स्मार चिन्तयामास । कदा तस्या स्त्रिया योगो मम भविष्यति । ततो ग्रथिलप्रायो जातस्तस्या दर्शन विना । इत्येवं मंत्रिपुत्री तिलोत्तमा पुत्रयुता भूरिसखीयुता सुखासनारूढा महोत्सवपूर्वकं राज्ञः पार्श्वे गता यावत्तावद्राज्ञः सेवकै भवत्पत्नी तिलोत्तमा पुत्रयुता आगच्छन्त्यस्ति । राजा ध्यात कथ तस्याः पुत्रो जात इति राजा चमत्कृत । तत्रागता पत्नी । मन्त्रिणा पुत्रीलिखापिता वहिकाऽग्रे मुक्ता । राजा तां वाचयित्वा चमत्कृतस्तामङ्गीचकार । सत्य त्वमेव विदुषी लोकानामग्रे, सर्वं प्रोक्त । ततो राज्ञी स्व जातिस्मरणस्वरूप जगौ राज्ञोऽग्रे । तत सम्प्रति राजा विशेषत पुण्य करोति । पुत्रस्य जिनदत्त इति नाम दत्तं । ततो राज्ञी श्रीजिनधर्मं कृत्वा क्रमात् स्वर्गभागभूत् ।

॥ इति जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा । ९६॥

[97] अथ सिद्धि-बुद्धिरउलाणीप्रबन्ध ॥

अणहिल्लपुरे पत्तने चौलुक्यकर्णभूपपुत्र जयसिंहदेवो यात्रां कृत्वा सहस्रलिङ्गसरोवरमध्ये वगस्थलोपरि स्थितः ।

अत्रान्तरे बहवो याज्ञिकवैदिकादिद्विजा यात्रायां चलिता । गङ्गागोदावर्यादितीर्थेषु स्नात्वा कश्मीरभूमौ गताः । हिमाद्रिमध्ये ओषधार्थ भ्रमद्भिस्तैर्योगी दृष्टः । तस्य सिद्धिबुद्धिनाम्न्यौ रउलाणी त्यभिधाने द्वे क्षुल्लिके तत्रोपविष्टे दृष्टे । दृष्ट्वा प्रणाम कृत्वोपविष्टास्ते । योगिन्या कुशलप्रश्नः कृतः, कुत समायाता यूय ? तैरुक्त-श्रीपत्तनात् । तदा ताभ्यां क्षुल्लिकाभ्यामुक्त तत्र कोऽधिपः ? तैरुक्त-सिद्धचक्रवर्ती जयसिंहदेव । तत्रेद श्रुत्वा ते द्वे अपि योगिन्यौ क्रुद्धे । ते तदा कथयितु लग्ने-रे रे द्विजा ! यदि तस्य चेत् सिद्धत्व तदा चक्रवर्त्तित्व कुत ? यदा चक्रवर्तित्व तदा सिद्धत्व कुत ? इति विमृश्य ते राज्ञः चक्रवर्त्तिविरुदपरीक्षार्थ समागते पत्तने । राज्ञा सभोपविष्टेन राजमार्गे गच्छन्त्यौ ते कदलीपत्राधिरूढे दृष्टे, राज्ञाऽभ्युत्थानं कृत । भूपेनागमनकारणे पृष्टे ताभ्यामुक्तं सिद्धचक्रवर्त्तित्व नाम ज्ञानार्थमावामागते । त्व कथ सिद्धचक्रवर्त्ती ? राजाऽवग्-कथयिष्यते, ततश्चोतारको दापितस्तयोः, दिनानि व्रजन्ति, राजा सन्देहेऽपतत् ।

[1]अत्रावसरे साम्तुआसचिवेन राज्ञोऽग्रे पृच्छा कृता किमर्थं दुर्बलो भवान् ? राजाऽवग-सिद्धिबुद्धिसमागमन-त पृच्छाभ्यामह दुर्बल, किमुत्तर दीयते ।

तदा सज्जन शर्कराफल राज्ञः करे दत्त्वा स्थित । राजा फल न गृह्णाति । क्षणेन गृहीतं भूपेन । सज्जन पितु समीपे गत्वा समयुक्तवान् । राज्ञश्चिन्तार्ति ज्ञात्वा पित्रोक्त-भो वत्स ! अस्माभि किं क्रियते ? अस्माक रावल गते कोऽपि मान न ददाति । राजा कर्णदेवसारके ईदृशाः कुदेडा बहुतरा भ्रमविष्यन् । मया सर्वेऽपि ते भग्ना । एषा वार्त्ता प्रासादाघस्थेन मन्त्रिणा श्रुता । पुरा राज्ञोऽग्रे गत्वा कथिता । ततो राज्ञा अग्रे पृथक्पृथग्वारत्रयमाकारितः

---

(१) किमुत्तर दातव्यमनयो षण्मासा गता श्रेष्ठिपुरेकहरिपालसाकरीयापुत्र सज्जन शर्कराफलं के(?)मयित्वा भूपोपाश्रेऽस्थात् अत्रावसरे इति अधिक पाठो दृश्यते D सञ्ज्ञ प्रतौ ।

कथयति हरिपालः धर्मध्यानभङ्गो भवति मम तेन नागच्छामि । सान्तूः स्वयं तत्रागतः, उक्तं च राज्ञा तवाकारणायाहं प्रेषितः । आगम्यतां, तेनोक्तं-साम्प्रतं देवपूजावसरः, अतो भव्यं संजातं, त्वं साधर्मिको मम गृहमागतः । कुरु देवपूजां, कुरुष्व भोजनं यथा गम्यते । अमात्येन तथैव कृतं । भोजनानन्तरं सुखासनारूढौ राज्ञः समीपे गतौ । राज्ञोक्त-काका ? सर्वावसरे किमद्यकल्ये नागम्यते ।

हरपालेनोक्तम् । आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति । तथा त्वमार्त्तो सत्या 'काका' कथयसि, अन्यथा नामापि न गृह्णासि । राज्ञोक्त—पूर्णं हास्येन, किन्तु तथा क्रियतां यथा मम नाम न याति । तेनोक्त—देव दाप्यतां दाप्यतां भव्या सारलोहमयी मुष्टिः क्षुरिकायाः । राज्ञा दापिता । अष्टदिनावधिं कृत्वा हरपालः स्वगृहमागात् । तस्याः क्षुरिकायाः शर्करामयं फलकं कारितं तथा यथा चन्द्रहासलोहभ्रान्तिं प्राप्ता । राजवेलीतुल्याऽभूत् सा प्रतिका(हा)रश्च स्वर्णमयः कारितः सान्तूहस्ते प्रदत्ता राज्ञोऽग्रे तत्स्वरूपं धीप्रपञ्चयुक्तं निवेदितं । प्रगे राजा सभायामुपविष्टः, सिद्धिबुद्धिरउलाणीद्वय तत्रागात् । मन्त्री प्राह—राजन् ? रउलाण्योर्बहूनि दिनानि यातः । किमपि कला दर्शय । कामप्यनयोः कला विलोक्य विसर्ज्यतां च, यदा तेनेत्थं सरोपमुक्तं, तदा राज्ञा सबहुमानं रउलाणीद्वयं पृष्ट-भो ! कथ्यतां भवतीभ्यां का कला ज्ञायते, को गुरुर्युवयोः ? ताभ्यामुक्तम्-अचलनाथो गुरुरावयोः । राज्ञाऽप्युक्तमस्माकमपि स एव गुरुः ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः समागतः, प्रणामं कृत्वा देव ! कल्ये कटकाधीश्वरेण प्रमाडिभूपेन भवता कृते प्राभृतं कृतमस्ति । राज्ञोक्त-किं किम् ? प्रतीहारेणोक्तं द्वारे सन्ति अमात्यास्त एव निवेदयिष्यन्ति । राज्ञा समाकारिताः । आयाताः, प्रणामं कृत्वा न्यजिज्ञपन्-देव ! षोडश रूप्यहस्तिनः, द्वादशपेटिकामडिभृताः, पृष्टौ प्रयाणकत्रये सन्ति । देव ! तव कृते वङ्गालदेशाधीशेन छुरिका भव्या बहुवस्तुयुता प्रेषिताऽभूत् । सा छुरिका प्रमाडिभूपेन प्रेपिताऽस्ति । राज्ञोक्तं प्रथमं निष्काश्यतां, तेन स पट्टकूलविण्टनकसप्तमध्यान्निःकाश्य राज्ञः करे समर्पिता । राज्ञा स्वयं दृष्टा वर्णिता च । सभासदान् प्रदर्शिता । प्रत्येकान्यैरपि वर्णिता । सिद्धिबुद्धिरउलाणीभ्यां दृष्टा वर्णिता । राज्ञः करे पुनः समर्पिता । तत्रान्तरे सान्तूकेनोक्त-देव ! पूर्णमपराभिर्वार्त्ताभिः, रउलाणीभ्यां सह क्रियतामालापः । दर्शनीया निजा कलाः । विलोकनीयाश्च प्रतिकूलाः । राज्ञोक्त-दर्शय स्वाः स्वाः कलाः । ताभ्यां द्वासप्ततिकलादिकौशल्यं दर्शितं । मन्त्रिणोक्त-त्वं स्वां कलां दर्शय । राज्ञोक्तं यथायुक्ति उच्यताम् । मन्त्रिणोक्तम् , इयं लोहमयी क्षुरिका भक्ष्यताम् । अपरैरुक्तम् आः ईदृशं सद्वस्तु न भक्ष्यते । अमात्येनोक्तं-चेद्राज्ञ उदरे भव्यं वस्तु व्रजति तदा किमयुक्तं ? यावद्राज्ञा क्षुरिकाफलं भक्षितं तावदन्येन करे धृत्वोक्त—देव ! युष्माभिर्यथाऽऽत्मीयकला दर्शिता तत्फलकतीक्ष्णं सारमयं भक्षितं तथा रउलाणीभ्यामपि दर्श्यते कलास्तदा वरं, यावद्राजा मुष्टिमर्पयति तदा मन्त्री जगौ उच्छिष्टं मुष्टिकं कथं दीयते ? मन्त्रिणोक्तं-धातुपु छोतिर्न लगति राजा वारिणा सह प्रक्षाल्य यावद्ददति (?) तावत्ताभ्यामुक्त-देव ! त्वमेवेदृशशक्तियुक्त युक्तं सिद्धचक्रवर्त्तिनामबिरुदं तव, नान्यस्य शक्तिरीदृशी । लोकः सर्वोऽपि विस्मितः । ते योगिन्यौ भूपं सन्मान्य स्वस्थानं ययतुः । पूर्वमन्त्रिणं बहुद्रव्यदानात्सन्मानयामास । राज्ञस्ततः श्री जयसिंहदेवस्य सिद्धचक्रवर्त्तिबिरुदं प्रकटमभूत् ।

इति सिद्धि-बुद्धिरउलाणीप्रबन्धः ॥९७॥

[98] अथ भाग्ये सोमिलकथा ।

सप्तद्वीपाधिपस्यापि, तृष्णा यस्य विसर्प्पिणी ।
दरिद्र सतु विज्ञेय, स तुष्ट परमेश्वर ॥१॥

किंच—दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्य, सन्तोषतुल्य धनमस्ति नान्यत् ।
विभूषण शीलसम कुतोऽस्ति, लाभोऽस्ति नारोग्यसम पृथिव्याम् ॥२॥

न चैव ध्यातव्यं यदथच्युतोऽह कथ वर्तिष्ये । यतो वित्त हि विनाशि स्थिरं च पौरुषम् । उक्त च—

सकृत्कन्दुकपात हि, पतत्यार्य पतन्नपि ।
कातरस्तु पतत्येव, मृत्पिण्डपतनेन हि ॥२॥

किं बहुना कार्यं केचित्सरा धनभोगभागिन केचिच्च रक्षितार एव भवन्ति ।

तथा चोक्तम्—अर्थस्योपार्जन कृत्वा, नैव भोग्य समश्नुते ।
अरण्य महदासाद्य, मूढ सोमिलको यथा ॥३॥

तथाहि—अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम तन्तुवायः । स चानेकविधरचनारञ्जितानि पार्थिवजनोचितानि वस्त्राणि सदैव विदधाति । पर भोजनादधिकधन न सपद्यते । ये चान्य स्थूलवस्त्रसम्पादका कोलिकास्तान् लक्ष्मीवतो वीक्ष्य भार्या प्रति प्राह्–प्रिये नात्र स्थातु युक्त, भार्योऽवग्–भो प्रिय ! मिथ्यावच इद यदन्यगताना धन भवति उक्त च—

न हि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥ ४ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
एव पूर्वकृत कर्म, कर्तारमनुधावति ॥५॥

यथा छायातपौ नित्य, सुसबद्धौ परस्परम् ।
एव कर्म च कर्ता च सश्लिष्टावितरेतरम् ॥६॥

तस्मादत्रैव तिष्ठ, व्यवसाय विना न कर्म्म फलति । उक्त च—

न यथैकेन हस्तेन, तालिका सप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्त, न फलं कर्मण स्मृतम् ॥७॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्त, भोज्यकाले च भोजनम् ।
हस्तोद्यम विना वक्त्रे, प्रविशेन्न कथचन ॥८॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, पतन्ति वदने [प्रविशन्ति मुखे] मृगाः ॥९॥

अपरं च—स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म, सिद्धिश्चेन्न भवेद् भुवि ।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र, दैवान्तरितपौरुषम् ॥१०॥

तदवश्य मया देशान्तरं कर्त्तव्यमित्युक्त्वा [गन्तव्यमित्युक्त्वा] वर्द्धमानपुरं गतः ।

अथ तत्र वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयोऽपि स्वगृहं प्रति प्रस्थितः । अथार्द्धमार्गे महाटव्यां गच्छतस्तस्य रविरस्तंगतः । तदसावात्मभयाद्वटवृक्षस्य स्थूलशाखामारुह्य यावत्सुप्तः तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ क्रुद्धौ मिथो जल्पन्तौ शृणोति, तत्रैकः प्राह भो कर्त्तः ! त्वं बहुधा मया निवारितोऽसि यथाऽस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादना[द्]धिका श्रीर्नास्ति अतो भवता कदाचिदपि तदधिका श्रीर्न देया। तत्कथमस्य सुवर्णशतत्रय प्रदत्त। स प्राहापरः—भो कर्म्मन् ! अवश्य मया व्यवसायिना व्यवसायानुरूप फलोदयो देयः । तस्य च परिणतिस्त्वया दत्ता, इत्यतस्त्वमेवापहरेति । तत् श्रुत्वा यावदसौ प्रबुद्धः सन् सुवर्णग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्ता ग्रन्थिः स्वर्णैस्तेन दृष्टः, ततश्चिन्तयामास—अहो मया कष्टेनार्जित धन हेलया गत, तद्व्यर्थः श्रम । ततो धनरहितोऽह कथ भार्यादीना मुख दर्शयिष्यामीति । भूयोऽपि वर्द्धमानपुर गतः, तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमर्जयित्वा भूयोऽपि स्वगेह प्रति अन्यमार्गेण चलितः । मार्गे रविरस्त गतः तदा न्यग्रोधे स तस्थौ । कष्ट कष्ट भो. किमेतदारब्ध, दैवहतकेन पुन स एव न्यग्रोधरूपी राक्षस. सम्प्राप्त, इत्येवं चिन्तयन् स्वप्नायमान' स वृक्षशाखायां द्वौ पुरुषावपश्यत् । तत्रैकोऽवग्—भो कर्त्तः ! किं त्वयैतस्य सोमिलकस्य निर्भाग्यस्य स्वर्णशतपञ्चक दत्त, किं न वेत्सि भवान् यद्भोजनाच्छादनादृतेऽस्याभ्यधिकं नास्ति । अपरः प्राह—भो कर्म्मन् ! मयाऽवश्यं देयं व्यवसायिना तस्य परिणामस्त्वया व्यतारि, तत्किमुपालभसे । तत् श्रुत्वा यावदसौ सोमिलको ग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्तः ततः परमवैराग्यसम्पन्नो व्यचिन्तयत् अहो मा धिग्, किं जीवितेन धन विना, ततोऽत्र वटवृक्षस्य शाखायामात्मानमुद्बध्य प्राणत्याग करोमि । एतद्ध्यात्वा यावच्छाखायामात्मानमुद्बध्य निक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थोऽवग्—भो सोमिलक ! किमेव साहसं कुरुषे । स एवाहं वित्तापहारी यत्तव भोजनाच्छादनाधिका श्रियं न सेहे, तद्गच्छ गृह तथा न मे स्याद्वृथथं दर्शनं तत्प्रार्थ्यतामभीष्टं वरमिति । सोमलिक आह—यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धन, सोऽब्रवीत्—भद्र ! किं करिष्यसि भोगत्यागरहितेन धनेन यतो भोजनाभ्यधिको नास्ति तव भोगः । सोमलिक. प्राह—यद्यपि भोगो न भवति तथापि तद्भवतु, उक्त च, यतः—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि, सदा धनविवर्जितैः ।
सेव्यते च नरो लोकै—र्यस्य स्याद्वित्तसंचयः ॥१॥

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च ।
निरीक्षिता मया भद्रे, वर्षाणि दश पंच च ॥२॥

अस्य सम्बन्धः कथ्यतां, तथाहि—

कस्मिंश्चित्पुरोपान्ते वने वा प्रलम्बवृषणाह्वः शण्डोऽभूत्। स च मदातिरेकात् परित्यक्तयूथो नदीतटानि शृङ्गाभ्यां विदारयन् स्वेच्छया शस्यानि भक्षयन् अरण्यचरो बभूव।

अथ तत्रैकः शृगालो वसति स्म। भार्यया सह कदाचिन्नदीपुलिने उपविष्टो विद्यते। एतस्मिन्नवसरे तस्य दृग्गोचरे प्रलम्बवृषण समागात्। तस्य शण्डस्य प्रलम्बवृषणौ दृष्ट्वा शृगाल्या शृगालोऽभिहित स्वामिन्! पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ क्षणेन प्रहरेण दिनेन वा पतिष्यत एतौ एव ज्ञात्वा भवानस्य पृष्ठे यातुमर्हसि। शृगालोऽवग्—प्रिये! न ज्ञायते कदाचिदेतौ पतिष्यतो वा न तत्किं मां श्रमाय नियोजयसि। अत्रस्थ एव तौ पतितौ त्वया सह भक्षयिष्यामि, अथवा अस्य पृष्ठौ यास्याम्यहं। यदि तदात्मीयस्थानमन्यः कोऽपि समेत्याश्रयिष्यति तदेतत्कर्तुं न युक्तम्। उक्तं च—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥१॥

साऽब्रवीत् एतद्वचनं कापुरुषस्यैव, यत—

यत्रोत्साहसमालम्बो, यत्रालस्यविहीनता।
नय-विक्रमसंयोग—स्तत्र श्रीरखिला ध्रुवम् ॥२॥

यथा च—न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मनः।
उद्योगेन विना तैलं, तिलेभ्योऽपि न जायते ॥२॥

यच्च त्वं वदसि एतौ पतिष्यतो नवा इति वक्तुं न युक्तम्। ततः प्रियाप्रेरितो जम्बूको मूषकादिभक्ष्यं त्यक्त्वा तयोर्वृषणयोर्वाञ्छया तस्य शण्डस्य पृष्ठौ बभ्राम सप्रियः, न च तयोः पतनमभूत् ततः पञ्चदशे वर्षे निर्वेदात्स भार्यामाह—

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च।
निरीक्षिता मया भद्रे, दश वर्षाणि पञ्च च ॥१॥

ततः पश्चादपि नैतयोः पतनं भविष्यति तमेव मूषकमार्गमनुसरावः। अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलाश्च सुबद्धाश्चेति' तदेवं धनवान्सर्वोऽपि स्पृहणीयो भवत्यतो देहि प्रभूतं धनं। पुरुषोऽवग् यदि एवं तद् गच्छ वर्द्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिजौ धनगुप्तधनाख्यौ स्तः, तयोश्चेष्टितं बुद्ध्वा प्रार्थनीयं त्वया। ततः सोमिलकोऽपि विस्मितो वर्द्धमानपुरं गतः, सन्ध्यायां श्रान्तः सन् धनगुप्तगृहे गतः। धनगुप्तभार्यापुत्रादिभिर्निर्भर्त्स्यमानोऽपि गृहाऽजिरोपान्ते उपविष्टः। तत्र भोजनवेलायां भक्तिवर्जितं भोजनं प्राप। तत्रैव सुप्तो यावन्निशिथे तावत्पश्यति द्वौ नरौ मन्त्रयन्तौ तत्रैकोऽब्रवीत् भो कर्त्तः! किं त्वयाऽस्य धनगुप्तस्याधिको व्ययो निर्मितो यदस्य सोमिलकस्यानेन भोजनं दत्तं तन्न युक्तं कृतं त्वया। द्वितीय आह—भो कर्मन्! ममात्र न दोषः, मया लाभः कृतोऽस्य तत्परिणतिस्तु त्वया व्यतारि। अथ यावदुत्तिष्ठति तावद्धनगुप्तस्य छर्दिकादोषेण द्वितीयेऽह्नि खिद्यमानस्य उपवासः पतितः। ततः सोमिलको मुक्तधनगृहे गतः, तेनापि भोजनं दत्तं, सन्ध्यायां सुखसमाधौ सुप्तः, तथैव रात्रिमध्ये नरौ द्वावभ्येत्योचतुः। एकोऽब्रवीत्—भो कर्त्तः! अद्यानेन

मुक्तधनेन सोमिलकस्य भोजनं दत्तं तेन बहुव्ययः कृत कृतोऽयमुद्धारविधिं दास्यति यतः सर्वमनेन व्यवहारगृहादानीतमस्ति। स प्राह—भो कर्म्मन् ! मम कृत्यमेतत् परिणतिश्च त्वया दत्ता । अथ प्रभाते कोऽपि राजपुत्रो भूपप्रसादलब्ध धनं मुक्तधनायादात्, संचयरहितोऽपि वरं भुक्तं, मुक्तधनं यदि विधिरर्पयति तन्मां विधिर्मुक्तधनतुल्यं करोतु विधिस्त्वधिकं न सहते धनं मम, ततः सोमिल सन्तोषं कृत्वा तस्थौ । इति भाग्ये सोमिलकथा ॥९८॥

[99] शीतपरिषहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ।

राजगृहे पुरे चत्वारो वणिजो वयस्याः वसन्ति स्म । अन्यदा तैः सोम-भीम-कमल-धननामभिर्धर्म्मं श्रुत्वा श्रीभद्रबाहुसूरिपार्श्वे संयमं गृहीत्वा बहुश्रुतीभूय गुर्वादेशात्ते विहरन्ति स्म । ते च यत्रार्कोऽस्तमेति तत्र तिष्ठन्ति स्म। रात्रौ अन्येद्युस्तेषां मध्ये एकोऽतीवशीते पतति वैभारगिरिपार्श्वेऽस्थात् । द्वितीय उद्याने । तृतीयः उद्यानोपान्ते । चतुर्थः पुराभ्यर्णेऽस्थात्। तेषां मध्ये यो गिरिगुहापार्श्वेऽस्थात् स ध्यानं कुर्वन् प्रथमयामे मृतः । उद्यानस्थो द्वितीये । उद्यानोपान्तस्तृतीये । पुरोपान्तस्थः पुरजनवापतश्चतुर्थप्रहरे मृतः । चत्वारोऽपि स्वर्गं ययुः ॥

इति शीतपरीषहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ॥९९॥

[100] अथ दण्डालक सिद्धिः ।

अरिमर्द्दनभूपस्याऽऽसनस्थितस्य कोऽपि सिद्धः पुमान् समागात्। तदा आसनं मह्यां तस्योपवेशाय स्थापितम् । स सिद्धोऽवग् त्वं वर्योऽसि, मम नीचस्यासन प्रदानात्। तदा राजाऽवग्-भूपस्याऽऽसनस्यान्तरं विद्यते । ततो जगौ—अहं तव स्वर्णसिद्धिं दातुमागाम्, त्वया विनयो न कृतः। इत्युक्त्वा स्वं छात्रं मुक्त्वा व्योम्नि ययौ । ततो राजा खिन्नोऽवग्—भो छात्र ! मया विनयो न कृतोऽत' परं करिष्यते, त्वमाकारय स्व गुरु। तत छात्राऽऽकारितस्तत्रागात्। भूपेन स्वर्णसिद्धौ मार्गितायां सिद्धो योग्यवग् यत-सौवर्णिकेषु दण्डालक इति मम नाम दास्यते तदा स्वर्णसिद्धिं दास्ये। ततस्तेन सौवर्णिकेषु दण्डालक इति नाम ददे। इति दण्डालकसिद्धिः ॥१००॥

[101] परीषहसहने अर्हन्नककथा ।

तगरापुर्यां दत्तो, भद्रा पत्नी, अर्हन्नकसुतयुतो गुरुपार्श्वे व्रतं ललौ । साध्वी साध्वीपार्श्वेऽस्थात् । दत्तः पुत्रयुगगुरुपार्श्वे तस्थौ । दत्तः स्नेहवशात् पुत्रं विहर्त्तुं न प्रेषयति स्वयमेवानीय मिष्टाऽऽहारादि दत्ते पुत्राय दत्तर्षि । क्रमाद्दत्ते दिवगते अर्हन्नक शुचं पितुर्मृतेर्धत्ते पञ्चदिनानि साधुभिर्गौरवितः। अन्यदैकेन मुनिना भिक्षायै सार्द्धं स नीत. तदा बाढं निदाघे सुकुमाराङ्गत्वात्स क्षुल्लो[क.] दह्यमानः उत्पपातोर्ध्वमधश्च तृषालग्नो कस्यचिद् गृहगवाक्षछायायामगात्स तदा तं देवकुमाराभ दृष्ट्वा काचित्प्रोषितप्रिया स्त्री गवाक्षस्था कामवशगा चेटीपार्श्वात्स्वगृहान्तर्नीत्वाऽवग्-किं तव [तुभ्य] रोचते। इत्युक्त्वा पञ्चषा मोदका दत्ता । तथा भाषितश्चेति तया, किं त्वया वयसीदृशे व्रत गृहीत मया सह भोगान् भुङ्क्ष्व, पश्चाद्वार्द्धकत्वे यद्रोचते तत्कर्त्तव्यम् । एव तया लोभितस्तत्रास्थात् क्षुल्लो भोगान् भोक्तुम् ।

इतः साधुभिर्विलोकितोऽपि न दृष्ट. । तस्य माता साध्वी पुत्रगमनत्वाद् दुखिताऽभूत् ।

अन्यदा गवाक्षस्थोऽर्हन्नको मातरं पुत्रवियोगदुःखितां दृष्ट्वा दध्यौ—अहं पापी, मया माता दुःखे पातिता भोगसुखलीनत्वात्। ततस्तत्राभ्येत्य मातुः पन्नो पतित्वाऽर्हन्नकः क्षमयामास। माता स्वस्थाऽभूत् पुत्रचरित्रं जज्ञौ। अन्यथा संसारासारतां प्रदर्श्य बोधितोऽपि न व्रतं लली दुष्करत्वात्। ततो मातृवचसा पादपोपगमनाशनं गृहीत्वा स्वर्गं गतोऽर्हन्नकः क्रमान्मुक्तिं गतः।

इति परीषहसहनेऽर्हन्नककथा ॥१०१॥

[102] परद्रोहोपरि वैरोचनमन्त्रिकथा ।

परद्रोहादिकं पापं, कुर्वंस्तीव्रमिहाज्ञवान् ।
वैरोचन इवासाद्य, लभते मरणादिकम् ॥१॥

तथाहि—विशालायां नगर्यां नन्दाभिधो भूपो न्यायी बभूव। अन्येद्युराखेटकं कृत्वा पश्चादागच्छन् पुरासन्नसरोवरे रजकं वस्त्राणि क्षालयन्तमपश्यत् नन्दभूपः। नन्देन तत्रैका शाटिका धौत्वो[तो]त्सारिता तापे रजकेन मुक्ता दृष्टा। तस्यां चोपरि भ्रमरानुपविष्टान् वीक्ष्य राजा चमत्कृतोऽन्तिकस्थं सेवकं पप्रच्छेति किमेवमस्या उपरि भ्रमरा उपविशन्ति एवं कुत्रापि न दृश्यते भ्रमरास्तु सुरभिवस्तुन्येवागच्छन्ति। सेवकेन चतुरेणोक्तं—स्वामिन् ! पद्मिनी स्त्री भवति तस्याः शाटिकायामेवंविधः परिमलो भवति धौतायामपि। ततो रजकः पृष्टः कस्ये इयं शाटिका ? रजकोऽवग्—वैरोचनमन्त्रिणः पत्न्याः। राज्ञोक्तं—भो प्रधान ! वैरोचनमन्त्रिपत्नी तु पद्मिनी विद्यते। ततो राजा गूढहृदयः पद्मिनीं स्त्रियं पट्टराज्ञीं कर्तुं सर्वत्र सेवकान् विलोकनाय प्रेषयामास। सेवकैः कुत्रापि न ज्ञाता पद्मिनी। ततो भूपोऽग्रे प्रोक्तं—कुत्रापि न ज्ञायते पद्मिन्युत्पत्तिः। राजा दध्यौ यदि पद्मिनी स्त्री पट्टराज्ञी न स्यात्तदा मम राज्यप्राप्तिरपि निष्फला। मन्त्रिपत्नीं भोक्तुकामो राजा वैरोचनमन्त्रिणं दूरदेशं व्यापाराय प्रेषयन्, (राजा तु) रात्रौ एकाकी मदनविह्वलो मन्त्रिगृहद्वारमागत्य द्वास्थं प्रति प्राह—

आगतो द्वारि भूपालः, प्रतिहारो न मुञ्चति ।
दैन्यं प्रोक्त्वा[च्य]च कामान्धः, प्रददौ रत्नकुण्डलम् ॥१॥

ततोऽग्रतो गच्छन् द्वितीयद्वारे याति, तावद्राजानमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वैकाकिनं शुकोऽवग्—

श्रीभूपनन्दराजेन्द्र !, तव पादौ प्रणौम्यहम् ।
वैरोचनः क्व च प्रैषि, किं कार्यं पुत्रमन्दिरे ॥२॥

राजा शुकं प्रति प्राह—

वासरेऽपि क्षुधा नास्ति, निद्रा रात्रौ न विद्यते ।
मम कीर ! महद्दुःखं, हृदये वसति कामिनी ॥३॥

शुकोऽवग्—

स्त्रियोऽर्थे च हतो *वाली—रामेण रावणो* हतः ।
परगेहे न यातव्यं, परदारान् परित्यजेत् ॥४॥

राजाऽवग्—

कीर ! पण्डितचार्वाक !, जनानामतिवल्लभ !
परनिन्दा न कर्त्तव्या, परचिन्तां परित्यजेत् ॥५॥

शुकोऽवग्—

अपूर्वा दृश्यते वाणी, वृत्तिर्भवति चिर्भटान् ।
तस्मिन् देशे न यातव्यं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥६॥

राजाऽवग्—

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति, तुष्टे नैव धनागमः ।
आगमो निर्गमो नास्ति, स रुष्टः किं करिष्यति ॥७॥

राजा शुकवचनमवगणय्य यावदग्रतोऽचालीत् तावदग्रे मार्जारः फेत्कारान् भृशं कुरुते स्म । शुकः पुनर्मार्जारं क्रन्दन्तं श्रुत्वा प्राह राज्ञि [राज्ञि] शृण्वति—

मा त्वमाक्रन्द मार्जार ! नन्दो राजा न तस्करः ।
अमृते विषमुत्पन्नं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥८॥

राजाऽवग्—

न पश्यन्ति हि जात्यन्धाः कामान्धो नैव पश्यति ।
नहि पश्यति मदोन्मत्तः, अर्थी दोषान्न पश्यति ॥९॥

ततोऽवमन्य शुकं भूपमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वा मन्त्रिपत्नी शय्यां मुक्त्वा एकतः स्थित्वा प्राह—

राजन् ! शान्तिं व्रजाद्याय, रक्ष देहं धनादिकम् ।
मन्त्रीशस्ते सुतो नूनं, कीरवाक्यप्रजल्पनात् ॥१०॥

राजा मन्त्रिपत्नीवचः श्रुत्वा ध्वनितशिरः[गिरा] प्राह—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, सत्यं च कीरभाषितम् ।
वैरोचनः सुतो मेऽयं, त्वं च कुलवधूर्मम ॥११॥

इत्येवमुक्त्वा लज्जितो राजा शीघ्रं मन्त्रिपत्नीवाहनिका परिधाय स्वीयां[च] तत्र विस्मृत्य कीरपार्श्वे भूत्वा द्वारमेत्य द्वास्थं प्रति प्राह—

अमृतं मधुसंयुक्तं, वणिगपुत्रगृहे न तु ।
न पपौ नृपतिस्तत्र, पश्चादर्प्य कुण्डलम् ॥१२॥

द्वास्थोऽवग्—

वारिमध्यस्थिता गावः, पिबन्ति न पिबन्ति च ।
निर्दोषास्तत्र गोपाला, हारितं रत्नकुण्डलम् ॥१३॥

राजाऽन्योक्त्या स्वयमेवावबोध्य स्वगृहे गत्वा सुष्वाप ।

इतोऽकस्माद्वैरोचनो विदेशाद् गृहे यावद्रात्रावागच्छति तावद्भूपवाहनिकां दृष्ट्वा चकितो दध्यौ-किमत्र राजाऽऽगतोऽभूत् । यावद्विलोकयति सम्यग् तावत्पत्नीवाहनिकां न पश्यति च चिन्तितं-नूनं राजाऽत्रागतो मम गृहे स्त्रीणां पुरुषाणां च चरित्रस्य पारं न पार्यते । यदि भार्यापृच्छ्यते तदा कूटजल्पनादेवचक्रेण भस्मीभवति तेन राजैव पृच्छ्यते एवं विमृश्य भार्यां मुत्थाप्य माङ्गल्यच्छलेन भूपवाहनिकां छत्रोपरि संस्थाप्य पञ्चशब्दपूर्वं वैरोचन भूपपार्श्वे गत्वा प्रणनाम छत्रमग्रे मुक्त्वा प्राह च—

तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पयः पातुं सरोवरे ।
पीतं नवेति वक्तव्यं, सत्यं राजन् ! त्वयाऽधुना ॥१४॥

राजा चकितः स्वरूपं मत्वा प्राह—
तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पानीयं पातुमुद्यतः ।
दृष्ट्वा सिंहपदौ तत्र न पीतं वारि शीतलम् ॥१५॥

ततो राजा स्वपदौ विलोकयति यावत्तावत् स्त्रीवाहनिकामुत्ताय लज्जां कृत्वा पुनः प्राह—
सत्यं सिंहो गतस्तत्र, पानीयं पातुमुद्यतः ।
सत्यं क्षीरोदितं सर्वं, न पीतं शीतलं पयः ॥१६॥

ततः वर्द्धापनागतां वाहनिकां परिज्ञाय स्त्रीवाहनिकां स्थालोपरि मुमोच । वैरोचनेन सर्वं ज्ञातं, राज्ञा[ज्ञा] मन्त्री मानितः, मन्त्री पञ्चशब्दपूर्वं राजपथेन पश्चाद्गृहे आगतः । भार्यां पृष्टा सती सत्यं प्राह राजपार्श्वगमनादिस्वरूपं भार्याग्रे प्रोक्त्वा[च्य] दध्यौ हृदि धन्येयं भार्या, शुको धन्यः राजापि धन्यः, भाग्यं विनैव योगो न लभ्यते यतः—

पत्नी प्रेमवती सुतः सुविनयो भार्या गुणालङ्कृता,
स्निग्धो बन्धुजनः सखातिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः परार्तिशमने प्राप्तोपयोगं धनं,
कल्याणाभ्युदयेन सन्ततमिदं कस्यापि सम्पद्यते ॥

राज्ञा ग्रासो वर्द्धितः । अद्धराज्याधारोऽभूत् । मन्त्रिणश्चत्वारः पुत्राः क्रमादभूवन् । अन्येद्यु सभार्यो मन्त्रियुतो राजा यावदुपविष्टः तावदकस्मादुद्यानपालकआगात् भयभ्रान्तचेता प्रोवाचैव च—

दवाघ नन्दनोद्याने, महाकायः किरिः कुतः ।
उन्मूलयंस्तरूनाम्र-कदल्यादीन् समाययौ ॥१७॥
श्रुत्वैतद्भूपतिर्दध्यौ, मयि शासति मेदिनीम् ।
उपद्रवः कथं पुंसा, जायते नूनमक्षतः ॥१८॥

ततो राजा संनह्य मन्त्रियुतः सपरिच्छदो वराहं हन्तुं वने ययौ, प्राह च—कुत्रास्ति वराहः ? वनपालवेन दर्शितः । राज्ञो मण्डलीं मण्डयित्वा वराहो हक्कित, रे दुष्ट ! पापिष्ट ! बहिर्निर्गच्छ कुञ्जात् । श्रुत्वैतत् सूकरो घुर्घुराराव कुर्वन् बहिर्निर्गत्य राजमन्त्रिपार्श्वे स्थित्वा निर्ययौ । राजा मन्त्री च तत्पृष्ठौ धावितौ वायुवेगाश्वारूढौ । परिवारः पश्चात्स्थितः । कियतीं भूमिमागत्य श्रान्तौ राजमन्त्रिणौ, सन्ध्यायां स्थितौ वराहश्छल कृत्वा क्वचिद्ययौ । ततो द्वावपि खिन्नौ जजल्पतु, सन्ध्या पतिता आवां दूरभूमिमागतौ । तृट् लग्ना । अत्रवने सिंहादयो बहवः सन्ति, कथ रात्रिर्गमिष्यते ? एव जल्पतोर्द्वयोः मन्त्री नीतिज्ञोऽवग्—

बृहद्भानोर्महाज्वाला, ज्वलन्ती वीक्ष्य दूरतः ।
सिंहाद्याः श्वापदाः सर्वे, तिष्ठन्ति दूरतः खलु ॥१९॥

एव विमृश्य काष्ठान्यानीयाग्निं प्रज्वाल्य महाज्वालां ज्वलन्तीं कृत्वा जागरितौ द्वावपि रात्रिं निन्यतु, यतः—

उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं पठने नास्ति मूर्खता ।
मौनेन कलहो नास्ति, नास्ति जागरतो [जागरिते] भयम् ॥

प्रातः सूर्यचारवशेन स्वपुरीमार्गं विज्ञाय द्वावपि चलितौ । तृट् लग्ना भृशं, राजाऽवग्—मन्त्रिन् ! विलोकय जलादिस्थानं कुत्राप्युच्चैश्चटित्वा । भूपादेशं प्राप्य तावत् वृक्षे चटित्वा दूरतो नीलशाद्वलबहुलप्रांशुवनकाकादि च दृष्ट्वाप्राह मन्त्री—

राजन्नितो दिशि प्राच्यां, संभाव्यते पयः स्थितिः ।
शाड्वलबहुलप्रांशु-वनकाकादिसंभवात् ॥२०॥

दृश्यन्ते बहवो वृक्षा, घनपत्रसमन्विताः ।
काकाः कलरवो यत्र, तत्र तोयं भविष्यति ॥२१॥

राजाग्रे उपरि स्थितो दिशमुक्त्वा स्वय च दिशं स्थिरीकृत्य वृक्षादुत्तीर्य मन्त्री भूपपार्श्वे आगात् । ततो दिगनुसारेण द्वावपि तत्र पूर्वदृष्टवने ययतुः, दृष्ट महासरः, चटितो पालिं यावत् तावद्दृष्ट शुष्कं सरः खिन्नो द्वावपि । चिन्तितमहो कर्मणा गतिः । तृट् लग्ना पानीयं तु न प्राणा-यास्यन्ति । मन्त्री प्राह—राजन् ! काकसंभवात् कुत्रापि जलं भविष्यतीति प्रोक्त्वा[च्य] राजान पालितरुच्छायायां मुक्त्वा जलभाजन लात्वा काकानुसारतः सरःपार्श्वे भ्रमन् महतीं वापीं जलपूर्णां दृष्ट्वा मन्त्री मुमुदे, समुद्रश्चन्द्रोदयमिव । मध्ये प्रविश्य जलभाजन पानीयभृतं कृत्वा यावत्त्वरितं निस्सरति तावद्भित्तौ प्रशस्तिं प्रेक्ष्य वाचयामास, तन्मध्ये एकं वाचयति, यथा—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं मन्त्रिणं दृढम् ।
अर्धराज्यहरं सद्यो, यो न हन्यात्स हन्यते ॥२२॥

चिन्तितं मन्त्रिणा कदाचिद् भूपोऽत्रागमिष्यति तदा मां मारयिष्यत्येव । तेन कर्दमेन श्लोकाक्षरान् स्थगयित्वा यास्यामीति कृत्वा श्लोकं कर्दमेनाच्छाद्य पानीयं लात्वा राजपार्श्वं गतः । राजा-

ऽम्भः पपौ। चिन्तितं च अहो ईदृशं जलस्थानमस्ति, विलोक्यते बहु जीवितव्य विना विलोकितं वरमिति ध्यात्वा मन्त्रिणं तत्र मुक्त्वा राजा वापीं द्रष्टुं गतः। वापीं विलोक्य पश्चाद्वलन् प्रशस्तिं वीक्ष्य तन्मध्ये एकं श्लोकं तत्कालाद्रकर्दमस्थगितं वीक्ष्य दध्यौ अपरः कोऽप्यधुनाऽस्मिन् वने दृश्यते न।

अयं तु श्लोकोऽधुनैवाच्छादितः समाव्यते तेन केनापि कारणेन स्थगित इति ध्यात्वा जलेन कर्दममुपसार्य श्लोकं वाचयामास—"तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्य"मित्यादि।

दध्यौ च नूनं मन्त्रिणा स्थगितः। एवं विचिन्त्य पश्चादागतस्तावन्मन्त्रिणा चकितेन श्लोकः स्थगितमस्थगितमिति यावद्विविकल्पपरः पयो दूरं त्यक्त्वा मायया तृषाक्रान्तो भूत्वा सुखं प्रसार्य स्थितः, राजा आगात् जगाद च—मन्त्रिन्नीदृशः कथं दृश्यते। मन्त्री प्राह—मायया जलं गतं तृषा लग्ना पानीयमानयामि पश्चाद्वल्यते पुरं प्रति एवं कृत्वा मन्त्री श्लोकशोधनाय गतो वाप्यां यावद्विलोकयति तावत्कर्दममपसारितं दृष्ट्वा दध्यौ—नूनं भूपेन वाचितः श्लोकः, भूपो मां मारयिष्यति, किं करिष्यति भययुगभूत् पादौ पश्चादागन्तुं न वहतः वेला लग्ना चलितः यावत्स आयाति तावद्राजा सुप्तः। सुप्तं भूपं दृष्ट्वा दध्यौ मन्त्री अयमेवावसरः मारणे यदा जागरिष्यति तदा मां मारयिष्यति। राजानः आत्मीया न भवन्ति, यतः—

काके शौचं, द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः, स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं, मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा॥

एवं ध्यात्वा राज्ञः खड्गमादाय मन्त्री राजानं सुप्तं जघान। ततः उत्पाट्य पालिमध्ये च चिक्षेप भूमौ।

अत्रान्तरे पालिस्थ[म]हावृक्षशाखायां विशालानगरवास्तव्यो वानराह्नो मालिकः स्थितः। स च राजमारणादिकं दृष्ट्वा भयभ्रान्तः शाखान्तरं गतः। तावन्मन्त्री शाखाकम्पनं दृष्ट्वा श्लोकं प्राह—

शाखा प्रकम्पिता येन, वानरेण नरेण वा।
अचिरेणैव कालेन, शाखाभेदो विनश्यति॥२३॥

मालिको मन्त्रिवचः श्रुत्वा दध्यौ—अहमनेनात्र स्थितो ज्ञातो वा नेति ध्यायन् मौनी बभूव।

मन्त्री तु तदा एवमुक्त्वा तुरगमौ द्वौ लात्वा पुरमेत्य प्राह राजलोकाग्रे—राजा दूरतो वने मारितः खादितश्च। ततो राज्ञी प्राह अहं न जीविष्यामि। मन्त्रिणा सुकुमालवचनैः शान्तीकृता राज्ञी शोकं उत्तारितः मन्त्री प्राह—सर्वेषामग्रे इयं राज्ञी सगर्भाऽस्ति, सुता भविष्यतीति समाव्यते तेन राज्या परं राजलोकैश्च खेदो नानेयः, भवितव्यताग्रतः कोऽपि न छुटिष्यति यतः—

आद्यं यद् ब्रह्मदत्ते, भरतनृपनयः सर्वनाशश्च कृष्णे,
नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपते,स्त्रीर्थनाथेऽबलात्वम्।
निर्वाणं नारदेऽपि, प्रशमपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि,
इत्थं कर्मातिवीर्ये स्फुटमिह जयतः स्पर्धमाने जगत्याम्॥

यावता पुत्रो राजयोग्यो न भविष्यति तावदहं राज्यरक्षां करिष्यामीति कृत्वा स्वयं नन्दभूपवद्राज्यं चकार वैरोचनमन्त्री ।

ततो वानरो मालिको वैरोचन राज्यं कुर्वाण श्रुत्वा भयभ्रान्तो वहिरेव तस्थौ नायातो पुरमध्ये, नन्दपत्नी प्राप्तसमये सुत प्रासूत, पूर्वेव रवि पुत्रजन्मोत्सव कृत ।

पुत्रो लाल्यमानः षड्वर्षप्रमाणो लेखशालाया मुक्तः, सर्वेऽपि लेखशालिका हसन्ति पराभवन्ति च निष्पितृकोऽयमिति ।

मातुरग्रे आगत्यावक्—मम पिता कुत्र मृतः, कथ वेति वद । माताऽवग्—वैरोचनमन्त्रिणा युतस्तव पिता शूकरपृष्ठो धावितः दूरतो ययौ । वैरोचनेनोक्तं—नन्दो राजा वराहेण मारितः खादितश्च सम्यगहं न जाने किमभूत्ततःप्रभृति वैरोचनो राज्यरक्षां चकार । श्रुत्वैतन्नन्दभूपाङ्गजो दध्यौ-मम पितैव कथ वराहेण मार्यते । यथा मृतोऽभूत्तथा मया ज्ञातव्यः । ततश्चिन्तापरश्चतुरो राजपुत्र. सदा रात्रौ कृष्णवस्त्र परिधाय पुरमध्ये चतुरशीतिहट्टश्रेणिषु सेरिकासु सेरिकासु च भ्रमति स्म । क्रमात्सर्वशास्त्रज्ञोऽभूत् पठन्, यतः—

जले तैलं, खले गुह्यं, पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति, विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥

राज्ययोग्य पुत्र ज्ञात्वा माता मन्त्रिपार्श्वात् राज्य पुत्राय दापितवती । नन्दपुत्रोऽपि राज्योपविष्टः सदा रात्रौ छन्न पुरमध्ये भ्रमति स्म । द्वादशवार्षिको जातः क्रमात्स नन्दपुत्रः अन्येद्यु रात्रौ वानरमालिकस्य गृहपार्श्वेऽभ्येत्य राजा यावत्स्थितः तावदितो वानरमालिको नन्दपुत्र राज्याधिष्ठित श्रुत्वा रात्रावेव गृहद्वारे आगतो विलोकयति यावत्तावद्गृहमध्ये दीप ज्वलन्त दृष्ट्वा मातापितरावदृष्ट्वा दध्यौ नूनमनया कोऽप्यन्य पुरुषोऽङ्गीकृतः सभाव्यते । एव विचिन्त्य काव्यमेकं प्राह—

कमलदलसुनेत्रे हारिहाराभिरामे, स्तनतटकटहंसै रोमरङ्गैः सुरङ्गी[ङ्गि] ।
अमलतपसुरूपे ! पद्मवक्त्रे ! जिताब्जे, कृतिमनुजनिषेव्या वर्त्तसे किं प्रियेऽद्य ॥२४॥

श्रुत्वैतत्काव्यं भ्रान्तचित्ता प्राह मालिका—

तपनियमविधानैः शोषितं येन गात्रं, बहुकुसुमसमूहैः पूजितो येन देवः ।
रणमुखगजदन्तैर्येन भग्नं शरीरं, तदमलपतिसेव्याऽहं सदा नान्यपुंसः ॥२५॥

एतावद्भार्यावच श्रुत्वा स्वस्थचित्तः कुशलस्वरूप बहिःस्थ एव पप्रच्छ भार्याम्—

गृहे कुशलता कान्ते !, पिता मिता न दृश्यते ।
प्रदीपकरणं कस्मा—न्मध्यरात्रौ वद प्रिये ॥२६॥
स्वामिन्नहं निशीथिन्यां, तपश्चान्द्रं वितन्वती ।
देवस्य साम्प्रतं दीप—मकार्षमर्चनाकृते ॥२७॥
त्वं किं पृच्छसि हे भर्त्तः !, निःस्नेहोऽसि प्रियो मम ।
मातापित्रोः सुखं दुःख, जीवितं च पुनः पुनः ॥२८॥

श्रुत्वैतन्मालिक प्राह—

पद्मपत्रविशालाक्षि !, पुरे वसति मालिके ! ।
सा मे दहति गात्राणि, शाखावैरोचने यथा ॥२९॥

श्रुत्वैतद्भूत वचो हर्षिता तत्कालमेव द्वारमुद्घाट्य गृहमध्ये नीत्वा मातापित्रोर्मेलित मातापितरौ ननाम, मातापितरौ प्रविजगदतु पुत्रम्—

दीनौ वृद्धौ गलद्गात्रौ, आवां दुःखिकलौ भृशम् ।
भुक्त्वा कथं सुखैतानि, वर्षाणि दूरत स्थित ॥३०॥

पुत्र प्राह—

मातः पितरह दूरे, मृत्युभीतोऽतिदुःखितः ।
वर्षाण्येतानि कष्टेन, सहमान स्थितश्चिरम् ॥३१॥

ततो गृहद्वारे शय्यायामुपविष्टौ मालिकामालिकौ वार्तां कर्तुं प्रवृत्तौ तां वार्तां श्रोतु नन्दभूपपुत्रोऽरिमर्दनो द्वारे समेत्य शनै स्थित । मालिका मालिक प्रति प्राह—स्वामिन्नह वैरोचने शाखावत्कथं भवतो गात्राणि धक्ष्यति । मालिकोऽवग्—

मा मा पृच्छसि हे कान्ते !, शर्वरीप्रहरद्वयम् ।
शृणोत्यन्यो वचश्चेन्मे, जायते मरण ध्रुवम् ॥३२॥

स्त्री प्राह-छन्न प्रिय ! भणास्व । मालिकोऽवग्—रात्रौ छन्नमपि वक्तु न युज्यते—

दिवा निरीक्ष्य वक्तव्य, रात्रौ नैव च नैव च ।
संचरन्ति महाधूर्ता, घटे वररुचिर्यथा ॥

प्रिया बल कुर्वाणा प्राह—वद स्वामिन् अत्र तु कोऽपि नास्ति, छन्न निगद्यता, ततो बालाबलात्कारमलङ्घनीय मत्वा मालिकोऽवग्—

नन्द वैरोचनावस्था—पहृतौ विपिने गतौ ।
अहन् वैरोचनो नन्द, मया शाखा प्रकम्पिता ।३३॥

मालिकाऽवग-स्वामिन् ! विस्तारेण कथय, ततो मालिको पूर्व दृष्ट यथा वृत्तावकथयत् । राजा त मालिकोक्तां पितृमरणवार्ता (श्रुत्वा) खिन्नहृदयोऽभिज्ञानार्थ मालिकगृहद्वारे तादृकभित्तौ इद श्लोकमालिलेख—

नन्दन भ्रमता रात्रौ, पुरमध्य निरन्तरम् ।
पितृमरणवृत्तान्तो, ज्ञात सम्यग्नराननात् ॥३४॥

ततो राजा गृहमभ्येत्य वैरोचनव्यतिरिक्तप्रधानानाकार्य प्राह—मम पितुर्मारको मया ज्ञातो नगरमध्ये । प्रधानैरुक्त—महान् लघुर्वा भवतु स मारयिष्यते एव, इत्येव विचार कृत्वा मालिकगृहद्वार गत्वा स्वकृत श्लोक दर्शयित्वा राजा मालिक प्रत्यवक्—द्वारमुद्घाटय । मालिका वक्ति—द्वारं नोद्घाटयामि । मालिको बहुजनसमुदाय दृष्ट्वा छन्न स्थित । राज्ञोक्त—तव भर्ता

कास्ति ? तयोक्तं—गृहे नास्ति, राज्ञोक्तं-कूटं किं जल्प्यते, तव भर्त्ता विदेशादद्य रात्रावेव गृहे आगतोऽस्ति। तया चिन्तितम्-अहो दैवविलसितम् अहो दैवविलसितम् अद्यैव बहुवर्षेभ्यो भर्त्ता गृहे आगत., न ज्ञायते कस्माद्धेतो राजा रुष्टः, प्रोवाच च—

बहुभ्देश्योऽधुना कान्तो, निःष्कलङ्को ममागमत् ।
नृपाकारणतोऽकस्मा—त्सङ्कटं पतितं पुनः ॥३५॥

श्रुत्वैतद्राजा प्राह—

हे मालिके ! न ते भर्त्तु—र्दुष्टं कोऽपि करिष्यति ।
भविष्यति महापूजा, सत्यं वद सुशालिनि ! ॥३६॥

अहं राजा कारणेनागतोऽस्मि किञ्चित्प्रष्टुं गूढम्। ततस्तया द्वारमुद्घाटितं, मेलितो भर्त्ता, धीरां दत्त्वैकतो नीत्वा प्रधानेषु शृण्वत्सु आत्मीयपितुर्मरणवृत्तान्त राजा पप्रच्छ। मालिकोऽवग् कथि(थयि)तु न शक्यते, कथिते सति मम मरणमेव शरणं। राज्ञोक्तं-भेतव्य न, तव महापूजा—राजसन्मानं भविष्यति। अन्यत्किमपि नानेयं, राजा त्वहमेवाधुनास्मि। ततो मालिक आमूल-चूल नृपमारणवृत्तान्तं वैरोचनविहितमचीकथत्। कथितं च तत्र पालौ अस्थीनि सन्त्यद्यापि भूमध्ये। ततो राज्ञा भयं नानेयं त्वयेत्युक्त्वा मालिको विसर्जितो गृहमध्ये गत'। ततो राज्ञा स्वावासमभ्येत्य वैरोचनस्याकारण कृतं, वैरोचनो यावदुत्थाय चलति तावत्संमुखा छिंकाऽभूत्, चिन्तित किमपि विघ्न भावि, यत.—

उत्थितस्य पदौ दातुं, चलतः संमुखी हि क्षुत् ।
मरणाय भवेन्नून—मथवाऽनर्थदायिका ॥

पश्चाद्वलित्वा स्वस्थाने उपविश्य विलम्बं कुर्वाणं वैरोचनं राज्ञा मत्त्वा कटकं प्रेष्यते गृहं वेष्टितं प्रोचुर्भूपभृत्याः-भो वैरोचन ! नन्दभूपमारक अह्नाय गृहाद्बहिर्निस्सर पापस्य फलमधुनैव द्रक्ष्यसि। श्रुत्वैतच्चकितः स्वपूर्वचेष्टितं स्मृत्वा पुत्रानुत्थाय वैरोचनः प्राह राजा रुष्ट.। हे बृहत्पुत्र ! मां मारय राजपार्श्वे गतं, त्वं खड्गेन पश्चात्सर्वेऽपि पुत्राः सुखिनो भविष्यन्ति। पुत्रः प्राह—एवं कथ क्रियते।

माता—पितासमं तीर्थं, नास्त्यशेषे भुवस्तले ।
तत्तीर्थं घ्नन्नहं यामि, घोरं नरकसंश्रयम् ॥

श्रुत्वा वैरोचनोऽवग्—

राजा बन्धुरबन्धूना, राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा वंशस्य रक्षकः ॥

एव द्वितीयतृतीययो पुत्रयोः कथित पुनरेकोऽपि पुत्रत्रयाणा मध्ये पितर मारयितु नेहते, ततश्चतुर्थो लघुराकारित प्रोक्त वैरोचनेन सर्वप्रकारेण लघुरपि वृद्धः मामसिना राजदृष्टौ मारय। तेनाङ्गीकृत पितृवच। ततः पित्रा शिक्षितः। हे पुत्र ! यदाह राजदृष्टौ यामि तदा त्वया खड्गं कर्षयित्वाऽहं मारयितव्यो विचारो न कार्य.। मारणादनु वक्तव्यं त्वया राज्ञो मारकस्यैव

गतिर्भवति। इत्यादि प्रोक्त्वा(च्य) पुत्रमग्रे प्रष्य भूपपार्श्वे गते पुत्रे मन्त्रिणा भार्या पृष्टा-त्रिभिः पुत्रैर्मम मारणवचो नाङ्गीकृतं चतुर्थेनाङ्गीकृत, तत्र किं कारणं ? भार्ययोक्तं—ऋतुसमये मम दृष्टौ कौहलिक आगात्, मम रोष उत्पन्नः तेनायं पुत्रोऽपि दुष्टबुद्धिरभूत्। पुत्रस्वरूपं मत्वा मरणागतं मत्वा साहसमवलम्ब्य रामसेवकानां मिलित्वा वैरोचनो यावद् भूपदृष्टौ गतः, तावद् भूपः पराङ्मुखोऽभूत्, पुत्रेणासिमाकृष्य पितुःशीर्षं चिच्छेद। प्रोक्तं च-नन्दभूपमारकस्यैवं गतिर्भवतीत्यादि। प्राह च—

वैरं वर्षसहस्रेषु, वैरं वैरोचनं यथा ।
यावत्शाखे सुतास्ताव—च्छत्रवो मां पुनः पुनः ॥३७॥

राज्ञा त्वा वैरोचनपुत्रमारितं दृष्ट्वा सम्मुखोऽभूत् प्राह—कियन्तः सन्ति भवतो बान्धवाः ? तेनोक्तं—चत्वारः। ततस्त्रयोऽप्याकारिता, पितुरग्निसंस्कारः कारितः। पञ्चमस्य वैरोचनस्य लघुपुत्रं सर्वाधिकारिणं कृत्वा अपरेषां मन्त्रिपुत्राणां यथायुक्तमधिकारित्वादिषु राजा मालिकं ग्रामदशदानेन सन्तोष्य नन्दभूपपुत्रः सुखी बभूव। इति श्रीतपागच्छभृङ्गारगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्येण शुभशीलेन लौकिकनन्दवैरोचनमन्त्रिकथा परद्रोहोपरि कृता ॥१०२॥

[103] कलहे सरडद्वयकथा ।

जो जस्स उवसमई, विज्झवणं तेण तस्स कायव्वं ।
जो उवेहई कुज्जा, आविज्जइ मासिअ लहुअं ॥ १ ॥

कलहं कुर्वाणं जनमुपेक्षते हसति च उत्तेजयति साहाय्यं वा करोति स प्रायश्चित्तं प्राप्नोति कथा चात्र—

वणसडमरं जलधर—खहचरविसमणद्वयारुहणं ।
मरडक्कवेखडण—धारणगयमासभूरणया ॥२॥

कथापि वनखण्डमण्डिते सरसि जलचरखेचरस्थलचराणां विश्रामस्थाने गजयूथं तिष्ठति वसति च। एकदा तत्र *सरड(ट)भण्डनं सरड(ट)युद्धं दृष्ट्वा वनदेवतया प्रोक्तं—

भो नागा जलचरवासि, आसुणेह तसथावरडा भिडंति ।
अभावो परियत्तइ, भो नागा ! जलवासिआ ॥ ३ ॥

मत्स्यादयः शृण्वन्तु मद्वचः—यत्र सरडा भडंति कलहाय, तत्राभावः प्रवर्त्तते। विनाशः सभाव्यते ततो यूयं वारयत।

ततस्तैर्गजादिभिश्चिन्तितं किमस्माकमेते वराका सरडाः कलहायमाना करिष्यन्ति इति। ते उपेक्षन्ते। ततः एकेन सरडेन द्वितीयो निर्द्धारितः। ततः स नष्ट्वा प्रसुप्तस्य एकस्य गजस्य नासायां प्रविष्टः द्वितीयोऽपि पृष्टे प्रविष्टः, तत्रापि कलहायेते ततो गजस्यार्त्तिमहती पीडा च सञ्जाता। ततो रुष्टेन तेन गजेन सर्वं वनं चूर्णीकृतं, सरांसि चालोडितानि, जलचरादयो व्यापादिताः

* कार्कीटा ।

सोऽपिनष्टः अयमर्थोपनयः— एवमत्रापि आचार्याणामुपेक्षमाणानां महान् दोषः स्यात्, तस्मादुपेक्षा न कार्या, कलहो निवार्य एव । इति कलहे सरटद्वयकथा ॥१०३॥

[104] अथ औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ।

पत्तनेऽन्यदा श्रीकुमारपाले भूपे राज्यं कुर्वाणे वैतालिका वैदेशिक सकौपीनः सन्ध्यायामाजगाम, गणिकागृहे तत्र यष्टिमुद्राणके मुक्त्वा वासक स्थितः। प्रातर्यदा राजा भूरिधन दास्यति तदा मया ग्राह्यमिति ध्यात्वा भूपसभाया स गत । स च भूपेन पृष्टः, कुत आगतः ? ततो वैतालिको जगौ—स्वर्गात्त्वा द्रष्टुमत्रागाम्, त्वां विना तत्रैव स्वर्गे एवं जायमानमस्ति—

अपच्छर नच्च न पिक्खणइ, सुरतरु गंध न देइ ।
भेर न वज्जइं सुरभवणि, तुह मिरि कुमर ! सुणेइ ॥१॥

ततो राजा तस्मै हेम्नो दशशतीं ददौ, तदनु वैतालिको जगौ—

कोडि टंक कलक्खहयसहमतिमत्तगयंद ।
कुण अप्पइ पट्टणाद्विउ, विणु सिरि कुमरनरिंद ॥२॥

ततो राजा पूर्वदत्ताद्द्विगुणं दापितं, स च गतो निजस्थाने, तां श्रिय क्रमाद्भुक्त्वा राजपथि स्थितं तं वैतालिक दृष्ट्वा राजाऽप्राक्षीत्, क्व गतं तद्धन स प्राह—

उर अतर वाहलया, थणपव्वयरोमराइवणगहणं ।
सुरनरगणगंधव्वा, नग्गत्रि आमयणाचारेण ॥३॥

ततः पुनर्धनं दत्त्वा राजा स्वपार्श्वे स्थापितः, क्रमाद्धर्ममङ्गीकारितः स भूपेन ।
इति औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥१०४॥

[105] अथ कलिधर्मे सर्पकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी तस्य प्रेमवती पत्नी वभूव। क्रमाल्लक्ष्मीमुपार्ज्य चत्वारः कलशा राभिर्भृता । गृहचतुःकोणेपु न्यस्ता रहः एकदा श्रियमर्जयितुं विदेशं प्रति चिचलिपुं पतिं पत्नी प्राह—सार्द्धं समेष्यामि । पतिः प्राह—तव प्रतिवन्धो मे स्यात् । पत्नी प्राह-त्व गत्वा यदा तत्रास्था तदा मे का गति ? विदेशे वर्या नार्यो भवन्ति, ताभि कामित सन् तत्रैव स्थास्यति । स प्रहाह त्वा विना नान्या पत्नीं करिष्ये, अस्मिन् भवे यदि कदाचिद्द्रव्यार्जन—लोभात्तत्र स्थास्यामि तदाऽहं त्वां तत्राकारयिष्यामि ।

अत्र गृहमध्ये चतुःकोणेषु रैकुम्भाः सन्ति तेषा सारा कार्या। यद्यह तत्र स्थास्यामि तदा त्व रैकुम्भान्नीत्वाऽऽगच्छे । पत्न्या मानिते पतिश्चचाल। तदा धूर्त्तचौरेण श्रेष्ठ्युक्त श्रुत । श्रेष्ठी कुङ्कणदेशे गत्वा श्रियमर्जयति । इत. स धूर्त्तो रहः कूटं लेखं लिखित्वा प्रेमवत्यै ददौ, तयेति वाचित —

"त्वं पत्नि ! रैकुम्भान् चतुरोऽपि लात्वाऽनेन पुंसा समं मम पार्श्वे चन्द्रपुरे समागच्छेः" । ततस्तया रैकुम्भान् लात्वा रथ कृत्वा तेन पुसा सह चलिता । क्रमाद्गच्छत्या तया

धूर्तो ज्ञात । ततस्तदाऽकस्मात्तया पितृग्राममध्ये गत्वा पितुरग्रे धूर्तचेष्टितं ज्ञापयित्वा धूर्तो निर्द्धाटित । तत स्वपुरेऽभ्येत्य सा स्थिता । क्रमात्पतिः कृष्णास्य समागात् । पत्न्योक्त—किं ते कृष्णास्य तेनोक्त-मयैकोऽहिरुपकारादग्नित कर्षितः सन् वक्ति त्वां खामि, ततो मयोक्त—मया तवोपकार कृत, त्वमेव किं कुरुषे ? सर्पोऽवग्—'कलौ य उपकार करोति स तेनैव हन्यते ।' पत्न्यवग्—गच्छ तत्र भोलानेया । तत सा तत्र गत्वा प्राह भो सर्प ! किं तवोपकारक मत्पतिं किं खादसि ? सर्पोऽवग्-भो स्त्रि ! येनोपकार क्रियते स हन्यते तेन । यदि मन्यते न त्वया तदा इय महिषी प्रष्टव्या । ततस्तेन महिषी वृद्धा पृष्टाह-मया श्रेष्ठिनो गृहे दश महिष्यो जनिता । अधुना श्रेष्ठी जल्पति आत्मनो गृहे शकट भग्नमस्ति [भग्नमस्ति] तेनास्या महिष्या चर्मेण शकट बध्यते मया तूपकार कृत । श्रेष्ठी त्वपकार चिकीर्षुरस्त्येव तनश्चोक्त महिष्या वृक्षठुण्ठक पृच्छ । तेन पृष्टो ठुण्ठकोऽवग्-मत्तले योगी कुष्ठी स्थित स नीरोगोऽभूत् ततस्तेनाह मूलानां कषणादेवंविधः कृत ततस्तयोक्त-तथा कुरु यथा मत्पतिर्जीवति । ततो ठुण्ठकेनोक्त—ममाध स्थितां धूलीं लात्वा सर्पशीर्षे क्षिप, सोऽपिमरिष्यति । ततस्तया तथा कृतं, तत श्रेष्ठी सुखा जात । तत सप्तक्षेत्र्यां स्वां श्रिय व्ययित्वा स्वर्गसुख प्राप पत्नीयुत क्रमान्मुक्तिं यास्यति । इति कलिधर्मे सर्पकथा ॥१०५॥

[106] अथ कुसंगविषये गोकथा ।

कुसंगासगदोषेण, साधवो यान्ति विक्रियाम् ।
एकरात्रिप्रसंगेन, काष्ठघण्टाविडम्बना ॥१॥

अत्र कस्याचित्कौटुम्बिनो गौदुर्बला सती अन्यया गवा मत्तया सह लोकक्षेत्र प्रविश्य सस्य भक्षयन्ती क्षेत्रस्वामिना बहि कर्षिता । पुनर्भूयोभूयस्तत्र याति तत क्षेत्रस्वामिना कौटुम्बिको दण्डापित । ततस्तेन गोस्वामिना सा गौगले काष्ठेन बद्धा । ततो विक्रेतुमापणे धृता तदा लोका जगुरियं गौ लोकक्षेत्रे प्रविशति । अतो विक्रीयते । तदा गौजगौ, अहं कुसंगेनैवंविधां दशां प्राप्ता । ॥ इति कुसंगविषये गोकथा ॥१०६॥

[107] अथ इन्द्रियदमनादमनविषये सम्बन्धः ।

वाणारस्या पुर्या आग्नेय्यां दिशि गङ्गानद्यामर्वाग् तीरे मृतगङ्गह्रदोऽभूत् । स च गम्भीर शीतलजल कुमुदपङ्कजातिसुगन्धी[न्धि]पुष्पोपचितोऽभूत् । तत्र मत्स्यकच्छपादि जीवा शतश सुखं तिष्ठन्ति । तत्र ह्रदपार्श्वे वल्लीगहनमस्ति । तत्र द्वौ पापशृगालौ वसतः । तौ पापौ चण्डरूपौ साहसिकौ पलाहारौ पल गवेषयन्तौ रात्रिचारिणौ दिवा प्रच्छन्नं तिष्ठत ।

अन्यदा मृतगङ्गह्रदपार्श्वे सायमाहारार्थिनौ कूर्मौ, शृगालौ दृष्ट्वा भीतौ हस्तादि सकोचयित्वा (च्य) स्थितौ । तत पापशृगालौ मायया शनैःशनैर्ह्रदपार्श्वे तिष्ठत । कस्यापि किमप्यपराध न कुरुत स्म । ततो विश्वस्त एक कूर्म पाद बहि कर्षयामास । ततश्चपलगत्या तत्रैत्यैकं पाद भक्षयत स्म ततो द्वितीय चतुर्थ पाद भक्षयत स्म । तत कूर्मो मृतः । द्वितीयः कूर्मस्तयोः शृगालयो स्वरूप ज्ञात्वा तत्रैव बहुगुप्तोऽभूत् । स च सुखी जात ।

एव यो यतिर्यतिनी वा आचार्य पार्श्वे प्रव्रजितः । क्रमाद्योऽगुप्तेन्द्रियो भवति स प्रथमकूर्म

नरकादिदुःखं प्राप्नोति। योऽपि गुप्तेन्द्रियो भवति स द्वितीयकूर्मवत्सुखी भवति ।

तत्कूर्मस्थानीयौ साधू । शृगालस्थानीयौ रागद्वेषौ । ग्रीवापादस्थानीयानि ५ इन्द्रियाणि । दग्रीवाप्रसारणस्थानीयाः शब्दादिविषयाः इत्यादि भावना कूर्मकथादृष्टान्त सिद्धान्त गत ।

इति इन्द्रियदमनादमनविषये सम्बन्धः ॥१०७॥

[108] अथ अनित्यतायां लोमशऋषिकथा लौकिकी ।

अनित्यतायां कथा चैव—

कश्चिद्दीर्घदर्शी तापसो द्वादशवर्षसहस्राणि तपस्तेपे । मासोपवासान्ते पञ्चसु गृहेषु बद्धां भिक्षां याचते । यदा कदाचित्तेषु गृहेषु भिक्षां न लभते तदा मासोपवास स च षष्ठे गृहे न याति । एवं ४ मासक्षपणानि यावत् लब्धमाहारं चतुर्भागीकृत्य जलचरस्थलचरखचरेभ्यो दत्त्वा चतुर्थं भागमेकविंशतिवारान् पयसा प्रक्षाल्य स्वयं भुङ्क्ते ।

अथ मृत स इन्द्रोऽभूत् । पृष्टं च देवाना पुरः केनाय स्वर्ग कृतः ? इत्युक्ते देवा जगुः न केनापि कृतोऽय, स्वयंसिद्ध. । ततः शक्रो दध्यौ–जीर्णोऽयं, तेन नवीन स्वर्गं करिष्ये। देवैरुक्तं नवीनः स्वर्गः केन कर्त्तुं शक्यते। शक्रोऽवग्—पूर्वेन्द्रा अशक्ता. स्वर्गं कर्त्तुमहं तु समर्थोऽस्मि। ततः सुरा जगु—स्वामिन् ! पूर्वं मर्त्यलोकं विलोकय पश्चात्स्वहितं कुर्याः। तत इन्द्रो मर्त्यलोकं द्रष्टुं गतः कस्मिंश्चिद्वने अर्कतरुमूले लोमशनामा ऋषिस्तपस्तप्यमानो दृष्टः, तत इन्द्रोऽवग्–कथं मढीं विना तपनातपं सहसे । ततः ऋषिरवग्–चतुर्दशचतुष्किकासु गतासु ममैकं रोम पतति, एवं पतति केशे यदा यदा कोटी रोम्णा पतिष्यति तदा मे पञ्चत्व भविष्यति । तदा [किमर्थं] मढ्यादि-स्थानमोहो विधीयते मया। तत इन्द्रो दध्यौ–अस्य यतेरग्रे ममायुस्तुपारलवमात्रमतः स्वर्गकरणे को मोहः। ततो निवृत्त इन्द्र स्वस्थान गत । इति लोमशऋषिकथा अनित्यताया लौकिकी॥१०८॥

[109] अथ उच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा ।

धगयां पतितं पुष्पं, देवस्य पुनरेव न ।
चटाप्यं विदुषा सोऽपि, उच्छिष्टो जायते भुवि ॥१॥

कामरूपपत्तने मातङ्गकुले दन्तयुक्त पुत्रोऽजनि । मातङ्गो नष्टः । मात्रा वहिर्यात्वा स पुत्र-स्त्यक्त । इतश्च राजपाटिकायां गतेन स दृष्टः परिजनैर्ग्राहित , राज्ञा वृद्धिं प्रापितः। अन्ते तमेव पालि-तपुत्र राज्ये न्यस्य राज्ञा दीक्षा गृहीता। काले ज्ञानी सजातः। पुत्रबोधार्थं स आगत । तत्र वन्दनार्थं राजापि गतः । सा मातङ्ग्यप्यायाता त वन्दितु, ता दृष्ट्वा राजा हृष्टः । तदा पुत्रस्नेहतो मातङ्ग्या पुत्रो ज्ञात । राजापि तन्मुख वीक्ष्य मुने. पार्श्वे पृष्ट-मद्दर्शनान्मातङ्ग्याः प्रसवः कुतो हेतुरिति। मुनिनोक्त—हे राजन् ! एषा मातङ्गी तव माता, मया त्व वहिःपतितो लब्धः, अपुत्रिणा सता राज्य दत्त, नृप. प्राह—केन कर्मणा एतन्मम कुल केन कर्मणा च राज्य? मुनिनोक्त—पूर्वभवे त्व श्रीमान् व्यवहारी विवेकी च ।

एकदा श्रीजिनेन्द्रं पूजयत. सुगन्धिपुष्प पद्मासनोपरि पतित, तत्सौरभ्यमिति ज्ञात्वा

पुनरपि बिम्बे चटापितं अस्नातेन तेनैव कर्मणा मलिनपापमर्जितं, जातिस्मरणे—पश्चाद्भवस्मरणे दीक्षा गृहीता स्वर्गं गतः ॥ इत्युच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा ॥१०९॥

[110] अथ धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ।

धर्मो विवेकिना विचार्य ग्राह्यः सोमवसुवत् । तथाहि—

कोशाम्ब्यां दुःस्थो जन्मना सोमवसुविप्रोऽभूत् । क्रमाद् धर्मोऽप्यजनि चिन्तयति-धर्ममहं परीक्ष्य कुर्वे । धर्मो कुलजातो न स्यात्, ततो दर्शनानि विलोकमानः क्वापि मते परिव्राजं धर्मं पप्रच्छ । मद्गुरुणा धर्मत्रिपद्युक्तेति—

मिट्ठं भुंजिअव्वं, सुहं सोअव्वं, लोअप्पिओ अप्पा कायव्वो ।'

अर्थमकथयित्वा एव गुरुः स्वर्गं प्राप । ततश्चाहं स्वबुद्ध्या मिष्टान्नं भुञ्जे । लोकेभ्यः कारयित्वा मन्त्रौषधादिना लोकप्रियो भवामि । मृदुशय्यायां सुखं शये ।

सोमवसुश्चिन्तयति-मिष्टान्नभोजनमन्त्रतन्त्रज्योतिष्कादिप्रकाशनेन धर्मो न भवति किन्तु पापमेव विप्रोक्तं धर्मं श्रुत्वा पुनरपि अन्यत्र साधुपार्श्वे त्रिपद्यर्थं पृच्छति । सोऽवग्-साधु एकान्तरे भोजने मिष्टान्नं स्वल्पनिद्रायां सुखशयनं, निरीहत्वे लोकप्रियत्वं । सोमवसुदध्यौ-मार्गानुयाय्यसौ पुनस्त्रिलोचनमन्त्रिपार्श्वे त्रिपद्यर्थं पप्रच्छ सोऽपि प्राह—अहं जाने परमभाग्यात्कर्त्तुं न पारये, अकृताकारितानुमतिभोज्यं परमार्थतो मृष्टं सुखदानात् अमतं सुगतिदानात् विधिना स्वल्पनिद्रायां सुखशयनं महानिरीहत्वे लोकप्रियत्वं विश्वस्यापि स वल्लभो भवति द्विजस्तत्त्वज्ञानात् हृष्टो गच्छन् पञ्चसमितित्रिगुप्तियुतसाधुसमीपे क्रियमाणां त्रिपदीमपि श्रुत्वा प्रवव्राज । एवं विचार्य धर्मतत्त्वं ग्राह्यम् । इति धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ॥११०॥

[111] अथ कुत्सितकर्म्मविषये सागरश्रेष्ठिकथा ।

चेइअदव्वं साहारणं च, जो दुहइ समोहियमईओ ।
धम्मं च सो न याणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥१॥
भक्खेइ जो उवक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ ।
पुण्णहीणो भवे सो उ लिप्पए पावकम्मेण ॥२॥

अत्र सागरकथा—

साकेतपुरे सागरश्रेष्ठी परमार्हतः स च देवद्रव्यचिन्तां करोति । उक्तं च श्राद्धैः चैत्यकर्मकर्तां यथायोग्यं कृतानुसाराद् धनं देयं स तु सूत्रधाराणां रोकद्रव्यं न दत्ते किन्तु स्वगृहसम्बन्धि गुडघृतादिमहार्घाणीति प्रोक्त्वा (च्य) दत्ते । एवं कुर्वता तेन एका काकिनी भक्षिता, ततस्तेन पापमर्जितं बहु । तत्पापमनालोच्य मृतो जलमानुषोऽभूत् ततो मृतस्तृतीयपृथ्व्यां ययौ । उक्तं च—

देवद्रव्येण या वृद्धि—र्गुरुद्रव्येण यद्धनम् ।
तद्धनं कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥३॥

श्वभ्रान्निर्गतः स मत्स्योऽभूत्ततश्चतुर्थ्यां भुवि एकादिभवान्तरे सप्तसु श्वभ्रेषु बभ्राम । यदाह—

भक्खणे देवदव्वस्स, परत्थिगमणेण य ।
सत्तमं नरकं जंति, सत्तवाराउ गोयमा ॥४॥

ततः एका काकिनी देवद्रव्यभक्षणात् सहस्रवारान् गर्ताशूकरोऽभूत् । एवं १००० शशक-शृगाल-मार्जार-मूषक-वृषभ-करभ-वेसर-तुरङ्ग-गजादिषु समुत्पद्य समुत्पद्य सक्षमितान् भवान् पूरयामास । एवं पृथ्व्यादिषु लक्ष-भवान् बभ्राम, सर्वत्र कुशस्त्रेण क्वचिदग्निना मृतः । तत क्रमात् क्षीणकर्मा वसन्तपुरे दत्तेभ्यवसुमत्योः पुत्रो जातः । तस्मिन् गर्भस्थे धन नष्टं, जन्मदिने जनको मृतः, पञ्चमेऽब्दे माताऽपि विपेदे लोकैर्निःपुण्यक इति नाम ददे, रङ्कवृत्या जिजीव ।

अन्यदा स्नेहलमातुलेन दृष्ट, आनीतश्च स्वगृहे । रात्रौ मातुलगृहं चौरैर्मुषितमेव यस्य वेश्मनि एकमपि दिन तिष्ठति तद्गृह चौराग्निप्रभृतिविघ्नेन भस्मीभवति । तत "कपोतपोतोऽयं ज्वलती गड्डुरिका च मूर्तिमानुत्पातो वा" इत्यादि लोकनिन्दयोद्विग्नमना गतो देशान्तरं ताम्रलिप्तीं पुरीं गतः स्थितश्च विनयंधरेभ्यगृहे भृत्यवृत्त्या ज्वलित च तद्दिने एव तद्गृह निष्कासितश्च । तत. स्वं कर्म निन्दन् स्थाने स्थाने बभ्राम, यत.—

कम्मं कुणंति सवसा, तस्सुदयंमि अपरव्वसा हुंति ।
भरहं रुहइ सवसो, निवडेइ परव्वसो तत्तो ॥५॥
गन्तव्यं नगरशतं, विज्ञानशतानि शिक्षितव्यानि ।
नरपतिशतं च सेव्यं, स्थानान्तरितानि भाग्यानि ॥६॥

एवं ध्यात्वा वाहनचटितो भृत्यभावेन धनावहसांयात्रिकेण साकं परद्वीप गत. । दध्यौ च तत्र-अहो ! यद्घटितं मम भाग्य यन्मयाऽऽरूढेन यानं न भग्नम्, अथवा विधेर्विस्मृतं धनावहो यानं वस्तुभिर्भृत्वा चलितः मार्गे यानं भग्न । निःपुण्यकस्य फलक हस्ते चटितं तीरं प्राप्तः । अब्धितीरस्थग्रामेशस्य सेवां करोति । धाट्याऽन्यदा निपातितो ग्रामठक्कुरः तत्पुत्रबुद्ध्या निःपुण्यको बद्ध्वा नीतस्तै. पल्ल्यां, तस्मिन्दिने पल्ल्यप्यन्यपल्लीशेन भग्ना, ततस्तै-श्चौरैरपि निःपुण्यक इति कृत्वा निष्कासितः, एवमेकोनसहस्रवारान् स्थाने स्थाने दुःखं प्राप ।

अन्यदा स यक्षप्रासादे गतः स एकाग्रमना यक्षमारराध । २१ उपवासैर्यक्षस्तुष्टोऽवग्-सन्ध्यायां मम पुर स्वर्णचन्द्रकयुतो मयूरो नृत्य करिष्यति तस्य स्वर्णमय पिच्छं दिन दिनं प्रति ग्राह्यं ततस्तेन स्वर्णमयानि बहूनि पिच्छानि गृहीतानि । एकदा ध्यात, सदा क एकैकं पिच्छ गृह्णाति । मयूरमेव गृह्णामि एव ध्यात्वा यावन्मयूर गृह्णाति तावन्मयूरोऽन्यमयूरतुल्यो भूत्वा काको भूत्वा च नष्टः, गृहस्थानि पिच्छानि गतानि ।

ततो गुरुपार्श्वे देवद्रव्यभक्षणसम्बन्धं श्रुत्वा तपस्तप्त्वा दीक्षाग्रहणात्सर्वकर्मणः क्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ । इति कुत्सितकर्मविपये सागरश्रेष्ठिकथा ॥१११॥

[112] अथ ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ।

एकदा तेजःपालमन्त्री भृगुपुरे ययौ । तदा शकुनिकाविहारे आम्बडमन्त्रिकृतोद्धारे स्नात्रं कुर्वाण इदं काव्यमशृणोत्—

तेजःपालकृपालु धर्मविमलप्राग्वाटवंशध्वज—
श्रीमानाम्बडकीर्तिरद्य वदति त्वत्सम्मुखं मन्मुखात् ।
आजन्मावधि वंशयष्टिकलिता भ्रान्ताहमेकाकिनी,
बद्धा सम्प्रतिपुण्यपुञ्जभवतः सौवर्णदण्डस्पृहा ॥१॥

इति श्रुत्वा मन्त्री आम्बडदेवविहारे सप्ततिशतदेवकुलिका सुवर्णदण्डयुतान् कलशान् तदैव व्यधात् । भृगुकच्छस्थाम्बडविहारे (इति) आम्बडप्रासादे तेजःपालो मन्त्री ध्वजं ददौ इति भृगुपुरे शकुनिकाविहारे तेजःपालमन्त्रिणा ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ॥११२॥

[113] अथ अन्नदाने पयःसम्बन्धः ।

कश्चिद्दूराद् भट्ट आगात् वस्तुपालमन्त्रिणं याचितुं तदा मन्त्री जगौ-'उपविश्यताम्' ।

भट्टोऽवग्—अन्नदानैः पयःपानैः धर्मस्थानैश्च भूतलम् ।
यशसा वस्तुपालेन, रुद्धमाकाशमण्डलम् ॥१॥

सप्तवारकथनेन सप्तलक्षद्रव्यं दापितं मन्त्रिणा । अन्नदाने पयःपानैरितिस०७ लक्षदानम् ।
इति अन्नदाने पयःसम्बन्धः ॥११३॥

[114] अथ औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ।

स्नेहः साधुजनेन भोजनविधौ वासः कुटीकोटरे,
देहस्यावरणे न पुण्यमधिकं, नेत्रे न कोशोच्चयः ।
अर्थः सन्निहितनव्यकाव्यनिकरे ग्रन्थो [न्थे] न मन्त्रीश्वर—
स्याद्वृत्तिः पठनेन जीवनविधौ प्रायः कवीनां कलौ ॥१॥

अस्य कर्तुः २ लक्षदानम् । इति औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ॥११४॥

[115] अथ वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ।

एकदा गुरोः पार्श्वे श्राद्धैः पृष्टं-भगवन्! सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यः किं पुष्पमुत्कृष्टम्? गुरुभिरुक्तं वनकपुष्पमुत्कृष्टम् । श्राद्धैरुक्तम् एवं किं प्रोच्यते? गुरुभिः प्रोक्तं-वनकतरोः पुष्पात्कर्पासो भवति, कर्पासाद्रूतं, रूतात्सूत्रं, सूत्राद्वस्त्रं भवति । वस्त्रेण जिनप्रासादे ध्वजा दीयन्ते,

चक्रिणो महान्तो राजानो गुरवश्च परिदधति । तत' वस्त्रमतो वनक-पुष्पमुत्कृष्टम् ।

इति वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ॥११५॥

[116] अथ शिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥

गुरुभिरुपदेशो दत्तः-घटशब्देन देहः कुम्भश्च प्रोच्यते । तद्यथा कुम्भकारगृहकुम्भाः सामान्य मध्यमोत्कृष्टपुरुषैर्गृहीताः एके मद्येन भृता., एके जलेन भृता, एके कर्पूरादिवर्यपानीयभृता । ततश्चाधममध्यमोत्कृष्टवस्तुभिर्भ्रियन्ते । तथा देहघटाः पाप-पापापाप-पुण्यैर्भ्रियन्ते । एव ये पुण्येन देहं भरन्ति ते मुक्तिगामिनः । ये पापापापेभरन्ति देहं ते कदाचित्सुखिन कदाचिद्दुःखिन । ये पापैर्भरन्ति देहघटं ते चिरं श्वभ्रादिदुःख लभन्ते । कुम्भा अपि एव ज्ञेया' ।

इति देहघटार्जनपाप-पापापाप-पुण्य-श्वभ्रगति-दुःखादुःखशिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥११६॥

[117] अथ बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ।

नन्दभूपस्य चाणिक्यो मन्त्री बभूव । स्तोक कोश वीक्ष्य राजा खिन्नोऽभून् । तदा राजमनो ज्ञात्वा चाणिक्येन महेभ्या याचिता. प्रोचुः अस्माकं धनमर्पणयोग्य नास्ति । ततश्चाणिक्येन सर्वे महेभ्या भोजनाय निमन्त्रिता वराहार भोजिता, ततो मदिराः पायिताः पत्रादि दत्त्वा चित्रशालाया शायिताः, परिणताया मदिराया एको धनोऽवग्-मम गृहे सप्तकोट्यो हेम्नां सन्ति । अन्योऽवग्-तव गृहे स्तोका मम गृहे एकादश कोट्यः । एके त्रिंशत्, एके चत्वारिंशत्, एके षट्पञ्चाशत् इत्यादि जजल्पुः । एकः प्राहाह स्वर्णेन गङ्गाप्रवाहं बध्नामि । एक प्राह-मम गृहे सत्कगवा दुग्धेन गङ्गाप्रवाह स्खलयामि । एकः मम गृहस्थघृततैलादिभिः गङ्गाप्रवाहं स्खलयामि, एकोऽवग्-धान्यमूढकाना कोटिरस्ति, इत्यादि स्वस्वधनसख्याकारिता इभ्याश्चाणिक्येन साक्षिणश्च कृताः, ततस्तेभ्यो धनं लात्वा राज्ञः कोशः कृतः ।

इति बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ॥११७॥

[118] अथ दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ।

श्रीपुरे धनेश्वरसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । गुरुरुपवासं कर्त्तुं न शक्नोति । अन्यदा पर्युपणापर्वं समायात । साधवोऽन्येऽपि श्राद्धा अपि षष्टाष्टमादितप कुर्वाणा अभूवन् । तदा सूरिर्दध्यौ-मयोपवास. कर्त्तु न शक्यते तथापि अद्योपवास करोम्येव ध्यात्वेति सूरि प्रथम पौरुषीं चकार । तत सार्द्धं पौरुषीं तत पुरिमार्द्धं तत अपार्द्धमत्रान्तरे साधवो जगुर्भगवन्' वयमन्नमानयामः, पार्यतां वारा [?] क्रियतां । गुरुभिरुक्तम्-अद्योपवास एव, ततः सन्ध्यायां प्रतिक्रान्ति. कृता । सस्तारकविधिं भणित्वा गुरुणा सस्तारितं, तदा बुभुक्षया गुरूणा निद्रा नायाति, मध्यरात्रौ, सूरिः प्राह-भो साधव' उत्सूर जायमानमस्ति अन्नमानीयतां । साधवो जगुः—अद्यापि (अधुना) रात्रिर्विद्यते, सूर्यं उद्गतो नास्ति, शङ्खवादकेन शङ्खोऽपि वादितो न (ना · स्ति), कूर्कुटा अपि न शब्दिताः सन्ति, मध्यरात्रिर्विद्यते अतोऽधुना विहर्त्तुं गन्तु न शक्यते, लोका अपि सुप्ताः सन्ति ।

सूरि प्राह—शङ्खोऽम्भोधेः पितु (अम्भोधिं पितर) मिलितुं गतः, सूर्यस्य तु रथो भग्नः, कूर्कुटा अप्यन्यत्र गताः नभसि गता, यत.—

उयहिंसरेविण सख गय, कुक्कड गया नहसि ।
रह भग्गो सूरहत्तणओ, तेण न विहाइ रवि ॥१॥

आकर्ण्येति साधवो जगु —यत्प्रभुणा प्रोच्यते तत्सत्यमेव परं बुभुक्षाक्रान्तो किं न करोति ।

यत —पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि, क्षुधार्त्तस्य न सशय ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं, मदनश्चापि पञ्चम ॥२॥

एतत् श्रुत्वा सूरि प्राह—

मया बुभुक्षया जल्पितं मिथ्यादुष्कृतमस्तु । तत सूरिर्हृदयं दृढं कृत्वा प्रभातं नीतवान्, तत पौरुषी यावत्स्थित । तत पारितं प्रत्याख्यानं सूरिर्बुभुजे । तदा सूरिणा तपसा तेन भुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमर्जितं तत सदा स्तोकं स्तोकं तपो वर्धयन् सूरिरेकान्तरमुपवासान् कुर्वन् केवलज्ञानं प्राप मुक्तिं गत । एवं दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ॥११८॥

[119] अथ धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टान्त ।

श्रीपुरे श्रीदश्रेष्ठिगृहे पुत्रस्य विवाहे जायमाने वत्सस्य चारिं विश्राणयितु विस्मृता । ततो मध्याह्नातिक्रान्ते पक्वान्नादिषु दृष्टी (ष्टि) अददानश्चारिं प्रति दृष्टी (ष्टि) ददानो रुदितु लग्नो वत्स ततस्तं रुदन्तं दृष्ट्वा स्नुषया दयया चारिर्विश्राणिता तस्मै स च वत्सश्चारिं चरन् सुखी जात । एवं जीवोऽनिशमधर्मे दृष्टिमददानो धर्मे दृष्टिं ददान सुखी स्याद्वत्सवत् ।

इति धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टान्त ॥११९॥

[120] अथ असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥

श्रीमपुरे श्रीधरश्रेष्ठी धनार्थं व्यवसायं कुर्वन् रात्रिंदिवा विश्रामं न लाति स्म । धनं मिलितं बहु सप्तति वर्षाणि जातानि, धनं धनं कुर्वन्नधिकं जीवितं वाञ्छति स्म । बह्वी भार्या परिणीतवान् ततस्तृप्तो नाभूत् ।

एकदाहारं पक्वान्नादिकं भक्तं पश्चात्तदेव विष्टा तथा दुर्गन्धं ज्ञात्वा जगौ श्रेष्ठी ।

धनेषु जीवितव्येषु, स्त्रीषु चाहारकर्म्मसु ।
अतृप्ता प्राणिन सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१॥

एवं सर्ववस्तुपरिग्रहादिकं चासारं मत्वा सर्वं त्यक्त्वा संयमं लात्वा स्वर्गं गत । ततो मुक्तिमपि बहुषु भवेषु यास्यति इति असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥१२०॥

[121] अथ संसारासारतायां धनकथा ।

श्रीपुरे धन श्रेष्ठी प्रातरुत्थायोत्थाय ध्यायति स्म । अद्य मम यानं श्रीयुतं समायाति । याने समागते दृष्टो दध्यौ, वस्तु तत् विक्रयितु रात्रिंदिवा विश्रामं न लाति, वस्तु विक्रीय

वाहनपुरणार्थं वस्तु गृह्णन्नपि न विश्रामयति स्म । चलितेऽम्बुधौ याने भग्ना चिन्ता चौरचिन्ता समर्थमहार्थचिन्ता, एवं ध्यायन् स दध्यौ—

बिन्दुनाऽप्यधिका चिन्ता, चितायाा इति मे मतिः ।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता जीवन्तमप्यहो ॥१॥

इति ध्यात्वा श्रेष्ठी संसारमसारं मत्त्वा दु:खमयं च धन धर्मे व्ययित्वा चारित्रं गृहीत्वा स्वर्गं गतः । इवि संसारासारतायां धनकथा ॥ १२१ ॥

[122] अथ धर्मविपये जीवपालादिकथा ।

श्रीपुरे श्रीपालभूपपुत्रो धनदेवो राज्यं चकार । स च गुरुवचः श्रुत्वा जिनधर्मं चकार ।

एकदा राजा धनदेवः पुरोद्याने गतः, तत्र चतुर्ज्ञानिनं जीवपालाह्वं गुरुं दृष्ट्वा प्रणम्य धर्मोपदेशं श्रोतुमुपाविशत्, अत्र धर्मोपदेशो ज्ञेयः ।

अत्रान्तरेऽकस्माद्देवद्वय दिवः समेत्य गुरोरुभयोः पार्श्वे चामरे ढालयतः स्म । गुरुणोक्त—साधूनां चामरढालनं न युक्त । वारितौ देवौ न तिष्ठतः स्म । ततो राज्ञा धनदेवेन पृष्टं—भो देवौ ! युवाभ्या कुत किमर्थमागत । गुरोरेवं च सेवा किमर्थं क्रियते । देवा तूचतुः-गुरव एव कथयन्ति । आवयोर्गुरोरग्रे जल्पनं न युक्तं । ततो राज्ञा पृष्टा गुरवो जगुः—

अस्मिन्नेव पुरे श्रीदेवपालो राजाऽभूत्, मतिसागरो मन्त्री च । चन्द्रदेव श्रेष्ठी द्वादशव्रतधारको धर्मं करोति स्म । स च श्रेष्ठी कस्यापि न्यासीकृत वस्तु नापलपति स्म । राजमान्यः ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कलापुरवासी रत्नो वणिग् रत्नद्वीपे रत्नदशकमुपार्ज्य यानारूढस्तत्र पुरे समागात् । ततश्चन्द्रदेवं परद्रव्यपराङ्मुखं ज्ञात्वा रत्नग्रन्थिं न्यासीकृत्य पुनर्धनार्जनाय कुकणद्वीपे ययौ । तत्राल्प धनमुपार्ज्य पश्चादागतो चन्द्रदेव रत्नः स्वधनं याचते स्म ।

श्रेष्ठी जगौ-कस्त्व, केन न्यासीकृत, कः साक्षी ? रत्नोऽवग् त्वमह साक्षिणौ, त्व तु दृष्टाद्भ्रष्टः अन्यत्र मुक्तमन्यत्र विलोकयति । रत्नो जगावह न भ्रान्तः, भवानेव भ्रान्तः । यदन्यदीयं धन लात्वाऽपलपसि । ततो रत्नो ग्रथिलो भूत्वा रात्रौ हट्टाग्रे सुप्तो जल्पति, मम रत्नानि चन्द्रदेवोऽपललाप कोऽपि वालयितात्र मन्त्र्यादिर्नास्ति । एवं रात्रौ जल्पन्तं द्वित्रिदिनेषु दृष्ट्वा मतिसागरो मन्त्री पप्रच्छ तं, भो कथय पुरुप ! तव किं गतं, केन धनं हृत, ग्रथिलोऽभूः कथ ? सोऽवग्—गते धने को ग्रथिलो न भवति, यत—

एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुन—र्यावज्जीवं हृते धने ॥१॥

मन्त्री प्राह:—केन हृत धन ? रत्नोऽवग्—चन्द्रदेवेनावलिप्त धनं, तेन मे शैथिल्य जातं। मन्त्र्यभाणीत्—कीदृशानि रत्नानि कीदृशी तद्ग्रन्थि का तत्र मुद्रा ततस्तेन स र्वदभिधानादि प्रोक्तं मन्त्रिणोऽग्रे ततो मन्त्रिणा रत्नो राज्ञ मेलित रत्नग्रन्थिगतनादिसर्वं ज्ञापित राज्ञ ।

ततो राजा श्रीपालो दध्यौ-एष श्रेष्ठी चन्द्रदेव सत्यवादी, परद्रव्यपराङ्मुख, कथमेवं विध कर्म करोति तथापि न ज्ञायते मनुष्यस्य मलिनत्वस्वरूप ढोलस्य पोलत्व च, तथाप्यस्य धन चाल्यते । राज्ञोऽन्यदा श्रेष्ठी रन्तुमुपवेशित रमता श्रेष्ठिना स्वनामाङ्किता मुद्रा हारिता, राज्ञा तु श्रीपालेन श्रेष्ठिपत्नी मुग्धस्वभावा ज्ञात्वा छन्न शिक्षयित्वा स्वसेवक श्रेष्ठिगृहे प्रेषित । स च तत्र गत । श्रेष्ठिहस्तमुद्रां श्रेष्ठिनामाङ्कितां श्रेष्ठिपत्न्यै दर्शयित्वा प्राह—इमां मुद्रां श्रेष्ठी प्रेषयामास । मन्मुखाच्चावग मुद्रां स्थाप्य त्वया सा ग्रन्थि रत्नसत्का प्रेष्या। तया पतिभक्तया मुद्रां सथाप्य रत्नग्रन्थिस्तस्य ददे । स च छन्नं राज्ञः श्रीपालस्य शये (शय्यायां) तां मुमोच । राज्ञा तु रममाणेन स्वकोशाद्रत्नग्रन्थी सप्ततिं ग्रन्थिमेकत्र कृत्वाऽग्र मुमोच । राजाऽवग्–रत्नाग्रे तव ग्रन्थिमुपलक्ष्य त्व गृहाण । स च सवमभिधानादि प्रान्त्यावग्–ममाय ग्रन्थि । ततो राजाऽवग् श्रेष्ठिन्नय रत्नग्रन्थिस्तव गृहान्नानायित । त्वं तु सत्यवादी त्वया कथमवलुप्त अस्य ग्रन्थि परधनहृते श्वभ्रपातो भवति। ततश्चन्द्रदेव श्रेष्ठी जगौ–मया मौर्ख्यादकर्तव्य कृत त्वमेव मे गुरु अत पर मयैवंविध पाप न कर्तव्य मेतत्पापशुद्धये जिनप्रासादो मया कारयिष्यते । रत्नोऽपि रत्नानि प्राप्य प्रासाद कारितवान् , मिथ प्रीतिभाजो जाता सर्वे । चन्द्रदेवरत्नौ मिथो मिथ्यादुष्कृत दत्त्वा प्रीतिभाजौ मृत्वा स्वर्गे सुरौ जातौ । राजा तु मृत्वा भीमपुरे भीमपुत्रो जीवपालाह्वोऽभूत् । स च बालो धर्मं शृण्वन् प्राप्तवैराग्य सयम लात्वा चतुर्थज्ञान प्राप्य जीवपालो विहरन्नागात् । स चाह पश्चाद्भवपिता तव श्रीपालाह्व। इह तु जीवपालो ज्ञानी यात्र ते प्रतिबोधायागाम् चन्द्रदेवरत्नदेवौ ज्ञानेन स्वर्गात्पश्चाद्भवगुरु ज्ञात्वा मम चामरौ ढालयतश्चामू भक्त्या श्रुत्वैतद्राजा धनदेव पितर गुरु नत्वा सम्यक्त्वमूल द्वादशव्रतरम्य धर्म जग्राह । स च राजा अष्टोत्तरशतदेव कुलिकायुक्त जिनप्रासाद कारयित्वा मुख्यस्थाने नाभेयप्रतिमां स्थापयित्वाऽन्यासु देवकुलिकासु त्रयोविंशतिजिनप्रतिमा अतिष्ठिपत् समह । तस्मिन्प्रासादे जीवपालज्ञानिन प्रतिमा चामरढालनयुक्तौ सुरौ स्थापयामास राजा । धनदेवोऽपि राजा राज्ये स्वपुत्र न्यस्य चारित्र लात्वा चतुर्ज्ञानी जात तौ देवौ जिनधर्मिणामुपकार चक्रतु तौ देवौ स्वर्गाच्च्युतौ– कोलपुरे महासेन भूपपुत्रौ चन्द्र सोमाह्वौ अभूतां । तयो पूर्वकर्मयोगात् माता मृता । राज्ञाऽन्या राज्ञी पट्टधरा चक्रे । सा च स्वपुत्रस्य राज्यार्थिनी। तयो कामण हस्तु करोति । तयोस्तु पुण्यबलान्न लगति स्म । पापात्सपत्नीपुत्रा स्वय मृता पुण्यप्रभावात्तयो राज्य दत्त्वा पिता चारित्र जग्राह । तौ तु न्यायाद्राज्य पालयत स्म । कर स्तोकं चक्रतु । यत —

अकरे करकर्ता च, गोसहस्रवध स्मृत ।
प्रवृत्तकरच्छेद च, गवा कोटिफलं भवेत् ॥२॥

क्रमात्तौ स्वपुत्रयो राज्य दत्त्वा दीक्षां लात्वा स्वर्गं गत्वा क्रमाच्च मनुष्यजन्म प्राप्य मुक्ति गतौ । सोऽपि जीवपालो ज्ञानी क्रमात्कर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ । धनदेवो भूपोऽपि न्याया

पृथ्वीं पालयन् धर्मध्यान कुर्वन् त्रिकालजिनार्चा चक्रे। दिनं प्रति एकं सहस्रं श्राद्धान् जेमयामास स राजा। एकलक्षरैमयानि बिम्बानि कारयित्वा तस्मिन्नेव भवे मुक्ति गतो धनदेवः । इति धर्मविषये जीवपालादिकथा ॥१२२॥

[123] अथ धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा--पुत्रीद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे लक्ष्मीचन्द्रभूपस्य पुत्रीद्वयं सुन्दरी-श्रीमत्याह्व । आद्या पितु कृत मन्यते, ततः प्रथमा महादेवभूपाय दत्ता सोत्सव। स च भूपस्तां परिणीय यावत्स्वपुरे गतः ।

इतस्तत्र गोत्रिणो भूपालाः समागताः युद्ध जात। हारित' सपत्नीकश्छन्ननष्ट' । वीरपुरे गत राजा व्यवसायादि किमपि न वेत्ति। पत्नी परगेहे कर्म कृत्वा निर्वाहं चक्रे ।

लघ्वी पुत्री श्रीमती नि स्वाय धीराय दत्ता। सा च त देवमिवाराध्नोति धीर, स च धीरश्चलन् पद्मपुरे गतः। तत्रापौत्रिको राजा मृत । पञ्चदिव्यैस्तस्य राज्य जात, न्यायाध्वना राज्य पपाल स ।

अन्यदा श्रीमतीं पतियुक्तामिन्धनभारमानयन्तीं दृष्ट्वा तावत्तत्राकारयामास सा भगिनी लज्जमाना यदा न जजल्प तदा भगिन्योक्तं भगिनि ! कर्मतः कोऽपि छुट्टति, त्वया तु पितुः कृत मन्यते। तत सा स्वराज्यगमनस्वरूप प्राह-ततो भगिनीपतये वर्यावासो दत्तो वर्यवस्त्रान्नादि च ।

इतो लक्ष्मीचन्द्रभूपो निःस्वस्य राज्यं जातं श्रुत्वा तत्रागात्। जात युद्ध, लक्ष्मीचन्द्र वद्धं पत्या दृष्ट्वा श्रीमती मोचयामासात्मन स्वरूप जगाद च तात ! त्वया आत्मकृतं स्थापित, मया तु कर्मकृत, यथा पुत्र्या सुन्दर्या तव कृतः प्रसादो मानित सा राज्यात्ताजितात्रागता सती मया सन्मानिता। अहं च कर्मवशादीदृग् राज्यमागभवम्। ततो लक्ष्मीचन्द्रः स्वपुरमभ्येत्य सर्वं सुखदु खादि कर्मकृत मन्यते स्म। यतः--

सुखदुःखानां कर्त्ता, हर्त्ता च कस्यचित्कोऽपि नो जन्तोः ।
इति चिन्तय स्वबुद्ध्या, पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥ १ ॥

क्रमाद्राज्ञो लक्ष्मीचन्द्रस्य सुन्दराह्वः पुत्रोऽभूत् । सुन्दरो धर्म श्रुत्वा जीवहिंसानिषेध चक्रे।

एकदा सुन्दर पुराद्बहिरुद्याने स्थित एकं पथिक मार्गे यान्तं पप्रच्छ। कुत आगतस्त्व कुत्र यास्यसि ? सोऽवग्-यन्मम जातं तत्कथयितु न शक्यते। सुन्दरोऽवग्-कथय । पान्थः प्राह-नवसारीतोऽहं यानारूढो भीमवणिक्पुत्रः सोमाह्वो वार्द्धौ चचाल । क्रमाद्वातेनाहतं गिरौ यान, भग्न फलक चटित मम हस्ते तेन फलकेनाह जलधिमध्यस्थशैल सिंहगिरिं प्रापम् । तत्र फलाहार करोमि। तत्रासन्नदेशे वादित्राणा धूमधमाट- श्रुतः। अकस्माज्जल दूरे स्थितमेक आवासः सप्तभूमिगृहयुतो दृष्ट । तत्र गवाक्षोपरि एका कन्योभयपार्श्वचामरढालनपरा नारीद्वययुता दृष्टा। ताभ्या चामरधारिणीभ्या प्रोक्त-यदि ते साहसं स्यात्तदाऽत्रागत्येमा कन्यां वर। तत्र यदा यातुमुत्थितोऽहं तदा ज्वाला निर्गता । ततोऽहं भीतः, पश्चात्स्थितः मुहूर्त्तादनु तद्गृहं

मन्त्री प्राह—केन हृतं धनं ? रत्नोऽवग्—चन्द्रदेवेनावलिप्तं धनं तेन मे ग्रैथिल्यं जातं । मन्त्र्यभाणीत्—कीदृशानि रत्नानि, कीदृशी तद्ग्रन्थिः का तत्र मुद्रा ततस्तेन ग्रन्थेरभिधानादि प्रोक्तं मन्त्रिणोऽग्रे ततो मन्त्रिणा रत्नो राज्ञः मेलितः रत्नग्रन्थिगननादिसर्वं ज्ञापितं राज्ञः ।

ततो राजा श्रीपालो दध्यौ-एष श्रेष्ठी च द्रदेवः सत्यवादी, परद्रव्यपराङ्मुख, कथमेवं विध कर्म करोति तथापि न ज्ञायते मनुष्यस्य मलिनत्वस्वरूपं ढोलस्य पोलत्वं च तथाप्यस्य धनं वाल्यते । राज्ञोऽन्यदा श्रेष्ठी रन्तुमुपवेशितः रमता श्रेष्ठिना स्वनामाङ्किता मुद्रा हारिता, राज्ञा तु श्रीपालेन श्रेष्ठिपत्नी मुग्धस्वभावा ज्ञात्वा छद्म शिक्षयित्वा स्वसेवकः श्रेष्ठिगृहे प्रेषितः । स च तत्र गतः । श्रेष्ठिहस्तमुद्रां श्रेष्ठिनामाङ्कितां श्रेष्ठिपत्न्यै दर्शयित्वा प्राह—इमां मुद्रां श्रेष्ठी प्रेषयामास । मन्मुखाच्चावग मुद्रां स्थाप्या त्वया, सा ग्रन्थिः रत्नमत्का प्रेष्या । तया पतिभक्ततया मुद्रां सथाप्य रत्नग्रन्थिस्तस्य ददे । स च छद्म राज्ञः श्रीपालस्य हस्ते (शय्यायां) तां मुमोच । राज्ञा तु रममाणेन स्वकोशाद्रत्नग्रन्थी सप्तति ग्रन्थिमेकत्र कृत्वाऽग्रे मुमोच । राजाऽवग्-रत्नाग्रे तव ग्रन्थिमुपलक्ष्य त्वं गृहाण । स च सवमभिधानादि प्राग्वावग्-ममायं ग्रन्थिः । ततो राजाऽवग् श्रेष्ठिन्नयं रत्नग्रन्थिस्तव गृहान्नानायितः । त्वं तु सत्यवादी त्वया कथमवलुप्य अस्य ग्रन्थिः परधनहृते श्वभ्रपातो भवति । ततश्चन्द्रदेव श्रेष्ठी नगौ-मया मौर्ख्यात्कर्त्तव्यं कृतं त्वमेव मे गुरु अतः परं मयैवंविधं पापं न कर्त्तव्य मेतत्पापशुद्धये जिनप्रासादो मया कारयिष्यते । रत्नोऽपि रत्नानि प्राप्य प्रासादं कारितवान्, मिथः प्रीतिभाजो जाताः सर्वे । चन्द्रदेवरत्नौ मिथो मिथ्यादुःकृतं दत्त्वा प्रीतिभाजौ मृत्वा स्वर्गे सुरौ जातौ । राजा तु मृत्वा भीमपुरे भीमपुत्रो जीवपालाह्वोऽभूत् । स च बालो धर्मं शृण्वन् प्राप्तवैराग्यः संयमं लात्वा चतुर्थज्ञानं प्राप्य जीवपालो विहरन्नागात् । स चाह पश्चाद्भवपिता तव श्रीपालाह्व । इह तु जीवपालो ज्ञानी चात्र ते प्रतिबोधायागाम् चन्द्रदेवरत्नदेवौ ज्ञानेन स्वर्गात्पश्चाद्भवगुरुं ज्ञात्वा मम चामरौ ढालयतस्स्वाम् भक्त्या श्रुत्वैतद्राजा धनदेवः पितरं गुरुं नत्वा सम्यक्त्वमूलं द्वादशव्रतरम्यं धर्मं जग्राह । स च राजा अष्टोत्तरशतदेव कुलिकायुक्तं जिनप्रासादं कारयित्वा मुख्यस्थाने नाभेयप्रतिमां स्थापयित्वाऽन्यासु देवकुलिकासु त्रयोविंशतिजिनप्रतिमा अतिष्ठिपत् समहं । तस्मिन्प्रासादे जीवपालज्ञानिनः प्रतिमां चामरढालनयुक्तौ सुरौ स्थापयामास राजा । धनदेवोऽपि राजा राज्ये स्वपुत्रं न्यस्य चारित्रं लात्वा चतुर्ज्ञानी जातः तौ देवौ जिनधर्मिणामुपकारं चक्रतुः तौ देवौ स्वर्गाच्च्युतौ– कौलपुरे महासेन भूपपुत्रौ चन्द्र सोमाह्वौ अभूतां । तयोः पूर्वकर्मयोगात् माता मृता । राज्ञाऽन्या राज्ञी पट्टधरा चक्रे । सा च स्वपुत्रस्य राज्यार्थिनी । तया कामणं तु करोति । तयोस्तु पुण्यबलान्न लगति स्म । पापात्सपत्नीपुत्रा स्वयं मृता पुण्यप्रभावात्तयोः राज्यं दत्त्वा पिता चारित्रं जग्राह । तौ तु न्यायाद्राज्यं पालयतः स्म । करं स्तोकं चक्रतुः । यतः—

अकरे करकर्त्ता च, गोसहस्रवधं स्मृतं ।
प्रवृत्तकरछेदे च, गवां कोटिफलं भवेत् ॥२॥

क्रमाच्चौ स्वपुत्रयो राज्यं दत्त्वा दीक्षां लात्वा स्वर्गं गत्वा क्रमाच्च मनुष्यजन्म प्राप्य मुक्तिं गतौ । सोऽपि जीवपालो ज्ञानी क्रमात्क्रमक्षया मुक्तिं ययौ । धनदेवो भूपोऽपि न्याया-

त्पृथ्वीं पालयन् धर्मध्यानं कुर्वन् त्रिकालजिनार्चां चक्रे। दिनं प्रति एकं सहस्रं श्राद्धान् जेमयामास स राजा। एकलक्षरैमयानि बिम्बानि कारयित्वा तस्मिन्नेव भवे मुक्तिं गतो धनदेवः। इति धर्मविषये जीवपालादिकथा ॥१२२॥

[123] अथ धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा--पुत्रीद्वयसम्बन्धः।

चन्द्रपुरे लक्ष्मीचन्द्रभूपस्य पुत्रीद्वयं सुन्दरी-श्रीमत्याह्वं। आद्या पितु कृत मन्यते, ततः प्रथमा महादेवभूपाय दत्ता सोत्सवं। स च भूपस्तां परिणीय यावत्स्वपुरे गतः।

इतस्तत्र गोत्रिणो भूपालाः समागताः युद्ध जात। हारित सपत्नीकश्छन्ननष्ट'। वीरपुरे गत' राजा व्यवसायादि किमपि न वेत्ति। पत्नी परगेहे कर्म कृत्वा निर्वाहं चक्रे।

लघ्वी पुत्री श्रीमती नि स्वाय धीराय दत्ता। सा च त देवमिवाराध्नोति धीर, स च धीरश्चलन् पद्मपुरे गतः। तत्रापौत्रिको राजा मृत'। पञ्चदिव्यैस्तस्य राज्य जात, न्यायाध्वना राज्य पपाल स'।

अन्यदा श्रीमतीं पतियुक्तामिन्धनभारमानयन्तीं दृष्ट्वा तावत्तत्राकारयामास सा भगिनी लज्जमाना यदा न जजल्प तदा भगिन्योक्तं भगिनि! कर्मतः कोऽपि छुट्टति, त्वया तु पितुः कृतं मन्यते। तत सा स्वराज्यगमनस्वरूप प्राह्-ततो भगिनीपतये वर्यावासो दत्तो वर्यवस्त्रान्नादि च।

इतो लक्ष्मीचन्द्रभूपो निःस्वस्य राज्य जातं श्रुत्वा तत्रागात्। जात युद्ध, लक्ष्मीचन्द्रं बद्धं पत्या दृष्ट्वा श्रीमती मोचयामासात्मन स्वरूप जगाद च तात! त्वया आत्मकृतं स्थापितं, मया तु कर्मकृतं, यया पुत्र्या सुन्दर्या तव कृत. प्रसादो मानित सा राज्यात्ताजितात्रागता सती मया सन्मानिता। अह च कर्मवशादीदृग् राज्यभागभवम्। ततो लक्ष्मीचन्द्रः स्वपुरमभ्येत्य सर्वं सुखदु खादि कर्मकृतं मन्यते स्म। यतः—

> सुखदुःखानां कर्त्ता, हर्त्ता च कस्यचित्कोऽपि नो जन्तोः।
> इति चिन्तय स्वबुद्ध्या, पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥ १ ॥

क्रमाद्राज्ञो लक्ष्मीचन्द्रस्य सुन्दराह्वः पुत्रोऽभूत्। सुन्दरो धर्मं श्रुत्वा जीवहिंसानिषेध चक्रे।

एकदा सुन्दरः पुराद्वहिरुद्याने स्थित एकं पथिकं मार्गे यान्त पप्रच्छ। कुतः आगतस्त्व कुत्र यास्यसि? सोऽवग्-यन्मम जात तत्कथयितु न शक्यते। सुन्दरोऽवग्-कथय। पान्थः प्राह्-नवसारीतोऽह् यानारूढो भीमवणिक्पुत्रः सोमाह्वो वार्द्धौ चचाल। क्रमाद्वातेनाहृत गिरौ यान, भग्नं फलक चटितं मम हस्ते तेन फलकेनाहं जलधिमध्यस्थशैल सिंहगिरिं प्रापम्। तत्र फलाहारं करोमि। तत्रासन्नदेशे वादित्राणां धूमधमाट श्रुतः। अकस्माज्जल दूरे स्थितमेक आवासः सप्तभूमिगृहयुतो दृष्ट। तत्र गवाक्षोपरि एका कन्योभयपार्श्वचामरढालनपरा नारीद्वययुता दृष्टा। ताभ्यां चामरधारिणीभ्या प्रोक्तं-यदि ते साहस स्यात्तदाऽत्रागत्येमा कन्यां वर। तत्र यदा यातुमुत्थितोऽह तदा ज्वाला निर्गता। ततोऽहं भीतः, पश्चात्स्थितः मुहूर्त्तादनु तद्गृहं

मन्त्री प्राह:—केन हृतं धनं ? रत्नोऽवग्—चन्द्रदेवेनावलिप्तं धनं, तेन मे शैथिल्यं जातं। मन्त्र्यभाणीत्—कीदृशानि रत्नानि कीदृशी तद्ग्रन्थिः का तत्र मुद्रा ततस्तेन ग्रन्थेरभिधानादि प्रोक्तं मन्त्रिणोऽग्रे ततो मन्त्रिणा रत्नो राज्ञः मेलितः रत्नग्रन्थिगमनादिसर्वं ज्ञापितं राज्ञः ।

ततो राजा श्रीपालो दध्यौ-एष श्रेष्ठी चन्द्रदेवः सत्यवादी, परद्रव्यपराङ्मुखः कथमेवं विधं कर्म करोति तथापि न ज्ञायते मनुष्यस्य मलिनवस्त्ररूपं ढोलस्य पोलत्वं च तथाप्यस्य धनं चाल्यते । राज्ञोऽन्यदा श्रेष्ठी रन्तुमुपवेशितः रमता श्रेष्ठिना स्वनामाङ्किता मुद्रा हारिता, राज्ञा तु श्रीपालेन श्रेष्ठिपत्नी मुग्धस्वभावा ज्ञात्वा छद्म शिक्षयित्वा स्वसेवकः श्रेष्ठिगृहे प्रेषितः । स च तत्र गतः । श्रेष्ठिहस्तमुद्रां श्रेष्ठिनामाङ्कितां श्रेष्ठिपत्न्यै दर्शयित्वा प्राह—इमां मुद्रां श्रेष्ठी प्रेषयामास । मन्मुखाच्चावग् मुद्रा स्थाप्या त्वया सा ग्रन्थिः रत्नसत्का प्रेष्या। तया पतिभक्तया मुद्रां संस्थाप्य रत्नग्रन्थिस्तस्य ददे । स च छद्म राज्ञः श्रीपालस्य शय (शय्यायां) तां मुमोच । राज्ञा तु रममाणेन स्वकोशाद्रत्नग्रन्थी सप्तति ग्रन्थिमेकत्र कृत्वा ऽग्रे मुमोच । राजाऽवग्-रत्नाग्रे तव ग्रन्थिमुपलक्ष्य त्वं गृहाण । स च सद्यमभिधानादि प्राप्यावग्-ममायं ग्रन्थिः । ततो राजाऽवग् श्रेष्ठिनश्च रत्नग्रन्थिस्तव गृहादानायितः । त्वं तु सत्यवादी त्वया कथमवलुप्तं अस्य ग्रन्थिः परधनहृते श्वभ्रपातो भवति । ततश्च ग्रैव श्रेष्ठी जगौ-मया मौर्ख्यान्कर्त्तव्यं कृतं त्वमेव मे गुरुः, अतः परं मयैवंविधं पापं न कर्त्तव्य मेतत्पापशुद्धये जिनप्रासादो मया कारयिष्यते । रत्नोऽपि रत्नानि प्राप्य प्रासादं कारितवान् , मिथः प्रीतिभाजो जाता सर्वे । चन्द्रदेवरत्नौ मिथो मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा प्रीतिभाजौ मृत्वा स्वर्गे सुरौ जातौ । राजा तु मृत्वा भीमपुरे भीमपुत्रो जीवपालाह्वोऽभूत् । स च बालो धर्मं शृण्वन् प्राप्तवैराग्यः संयमं लात्वा चतुर्थज्ञानं प्राप्य जीवपालो विहरन्नागात् । स चाह पश्चाद्भवपिता तव श्रीपालाह्व। इह तु जीवपालो ज्ञानी चात्र ते प्रतिबोधायागाम् चन्द्रदेवरत्नदेवौ ज्ञानेन स्वर्गात्पश्चाद्भवगुरुं ज्ञात्वा मम चामरौ ढालयतश्चामू भक्त्या, श्रुत्वेतद्राजा धनदेव पितरं गुरुं नत्वा सम्यक्त्वमूलं द्वादशव्रतरम्यं धर्मं जग्राह । स च राजा अष्टोत्तरशतदेव कुलिकायुक्तं जिनप्रासादं कारयित्वा मुख्यस्थाने नाभेयप्रतिमां स्थापयित्वाऽन्यासु देवकुलिकासु त्रयोविंशतिजिनप्रतिमा अतिष्ठिपत् समहं । तस्मिन्प्रासादे जीवपालज्ञानिनः प्रतिमां चामरढाल-नयुक्तौ सुरौ स्थापयामास राजा । धनदेवोऽपि राजा राज्ये स्वपुत्रं न्यस्य चारित्रं लात्वा चतुर्ज्ञानी जातः तौ देवौ जिनधर्मिणामुपकारं चक्रतुः तौ देवौ स्वर्गाच्च्युतौ- कोलपुरे महासेन भूपपुत्रौ चन्द्र सोमाह्वौ अभूतां । तयोः पूर्वकर्मयोगात् माता मृता । राज्ञाऽन्या राज्ञी पट्टधरी चक्रे । सा च स्वपुत्रस्य राज्यार्थिनी। तयोः कामणं हन्तु करोति । तयोस्तु पुण्यप्रभावान्न लगति स्म । पापात्सपत्नीपुत्रा स्वयं मृता पुण्यप्रभावात्तयोः राज्यं दत्त्वा पिता चारित्रं जग्राह । तौ तु न्यायाद्राज्यं पालयतः स्म । करः स्तोकं चक्रतुः । यतः—

अकरे करकर्त्ता च, गोसहस्रवधः स्मृतः ।
प्रभूतकरछेदं च, गवां कोटिफलं भवेत् ॥२॥

क्रमात्तौ स्वपुत्रयो राज्यं दत्त्वा दीक्षां लात्वा स्वर्गं गत्वा क्रमाच्च मनुष्यजन्म प्राप्य मुक्तिं गतौ । सोऽपि जीवपालो ज्ञानी क्रमात्कर्मक्षयात् मुक्तिं ययौ । धनदेवो भूपोऽपि न्याया

त्पृथ्वीं पालयन् धर्मध्यान कुर्वन् त्रिकालजिनार्चा चक्रे। दिन प्रति एकं सहस्रं श्राद्धान् जेमयामास स राजा। एकलक्षरैमयानि विम्बानि कारयित्वा तस्मिन्नेव भवे मुक्ति गतो धनदेवः । इति धर्मविषये जीवपालादिकथा ॥१२२॥

[123] अथ धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा—पुत्रीद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे लक्ष्मीचन्द्रभूपस्य पुत्रीद्वयं सुन्दरी-श्रीमत्याह्व । आद्या पितु कृत मन्यते, ततः प्रथमा महादेवभूपाय दत्ता सोत्सव। स च भूपस्तां परिणीय यावत्स्वपुरे गतः ।

इतस्तत्र गोत्रिणो भूपालाः समागताः युद्ध जात। हारित सपत्नीकश्छन्ननष्ट । वीरपुरे गत राजा व्यवसायादि किमपि न वेत्ति। पत्नी परगेहे कर्म कृत्वा निर्वाहं चक्रे ।

लघ्वी पुत्री श्रीमती निःस्वाय धीराय दत्ता। सा च तं देवमिवाराध्नोति धीर, स च धीरश्चलन् पद्मपुरे गतः। तत्रापौत्रिको राजा मृत. । पञ्चदिव्यैस्तस्य राज्य जात, न्यायाध्वना राज्य पपाल सः ।

अन्यदा श्रीमतीं पतियुक्तामिन्धनभारमानयन्तीं दृष्ट्वा तावत्तत्राकारयामास सा भगिनी लज्जमाना यदा न जजल्प तदा भगिन्योक्तं भगिनि ! कर्मतः कोऽपि छुट्टति, त्वया तु पितुः कृत मन्यते। तत सा स्वराज्यगमनस्वरूप प्राह–ततो भगिनीपतये वर्षावासो दत्तो धर्यवस्त्रान्नादि च ।

इतो लक्ष्मीचन्द्रभूपो निःस्वस्य राज्य जात श्रुत्वा तत्रागात्। जात युद्ध, लक्ष्मीचन्द्रं वद्धं पत्या दृष्ट्वा श्रीमती मोचयामासात्मन स्वरूप जगाद च तात ! त्वया आत्मकृतं स्थापितं, मया तु कर्मकृत, यया पुत्र्या सुन्दर्या तव कृतः प्रसादो मानितः सा राज्यात्ताजितात्रागता सती मया सन्मानिता। अह च कर्मवशादीदृग् राज्यभागभवम्। ततो लक्ष्मीचन्द्रः स्वपुरमभ्येत्य सर्वं सुखदुःखादि कर्मकृतं मन्यते स्म। यतः—

सुखदुःखानां कर्त्ता, हर्त्ता च कस्यचित्कोऽपि नो जन्तोः ।
इति चिन्तय स्वबुद्ध्या, पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥ १ ॥

क्रमाद्राज्ञो लक्ष्मीचन्द्रस्य सुन्दराह्वः पुत्रोऽभूत् । सुन्दरो धर्मं श्रुत्वा जीवहिंसानिषेध चक्रे।

एकदा सुन्दर पुराद्बहिरुद्याने स्थित एकं पथिकं मार्गे यान्त पप्रच्छ । कुत आगतस्त्व कुत्र यास्यसि ? सोऽवग्–यन्मम जातं तत्कथयितुं न शक्यते। सुन्दरोऽवग्–कथय । पान्थः प्राह–नवसारीतोऽह यानारूढो भीमवणिकपुत्रः सोमाह्वो वार्द्धौ चचाल । क्रमाद्वातेनाहृत गिरौ यान, भग्न फलक चटितं मम हस्ते तेन फलकेनाहं जलधिमध्यस्थशैल सिंहगिरिं प्रापम् । तत्र फलाहारं करोमि। तत्रासन्नदेशे वादित्राणा धूमधमाट श्रुतः। अकस्माज्जल दूरे स्थितमेक आवासः सप्तभूमिगृहयुतो दृष्ट । तत्र गवाक्षोपरि एका कन्योभयपार्श्वचामरढालनपरा नारीद्वययुता दृष्टा। ताभ्यां चामरधारिणीभ्या प्रोक्तं–यदि ते साहस स्यात्तदाऽत्रागत्येमा कन्यां वर। तत्र यदा यातुमुत्थितोऽह तदा ज्वाला निर्गता । ततोऽह भीतः, पश्चात्स्थितः मुहूर्त्तादनु तद्गृहं

जलमध्ये गत । एव मासद्वय मया तत्र दृष्ट पर मया साहस न कृत । तत्रस्थो भारण्डपक्षावालम्ब्य चम्पकद्वीपोद्याने समागत स भारण्डस्तत्रास्थात् ततोऽह यानारूढोऽत्रागां, सोवपुरे यास्यामि । राजपुत्रेणोक्त-तत्र किमथ गम्यते स प्राह्-मातापित्रोर्मिलनार्थं । राजपुत्र सुन्दरस्तेनोक्तविधिना तत्रागत तथाऽत्राकस्माद् घुमघुमशब्द समुद्रमध्यान्निययौ । ततो महानावास तस्मिन्गवाक्षे पाथ प्रोक्ता कन्या समागता । चामरधारि(णी) भ्यामुक्त यदि साहस स्यात्तदात्रागच्छ । सुन्दरो यावत्तत्र यातुमुद्यतोऽभूत्तावज्ज्वाला निर्गता । कुमार साहस कृत्वा तत्रागत आवासश्च पातालेऽम्बुधौ गत । चामरधारिणीभ्यां प्रोक्त-तव भीर्नास्ति । सुन्दरोऽवग्-अह न बिभेमि कुतोऽपि । कुमारोऽवग्-का कन्या ? कस्य पुत्री ? चामरधारिण्येका प्राह्-वैताढ्याद्रौ मेघरथोऽथ विद्याभृत्पुत्री परिणयनयोग्याऽभूत्तेन नैमित्तिक पृष्ट तेनोक्त-लक्ष्मीचन्द्रस्य पुत्र सुन्दरकुमार परिणेष्यति । तस्य च परीक्षां कृत्वा दातव्या । ततो जलकान्तमयमावास सगवाक्ष समुद्रमध्ये मुक्त तत्रावाभ्यां युक्ता पुत्रीयं मुक्ता आहारादि च परीक्षार्थं पतितो ज्वालो वह्निमुक्त । उक्त च विद्याभृता-प्रतिदिनं प्रातरावासात् बहिर्निगच्छन्ति स्म । साहसी स्यात्स तत्रागत्य कन्यां परिणेष्यति ।

अत्रान्तरे तत्रैको राक्षसस्तत्रागत्य कन्यां वक्त्रे दधौ । कुमारोऽवग्-मम देह गृहाण इमां कन्यां मुञ्च । सुरोऽवग्-देहि देह स्व । तत कुमारो निजमङ्गं ददौ । तत स प्रकटीभूय प्राह्-तुष्टो वर वृणु । राक्षसोऽवग-अह तव साहस कर्तुमागां । त्वं तु परीक्षायां निश्चलोऽभू राक्षसेन अमोघकारिणी विद्या दत्ता ।

इत कन्यापिता तत्रागात् । तां सुन्दराय ददौ । सुन्दरो निजपितु प्रेषित । आकाशगामिनी विद्या दत्ता । तत सुन्दराय लक्ष्मीदत्तो राज्य दत्त्वा स्वर्गे गत । सुन्दरोऽपि चिर राज्य कृत्वा स्वर्गे गत , ततश्च्युतो मुक्ति गमिष्यति ॥

धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा-पुत्रोदयसम्बन्ध ॥१२३॥

[124] अथ संसारासारतायां वरदत्तश्येनिकाकथा ।

कौशाम्ब्यां महीपालो भूपो महोदयगुरुपार्श्वे धर्म श्रोतुमुपविष्ट, धर्मं कथयता गुरुणा यदा हसित तदा प्रोवाच-भगवन् ! भवता कथ हसित हास्य तु साधूनां न युक्त, गुरुर्ज्ञानी प्राह्-लोकबोधाय । राज्ञा पप्रच्छ-कथ लोकबोध समीलकायाश्च । गुरुराह-भरतखण्डे श्रीपुरे धन्य श्रेष्ठी तस्य सुन्दरी भार्याऽभूत्, सा चान्यपुरुषासक्ताऽभूत्, स चोपपतिश्चन्द्रोऽवग्-सुन्दरि ! अद्यप्रभृति त्वया मम पार्श्वे नागन्तव्य अह त्वत्कान्ताद् भूपाच्च बिभेमि । सुन्दरी प्राह्-भीन कार्या तथा करिष्येऽह यथाऽऽवयोर्भीर्न भविष्यति, भर्तृहननात् ।

अन्यदा तया दुग्धमध्ये विष क्षिप्त्वा हन्तु भर्तुर्वाञ्छति । भर्ता जेमनायोपविष्ट । सा चान्न परिवेष्य दुग्धानयनाय गृहमध्ये गता, तावदहिना दष्टा भर्त्रा औषधानि कृतानि गुणो न जात , भार्या मृता, धन्यो रोदितु लग्न । लोकैरुक्तं पत्न्यां मृतायां कातर एव रौति, न साहसी । तत स स्थित । सा च मृता शार्दूलोऽभूत् । धन्यस्तु सयम गृहीत्वा तपस्तेपे नितरां कायोत्सर्गे स्थितो वने प्राग्भववैराद् व्याघ्रस्तं जघान । ऋषिश्च्युते स्वर्गे जगाम । व्याघ्रस्तु तुर्ये

श्वभ्रे, ततः स्वर्गाद् धन्यजीव. चम्पायां दत्तेभ्यपुत्रो वरदत्ताह्वोऽभूत्, स च पपाठ विद्याः । वैराग्याद् बाल्यादपि सम्यक्त्वं ललौ, दानी विवेकी । सुन्दरीजीवः श्वभ्रान्निर्गत्य भवं भ्रमन् वरदत्तगृहे कासुकादासीपुत्रोऽभूत् वञ्चनशीलः "दासीपुत्रेति" नामाऽभूत्, स च वरदत्तं शत्रुमिव पश्यति प्राग्भववैरात्, पितरि मृते वरदत्तः गृहस्वामी अभूत् स च दासीपुत्रं सोदरमिव मन्यते स्म । (दासीपुत्रो) वरदत्तरञ्जनाय मनो विना धर्मं करोति स्म त धर्मिष्ठं ज्ञात्वा वरदत्तो जगौ-ममाय भ्राता लोकेऽपि भ्रातृत्वेन प्रसिद्धिरभूत् स च क्रमाद्दासीपुत्रो वरदत्तं हत्वा गृहस्वामी स्थातु वाञ्छति, मायया स्व भक्तं ज्ञापयति ।

एकदा शयनावसरे विषलिप्तानि नागवल्लीदलानि वरदत्ताय ददौ । वरदत्तस्तु चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं कृतं स्मृत्वा उच्छीर्षे मुक्त्वा सुप्तः, वरदत्त. प्रातर्नमस्कारपर उत्थाय देवगृहे देवान्नन्तुं ययौ ।

इतो वरदत्तपत्न्या हस्ते चटितानि पत्राणि तया तु आवासाग्रे भाजने मुक्तानि, तानि दासीपुत्रो लात्वा भुक्तवान्, मूर्च्छितो भूमौ पपात, वरदत्तेनोपचाराः कारिता', क्रमान्मृत, स च वरदत्तो भ्रातृमृते दुखी बभूव न सुख शेते भुङ्क्ते । लोकैः शोक उत्तारितः, क्रमादुत्पन्नवैराग्यः वरदत्तो दीक्षां लात्वा विनयतपःपर प्राप्तचतुर्थज्ञान महोदयमुनिरिति नाम दधानोऽत्रागा भव्यबोधाय, स च दासीपुत्र एषा वृक्षस्था श्येनिका पश्चाद्भवपत्नी मे अतोऽस्या दर्शनान्मम हास्यमागत, तदा सा समलिका प्राग्भवान्स्मृत्वा वृक्षादुत्तीर्य गुरुपादयो पतित्वा क्षमितवती स्वभाषया । गुरुणोक्त-प्राग्भवभार्यां दृष्ट्वा हसित, श्येनिकाऽनशन लात्वा स्वर्गं जगाम । राजादयो बहवो लोका जिनधर्मं प्रपेदिरे, क्रोध तत्यजुश्च ततो निजं धनं सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययित्वा चारित्रं गृहीत्वा महोदयमुनिना सम विहारं करोति स्म । राजर्षेरपि चतुर्थं ज्ञानमुत्पन्न, महोदयमृषर्षी क्रमात्स्वर्गं गतौ मुक्ति यास्यतः ।

इति संसारासारतायां वरदत्त-श्येनिकाकथा ॥ १२४ ॥

[125] अथ जिनपूजा-जीवदयायां तापस-जिनदासी-कुणालकथा ।

रोहीतकपुरे रोहीतकस्तापसस्तपति स्म, सर्वथा कृपाधर्मं न वेत्ति, क्रमात्तस्य तेजोलेश्याऽभूत् तपसा ।

एकदा तरुतले तस्थौ, तदा वृक्षशाखोपविष्टा बलाका तस्य शीर्षस्योपरि व्युत्सर्जनं चक्रे, तदा रुष्टेन तेजोलेश्यया ता भस्मसाच्चक्रे ।

अन्यदा स तापसो भिक्षायै भ्रमन् जिनदासगृहेऽगमत्, तदा तस्य पत्नी जिनदासी कृपावती प्रभो. पूजां कुर्वाणा चिर भिक्षां दातुं समागता, यावत्तावत्स रुष्टस्तेजोलेश्यया तां भस्मीकर्त्तुं मुखाद् धूम वमन्नभूत् । तया तेजोलेश्यां मुञ्चमान तं ज्ञात्वा ज्ञानेनोक्तं-भद्र तापस ! नाहं सा बलाकाऽस्मि । एतत् श्रुत्वा स चकितोऽवग्-कथं भो भद्रे ! मया हतां बलाकां वेत्सि ? जिनदासी प्राह—वाराणसीं गच्छ, तत्र कुणाल' अन्तेवासी कथयिष्यति । ततो विशेषाद्विस्मितो वाराणस्यां गत. । यावत्कुणालस्यान्तेवासिनो दृष्टौ पतितस्तापसः तावत्कुणालेन प्रोक्त-भो- भद्र ! जिनदास्या अत्र प्रेषितः संशयच्छिदे, पुनर्विशेषाद्विस्मतोऽसावपि

भवेषु पञ्चसु छागो जातः। यज्ञेषु हुतोऽग्नौ षष्ठभवे चारुदत्तेनानेनानशनं ग्राहितो नमस्कारं श्रावितश्छागः। तन्महिम्ना मृत्वा छागः स्वर्गं गतः। स प्राह देवो ज्ञानेन स्वगुरुं चारुदत्तं मत्वाऽऽगतः। तेन गुरुं वा पूर्वं चारुदत्तो वन्दितः पश्चात्साधुः। एवं श्रुत्वा चारुदत्तोऽपि दीक्षां जग्राह। ताभ्यां खगाभ्यामपि धर्मः प्रपेदे जैनः, ततश्चारुदत्तः स साधुः स्वर्गं गतो क्रमान्मुक्तिं गमिष्यतः। सुलसा-याज्ञवल्क्यौ संसारं बहु भ्रमतुः पापात्॥

इति जीवदयायां चारुदत्तकथा ॥ १२७ ॥

[128] अथ शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा।

माहडकग्रामे चन्द्रश्रेष्ठी धनी तस्य पञ्च पुत्राश्चत्वारो विस्तरेण परिणायिताः। पञ्चमं पुत्रं वैवलाह्व परिणयनयोग्यं श्रुत्वा चन्द्रपुरात् धनो महेभ्यो विवाहं मेलितुं (मेलयितुं) स्वपुत्र्या-चम्पावत्या तत्र समागात्। यावच्चन्द्रश्रेष्ठी पुत्रस्य विवाहं मेलयति तावत्पुत्रः प्राह-अहं व्रतं ग्रहीष्यामि। एवं श्रुत्वा धनः खिन्नो यावत्पश्चाच्चलति तावद्देवेनोक्तम्-अस्य गृहे श्रीमालज्ञातीय आसधीरकर्मकरोऽस्ति स च कल्हरीं कृत्वा शिखरं दधानोऽस्ति, सांप्रतं तस्मै स्वपुत्री देया तस्मै किं दीयते? यदा श्रेष्ठी तस्य संमुखं विलोकयति तावदन्येनोक्तं-कल्हरी-निषण्णो असौ शिखरं दधानोऽस्ति। सा च कल्हरी शिखरयुता चिरं नन्दिष्यति। एवं श्रुत्वा धनेभ्यस्तस्य विवाहं मेलयित्वा गृहे आगतः यदा तदा पत्नी रुष्टा, पुत्रा रुष्टाः प्रोचुरेवं-किं कृतं कर्मकराय पुत्री दत्ता। धनोऽवग्-शकुनान् वर्यान् श्रुत्वा दत्ता पुत्री एतं सर्वेषु स्वजनेषु रुष्टेष्वपि तस्मै स्वां पुत्रीं ददौ। क्रमात्सप्तकोटिहेमस्वामी बभूव। तेनानेके प्रासादाः कारिताः। शत्रुञ्जयादिषु यात्रा कृता सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं बहु व्ययितम्॥

इति शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा ॥ १२८ ॥

[129] अथ जीवदयायां स्तेनद्वयकथा।

कर्णपुरे धर्मराजो राज्यं करोति स्म। एकदा कस्यचिदिभ्यस्य गृहे चौरद्वयं प्रविष्टं सन् धृतं। राज्ञोक्तं-भो चौरौ! स्तैन्यं न क्रियते। परत्र दुःखप्राप्तेरिहापि शूलादिदुःखप्राप्तेः। लोकैरुक्तं-एतौ पापिनौ हन्येते। राज्ञोक्तं-पेटामध्ये प्रक्षिप्य नद्यां प्रवाह्येते। ततो निश्छिद्र-पेटायां स्तेनद्वयं क्षिप्त्वा नद्यां प्रवाहितं। पेटा गच्छन्ती जले षष्ठे दिने श्रीपुरे लोकैः कर्षिता, उत्पाटिता नृद्वयं दृष्टं। तत्र पृष्टं लोकैः राज्ञा च-युवां केन पेटायां क्षिप्तौ? ताभ्यां प्रोक्तं-धर्मराज्ञा आवयोः चौर्यदोषेण पेटायां क्षिप्तौ वाहितौ च। राज्ञोक्तं-भवतोः पेटामध्यस्थयोः कियन्तो दिना जाताः? एकेनोक्तं इदं षष्ठं दिनं। राज्ञोक्तं-कथं दिना ज्ञातास्त्वया? सोऽवग्-मम तृतीयो ज्वरश्चटति। यस्मिन् दिने ज्वरश्चटितः तत एकवारं विचाले ज्वरश्च-टितः कल्ये च चटिष्यति।, ततो राज्ञा सन्मान्य चौर्यं त्याजयित्वा स्वसेवकौ कृतौ। ग्रामाः दत्ताः। तौ चौर्यं त्यक्त्वा सुखिनौ जातौ, क्रमात्स्वर्गं गतौ।

इति जीवदयायां स्तेनद्वयकथा ॥१२९॥

[130] अथ बुद्धौ सूत्रधारकथा।

भोजपुरे सूत्रधारो भूमिगृहे राज्ञा क्षिप्तः, ततः कियद्दिनानन्तरं पृष्टो भूपेन—तव कियन्तो दिना जाताः ? स प्राह-दिनत्रयं। राज्ञोक्तं—कथ तत्र रविप्रकाशं विना वासरः ज्ञातः ? सोऽवग्-अहं दिवान्धोऽभूवं, रात्रौ तु पश्यामि, तेन दिनास्त्रयो ज्ञाताः। स च परिधापितो राज्ञाः। इति बुद्धौ सूत्रधारकथा ॥१३०॥

[131] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा।

कलिपुरे भीमभूपो धनमिभ्यं दण्डयितुकामः प्राह-यस्त्वया प्रासादः कारयितुमारब्धोऽस्ति, तस्य प्रथम शिखरं कार्यं, पश्चादधस्थले बन्धः, नो चेद्दण्डयिष्यसे त्वं। ततः स सचिन्तः पुत्र्योक्तः-तात ! किं दुःखं तव ? इभ्येन भूपोक्ते प्रोक्ते पुत्री प्राह-तथा करिष्ये यथा राजा न दण्डयिष्यति।

तत इभ्यपुत्री मौक्तिकानि सेतिनकामितानि लात्वा राजगृहे गत्वा भूपाग्रे प्राह-मौक्तिकानि लभ्यन्ते समर्थानि। गृह्यन्तां। राजाऽवग्—कथं लभ्यन्ते ? साऽवग्—स्पर्द्धकेन मानक दास्यते। ततो राजा मानकमानीय मानकं भर्त्तुं लग्नः। तदेभ्यपुत्र्यवग्-प्रथमं शिखा क्रियतां, पश्चादधस्ताच्च। राजा प्राहैव कथ भवति ? पुत्री प्राह—तर्हि प्रासादशिखरं प्रथम किमु भवति ? ततो राज्ञा हारितं, सा च सन्मानिता, सा च परिणीता राज्ञा श्रेष्ठिनो बहु ग्रामा दत्ताः। ततः प्रासादो निष्पन्नः, बिम्बं स्थापितम्।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा ॥ १३१ ॥

[132] अथ सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः।

श्रीपुरे पद्मश्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी संभवश्चन्द्रकुमारोऽजनि, स च विज्ञोऽभूत्। क्रमान्नटविटखुण्टकैः सार्द्धं तिष्ठन् चौर्यं कर्त्तुं लग्नः, ततो लोकगृहे प्रविश्य धन हरते रात्रौ।

इतो लोका रावं कुर्वन्ति, ततो राज्ञा धृत. एकवार मोचित., द्वितीयवारं लोकैर्मोचितः, उक्त च—अद्यप्रभृति चौर्यं न कार्यं। सोऽवग्-स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृत.। शूलायां क्षेप्यमाण त राजाऽवग्—मम देश त्यज। सोऽवग्—स्तैन्य न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृत। राजाऽवग्-मम देश त्यज। सोऽवग्—मुच्यतां मां, भूपोक्तं करिष्यते मया। ततो निर्गतो मार्गे गच्छन् दध्यौ,-अद्य कस्य गृहे चौर्यं करिष्ये। तदाऽकस्मात्सरस्यां नभसः सिद्धपुरुष उत्तीर्णः। पादुके उत्तार्य स्नान कर्त्तुं लग्नः, ततः स स्तेनो दध्यौ। यस्मिन् दिने चौर्यं न क्रियते तस्मिन्दिने धान्यं न जीर्यति। अद्य पादुके इमे मम देवेन दत्ते। अतः इमे ग्रहीष्यते। ततस्ते पादुके परिधाय व्योम्नि उत्पपात। पश्चादेत्य स्वपुरे लोकेषु पश्यत्सु स्तैन्यं चकार। केनापि धर्तुं न शक्यते। राजादयो विलक्षा अभूवन्। लोकै रावः क्रियते पित्रादिस्वजनगृहेष्वपि प्रविश्य चौर्यं करोति स्म। यदा न धर्त्तुं

चाण्डाल: कथमेतज्जानाति ? ततस्त पप्रच्छ तापस: भो भद्र ! सा जिनदासी त्वं च मच्चेष्टितं कथं वेत्थ ? तयोश्च प्रभो: पूजां कुर्वतो जीवन्त्या पालयतोरवधिज्ञानं जातमस्ति तेन ज्ञायते । त्वं तु कुष्टे तपो जीवदयारहितं तेनानया तेजोलेश्यया नरके गमिष्यसि । तत पश्चात्ताप परम् तापस प्राह—सा बलाका मृत्वा कुत्रोत्पन्नास्ति यत्तस्यां क्षमयिष्यामि । कुणालोऽवग्—सा बलाका प्रमदवन शुका जाताऽभूत् तथा मुनिवच: श्रुत्वा जिनालये कणिनै प्रभो पूजा कृता तेन पुण्येन पद्मपुरे धनश्रेष्ठिन्य पत्नी धनवत्याह्वा जाताऽस्ति साम्प्रतमेतत् श्रुत्वा तत्र गत्वा तस्या: पादयो पतित्वा तापस: प्राह—क्षमस्व पुण्यवति ? मयि कृपां कृत्वा, साऽवग–क्व मम त्वया स”ापराधोऽभूत् ? तापसाऽवग्—मया तव बलाकाभवे त्वं मया हता । साऽवग्–एतत् त्वया कथं ज्ञातं ? सोऽवग्–जिनदासी-कुणालमातङ्गमुखात् । ततस्तस्या अपि जातिस्मृतिरभूत् तापसस्यापि च ततस्ताभ्यां मिथ: क्षमितं । ततस्तापसो जैनीं दीक्षां आत्तोग्र तप कृत्वा सिद्ध: । जिनदासी-कुणालौ सिद्धौ, बलाकाजीव: धनवती धर्मं कृत्वा स्वर्गं गता ।

इति जिनपूजा–जीवदयायां तापस जिनदासी-कुणालकथा ॥ १२५ ॥

[126] अथ कूटजल्पने कथा ।

मानाद्वा क्रोधाद्वा, लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
योऽन्यायमन्यथा ब्रूते, स याति नरकं नर ॥१॥

तथाहि—वने तित्तिरश्चुण्यय गतो यदा, तदा तित्तिरस्याश्रये शशक: समेत्य स्थित: । तित्तिर आगत्यावग्—ममायमाश्रय कथं त्वमत्र स्थित ? शशकोऽवग्–मदीयोऽयं । मिथो विवादे जाते एक पुमान् प्राह—गङ्गातटे गच्छेतां तत्र केदारकङ्कणौ दधानो हस्तयोधर्ममूर्त्ति मार्जारोऽस्ति स भवतोर्विवाद स्फेटयिष्यति । ततस्तत्र गतौ स्व स्व सम्बन्ध जजल्पतु । तेनोक्तम्—अग्रे तिष्ठतां युवाम् विवादो भज्यते । ततो यदा तौ अग्रतस्तस्थतु: तदा द्वावपि कूटजल्पकौ । इति प्रोच्य क्षुधातुरो मार्जार: केदारकङ्कणभृत् एकेनाङ्घ्रिणा तित्तिर, द्वितीयेन शशक हत्वा तृप्तोऽभूत् ततो मृत्वा नरके गत मार्जार ।

इति कूटजल्पने कथा ॥ १२६ ॥

[127] अथ जीवदयायां चारुदत्तकथा ।

चम्पायां भानुश्रेष्ठिसुभद्रयो पुत्रश्चारुदत्त शास्त्राण्यपाठीत् । अन्येद्युर्वने वैताढ्यवासिन खगममितवेगाह्वं चारुदत्तो दृष्ट्वा । ततोऽग्रतो यावद् गत्वा विलोकयति तावत्कीलित स खगं दृष्ट्वा भ्रमी तदा तदसिकोशमध्ये विशल्यामोषधीमद्राक्षीत् । ततस्तदोषध घर्षयित्वा यावन्निगडे दत्त तावत्स मुक्तोऽभूत्, प्राह च—अहं वैरिणा खगेन कीलिता, मोचित ततोऽहमपि तवोपकार करिष्ये । एवं प्रोच्य स विद्याभृत् स्वस्थानके गत: । ततश्चारुदत्त: परिणीत मपि मातुलकन्यायां मुखमपि न वीक्षते । गणिकागृहे मातापितृभ्यां तत्कला: शिक्षितु मुक्त । मात्रा धनं प्रेषितं द्वादशवर्षाणि तत्रास्थात् । स क्रमाद्धनागमात् वेश्यया कर्षितो यावद्गृहे गतस्तावद्–

गृहं पतितं दृष्ट्वा मातृपित्रोः स्वर्गगमनं च पत्न्याः पितृगृहे गमने (नं) च ज्ञात्वा चारुदत्तो दुःख्यभूत् । ततः श्वशुरगृहे गतः । तत. श्वशुरधनं लात्वा भीमपुरे व्यवसायार्थं गत' । तत्र धाट्या हृतं धनं । ततस्ततो निर्गतो मार्गे स एक योगिनं ददर्श । योगी जगौ मम सार्थे आगच्छ, मम कथितं कुरु तदा तव दारिद्र्यं स्फेटयामि । ततस्तेन सहाचालीत् । तेन योगिना मञ्चिकारूढो रसकूपिकायां मुक्तः, रसेन कुम्भो भृत' । क्रमात्स्वर्णरसकुम्भ स्वहस्ते नीत्वाऽधो मुक्तः । योगी त रसकुम्भ लात्वा नष्टः । ततो दिनत्रयक्षुधितो गोधापुच्छयोगेन कष्टात्ततो निर्ययौ । ततो मार्गे गजो मिलितस्ततोऽपि नष्ट' । अग्रे गच्छतस्तस्य मातुलपुत्रो रुद्रदत्तो मिलित । द्वावपि चलितौ, मार्गे रुद्रदत्तोऽवग्—मेषद्वयं गृह्यते, स्वर्णद्वीपे गम्यते, ततः स्वर्णमानेष्यते । ततो मेषद्वयं गृहीतं समुद्रतटे गतौ । रुद्रदत्त प्राह—मेषाविमौ हत्वाऽनयोर्भस्त्रिकामध्ये गृहीतक्षुरिकाभ्यां प्रविश्यते । ततो भारण्डा मांसवुद्ध्योत्पाट्य हेमद्वीपे नयन्ति । तत्रस्थं हेममानेष्यते । चारुदत्तोऽवग्—जीववधः पापहेतुः कथं क्रियते ? ततो रुद्रेण एको मेषो हतः । ततो यावद्द्वितीयं हन्ति तावच्चारुदत्तेन नमस्कार श्रावितो मेषोऽनशनं ग्राहितश्च ततः सोऽपि रुद्रेण हत । ततो द्वावपि तयोर्भस्त्रिकयो प्रविष्टौ । भारण्डाभ्यामुत्पाटिते भस्त्रिके मार्गे चारुदत्तभस्त्रिका भारण्डमुखात्पपात सरसि । ततो निर्गतः स स्थाने स्थाने भ्रमन् ध्यानलीनं साधुं भक्त्याऽनंसीत् । त दृष्ट्वा साधुना धर्मलाभो ददे, धर्म. प्रोक्तश्च । चारुदत्तोऽवग्-त्वया कथं चारित्र गृहीतं ? साधुः प्राह—येन त्वया यः खग कीलितो मोचित सोऽहममितगति (वेग) विद्याभृत् इत्यादि, यावद्वार्त्तां कुरुतो द्वौ तावद्विमानारूढौ साधुसुतौ खगौ पितुर्नन्तुं तत्रागतौ ।

इतश्चैको देवोऽभ्येत्य चारुदत्तं नत्वा साधुं ववन्दे । विद्याभृद्भ्यां पृष्टं भो देव ! त्व तु विबुधः, साधुं मुक्त्वा पूर्वं गृहस्थ' कथं वन्दितस्त्वया । ततो देवोऽवग्-मयका गुरुः प्रथमं वन्दितः । ताभ्यामुक्तं तेऽसौ गुरुः कथं ? देवोऽवग्-वाराणस्यां सुलसा-सुभद्रातापस्यौ विद्याबलगर्विते वसतः स्म ।

अथ तत्र याज्ञवल्क्यः परिव्राट् समागात्, तेन सुलसा जिता दासीकृता, क्रमात्तयोः पुत्रोऽभूत् । लोकापवादभिया पिप्पलवृक्षस्याधो मुक्त्वा देशान्तरे गतौ । सुभद्रया प्रातस्ता स्वसखीमदृष्ट्वा पिप्पलवृक्षाधःमुखपतितपिप्पलफलं बाल दृष्ट्वा दध्यौ-मम सख्या पुत्रो जनितो लोकापवादभिया त्यक्त. ।

ततो लोकाग्रे जगौ-मम गङ्गया बालको दत्तः, इति वदन्ती तं बालकं वर्द्धयामास सा सुभद्रा । विद्यां ग्राहितः । स चानेकान् विद्याविदो वादेनाजैषीत् ।

अन्यदा पिप्पलाद वादिन श्रुत्वा याज्ञवल्क्यः सुलसायुतः तत्रागाव । वाराणस्या पिप्पलादेन याज्ञवल्क्यो जितो दासः कृत. । तदा सुभद्रापार्श्वे स्व पुत्र सुलसा ज्ञात्वा पिप्पलादं प्रत्यवग् भो पुत्र ! स्वपितुरवज्ञां मा कुरु । ततस्तया तस्य व्यतिकर प्रोक्त' ।

ततोऽन्यदा पिप्पलादो दध्यौ-अग्नौ हुत सर्वं स्वर्गं याति, मम मातापितरौ स्वर्गं नेष्ये, ततोऽश्वमेध-पितृमेधमातृमेधमुखान् यागान् कृत्वा मातापितरौजुहोति स्माग्नौ स । त तथाविध शास्त्राणि बहून् द्विजान् पाठयामास । तथाविधपापशास्त्रं प्ररूप्य श्वभ्र पञ्चम गतः पिप्पलाद. । ततो निर्गतो

भवेषु पञ्चसु छागो जातः। यज्ञेषु हुतोऽग्नौ षष्ठभवे चारुदत्तेनानेनानशनं ग्राहितो नमस्कारं श्रावितश्छागः। तन्महिम्ना मृत्वा छागः स्वर्गं गतः। स चाह देवो ज्ञानेन स्वगुरुं चारुदत्तं मत्वाऽऽगात्। तेन गुरुत्वात्पूर्वं चारुदत्तो वन्दितः पश्चात्साधुः। एवं श्रुत्वा चारुदत्तोऽपि दीक्षां जग्राह। ताभ्यां खगाभ्यामपि धर्मं प्रपेदे जैनं, तदञ्चारुदत्त स साधु स्वर्गं गतौ क्रमान्मुक्तिं गमिष्यतः। सुलसा-याज्ञवल्क्यौ संसारं बहु भ्रेमतुः पापात् ॥

इति जीवदयायां चारुदत्तकथा ॥ १२७ ॥

[128] अथ शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा।

माहडकग्रामे चन्द्रश्रेष्ठी धनी तस्य पञ्च पुत्राश्चत्वारो विस्तरेण परिणायिताः। पञ्चमं पुत्रं देवलाह्वं परिणयनयोग्यं श्रुत्वा चन्द्रपुरात् धनो महेभ्यो विवाहं मेलितुं (मेळयितुं) स्वपुत्र्या चम्पावत्या तत्र समागात्। यावच्चन्द्रः श्रेष्ठी पुत्रस्य विवाहं मेळयति तावत्पुत्रः प्राह-अहं व्रतं ग्रहीष्यामि। एवं श्रुत्वा धनः खिन्नो यावत्प्रचलति तावद्देवेनोक्तम्-अस्य गृहे श्रीमालज्ञातीयः आसधीरः कर्मकरोऽस्ति, स च कल्हरीं कृत्वा शिखरं ददानोऽस्ति, सांप्रतं तस्मै स्वपुत्री देया तस्मै किं दीयते ? यदा श्रेष्ठी तस्य संमुखं विलोकयति तावदन्येनोक्तं-कल्हरीनिष्पन्ना असौ शिखरं ददानोऽस्ति। सा च कल्हरी शिखरयुता चिरं नन्दिष्यति। एवं श्रुत्वा धनेभ्यस्तस्य विवाहं मेळयित्वा गृहे आगतः यदा तदा पत्नी रुष्टा, पुत्रा रुष्टाः प्रोचुरेवं-किं कृतं कर्मकराय पुत्री दत्ता। धनोऽवग्-शकुनान् श्रवणान् श्रुत्वा दत्ता पुत्री ततः सर्वेषु स्वजनेषु रुष्टेष्वपि तस्मै स्वां पुत्रीं ददौ। क्रमात्सप्तकोटिहेमस्वामी बभूव। तेनानेके प्रासादाः कारिताः शत्रुञ्जयादिषु यात्राः कृताः सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं बहु व्ययितम् ॥

इति शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा ॥ १२८ ॥

[129] अथ जीवदयायां स्तेनद्वयकथा।

कणपुरे धर्मराजा राज्यं करोति स्म। एकदा कस्यचिदिभ्यस्य गृहे चौरद्वयं प्रविष्टं सन् धृतं। राज्ञोक्तं-भो चौरौ ! स्तैन्यं न क्रियते। परत्र दुःखप्राप्तेरिहापि शूलादिदुःखप्राप्तेः। लोकैरुक्तं-एतौ पापिनौ हन्येते। राज्ञोक्तं-पेटामध्ये प्रक्षिप्य नद्यां प्रवाह्येते। ततो निश्छिद्रपेटायां स्तेनद्वयं क्षिप्त्वा नद्यां प्रवाहितं। पेटा गच्छन्ती जले षष्ठे दिने श्रीपुरे लोकैः कर्षिता, उत्पाटिता नृद्वयं दृष्टं। तत्र भूपः लोकैः राज्ञा च-युवां केन पेटायां क्षिप्तौ ? ताभ्यां प्रोक्तं-धर्मराज्ञा आवयोः चौर्यदोषेण पेटायां क्षिप्तौ वाहितौ च। राज्ञोक्तं-भवतोः पेटामध्यस्थयोः कियन्तो दिना जाताः ? एकेनोक्तं इदं षष्ठं दिनं। राज्ञोक्तं-कथं दिना ज्ञातास्त्वया ? सोऽवग्-मम तृतीयो ज्वरश्चटति। यस्मिन् दिने ज्वरश्चटितः तत एकवारं विचाले ज्वरश्चटितः कल्ये च चटिष्यति। ततो राज्ञा सन्मान्य चौर्यं त्याजयित्वा स्वसेवकौ कृतौ। ग्रामा दत्ताः। तौ चौर्यं त्यक्त्वा सुखिनौ जातौ, क्रमात्स्वर्गं गतौ।

इति जीवदयायां स्तेनद्वयकथा ॥१२९॥

[130] अथ बुद्धौ सूत्रधारकथा।

भोजपुरे सूत्रधारो भूमिगृहे राज्ञा क्षिप्तः, ततः कियद्दिनानन्तरं पृष्टो भूपेन—तव कियन्तो दिना जाताः ? स प्राह-दिनत्रयं। राज्ञोक्तं—कथं तत्र रविप्रकाशं विना वासरः ज्ञातः ? सोऽवग्-अहं दिवान्धोऽभूवं, रात्रौ तु पश्यामि, तेन दिनास्त्रयो ज्ञाताः। स च परिधापितो राज्ञा। इति बुद्धौ सूत्रधारकथा ॥१३०॥

[131] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा।

कलिपुरे भीमभूपो धनमिभ्यं दण्डयितुकामः प्राह-यस्त्वया प्रासादः कारयितुमारब्धोऽस्ति, तस्य प्रथमं शिखरं कार्यं पश्चादधस्थले बन्धः, नो चेद्दण्डयिष्यसे त्वं। ततः स सचिन्तः पुत्र्योक्तः-तात ! किं दुःखं तव ? इभ्येन भूपोक्ते प्रोक्ते पुत्री प्राह-तथा करिष्ये यथा राजा न दण्डयिष्यति।

तत इभ्यपुत्री मौक्तिकानि सेतिनकामितानि लात्वा राजगृहे गत्वा भूपाग्रे प्राह-मौक्तिकानि लभ्यन्ते समर्थानि। गृह्यन्तां। राजाऽवग्—कथं लभ्यन्ते ? साऽवग्—स्पर्द्धकेन मानकं दास्यते। ततो राजा मानकमानीय मानकं भर्त्तुं लग्नः। तदेभ्यपुत्र्यवग्-प्रथमं शिखा क्रियतां, पश्चादधस्ताच्च। राजा प्राहैवं कथं भवति ? पुत्री प्राह—तर्हि प्रासादशिखरं प्रथमं किमु भवति ? ततो राज्ञा हारितं, सा च सन्मानिता, सा च परिणीता राज्ञा श्रेष्ठिनो बहु ग्रामा दत्ताः। ततः प्रासादो निष्पन्नः, बिम्बं स्थापितम्।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा ॥ १३१ ॥

[132] अथ सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः।

श्रीपुरे पद्मश्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी संभवश्चन्द्रकुमारोऽजनि, स च विज्ञोऽभूत्। क्रमान्नटविटखुण्टकैः सार्द्धं तिष्ठन् चौर्यं कर्त्तुं लग्नः, ततो लोकगृहे प्रविश्य धनं हरते रात्रौ।

इतो लोका रावं कुर्वन्ति, ततो राज्ञा धृतः, एकवारं मोचितः, द्वितीयवारं लोकैर्मोचितः, उक्तं च—अद्यप्रभृति चौर्यं न कार्यं। सोऽवग्-स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। शूलाया क्षेप्यमाणं तं राजाऽवग्—मम देशं त्यज। सोऽवग्—स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। राजाऽवग्-मम देशं त्यज। सोऽवग्—मुच्यतां मा, भूपोक्तं करिष्यते मया। ततो निर्गतो मार्गे गच्छन् दध्यौ,-अद्य कस्य गृहे चौर्यं करिष्ये। तदाऽकस्मात्सरस्यां नभसः सिद्धपुरुषः उत्तीर्णः। पादुके उत्तार्य स्नानं कर्त्तुं लग्नः, ततः स स्तेनो दध्यौ। यस्मिन् दिने चौर्यं न क्रियते तस्मिन्दिने धान्यं न जीर्यति। अद्य पादुके इमे मम देवेन दत्ते। अतः इमे ग्रहीष्यते। ततस्ते पादुके परिधाय व्योम्नि उत्पपात। पश्चादेत्य स्वपुरे लोकेषु पश्यत्सु स्तैन्यं चकार। केनापि धर्त्तुं न शक्यते। राजादयो विलक्षा अभूवन्। लोकैः रावः क्रियते पित्रादिस्वजनगृहेष्वपि प्रविश्य चौर्यं करोति स्म। यदा न धर्त्तुं

केनापि शक्यते तदा राजाऽवग्—सप्तदिनमध्ये चौरो धार्यो मया । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा राजा निर्गतः । षट् दिना गता, सप्तमदिने प्रथमं देवकुले गत्वा देव्या आभरणानि दृष्ट्वा दध्यौ राजाऽत्रायाति चौरः ततो राजा छन्नः स्थितो यावत् तावत् स स्तेनोऽभ्येत्य पादुके उत्तार्य देवीं नत्वा जगाद यदि मम बहुधनमद्य घटिष्यति तदा तव विशिष्टपूजां करिष्येऽहं । एवं प्रान्त्य यावत्स्तेनः पादुके परिधत्ते तावदेका पादुका राज्ञा गृहीता, द्वितीया चौरेण । नष्टश्चौरः पृष्टौ बाह्यरा धाविता । एकां पादुकां परिधाय क्वचित्व्योम्नि क्वचिद्भूमौ चचाल अग्रे गच्छन् बाह्यरामागच्छन्तीं दृष्ट्वा पृष्टो अग्रे यतिं कायोत्सर्गस्थं दृष्ट्वा नत्वा सामायिकफलं पप्रच्छ । ततः सामायिकपुण्ये फलं ज्ञात्वा सामायिकं लात्वा तत्रस्थो यावत् स्वकर्म निनिन्द तदा केवलज्ञानमभूत्तस्य । देवै रजोहरणदानादिमहश्चक्रे । राजाऽपि तत्रागतश्चौरमुत्पन्नकेवलज्ञानं दृष्ट्वा जाताश्चर्यो नत्वा यतिं पप्रच्छ तव कथमेतदन्यायकारकस्य ज्ञानम् ? तेनोक्तं-सामायिकफलं ।

यतः — प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रं, तपसा जन्मकोटिभिः ॥१॥

ततोऽनेकैः सामायिकफलं ज्ञात्वा सामायिकप्रतिक्रमणादि क्रियते । द्वितीया पादुका राज्ञोऽभूत् ततो राजा पादुकाद्वयं परिधाय बहुषु तीर्थेषु गत्वा देवान् नमस्करोति स्म । प्रतिदिनं सप्ताष्ट सामायिकानि लाति । क्रमात्स्वर्गं गतो, मुक्तिं यास्यति ।

इति सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः ॥१३२॥

[133] अथ छलजल्पने कमलकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमकुटुम्बिकोऽन्यदा कमलं प्रति प्राह—यः शीतेऽतीव पतति निरावरणः, सरसीमध्यस्थस्तपति दीपके तस्मै अहं दीनारपञ्चकं ददामि । स कमलस्तथा स्थितः, रात्रौ दीपकं दृष्ट्वा तप्तः । प्रातः पृष्टः-त्वया कथं स्थितः ? सोऽवग्—यद्दृमहेभ्यगृहस्योपरि दीपिकां दृष्ट्वा तप्तः । ततः पञ्चदीनारान् जिगाय ॥१२३॥

इति छलजल्पने कमलकथा ॥ १३३ ॥

[134] अथ परोपकारे श्रेष्ठिपुत्रवैद्यसम्बन्धः ।

श्रीपुरे धन्वन्तरिवैद्योऽनेकैरौषधैर्लोकानां रोगं फेटयन् बहुधनं गृह्णाति सञ्चयति च । तस्यापणे बहवो वणिक्पुत्रा वैद्यकलां शिक्षितुं तिष्ठन्ति स्म । ये विद्यायां कुशलिनो भवन्ति ते औषधदानाद् हन्यन्ते । तेन एकस्य वणिजश्चत्वारः पुत्राः तद्विद्याकुशला जाताः । ते सन्तः औषधदानान्मृताः । पञ्चमं पुत्रं माता यदा तदापणे न मुञ्चति तदा पुत्रो मातरं प्रति जगौ—मां तत्र विद्याशिक्षणाय मुञ्च । अहं तथा करिष्ये यथा मां न हनिष्यति । ततः स वैद्यापणे गतः । वैद्यस्याग्रे प्राह—अहं वैद्यकविद्यां न जानामि मुग्धोऽस्मि, यत्र वस्त्रानयनादिक्रिया

कारयिष्यसि तदहं करिष्ये । ततस्तेन स्वगृहे स्थापितः । ततः स मुग्धो भूत्वा सर्वेषामौषधानामाम्नायं जज्ञौ । परं स्वं तज्ज्ञं न ज्ञापयति ।

इतस्तस्मिन्पुरे एकस्य कस्यचित्स्नानं कुर्वतः कर्णरन्ध्रे सूक्ष्मा भेकी प्रविष्टा । वेदना जाता, न निर्गच्छति, ततस्तेन वैद्यस्य कर्णरन्ध्रं दर्शितं । ततः स यदा तप्तसूचिकां कृत्वा कर्णरन्ध्रे क्षेप्तुं लग्नः, तदा स वणिक्पुत्रो जगौ—एवं कृते द्वयोर्मरणं भविष्यति, तथा कुरु यथा द्वयोर्जीवितव्यं भविष्यति । यदास्य कर्णरन्ध्रे वारिभृतं वर्त्तोलकं मुच्यते तदा भेकी स्वयमेव निर्गच्छति । तथाकृते भेकी स्वयं निर्गता । ततः श्रेष्ठिना स वणिक्पुत्रो मानितः, वैद्यो न मानितः । हसितश्च । ततो रुष्टो वैद्यो दध्यौ—अयं मुग्धो भूत्वा मदीयां विद्यां मत्तोऽधिकं शिक्षितवान् । अतस्तथा करिष्ये यथा मरिष्यत्यसौ । ततः स श्रेष्ठिपुत्रो लब्धविद्यो नष्टः, ततो यत्र गच्छति तत्र तत्र शकुनबलाद्याति । तदा सोऽपि शकुनबलात्तमागच्छन्तं ज्ञात्वा नश्यति । एवं तयोः सदा कुर्वतोर्बहवो दिना याताः, श्रेष्ठिपुत्रो दध्यौ ममाथ वैद्यो गुरुस्थाने तेन हन्यते कथं मया तदेति ध्यात्वा गुहायां प्रविष्टः । अग्रे मृत्तिकया व्याघ्ररूपं सजीवमौषधेन कृत्वा मुमोच । वैद्यस्तत्रागतो व्याघ्रं दृष्ट्वा दध्यौ, स च गुहायां विद्यते, व्याघ्रः स्वयमेव हनिष्यति । ततो वैद्ये गते स श्रेष्ठिपुत्रस्तस्मान्निर्गत्य स्वमातुःपार्श्वे समेत्य स्वजीवनसम्बन्धं प्रोच्याऽन्यत्र ग्रामे गत्वाऽन्येषां लोकानामुपकारं चक्रे ।

इति परोपकारे श्रेष्ठिपुत्र—वैद्यसम्बन्धः ॥१३४॥

[135] हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥

कमलपुर्यां सोममेदिनीशः स्वर्णं सिद्धि कारकारं अलब्धहेमसिद्धि खिन्नः सन् पुरद्वारे लेखयामास—

ऐदंयुगीनकाले रै-सिद्धिर्नैव लभ्यते ।
तेन तद्विषये कार्यः, पुंसा नोपक्रमः क्वचित् ॥ १ ॥

ततस्तं श्लोकं दर्शं दर्शं कोऽपि स्वर्णसिद्धिविषये उपक्रमं न चक्रे । इत एकः पुमान् गृहे गृहे भिक्षां याचमानो वेश्यागृहे गतः । तदा वेश्या सेरप्रमाणं हेम ददौ । स च ततो निर्गत्य दध्यौ—स्वर्णसिद्धिं विना नैव केनापि दानं दीयते । पृष्टा सती तु न सम्यक्कथयिष्यति । अतो मायां तथा कुर्वे यथाऽस्याः समीपात्स्वर्णसिद्धिं ज्ञास्यामि । ततः स द्विजवेषधरो भ्रमन् वेश्यागृहद्वारे गतः जगौ च मम पुत्रो मृतो निराधारोऽन्धोऽस्मि । यः कोऽपि धान्येन मां रक्षसि तस्य गृहे स्थितो द्वाररक्षां करोमि । द्विजजीवितदाने पुण्यमपि भवति । ततो वेश्यया धान्येन स्वगृहे स्थापितः । सा वेश्या सप्तौषधान्यानीय सप्त दिनानि मर्दयित्वा तच्चूर्णेन दीपिकां करोति । यत्र तस्या धूम्रो लगति तद्धेम भवति । स च विप्रः सर्वं पश्यति । पुनर्न ज्ञापयति ।

एकदा वेश्या तस्मै चूर्णं वर्त्तयितुमर्पयन्ती दध्यौ—कदाचिदनेन माया मण्डिता भविष्यति, तदा सर्वं ज्ञास्यति । ततस्तस्य जीमितुमुपविष्टस्याभत्रे विष्टा पर्यवेषिता । पार्श्वे स्थिता च । तदा स

दध्यौ यद्यहं विष्टां वदिष्यामि तदा मामन्नं न दास्यति । ततः स हस्तेन कवलं भक्तुं यावत्क्षिपति तावद्वेश्ययोक्त-स्थिरीभव, अजानत्या तव भोजने विष्टा पतिता ततस्तामपसार्य वयमन्नं परिवेषितं । स च बुभुजे । ततः सा निःशङ्कं सर्वौषधानां नामग्रहणं करोति । तस्य वत्सयितुं दत्ते । ततः सम्यग् हेमसिद्धिर्जाता । ततो मिषं कृत्वा ततो निर्गतो द्विजः । अन्यत्र गतश्छन्नं हेम चक्रे । स्वयं भुङ्क्ते, दानं दत्ते क्रमादपरैरपि औषधैरेकेन द्वाभ्यां हेम करोति ।

ततोऽन्यदा भ्रमन् पुरद्वारे गतः स्वर्णसिद्ध्यभावाक्षराणि भूपलिखितानि ज्ञात्वा तेषामक्षराणामपसाराय भूपस्य गृहे महोत्सवे जायमाने दीपधर्षिकनरैः सार्द्धं हेमसेरद्वयं द्वास्थपार्श्वेऽक्षिपत् । राजसभायां रात्रौ गतः । तत्र स्वकृतदीपिकाधूमेन अन्यदीपिकाकरदीपिकाभिः समग्रुद्योतं कुर्वाणो राजसभां हेममयीं कृत्वा राजभवनान्निर्गतः । प्रातर्भूपः सभां हेममयीं दृष्ट्वा चमत्कृतः । पृच्छंपृच्छं द्वास्थपार्श्वेऽभ्यागतं ज्ञात्वा दध्यौ-यस्य स्वर्णसिद्धिर्विद्यते तेनेयं सभा हेममयी कृता । मया प्रपञ्चेन स निष्कासितव्यः । ततो राज्ञा तस्य ज्ञानाय भूमिगृहं कारितं । तन्मध्ये ज्ञातद्वयोस्वर्णकृतं मुक्तासूत्रं च भोजनादि च कारितं हेमसभास्वर्णं तत्र मुक्तं । ते च सर्वे हेममयानि बीजपूर-नालिकेर-लिम्बुकादीनि घटयन्ति । भूमिगृहद्वारपार्श्वस्थचित्रशालायां राजोपविशति । लोका यदा प्राभृतीकुर्वन्ति बीजपूरादीनि तदा राजा छन्नमधो भूमिगृहे मन्त्रिहस्ते मुञ्चति मन्त्री च छन्नं हेममयानि दत्ते । ततो लोके प्रघोषोऽभवत् यद् भूपस्य हस्ते प्राभृतीक्रियते तद्धेम भवति । ततः पुमान् स हस्तहेमसिद्धिं ज्ञात्वा दध्यौ मत्तोऽधिको राजा जातः । अहं तूपक्रमतो हेम करोमि । राजा तु हस्तेन करोति । ततः सोऽपि काष्ठमयानि बीजपूराणि प्राभृतीकृत्य हेममयानि भूपपार्श्वात्प्राप । यदि हस्तसिद्धिरपि मम स्यात्तद्वरं, ततो राज्ञो मिलितः स्वकृतां हेममयीं चित्रशालां ज्ञापयामास । ततो राजाऽवग्-स्वर्णसिद्धिं कथय, ततो मम हस्तौ हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यतः । ततस्तेन हेमसर्वौषधचूर्णकरणादिकथनात् हेमसिद्धिस्तस्मै दर्शिता । ततो राजा भूमिगृहे तं नीत्वा हस्तेन हेममयबीजपूरादिसिद्धिं दर्शयामास । सोऽवग्-राजन् ! हस्तहेमसिद्धिं दर्शय । ततो राजाऽऽचष्ट मयोक्तं ममाय हस्तौ हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यति, तेन तु दर्शिता । ततः स पुमान् अहं धृष्टो भवता वचनच्छलात् । ततो राजा पुरद्वाराक्षराणि दूरीकारितानि तत्रान्यान्यक्षराणीति लेखयामास—

ऐदंयुगीनकालेऽपि कस्यचिन्मनुजस्य तु ।
हेमसिद्धिः समस्त्येव, कार्योऽत्र संशयो नहि ॥ २ ॥

ततो राजा हेमसिद्धिं कारंकारं महादानं ददौ ।

इति हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥ १२५ ॥

[136] अथ धर्मपरीक्षायां लौकिकपार्वतीश्वरकथा ।

एकदा द्वारिकायां कृष्णं नन्तुं लक्षमिता मनुष्याश्चेलुः । अत्रान्तरे पार्वती शम्भोः पुरः प्राह—एते सर्वे जनाः पुण्यवन्तो यात्रां कर्तुं निर्ययुः । ईश्वरोऽवग्—एतेषां द्वित्राः पुण्यवन्तः स्युः । गौरी जगौ-कथमेतद् ज्ञायते ? ईश्वरोऽवग-परीक्षां करिष्ये त्वं गौर्भव, अहं नरो भविष्यामि ।

मया कृत्रिमः कर्दममयो ह्रदः करिष्यते, त्वया पादौ कर्दमे क्षिप्त्वा स्थेयमहं कर्षितुमायास्यामि । ततः पार्वती कर्दमे गोरूपा क्षिप्ता, ईश्वरो मनुष्यरूपस्तां कर्षितुमागात् । प्राह भो यात्रिका ! मनुष्या ! अत्राचिरादागच्छन्तु, एषा गौः पङ्कात्कर्ष्यते, अन्यथा मरिष्यति । कोऽपि नायाति, घसमसाट कुर्वन्त सर्वे यान्ति । पुनरेकोऽत्र नायाति गां कर्षितुमेवं पुनःपुनरीश्वरे जल्पति लोका गच्छन्तो जगुः—तव एषा गौः मनसि आयाति अस्माकं जीवितं रक्षितं विलोक्यते यदि स्थास्यते तदा पश्चाद्व्याघ्रादयो मारयन्ति अस्मान् । ईश्वरोऽवग्-अहं स्थितोऽस्मि, अपरः कोऽपि द्वितीय आगच्छतु तदा एकः क्षणं गां कर्षितुं स्थितः । गौस्तु न निर्गच्छति ततः सोऽपि चलितुं चचाल । ततः स्वयं शम्भुः प्रविष्टो गां कर्षितुं कर्दमे मज्जन् प्राह—एषा गौरहं च कर्दमे प्रविष्टौ निर्गन्तुं न शक्येते अङ्गुलीर्मुखे क्षिपति जल्पति च कोऽपि पुण्यवानस्ति, यो मां गां च कर्षयति, तस्य यात्राधिकं पुण्यं भविष्यति ।

अत्रान्तरे—एकः पुमानपरं पुमांसं प्रति जगौ—आवां यात्रार्थं निर्गतौ पुण्यहेतो, इदमपि पुण्यं जीवरक्षा क्रियते, जीवरक्षासमं पुण्यमन्यत्तु न विद्यते, तेन एतौ कर्ष्येते । अपरोऽवग्—त्वं ग्रथिलोऽभूः, मया स्थातुं न शक्यते । ततः प्रथमः स्थितो गां कर्षितुं यदि एषा निर्गच्छति तदा निर्गच्छतु नो चेन्ममापि प्राणा यान्तु । गवा पुरुषेण च समं कर्दममध्ये प्रविष्टः कर्षितुं लग्नः तदा गौरधोऽधो याति तदा सोऽपि अधोऽधोऽग्रतो याति । ततस्तं पुण्यवन्तमेकं दृष्ट्वा पार्वतीश्वरौ प्रकटीभूय जजल्पतुः । त्वमेवैतेषु लोकेषु पुण्यवान् दृश्यते । ततः प्रसन्नीभूय पार्वतीश्वरौ जजल्पतुः 'तवाक्षीणा श्रीर्भवतु' । ततोऽग्रे गतः, यात्रां कृत्वा गृहे आगतः । तस्य गेहे अक्षीणा श्रीरभूत् ईश्वरस्तां प्राह—लोका बहवो दृश्यन्ते परं पुण्यवन्तः स्तोका एव ।

इति धर्मपरीक्षायां लौकिकपार्वतीश्वरकथा ॥ १३६ ॥

[137] अथ स्तैन्यजनपुण्ये भिल्लकथा ।

श्रीपुराच्चन्द्रपुरं प्रति श्रीधरा आचार्याश्चेलुः मार्गे भिल्लधाटी मिलिता । भिल्लस्वामी सर्वं सार्थं लुण्टयामास । ततः साधून् लुण्टयितुं तत्रागतः प्राह—भो साधवः ! वस्त्राणि मुञ्चथ (त) । तदा गुरवो जगुः—स्तैन्यं न क्रियते, पापहेतुत्वात्, मार्गे कस्यापि धनं नापह्रियते । भिल्लोऽवग्—वस्त्राणि मुञ्चथ (त) नो चेत् हता एव । गुरुः प्राह—त्वं पापं करोषि, सर्वं कुटुम्बं भक्षयिष्यति, श्वभ्रे त्वमेव बहुदुःखस्य भोक्ता भविष्यसि । स्तेनोऽवग्—सर्वं कुटुम्बं विभज्य भोक्ष्यति । गुरुः प्राह—तर्हि पृच्छ कुटुम्बं प्रथमं पश्चाद्वस्त्राणि गृहाण, यावत्त्वमागमिष्यसि तावद्वयं स्थिताः स्म । ततो भिल्लोऽचिरात् स्वकुटुम्बं प्रष्टुं गतः । प्रथमं भार्या पृष्टा—अहं साधूनां वस्त्राणि लास्यामि तस्य पापस्य भागं त्वं ग्रहीष्यसि ? प्रिया प्राह—तवैव पापं भविष्यति । अहं भागं न ग्रहीष्ये । एवं कुटुम्बं पृष्टं कोऽपि पापभागं न गृह्णाति । ततो भिल्लो गुरुपार्श्वेऽभ्येत्यावग्—कुटुम्बं पापं न लाति । गुरवः प्राहुः—'यः कर्त्ता स एव भोक्ष्यते' । ततः स भिल्लः स्तैन्यकरणे नियमं जग्राह । ततोऽभिग्रहं प्रपाल्य भिल्लः स्वर्गे ययौ ।

इति स्तैन्यजनपुण्ये भिल्लकथा ॥१३७॥

[138] अथ गुरुभक्तौ द्रोणाचार्य-भिल्लकथा ।

द्रोणाचार्य पार्श्वे युधिष्ठिरा-र्जुन-भीम-दुर्योधनादयो धनुर्विद्यां शिक्षयामासु । अर्जुनो धनुर्विद्यां शिक्षयन् समग्रां धनुर्विद्यां शिक्षयामास । ततो अर्जुनो गुरुपादौ नत्वा प्राह—भो द्रोणाचार्य ! गुरूत्तम ! यादृशी विद्या मह्यं दत्ता तादृशी नान्यस्मै कस्मैचिद्देया । ततो हृष्टो द्रोणाचार्यो जगौ—तथ एव प्रमाणम् ? एवं सति कालो गच्छति । एको भिल्लो धनुर्विद्यां शिक्षितुकामो द्रोणाचार्यपार्श्वे धनुर्विद्यामर्जुनतुल्यां याचते स्म । गुरुणा न ददे । ततः स वने द्रोणाचार्यमूर्त्तिं मृण्मयीं कृत्वा कुञ्जान्तरे स्थापयित्वा प्रातरुत्थाय गुरुपादौ प्रणम्य भक्त्या प्राह—भो गुरो ! 'प्रसद्य मह्यं धनुर्विद्यां वितर' । एवं प्रति दिनं गुरोर्भक्तिं चक्रे । गुरुरग्रे धनुर्हस्ते लात्वा बाणं तस्मिन् सयोज्य चिन्तितानि पत्राणि विध्यति, तथा भिनत्ति ।

एकदा वने गतोऽर्जुनो वृक्षे तादृक्षि पत्राणि छिद्रितानि दृष्ट्वा दध्यौ—गुरुणा प्रतिज्ञां विस्मृत्य कस्यापि धनुर्विद्या ददे नो चेदेवं कः करोति ! ततोऽर्जुनो गुरुं पप्रच्छ ! भगवन् ! त्वया प्रतिज्ञा छिन्ना, विद्या कस्मै दत्ता ? गुरुः प्राह—मया कस्यापि त्वां मुक्त्वाऽन्यस्मै धनुर्विद्या सम्पूर्णा न दत्ता । ततो द्रोणाचार्यार्जुनौ वने गतौ ताभ्यां दृषण्मयी द्रोणाचार्यप्रतिमा दृष्टा । स च भिल्लः प्रातरेत्य गुरुं नत्वा प्राह—अर्जुनदशधनुर्विद्या मह्यं वितर । एवं प्रोच्य स वृक्षस्थानि पत्राणि भिनत्ति । ततो द्रोणाचार्यपार्थाभ्यां भिल्लश्च पृष्टः—तव को गुरुः ? स प्राह—मम द्रोणाचार्यः । भिल्लेन द्रोणाचार्यप्रतिमा दर्शिता अनयाऽहं शिक्षितो विद्यां भक्त्या किं किं न स्यात् ? ततोऽर्जुनो खिन्नोऽभूत् । ततो गुरुर्भिल्लं प्रति जगौ तव विद्याऽभून्मत्प्रसादात्, मया मार्गितं दास्यते त्वया ? । सोऽवग्—इदं शरीरं तवैव, यदि रोचते तद्याचनीयम् । ततो गुरुणा भिल्लपार्श्वाद्दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठो याचित ! ततस्तेन गुरुभक्त्या अङ्गुष्ठो हस्तच्छिन्नः । ततोऽर्जुनात्स्तोका मनाग्विद्या भिल्लस्याभूत् ततोऽपि भिल्लो गुरोरुपरि न द्विष्टोऽभूत्ततो ऽर्जुनोऽपि हृष्टः द्वावपि गुरुं नमतः स्म ।

इति गुरुभक्तौ द्रोणाचार्यभिल्लकथा ॥ १३८ ॥

[139] अथ शीलौदार्यविषये विक्रमादित्यकथा ।

एकदा विक्रमादित्यो भूपः पृथिवीं विलोकयन् स्त्रीराज्ये ययौ । तत्र पुर्यामनेके धवलगृहा दृष्टाः । तत्र तु शङ्खिनी-पद्मिनी-प्रभृतिनारीसहस्रशो दृष्टा राज्ञा । ताश्च भूपं भोगाय याचन्ते स्म । राजा मनागपि न चलितः, परस्त्रीपराङ्मुखत्वात् । ततस्ताभिस्तुष्टाभिः १४ रत्नानि दत्तानि । कीदृशानि—

एकेनाग्निस्तम्भः स्यात्	[१]	पञ्चमेनास्त्रादिघातो न लगति	[५]
द्वितीयेन लक्ष्मीर्भवति	[२]	षष्ठेन सर्वो वश्यो भवति	[६]
तृतीयेन जलस्तम्भः	[३]	सप्तमेन चिन्तिता रसवती भवति	[७]
चतुर्थेन यानं भवति	[४]	अष्टमेन कुटुम्बं वर्धते	[८]

नवमेन समुद्र उत्तीर्यते [९]
दशमेन विद्या स्यात् [१०]
एकादशेनाकाशगमनं स्यात् [११]
द्वादशेन भूतप्रेतादयो न लगन्ति [१२]
त्रयोदशेन सर्पादिर्न दशति [१३]
चतुर्दशेन गजादिर्न प्रभवति [१४]

मार्गे आगच्छता राज्ञौदार्यत्वाद्येन यद्रत्नं मार्गितं तस्मै तद्दत्तं गृहे समागतो भूपः ।

इति शीलौदार्यविषये विक्रमादित्यकथा ॥१३९॥

[140] अथ स्वयं स्वदोपजल्पने क्षत्रियकथा ।

एकः पुमान् पोसिपोसीत्युच्चरन् शकटं चतुष्पथे खेटयामास । तदा एको दुर्दान्तो राजपुरुषः सन्मुखं गच्छन् शकटे लग्नः, तदा तस्य मुखे चटिका पतिता । रुधिरं निर्गतं । स च राजपुरुषो दुर्दान्तो यत्तत् यथा तथा जल्पन् भृशं रुष्टोऽस्त्रमुत्पाट्य तं हन्तुमुत्थितः गालिं ददानो यष्टिमुष्टिभिस्तं हत्वा भूपपार्श्वे निनाय, जगौ च अनेन चतुष्पथे समागच्छता शकटेन मम मुखं छिन्नं । ततो बहु जल्पति सति तस्मिन् शकटपुमान् मौनमेव चकार । राजादिभिर्जल्पितोऽपि यदा न जल्पति । राज्ञाऽवग्-किं मूकोऽस्त्यसौ ? तदा राजपुरुषोऽवग्-चतुष्पथे यदा मम मुखं शकटेन भिन्नं तदाऽनेनोच्चैःस्वरं जल्पितं पोसिः पोसिरिति । ततोऽमात्यैरुक्त-तवैव दूषणं नास्य, त्वमेव स्वयं साक्ष्यभूत्, ततो राजपुरुषो हक्कितः सः पुमान् मानितः ।

इति स्वयं स्वदोपजल्पने क्षत्रियकथा ॥१४०॥

[141] अथ विरोधे कृकलासद्वयकथा ।

एकस्य ग्रामसमीपे द्वौ कृकलासौ युद्धं कर्तुं लग्नौ । एको यदा युध्यन् द्वितीयशिरस उपरि चटति तदाऽधस्थो दन्तैर्दशति तमित्यादियुद्धं कुर्वाणौ तौ द्रष्टुं लोका मिलिताः । सर्वे सन्ति, न पुनः कोऽपि वारयति । तदाऽकस्मादेकः कृकलासोऽनश्यत् । उपविष्टस्य निद्रया घूर्णितस्य गजस्य शुण्डायां प्रविष्टः । तदा द्वितीयोऽपि तत्पृष्ठौ धावन् तस्यैव गजस्य शुण्डायां प्रविष्टः । तत्रापि द्वावपि युद्धतः स्म । ततोऽकस्माद्गजः उन्निद्रःसन्नुत्थितः शुण्डामितस्ततो वेदनया चालयन् सरःपालौ गतः । तां पालिं शुण्डया खनति । लोकास्तदा हसन्ति । ततोऽकस्मात्पालिः स्फुटिता । लोकाः सर्वे प्लाविताः । पयसा ग्राममपि प्लावितं । गजोऽपि शुण्डाप्रविष्टकृकलासवेदनया मृतः । ततस्तावपि कृकलासौ पञ्चत्वं ययतुः । एवं विरोधेन सर्वं विनश्यति । ततो विरोधो न कार्यः, स्वहितं वाञ्छद्भिः ॥ इति विरोधे कृकलासद्वयकथा ॥१४१॥

[142]अथ देवद्रव्यविनाशने उष्ट्रीकथा ।

दीपं विधाय देवस्य, पुरतो गृहमेधिनाम् ।
तेन दीपेन नो गेहे, कर्त्तव्यः कज्जलध्वजः ॥१॥

इन्द्रपुरे जितसेननृपोऽभूत् । तत्र देवसेनेभ्यः, तस्यालये धनसेनस्योष्ट्रिका प्रत्यहमेति । स चरं वारिकं कुट्टयित्वा स्वगृहं नयति पुनरपि पश्चाद्याति । ततः इभ्येन सा उष्ट्रिका स्वल्पेन गृहीता तस्याभीष्टा चाभूत् ।

एकदा धर्मघोषसूरिस्तत्रागात् इभ्येन पृष्टः एषोष्ट्रिका मम गृहे एव रतिं कथं लभते, नान्यत्र । सूरिः प्राह–अनया पूर्वभवे देवद्रव्यं विनाशितं । तदा चैषा जिनस्याग्रे दीपं विधाय पश्चात्तेनैव दीपेन गृहकार्याणि करोति । तस्माद्दीपाद्वा गृहे दीपं करोति, धूपाङ्गारेण चुल्हकं संधुक्षयति च तेन कर्मणा उष्ट्रिकैषा जाता । तत्पातकं पुरा नालोचितं । बहुषु भवेषु तिर्यक्त्वं लब्धं सम्प्रति पुनरौष्ट्री जाता । कर्मलाघवाज्जातिं प्राप्य पश्चाद्बद्धसम्बन्धिं देवद्रव्यविनाशनरूपं पापं स्मारं स्मारं जिनेन्द्रधर्मं श्रोतुं तव गृहे तिष्ठति । यतः उत्तमसंगादुत्तमपदवीं लभते जीवः । क्रमादत्रस्थोष्ट्रिका जिनधर्मं त्वया क्रियमाणं श्रद्दधती सुगतिं गमिष्यति देवलोके गमिष्यति । ततो मानुषं भवं प्राप्य सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं यास्यति । अतो देवद्रव्यं व्याजेनापि न ग्राह्यं । यतः——

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाण दंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥१॥

जिण० । वुड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥२॥

इति देवद्रव्यविनाशने उष्ट्रीकथा ॥१४२॥

[143] अथ यक्षकृतपापशमने अर्जुनमालिकथा ।

राजगृहे बहिरन्येमुद्गरपाणियक्षसदने पुष्पकरण्डकं भृत्वा अर्जुनमालिको मालिकायुतो जिनालये स्थितः । तदाऽकस्मात्तत्र षट् स्तेनाः सुरभिपुष्पगन्धतः समाययुः । तदा ते चौरास्तां मालिकां दिव्यरूपां दृष्ट्वाऽर्जुनमालिकं बध्वा यक्षाऽर्जुनमालिकयोः पश्यतोः सम्भोगं कर्तुं लग्ना तदाऽर्जुनो यक्षं प्रत्यवग्–भो यक्ष ! तव पश्यतः सतो मम पत्नी एते भुञ्जन्ते त्वं ममसारां न कुरुषे । पत्नीं तेभ्यो भोगं ददानां दृष्ट्वा रुष्टः पत्नीं प्रत्यपि तदा मुद्गरपाणियक्षोऽर्जुनदेहेऽवतीर्य प्रियायुतान् षडपि स्तेनान् जघान । ततोऽर्जुनो प्रतिदिनं षड् नरान् सप्तमीं स्त्रियं हत्वैव देवगृहं याति । ततो मार्गागतान् पुरस्थान् षड् पुरुषान् एकां स्त्रियं च हत्वैव तिष्ठति । ततः पुरजना पुरप्रतोलीं दत्त्वा कोटस्योपरिस्था षट् नरान् स्त्रियमेकां हतान् दृष्ट्वा प्रतोलायहिः निर्गच्छन्ति ततः सदैवपापं करोति ।

अत्रान्तरे सुदर्शनश्रेष्ठी चतुर्दश्यां पौषधोपवासपारणे भगवन्तं श्रीवीरं बहिरुद्याने समवसृतं श्रुत्वाऽभिग्रहं ललौ, अद्य प्रभुं प्रणम्य पारणं कर्तव्यं मया, ततः प्रातः सकाल एव सुदर्शनश्रेष्ठी प्रभुं नन्तुं निर्गच्छन्तं दृष्ट्वा लोका जगुः–भो श्रेष्ठिन् ! क्षणं तिष्ठ, यावत् स यक्षः स्वस्थाने याति । ततः श्रेष्ठी लोकवचनमवगणय्य प्रतोल्या बहिर्निर्ययौ तदा यक्षः सुदर्शनं दृष्ट्वा मुद्गरमुत्पाट्य दधाव हन्तुं तदा तत्र सुदर्शनश्रेष्ठी 'नमो अरिहंताणं' इत्युच्चैः स्वरं

कृत्वा तस्थौ । ततो नमस्कारप्रभावात् यक्षोऽर्जुनशरीरं मुक्त्वा स्वं स्थानकं ययौ । अर्जुनो निश्चेष्टकाष्ठो भुवि पपात । क्षणात्सचेतनोऽभूत् । सुदर्शनेन पृष्टं—भो अर्जुन ! त्वया बहुजनहननात् भूरिपापं कृतं । कथं छुटिष्यत्यस्मात्पापात ? अर्जुनोऽवग्—अहं न जाने, किन्तु मुद्गरयक्षेण सर्वं कृतं, स्वसम्बन्धः प्रोक्तः । ततः प्राप्तवैराग्योऽर्जुनमालिकः प्रभुं प्रणम्य दीक्षां लात्वा तस्मिन्नेव पुरे भिक्षायै भ्रमति, षण्मासी यावद्बुभुक्षितो लोकाक्रोशान् सहित्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ । इति यक्षकृतपापशमने अर्जुनमालिककथा ॥१४३॥

[144] अथ स्वहितकरणे चन्द्रकमलयोः कथा ।

कर्णपुरात् चन्द्रः कमलपुत्रेण सह पृष्टवाहं नीत्वा वसन्तपुरं प्रत्यचलत । मार्गे यदा पुत्रो वृषारूढस्तदा लोका जगुः—अयं वृद्धः पद्भ्यां हिण्डते, युवा पुत्रस्तु वृषारूढः, कोऽस्य पुत्रस्य विवेकः ? ततः पुत्रस्ततः उत्तीर्णः । वृद्धो वृषारूढश्चलति यदा लोका जगुः—पुत्रः पद्भ्यां याति, पिता वृषारूढः । यदा द्वावपि वृषारूढौ तदा लोका जगुः—वृषो मरिष्यति एतौ मुग्धौ । यदा द्वावपि पितापुत्रौ पादचारिणौ जातौ तदा लोका जगुः—अस्मिन्नीदृक्षे वृषभे सति एतौ मुग्धौ पद्भ्यां हिण्डेते । ततो द्वावपि प्रोचतुः—

सर्वथा स्वहितमाचरणीयं, किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते स नहि कश्चिदुपायः, सर्वलोकपरितोषकरो यः ॥१॥

तथा यथारुचि पितापुत्रौ यथेप्सिते पुरे ययतुः ।

इति स्वहितकरणे चन्द्रकमलयोः कथा ॥ १४४॥

[145] अथ औत्पत्तिकीधीविषये नापितकथा ।

एकदा भोजभूपो नगरचर्यायां रात्रौ भ्रमन् नापितमेकां गाथां पुनः—पुनर्जल्पयन्तं श्रुत्वा रुष्टः । सा चेयम्—

भरीयातां सहुइ भरइ, ठालां भरइ न कोइ ।
भोजराज माहरइ सालो, मूहरइ काटं न देइ ॥१॥

यदा आकार्य शूलायां क्षेप्तुं चालितस्तदा नापितोऽवग्—मया कोऽपराधः कृतः ? राजाऽवग्—त्वं मां शालकं कुरुषे । तदा नापितोऽवग्—अहं तु सत्यमेव वच्मि । यतः—त्वं परस्त्रीसहोदरः श्रूयसे । अतो मम पत्नी तव भगिनी । ततस्त्वं मम शालकः एतद्श्रुत्वा राजा हृष्टः तं सम्मानयामास । इति औत्पत्तिकीधीविषये नापितकथा ॥१४५॥

[146] अथ प्रत्येकबुद्धस्वरूपम् ।

करकण्डूनृपः कलिङ्गदेशेशः प्रथमं वृषभं दृढदेहं व्रजन्तं दृष्ट्वा पश्चान्मृतिं दृष्ट्वा च जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् । देवतया लिङ्गं दत्तम् ॥१॥

पञ्चालदेशस्वामी इन्द्रध्वजं वीक्ष्य भूमावपतितं जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥२॥

विदेहदेशस्वामी नमिभूप उत्पन्नरोगः प्रियाणां वलयान्युत्ताय खडखडशब्दमनाकर्ण्य जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥३॥

गन्धारदेशेशो नग्नकभूपश्चूतं प्रथमं शाद्वलं दृष्ट्वा क्षणाद्भग्नं वातेन दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥४॥

यत — करकण्डू कलिंगेसु, पचालेसु य दुम्मुहो ।
नमीराया विदहेसु, गधारेसु अ नग्गई ॥१॥
वसहे[1] इंदकऊ[1], वलय[2] अंबे अ[3] पुप्फिए बोही ।
करकडु[1] दुम्महस्सा[2] नमिस्स[3] गधाररन्नो[4] अ ॥२॥

चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धा विहरमाणा क्षितिप्रतिष्ठितपुरे पुराद्बहिर्देवकुले चतुर्द्वारशोभिते समागता —

पूर्वेण द्वारेण करकण्डू प्रविष्टः ।
द्विमुखो दक्षिणेन ।
नमिरपरेण ।
गान्धार उत्तरेण प्रविष्टः ।

तत्र यक्षेण चतुर्णामपि सम्मुखं मुखं कृतं चत्वार उपविष्टाः । करकण्डूयनयोग्यं काष्ठखण्डं कपयित्वा करं कण्डूयितुं लग्नो यत्र तदा कर्णोऽपि कण्डूयितः, काष्ठं छन्नं कृतं च । द्विमुखः काष्ठखण्डं गोपितं दृष्ट्वा करकण्डं प्रत्यवग्—

जया रज्जं च रिद्धिं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेअं परिच्चज्ज, संचयं किं करेमिमं ॥३॥

यत्र करकण्डू प्रत्युत्तरं न दत्ते तस्मै तदा नमिरिमं द्विमुखं प्रत्यवग्—

जया ते पिपपरज्जे, कया किच्चकरा बहू ।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भव ॥४॥

अतस्त्वानया चिन्तया किं ततो गन्धारोऽवग्—

जया सव्वं परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसि भवं ।
परं गरिहसे कीस, अत्तनीसेसकारए ॥ ५ ॥

'मुक्खाय घडसि' मुक्तये चेष्टसे भवान् । अत्त० इति आत्मने निःश्रेयसः शिवस्य कारकः कर्त्ता, तदा करकण्डूः प्राह—

मुक्खमग्गं पवत्तेसु, साहूसु बंभयारिसु ।
अहिअत्थं निवारंते, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥६॥

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ ।
भासिअव्वा हिआ भासा, पच्चक्खगुणकारिआ ॥७॥

अमी चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धा पूर्वभवे समकालं पुष्पोत्तरविमानाच्च्युताः स्वरूपपुरे जाताः समकालं केवलज्ञानं प्रापुश्च क्रमादेव ते सर्वे मुक्तिं प्रापुः ।

इति प्रत्येकबुद्धस्वरूपम् ॥ १४६ ॥

[147] अथ प्रमादाप्रमादे श्रेष्ठिपुत्रीत्रयकथा ।

वर्द्धमानपुरे पद्मश्रेष्ठिनः तिस्रः पुत्र्यः कमला-मदना-श्रीमत्यभिधा धर्मकर्मकुशला धर्मशास्त्रविज्ञा सत्य उभयकालं प्रतिक्रान्ति त्रिकालं जिनपूजां कुर्वते, भावारीन् जेतुम् । इतो मोहसभायां कन्दर्पदेवोऽभ्येत्यावग्—स्वामिन् ! पद्मश्रेष्ठिनः पुत्र्यस्तथा धर्मं कुर्वाणा सन्ति यथा भवन्तं भवत्परिवारं च जेष्यन्ति । तेनाधुनैव ता जेतुं स्वामिनाऽन्येन वा चाल्यते तदा वरं । तदा मोहेन वीटके उत्पाटिते निद्राविकथाभ्यां प्रोक्तं—स्वामिन्नहं तथा करिष्ये यथा तास्तव वश्या भवन्ति । ततो विकथानिद्रे ते जेतुं गते, प्रथमं कमलापार्श्वे विकथाऽवग्—धनमहेभ्यपुत्र्या श्राविका भोजिता, त्वं तत्राकारिता न वा । साऽवग्—किं मम प्रयोजनं, जेमन्तु वदथः एवं पृथक्पृथग्गृहः भोजनस्य स्वरूपं प्रोक्तं । ततः क्रमात्कमला जगौ—अहं नाकारिता तत्र इत्यादि राज-देश-भक्त-स्त्रीकथाभिः कमला विकथां कुर्वती कृता क्रमान्निद्रामपि करोति, वेलायां देवपूजाप्रतिक्रमप्रभृति न करोति एवं मदनाऽपि प्रमादे पातिता ताभ्यां । ततः श्रीमती ताभ्यां प्रमादे न पातिता सा च स्व धर्मकृत्यं वेलायां करोति । ततो विकथानिद्रे मोहभूपस्यान्ते गत्वोचतुः । कमलामदनश्रियौ तवाज्ञा ग्राहिते न तु श्रीमती । मोहोऽवग्—वर्यं कृतं, श्रीमतीमहं घातयिष्यामि । ततो मोहेनानेकाभरणवस्त्रादिदर्शनेनापि सा न स्वाज्ञा ग्राहिता । कमलामदनश्रियौ श्वभ्रे ययतुः । श्रीमती अखण्डधर्मं कृत्वा कर्मक्षये मुक्तिं गता ।

इति प्रमादाप्रमादे श्रेष्ठिपुत्रीत्रयकथा ॥ १४७ ॥

[148] अथ पादद्रव्यार्जने कथा ।

एके जना पादाभ्यां श्रियमर्जयन्ति, एके हस्ताभ्याम्, एके मस्तकेन, एके बुद्धया च, तत्रादौ पादाभ्यां श्रियार्ज्जने कथा—

वीरपुरे कमलवणिक्पुत्रो देवको दारिद्र्यवानभूत् । ततो महेभ्यभूपादीनां लेखवाहकोऽभूत् । योजनशतसहस्रं यावद्याति पुनरन्तरा वर्त्मनि गुरुपदोपान्ताङ्गीकृतद्विवारप्रतिक्रमण-एकवारदेवपूजादि धर्मकृत्यं न मुञ्चति । सदैव धनमर्जयति । स्तोकं स्तोकं धर्मेऽपि व्ययति । स च देवको धर्मं कृत्वा दुःस्थोऽपि स्वर्गसुखं प्राप । क्रमान्मुक्तिं गन्ता ।

इति पादद्रव्यार्जने कथा ॥ १४८ ॥

[149] अथ हस्तद्रव्यार्जने कथा ।

श्रीचन्द्रपुरे धीरकौटुम्बिको लोकानां क्षेत्रे च नवीनकन्थरिकावपन क्षेत्रधान्यकपिशीषकृन्तन-लिखन इत्यादिहस्तक्रियाभिर्धनमजयत् स्व धर्मं कृत्वा स्वर्गतो मुक्तिं गन्ता ।

इति हस्तद्रव्यार्जने धीरकथा ॥१४९॥

[150] अथ मस्तकधनार्जने भीमकथा ।

वीरमपुरे भीमो भागको जिनधर्मं प्राप । एकवारं देवं पूजयति । द्विर्वारमावश्यकं करोति । सप्त चतु पञ्चसप्ताष्टनवदशैकादशद्वादशत्रयोदशमितभारं वहते । परेषां गृहेषु याति । धनमर्ज-यति । एवंविध दुःखं गृहस्थवासे वसन् स्वं धर्मकृत्यं नामुञ्चत् । क्रमात्स्वर्गं गत पुनर्मर्त्यलोक पुनः स्वर्ग पुनर्मर्त्य ततो मुक्ति । इति मस्तकधनार्जने भीमकथा ।१५०॥

[151] अथ बुद्धिधनार्जने धरणकथा ।

धरापुरे धनश्रेष्ठी बुद्धिं विक्रीणीते नयसुधाधवलिते हट्टे वणग्वेषधरः उपविशति लोका बुद्धिं गृहणत सदा तत्र । एकदा तत्र वास्तव्यचम्पकश्रेष्ठिपुत्रो मदन आगात् । धरणोपान्तेऽवग् मयनाऽत्र क्रयाणक किमपि न दृश्यते । श्रेष्ठी प्राह–अहं बुद्धिं विक्रीणामि । यया धिया नर सुखी स्यात्तां नास्येऽहं । तत पञ्चशतद्रम्मैर्द्वयो कलिं कुर्वतो पार्श्वे न स्थेयमिति एका बुद्धिं मदनो दत्ता । तत्र केनाप्युक्त–चम्पकं भव पुत्रेणापूर्वकं क्रयाणकं गृहीत तत श्रेष्ठी पुत्रं प्रत्यवग्–त्वया वय न कृत । तत श्रेष्ठी धरणस्योपान्ते गत्वाऽवग्–त्वया मम पुत्रो धीदानेन वाहित । श्रेष्ठी धीनो जगौ–यदि ते न रोचते मम बुद्धिं पश्चादर्पय ततो बहवो लोका साक्षिण कृताः, अनेन श्रेष्ठिपुत्रेण द्वया कलिं कुर्वतो पार्श्वे स्थेयं नो चेत् १० शतद्रम्मान् गृहीष्ये । एवं प्रोच्य पश्चाद् धनं दत्त । एकदा श्रेष्ठिपुत्रो मन्त्रिसेलहस्तपुत्रयो कलिं कुर्वतो पार्श्वेऽस्थात् । तदा ताभ्यां स साक्षीकृतो मदन राज्ञ पार्श्वं आकारित । यदि एकस्य पार्श्वे भूत्वा वक्ति तदा सोऽपि रुष्टो धनं पश्चात्फेटयति ततो मन्त्रिपुत्रपक्षपाते क्रमात्सेल्यहस्तेनावसरे श्रेष्ठी दण्डापित ततश्चम्पक सपुत्रो वया बुद्धिं लात्वा सुखी जात ॥१५१॥

इति बुद्धिधनार्जने धरणकथा ॥१५१॥

[152] अथ आचित्यदाने धाक्किका–विक्रमार्क कथा ।

एकदा विक्रमादित्यभूपसभायां बहून् पण्डितानुपविष्टान् श्रुत्वा वैदेशिकेन बुधेनैका गाथा अर्पिता । सा च सर्वैर्बुधैर्वाचिता तस्या परमार्थमलभमाना प्राहु । इयं गाथा निर्जीवाऽस्ति तेनास्या अग्निसंस्कार क्रियते । तता बुधाश्च वार स्कन्धिका जाता । सा गाथा जपाणे स्थापिता । भुग्नभाजने वह्निं क्षिप्त्वाऽग्रेऽचलन् कियन्त पृष्ठावचलन् कियन्तो बुधा काष्ठानि नीत्वा पुराद्बहिश्चलिता यन्तु । इतो वर्त्मनि तां गाथां वहमानान् विबुधान्प्रति धाक्किका प्राह–को मृत ?

तैरुक्तं-गाथा एकात्रागता मृता, तस्या अग्निसंस्कारः क्रियमाणोऽस्ति । तयोक्त-का गाथा ? दर्श्यतां मह्यं। तैर्दर्शिता, तया वाचिता, प्रोक्त च-सजीवाऽस्तीयं कथं दह्यते ? तैरुक्तं-मृतेय । मिथो विवादो जात । ततः सर्वैरुक्तं-राजसभायां सजीवनिर्जीवपरीक्षा क्रियते । ततः सर्वे राजसभायामागताः । घाञ्चिकाऽवग्-सजीवाऽस्ति गाथा । बुधै प्रोक्तं-निर्जीवा । ततो घाञ्चिका जगौ-गाथा आनीयतां । तत्र गाथाऽऽनीता, वाचितेति--

अपया तह पयमुक्का, श्वेताय कृष्णाय च ।
सद्दासद्दविहूणा, अमग्ग वाह मग्गंति ॥१॥

घाञ्चिकाऽवग्—प्रथमार्थं मेघपक्षे-अपदा मेघाः पयो मुञ्चन्ति ? मुक्त्वा भवन्ति श्वेता मेघाः । श्वेताः शरदि भवन्ति । कृष्णा वर्षासु भवन्ति । सशब्दा मेघा गर्जितं शब्द कुर्वन्ति । शब्द विनाऽपि वर्षन्ति गर्जितं विनाऽपि, अमग्गा वाह मग्गति अमग्गा-बप्पीहा वाह्-पानीय मग्गंति-याचन्ते ।

यत — कप्पीउ त जलपीयइ, जं घणगज्जिअ देइ ।
माणविवज्जिअ अप्पणइं, मरइ न चंचु भरेइ ॥२॥ इति एकः मेघस्यार्थः ।

स्त्रिया अर्थ —अपया पयमुक्का य-सगर्भा स्त्री अपया-पयोरहिता भवति । जनिताऽपत्या पयो-दुग्धं मुञ्चते । श्वेताय कृष्णाय च-गर्भावस्थाया स्त्री श्वेता भवति, जनिताऽपत्या कृष्णा भवति । सद्दासद्दविहूणा-भोगावस्थाया सशब्दा, अन्यत्राशब्दा । कल्पावसरे सशब्दा अन्यत्राशब्दा अमग्गा वाह मग्गति-अमग्गा—जातमात्रबालकाः पयो-दुग्धं मातुःपार्श्वे मग्गंति-याचन्ते ।

पाशकस्यार्थः कथ्यते—अपया०-पाशकस्य पादौ न स्त, अत अपदः । तह पयमुक्का पदमेकमष्टापदे फलके मुञ्चन्ति पाशकपदमुक्त' । श्वेताय कृष्णाय च-हस्तिदन्तघटितत्वात् श्वेताः मुखे मसीबिन्दुकरणात्कृष्ण । पाशकशब्दो-सद्दासद्दविहूणा-पातनावसरे पाशक शब्दं करोति । अन्यत्राशब्दः-शब्दरहिताः । अमग्गा वाह मग्गंति-अमग्गा-अयाचका वचोरहितत्वात् वाहं दायं मग्गंति-विलोकयन्ति । तस्या गाथाया अर्थत्रयं श्रुत्वा राजाऽवग्—सजीवा गाथेय । ततस्तस्या राज्ञा सपादलक्षं धनं दापयामास । बुधा हसिता सर्वैरपि तदा ।

इति औचित्यदाने घाञ्चिकाविक्रमार्ककथा ॥१५२॥

[153] अथ मुग्धतायां होदडीकथा ।

मरुस्थल्या होदडपार्श्वे सर्वे लोका मुहूर्त्तादिक पृच्छन्ति । एकस्य क्षेत्रे स्थलमये ऊर्ध्वं वल्लारोपिता मण्डपाः कृतास्तेषामुपरि चटिता वल्लाः । तत्राभ्येत्य उष्ट्रा वल्लान् भक्षयन्ति । ततो लोकै विज्ञप्तं होदडाग्रे-अस्माकं क्षेत्रेषु मण्डपोपरिस्थान् वल्लकान् को भक्षयति ? ततो होदडस्तत्राकारित, प्राह च—

औपधिं पग घडावीआ, वालखाधामसलेहिं ।
किं मुधामि मरुपप्पडी, होदडेण मूएण ॥१॥

तत सर्वैर्जनै प्रोक्त—सत्यमुक्त होदडेन। ततो होदडो ध्यान कृत्वाऽवग्— भवत्र क्षेत्रपार्श्वे सीममध्ये च शब्दमेवमुच्चार्यतामुच्चकै । ये शशका उदूखलेषु पदानि घटयित्वाऽस्माक क्षेत्राणि भक्षयन्ति तेषां प्राणा एव ग्रहीष्यन्ते । ततो रात्रौ वृत्तिसमीपे इक्क यद्भि स्थीयते नतस्तथा कृत तै ॥ इति मुग्धतायां होदडिकथा ॥ १५३ ॥

[154] अथ बुद्धौ धूर्तकथा ।

धीरपुरे कस्यचिद्वणिज हट्टे द्वाभ्यां पथिकाभ्या सुवर्णपूर्णा वासनिका मुक्ता । प्रोक्त— यदा आवाभ्यां द्वाभ्यामागत्य मार्ग्यते तदाऽर्पणीयेय ' एव प्रोच्य तौ तत्र मुक्त्वा ग्रामान्तरे गतौ तौ । ततोऽन्यदा तयोर्मध्यादेका धूर्तोऽभ्येत्य वचन छलाशा वासनिका लात्वा गत । पुन द्वितीय आगात् वासनिका याचते स्म । श्रेष्ठी जगौ—मया दत्ता तव सोदराय । पथिकोऽवग—कस्य सोदर वासनिकामर्पये । ततो द्वावपि राजकुले गतौ । स्व स्वं सम्बन्ध च प्रातुरेव-प्रथम श्रेष्ठी जगौ-द्वाभ्यां धूर्ताभ्यां वासनिका मुक्ता ममाट्टे । एकश्छलं कृत्वा छली ता किं क्रियतेऽधुना मया । अथ धूर्तोऽवग्—वासनिकां मुक्त्वा मयोक्त-यदाऽऽवाभ्यां द्वाभ्यामागम्यते तदा अर्पणीया वासनिका । ततस्त्वरित नल्प त वीक्ष्य त धूर्त मत्वा च मन्त्रिभिर्बुद्धिमद्भि प्रोक्त युवां द्वौ सोदरौ एकीभूयात्रागच्छत । ततोऽसौ श्रेष्ठी वासनिकामर्पयिष्यति स्वयैन प्रोक्तत्वात् । तत स्व मस्तक रञ्जयित्वा गतो धूर्त ।

इति बुद्धौ धूर्तकथा ॥१५४।

[155] अथ धर्मविषये योगिकथा ।

कस्यचित्पुरोपान्ते ध्यानलीन योगिन दृष्ट्वा लोका प्रष्टुमागच्छन्ति । यत—

मनोहरपुरोपान्ते, ध्यानलीनं तु योगिनम् ।
दृष्ट्वा शुभाशुभ प्रष्टु, व्रजन्ति स्म प्रगे प्रगे ॥ १ ॥
स्व स्व चिन्तित मा, प्रष्टु यदा जल्पन्ति मानवाः ।
तदा योगी जगौ लोका, विलोक्य कथ्यते शनै ॥ २ ॥
ततो लोका वराहारैं, प्रीणयन्तो निरन्तरम् ।
प्रातः प्रात समारभ्य, प्रणाम रचयते सदा ॥ ३ ॥
अन्येद्युर्मनुजा मध्य-दिनं यावत्स्थिता जगु' ।
यदा पृष्ट त्वयाऽस्माक, कथ्यते [ति] वाञ्छयते तदा ॥ ४ ॥

नो चेद्वयं भवन्तं तु, मुक्त्वा यस्य पदाम्बुजम् ।
प्रणम्य पृच्छयतेऽस्माभि-र्भावि सर्वं शुभाशुभम् ॥ ५ ॥
ततो योगी जगौ लोका आर्त्ता. पृच्छन्ति सन्ततम् ।
यद्भावि तद्भवत्यैव, कोऽपि न छुटति कर्मतः ॥ ६ ॥
दुढणी ढुंढि ढुंढि जगदीठा, जो जस भावइ सो तस मीठा ।
सुखिइं बइठउ कोइ न दिट्ठो, इम जाणिनइं करइ धर्म मीठो ॥ ७ ॥

एवं प्रोक्ते योगिना लोका सन्तोष कृत्वा धर्मं चक्रुः ।

इति धर्मविपये योगिकथा ॥ १५५ ॥

[156] अथ क्रोधत्यजनविपये तापसकथा ।

एकस्मिन्पुरोद्याने भीमस्य तापसस्य तपः कुर्वतश्चक्षुषो विपमुत्पन्न । ततश्चक्षुर्विप ऋपि-र्दध्यौ-या मा पराभविष्यति तस्मै एवाह शिक्षा दास्य दृग्विपमुञ्चनात् । ततोऽटव्यामन्यदा तस्य तापसस्य मस्तके बलाहिका विष्टा चकार । तदा स रुष्टस्ता भस्मीचक्रे दृष्टिविपेण । ततोऽन्यदा कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे भिक्षा याचितु गत । तत्र श्रेष्ठिपत्नीदत्त शीतलमाहारं न गृह्णाति । तदा श्रेष्ठिपत्न्योक्त-भिक्षुक ! 'अनइं ऊन्हा जीम ओ' ततस्तेन दृष्टिविप मोचितु रक्ता दृष्टिः कृता । तत साऽवग्-नाह बलाहका यत्त्वया क्रोधेन व्योम्नि गच्छन्ती भस्मीकृता । तापसोऽवग्-भो श्रेष्ठि प्रिये ! वनस्थ मच्चेष्टित त्व कथ वेत्सि ? श्रेष्ठिपत्न्यवग्-स्व चरित्र स्वय प्रकाशयन् लघुता याति, तेन त्वमयोध्यायां गच्छेः । तत्र देवडः कुम्भकारः कथयिष्यति मच्चरित्र । ततः स तापसोऽयोध्यायां देवडकुम्भकारपार्श्वं गत्वा प्राह—सा श्रेष्ठिपत्नी वनस्थ मच्चरित्र कथ वेत्ति ? सोऽवग्-साऽती-वक्षमावती विद्यते, रोष तु कस्योपरि न कुरुते, तेन तस्य अवधिज्ञान जातं, तेन ततो जानाति सर्वं यतः—

क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेव प्रशाम्यति ॥१॥

तापसोऽवग्-त्वं कथ जानासि तस्याः स्वरूप ? कुम्भकारोऽवग्-सैव कथयिष्यति । ततः स तत्र गत्वा श्रेष्ठिपत्नीपार्श्वं कुम्भकारज्ञातस्वरूप पप्रच्छ । तयोक्तं-तस्यापि क्षमाकरणात् । ततः स क्रोधं मुक्त्वा क्षमयित्वा तां तपश्चक्रे ।

इति क्रोधत्यजनविपये तापसकथा ॥ १५६ ॥

[157] अथ मस्तकचटितघुकुटादिकथा शुभाशुभयोर्विषये ॥

कस्मिंश्चिद्ग्रामे बहवो जना. सभायामुपविष्टाः परस्परं गोष्ठीं कुर्वाणा अभूवन्निति, तदा

एकेन पृष्टमन्यस्याग्रे–मस्तके चटित किं किं शुभं भवति किं किमशुभं च ? यदा च केनापि न ज्ञातं तदैकेन ब्राह्मन बुद्धिमता प्रोक्त–मस्तके चटिता मुकुटमस्तकशीर्षिका पुष्पखोरसिन्दूर-वेणीप्रभृतयः शुभा भवन्ति शिरोऽर्त्तिपुत्रिका च अशुभा भवतः । यतः—

शिरोर्त्तिर्वेदनामुत्पादयति पुत्रिका लालिता या सा मस्तके चटितोच्यते' साऽपि मातापित्रो-र्दुःखावहा भवति ।

इति मस्तकचटितमुकुटादिकथा शुभाशुभयोर्विषये ॥१५७॥

[158] अथ लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ।

एकदा भद्रामवगणय्य अर्जुनो निजपुरात् द्वारवतीं प्रति चचाल तदा भद्रा स्वस्मिन्नपरशीलतां ज्ञात्वा षट्त्रिंशदायुधानि गृहीत्वा योद्धुं समुखमागात् । तदा पार्थस्तया सह योद्धुं लग्न । भद्रा बाणधोरणीं मुञ्चन्ती पार्थस्योपरि मण्डपं चक्रे । तदाऽर्जुनेन युध्यता भद्राया हृदि बाणो मुक्तः । तदा रक्तबिन्दुः पपातावनौ । स बिन्दुः पृथभद्रावत् द्वितीयभद्राऽभूत् । एवं यावन्तो रुधिरबिन्दवः पतिताः तावन्त्यो भद्रा अभूवन् । भद्राणां लक्षशः दृष्ट्वा पार्थं भद्रा-याश्चरणकं चिच्छेद यदा तदा भद्रा नग्नाऽभूत् । ततः पार्थः परस्त्रीसहोदरत्वात् पराङ्मुखोऽभूत् । ततो भद्राऽवग्–भो अर्जुन ! सुभटास्तु पृष्टिं न ददते, त्वं तु सुभटतमः कथं पृष्ठिं दत्से ? ततोऽर्जुनोऽवग् भो भद्र ! स्वपत्नीं विलोकय । तदा भद्रा स्वं नग्नत्वं दृष्ट्वाऽर्जुनस्य तु परस्त्रीपराङ्मुखत्वं च तुष्टा सती प्राह–भो पार्थ ! वरं याचस्व ! अर्जुनोऽवग् यदि तुष्टाऽसि तदा स्वीयां विद्यां मम वितर ।

भद्राऽवग् मया तुभ्यं स्वीविद्या दत्ता । ततस्तां कलां पार्थो लात्वा द्वारकायामाययौ कृष्णस्य मिलितः कृष्णस्य भगिनीं स्वानुरागां ज्ञात्वा पार्थो रथारूढां कृत्वा चचाल । ततः कृष्णः सुभद्रां वालयितुं यान् भटानप्रेषयत् ते भग्ना पश्चादाययुः । ततः कृष्णः तां वालयितुं चचाल । ततोऽर्जुनो भद्रादत्तविद्यया युध्यति । कृष्णो बाणधोरणीं तथा मुमोच यथा पार्थो हृदि विद्धः । ततो यावन्तो रुधिरबिन्दवः पेतुः तावन्तो अर्जुना बभूवुः । ततो लक्षशोऽर्जुनान् दृष्ट्वा स्वां भगिनीं पार्थाय ददौ । ततोऽथ वरं मागय अर्जुनोऽपि प्राह–मागय वर । कृष्णोऽवग्–अतः परमनेन युद्धेन न योद्धव्यम् । तताऽर्जुनोऽवग्–अतः परं त्वया सममेव मया न योद्धव्यं यदा कौरवैः सहास्माकं युद्धं जायते तदा त्वं सहायो भव । यदि कदाचिदस्माकं पञ्चानां मध्ये एकोऽपि म्रियते तदा त्वया पञ्चमेन भाव्य । कृष्णेनापि तत्प्रतिपन्नं । मया च तव रथे सारथिना स्थातव्य । ततो यदा पाण्डवानां कौरवैः सह युद्धमभूत् तदा कृष्णः पार्थस्य शाकटिकोऽभूत् । ततः कौरवा हताः । इति लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ॥१५८॥

[159] अथ कर्मोपरि वेश्यापुत्रकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमभूपस्य पुत्राणां शतमभूत् । राजा क्रमान्मृतः । पञ्चदिव्यानि अभिमन्त्रितानि हस्ती यदा राज्यं दातुं चचाल तदा लोको जगौ–न ज्ञायतेऽसौ कस्य राज्यं दास्यते ।

हस्ती एकस्यापि राजपुत्रस्योपरि न पूर्णकलश ढोलयामास। ततो हस्ती पुराद्बहिर्गत्वा सर पालौ सुप्तस्य बालकस्योपरि कलश ढोलयामास। तत शुण्डयोत्पाट्य तं स्वस्कन्धे चारोपयामास। ततो लोका जगु—असौ राजा कामकेल्या वेश्याया पुत्रोऽतः कथमस्य प्रणाम' करिष्यते। तदा व्योम्नि वाणी बभूवेति अनेन पूर्वभवे जिनार्चा कृता तेन राज्य जातं। एकदा च जातिगर्वः कृतस्तेन नीचकुले जातः। ये भूपपुत्रा. सन्ति अल्पपुण्यास्तेन तेषा राज्य न जात। ततस्तस्य मन्त्रिभिर्नन्दभूप इति नाम दत्तं। ततो राजा स प्रभो पूजा कुर्वाणः सर्वान् राजपुत्रान् यथाचितं मानयन् भूरिशो जिनप्रासादान् कारयामास। यात्रा तीर्थेषु चक्रे। ततो न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयन् स्वर्गं गतो राजा क्रमान्मुक्तिं गन्ता॥

इति कर्म्मोपरि वेश्यापुत्रकथा॥ १५९॥

[160] अथ क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मंत्रिविप्रसम्बंधः।

एकस्मिन्पुरे चतुरशीतिचतुर्हट्टश्रेणिषु यद्विलोक्यते तल्लभ्यते। राजा च चन्द्र, मन्त्री सोम। श्रेष्ठिनः सामन्ता वणिक्पुत्रादयो बहवः सन्ति च। यद्वस्तु तत्रायाति तत्तत्सर्वं लोकैर्गृह्यते इति ख्यातिः सर्वत्राऽभूत्। तदा भीमपुराधीशेन कमलेन परीक्षार्थं छारपुञ्जादिभिरष्टौ शकटानि भृत्वा प्रेषितानि। तस्मिन्पुरे लोका वस्तु गृहीतुं समागताः। छारपुञ्जादि दृष्ट्वा यदा लोकाः पश्चाद्वलिरे तदा वस्तुस्वामिभि प्रोक्तम्—अपराण्यपि शकटान्यानीतानि सन्ति, तेषु यद्वस्तु विद्यते तद्गृह्यतां। लोका जगुस्तानि दर्शयथ। ततस्तैरुक्तं—शकटद्वये मानोऽस्ति। शकटद्वये क्रोधोऽस्ति। शकटद्वये लोभोऽस्ति। शकटद्वये मायाऽस्ति। यदि भवद्भिर्वस्तु न गृह्यते तदा युष्माकं पुरस्य ख्यातिर्गमिष्यति। तदा बहुभिर्लोकैर्मिलित्वा चत्वारि क्रोधमानमायालोभशकटानि गृहीतानि। द्रव्य दत्त जल्पित। ततः साय स्थितं शकटचतुष्टयं राजद्वारे नीत। तै. प्रोक्तं—यद्येतानि शकटानि पश्चाद्यास्यन्ति तदा पुरस्यास्य ख्यातिर्गमिष्यति। ततो लोभशकट राज्ञा गृहीत, ततो भूपा अतृप्ता जाताः। मायाशकटं वणिग्भिर्गृहीत, ततो मायावन्तो वणिजो जाता। मानशकटं मन्त्रिभिर्गृहीतं, ततो मन्त्रिणो मानिनो जाता, यतो मन्त्रिणो जगत्तृणं मन्यन्ते। क्रोधशकट विप्रैर्गृहीतमतस्तेषामतीव क्रोधोऽभूत्।

इति क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मन्त्रिविप्र कल्पिताः स्वयंज्ञेयाः॥१६०॥

[161] अथ लक्ष्मीमदे चन्द्रसम्बन्धः।

धीरश्रेष्ठिनः वीरो भ्राता लघुरभूत्। धीरस्य पुत्रास्त्रयो जाता, वीरस्यैक एव चन्द्रः पुत्र। अन्येद्युर्भ्रातरि मृते चन्द्रो धीरस्यातीव वल्लभोऽजनि। यदा जिमति धीरस्तदा स्वस्य मध्ये जिमयामास। मृष्टान्नपानवस्त्रभूषणताम्बूलादिदानैश्चन्द्रं धीरः प्रीणयति पोषयति च। क्रमात् पितृव्येन भ्रातृजो विद्याः पाठितः।

एकदा चन्द्रोऽवग्—काका अह लक्ष्मीमर्जयितुं यामि। पितृव्यस्तु मोहाच्चन्द्रमात्मनः सकाशादन्यत्र न प्रेषयति।

अन्यदा पितृव्य परिपृच्छया अत्र ग्रामे व्यवसायार्थं गत तदा तस्य ग्रामस्याधीशे मृते भूपपुत्र पश्चो राज्ये उपविष्ट । चन्द्रस्तस्य पार्श्व उपयाति । क्रमात्स मन्त्री कृतो राज्ञा । ततश्चन्द्रो बयवेषभृत् बहुसेवकैश्च परिवृतो राज्यचिन्तां करोति बहुसेवकैदत्तहस्तश्चलति । चन्द्र सेवका शयने उपवेशयन्ति । त पादुकाम् सपरिधापयन्ति शयनोपवेशनावसरे पादौ तस्य चम्पयन्ति । चलनस्तस्य मार्ग दर्शयन्ति जल्पने जी-जी कुर्वन्ति । एवमिभ्या अपेतना मन्त्रिणोऽपि जी-जी शब्द कुर्वन्ति स्म ।

इतो धीरोऽन्येन जनेनोक्त —भो श्रेष्ठिन् ! भूपस्यातीवमान्यो जातोऽस्ति भवता पालितोऽस्ति तत्र गम्यते तत्रापि सन्मानदानप्रीणन करिष्यति । तत श्रेष्ठी तत्र पुरे गत । राजमार्गे भ्रातृन जनहस्तविलग्न गच्छन्त दृष्ट्वा तत्रागच्छति श्रेष्ठी । राज्यमदलक्ष्म्यन्धीभूतो भ्रातृजश्चन्द्रः पितृव्यस्य सम्मुखमपि न विलोकयति । तत मध्याह्न कथंचिद्द्वारपालक मानयित्वा भ्रातृजपार्श्वे गत । भ्रातृनस्तु भुक्त्वा शयने सुप्तोऽभूत् । तदा एके तेन समं वार्ता कुर्वन्ति । एके पादौ चुम्पन्ति । एकस्तु पत्राण्यर्पयति नागपत्राणि छागवद्भक्षयति । एव कुर्वन् चन्द्र पितृव्यस्य सम्मुखमपि न विलोकयति । तत पश्चात्स्वगृहे समागत श्रेष्ठी लोक पृष्ट—भ्रातृजेन कि दत्त ? कथं कथं सन्मानितो भवान् ? श्रेष्ठ्यवग्—अधुना भ्रातृजो मन्नोऽस्ति स च तेन मां नापलक्षयति । लोकोऽवग—नीरोगभवन यावत् कि न स्थित कथ नीरोगो भविष्यति । श्रेष्ठी प्राह—पञ्च वा सप्त वा न्यायान्यनुल्यथवा नीरोग करिष्यति ।

अन्यदाऽमात्यश्चन्द्रस्य चाडिका कृत्वा कारागारे चन्द्र क्षिप्त । राज्ञा सर्व धन गृहीत बाहु सगाङ्गनश्च । तत दध्यौ चन्द्र कथमहमितो गुप्तिगृहान्निःसरिष्यामि । ततो गुप्तिगृहेषु सुप्तेषु छन्न निर्गत्य स्वपुरमागाच्चन्द्र 'काका जुहारेति' वदन्मिलित काकोऽवग्—भ्रातृज ! कथ नागगता ते वार्ता ? भ्रातृजोऽवग्—राजदण्डामात्यवैद्यै नीरोगोऽहं कृत । तत श्रेष्ठी प्राह—त्वय जात यत्र नीरोगोऽभू । भ्रातृज ! धनेनैवम धीभूयते । अहं तत्रागतोऽपि त्वया न वीक्षित । तत उत्थाय चन्द्र पितृव्यपदौ पतित्वा क्षमयामास स्वापराध मम शिक्षा वदस्व । ततः पितृव्योऽस्ते पुण्यमाग भ्रातृजो छन्न । इति लक्ष्मीमद चन्द्रसम्बध ॥१६१॥

[162] अथ कृपणत्वे श्रेष्ठिसम्बंध ।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठी कृपण स्तोकमपि धन न व्ययति धर्मे गहे च । एकदा श्रेष्ठी पुत्र सर्पदष्ट मत्वा ध्यायमौ अत्र पुरे गारुडिकोऽस्ति । स च सर्पदष्ट ५० दीनारै वृश्चिकदष्ट चतुर्भि रुज्जीवयति । यदि सर्पदष्ट कथयिष्यामि पुत्र तदा ५० दीनारान् मार्गयिष्यति । ततो वृश्चिकदष्ट पुत्रं कथयिष्यामि । ततो मन्त्रज्ञपार्श्वे पुत्र नीत्वा श्रेष्ठी प्राह—वृश्चिकदष्ट मत्पुत्र निर्विष कुरु । ४ द्रम्मा दास्यन्ते । ततो मन्त्रज्ञो वृश्चिकमन्त्र जपन्नभूयावत् तावत् श्रेष्ठ्याह—सर्पस्यापि मन्त्रो जपनायोऽन्तराले । तदा मन्त्रज्ञोऽवग् ५ दीनारान् देहि । श्रेष्ठी तु कृपणत्वात् न दत्ते । तत पुत्रो मृत । कृपणत्वात् पुत्रो मृत सेहे ।

इति कृपणत्वे श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥१६२॥

[163] अथ मरुस्थलीयमुग्धजनसम्बंधः ।

एकदा गुरवः क्वचिद्ग्रामे मरुस्थल्यां ययुः। लोकेभ्यो धर्मोपदेशो दत्तः। साधवो विहर्त्तुं गता। श्राविकाभिः पृष्टं श्रीगुरूणा भवता वा करमदीरासः समेति नवा ? साधुभिरुक्तं-न समेति। ताभिरुक्तं गुरूणा करमदीरासोऽपि नायाति, इति हसितम्।

ततः साधुभिः श्राद्धाहसितसम्बन्धं गुरूणा ज्ञापितं। गुरवो जगुः—यूयं मुग्धा न जानीथ जल्पितं। कल्ये भवद्भिः श्राद्धीनामग्रे वक्तव्यं शालायामागम्य। गुरवः कथयिष्यन्ति रासं। श्राविका गुरुपार्श्वे आगताः। गुरुभिः प्रोक्तं—करमदीरासा बहवः सन्ति। युष्माकं कः समेति को न ? ततस्ताभिः प्रोक्तं—वयं जानीम एक एव रासोऽस्ति। गुरवो जगुः—यो युष्माकमायाति स गण्यतां। ततस्ताभिरुक्तो, गुरुभिरपि प्रोक्तः स एव, ततस्ताभिरुक्तं गुरवो विज्ञा एव।

एवं मरुस्थलीयमुग्धजनसम्बंधः ॥१६३॥

[164] अथ धर्मविषये वज्र-रत्न-लोहाकरादिसम्बंधे द्रव्य धर्मगणितचरणानुयोगसम्बन्धः।

लक्ष्मीपुरे जितशत्रोर्भूपस्य श्री पत्न्यभूत्। चत्वारः पुत्रा भीम-सोम-चन्द्रा-र्जुननामानः। तस्य राज्ञो वज्र-कनक-रजत-लोहाकरा आसन्। राज्ञा परलोकं गच्छता चत्वार आकराः प्रत्येकं विभज्य दत्ताः। त्रयो हृष्टाः। चतुर्थो लोहाकरग्राही कृष्णास्योऽभूत्। चतुर्थं भूपपुत्रं श्यामास्यं वीक्ष्य सुमतिर्मन्त्री पप्रच्छ। किं तवास्यमीदृग् ? ततस्तेन श्यामास्यसम्बन्धे प्रोक्ते मन्त्री प्राहार्जुनं प्रति पिता त्वां लघुं पुत्रं ज्ञात्वा भक्त्या तव लोहाकरो ऽयच्छत्। अर्जुनोऽवग्-कथं ज्ञायते ? मन्त्री प्राहेति-पित्रा ज्ञापितमस्ति ते लोहाकरात् यावन्मात्रं लोहं निष्पद्यते तावत्त्वया भण्डारे स्थाप्य, न विक्रेतव्यं। वज्राकारादयो लोहं विना न वज्रादि लातुमीशते। ततोऽर्जुनोऽखिलं लोहं भण्डारे चिक्षेप। क्रमाल्लोहे निष्ठिते ते भीमादयो राजपुत्रा लोहं विना वज्रादीन् लातुं समाग-यितुं न समर्था बभूवुः। ततः साधिकं वज्रादि तोलयित्वा लोहं गृह्णते। ततोऽर्जुनस्य बहुले धने जाते हया हस्तिनो रथाः पदातयो बहवोऽभूवन्। क्रमान्महद्राज्यं जातम्। अर्जुनोऽपि भूपपुत्रो सुखी जातः। उक्तं च——

जह रन्नो विसएसुं, वइरे कणगे य रययलोहे अ।
चत्तारि आगरा खलु, चउण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥१॥

चिंता लोहागरिए, पडिसेहं कुणइ सो उ लोहस्स।
वयराए हि अगहणं, करंति लोहस्स तिन्निअरे ॥२॥

एवं चरणंमि ठिओ, कारइ गहणं विहीइ इयरेसिं।
एएणं कारणेणं, हवइ हु चरणमहिड्ढिअं ॥३॥

द्रव्यानुयोगो दृष्टिवादः ॥१॥ धर्मानुयोग उत्तराध्ययनादि ॥२॥ गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञ-प्त्यादिः ॥३॥ चरणानुयोग ओघनिर्युक्त्यादिः ॥४॥

एतेषु चरणकरणानुयोगो मुक्तिहेतुः स्यात् ।

इति धर्मविषये वज्र–रत्न–लोहाकरादिसम्बन्धे द्रव्य–धर्म–गणित चरणानुयोगसम्बन्धः ॥१६४॥

[165] अथ प्रथम चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बन्धः ।

बालाईणणुकम्पा, सखडिकरणंमि होइ अगारीण ।
उम बीअ मच, रन्ना दिन्न जणवयस्स ॥१॥
एव थेरहिं इमा, अपावमाणाण पयविभाग तु ।
साहूणणुकम्पट्ठा, उवहिट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥२॥

तथाहि–कस्मिन् ग्रामे विवाहे जायमाने बालाना प्रातरेवानुकम्पार्थे सुकुमारिकादिना प्रथ मालिका दीयते । अन्येषां वृद्धानां मध्याह्ने । एव प्रथमदीक्षितानां साधूनां प्रथममोघनिर्युक्तिर्दीयते भाण्यते पश्चात्क्रमाच्छास्त्राणि । एव बाला प्रथमदीक्षिता साधव सुखिन स्युः ।

इति प्रथम चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बन्धः ॥१६५॥

[166] अथ धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्धः ।

अवमे दुर्भिक्षे सर्वा प्रजा धान्य विना म्रियमाणा दृष्ट्वा दयालुः—प्रजासु सर्वासु राजा वदते । ततो राजा भाण्डागाराद् धान्य कर्षयित्वा प्रजाभ्यो ददौ । प्रजा सुखिन्योऽभूवन् एव जिनैरोघनियुक्तिर्दत्ता । इति धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्धः ॥१६६॥

[167] अथ सन्दिग्धजल्पने सम्बन्धः ।

उज्जयिन्यां मालवाख्या भूपा आगत्य मनुजान् हरन्ति । ततो लोका बिभ्यति ।

एकस्मिन् कूपेऽरघट्टमाला पतिता । तदैकेन नरेणोक्त—माला पतिता । अपरेण ज्ञातं मालवाः, ततो मालवा मालवाः पतिता इति शब्दे श्रुते भयाल्लोका नष्टा ।

इति सन्दिग्धजल्पनसम्बन्धः ॥१६७॥

[168] अथ हितोपदेशे धर्माद्देवा अपि साम्निध्य कुर्वन्तीति विषये कथा ।

कलिङ्गदेशे कञ्चनपुरे धर्मिष्ठाः श्राद्धा वसन्ति । सातिशयज्ञानिनः सूरयस्तत्र भव्यजीवप्रतिबोधायागता विहरन्त । मार्गे गच्छतां तेषां सूरीणामेकस्य वृक्षस्य महत अधो देवता स्त्रीरूपधरा सकरुण रोदिति । दिनद्वय त्रय दृष्ट्वा सूरि प्राह—भो स्त्रि ! किं रोदिषि । साऽवग्—अहं कारणेन रोदिमि । गुरुः प्राह—कि कारणम् ? साऽवग्—अहमस्य पुरस्याधिष्ठात्री । अस्मिन् पुरे साधव स्वाध्यायादिपुण्य कुर्वन्ति प्रासादाः सन्ति । पुरमेतज्जलप्रवाहेण प्लावयिष्यते । गुरुः प्राह किमभिज्ञानमस्ति । सा देवताऽवग्—कल्ये भवत्सम्बन्धी साधुयुग्म विहरिष्यति तस्य रुधिरं

भविष्यति । ततस्तद्दृष्ट्वा युष्माभिर्नष्टव्यं । यत्र रुधिरं दुग्धं भवति तत्र स्थातव्यं । एतत्सर्वं देवतोक्तं गुरुभि श्राद्धानां पुर. प्रोक्तं । ततो द्वितीयदिने दुग्धं रुधिर भूतं दृष्ट्वा गुरुभिर्नष्टं । यत्र तद् दुग्धं जात तत्र गुरुभिः स्थित, ये च गुरुभि मह निर्गतास्तेऽपि यत्र गुरवः स्थितास्तत्रागताः । पश्चान्नदीप्रवाहेण पुरं सर्वं प्लावित । ये स्थिता मृतास्ते, ये च गुरुभि. सार्द्धं निर्गताश्चिर जीवितास्ते च धर्मं चक्रुः । यत्र रुधिर दुग्ध जातं तत्र पुर स्थापित, श्राद्धा वसन्ति स्म । गुरव स्थिताः प्रासादा अर्हतां निष्पन्ना ।

इति हितोपदेशधर्माद्देवा अपि सान्निध्य कुर्वन्तीति विषये कथा ॥१६८॥

[169] अथ जिनाज्ञापालने कथा ।

रन्नो तणघरकरणं, सचित्तकम्मं गाममामिस्स ।
दुन्हंपि दंडकरणं, विवरीअमन्नेणवणुओ अ ॥ १ ॥

जह नरवइणो आणं, अइक्कमंता पमायदोसेणं ।
पावंति बंधवहगोहछिज्जमरणावसाणाणि ॥ २ ॥

अत्र कथा—एकेन भूपेन एको ग्रामश्चन्द्रपुराह्वः सेवकस्य दत्तोऽन्योन्यस्य लक्ष्मीपुराह्व । अन्यदा राज्ञा ज्ञापित—अहं चन्द्रपुरे समेष्यामि । तदा ग्रामस्वामिना लोकैश्च राज्ञोऽर्थं तृणकुटीर कृत । ग्रामेशस्य वर्यं सचित्रकर्म्म च । राजा तत्र गत । राज्ञा स्वोत्तारस्तृणमयो दृष्टः । ग्रामस्वामिनः सचित्रकर्म्ममयश्च, ततो राज्ञा लोका ग्रामेशश्च दण्डितः । एवं भूपतुल्यो जिन., ग्रामेशतुल्या गुरव, ग्रामलोकतुल्या श्राद्धाः । ये जिनेन्द्रोक्त धर्मानुष्ठान कुर्वन्ति ते सुखिनः स्यु., ये न कुर्वन्ति ते दुःखिनः स्युः ।

इति जिनाज्ञापालने कथा ॥ १६९ ॥

[170] अथ जिनेन्द्रगुरुमातृपितृसुहृदादिवचःपालने दृष्टांतः ।

जिअसत्तुदेविचित्तसहपविसणं कणगपिट्ठपासणया ।
डोहलदुब्बलपुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥ १ ॥

सीवन्निसरिसमोअग – करणं सीवन्निरुक्खहिट्ठासु ।
आगमणकुरंगाणं, पसत्थमपसत्थउवमाओ ॥ २ ॥

विइय मेअं कुरंगाण, जया सीवन्निसीवइ ।
पुराविवाया वायंति, न उण पुञ्जगपुञ्जगा ॥ ३ ।

वसन्तपुरे जितशत्रोर्भूपस्य धारिणी पत्न्यभूत् । सा चैकदा चित्रसभाया गता कनकपृष्ठमृगान् दृष्ट्वा दोहदं प्राप्य वेति दध्यौ । "सा धन्या स्त्री या एवंविधमृगचर्मसु सुकुमालेषु

एतेषु चरणकरणानुयोगो मुक्तिहेतु' स्यात् ।

इति धर्मविषये वज्र-रत्न-लोहाकरादिसम्बन्धे द्रव्य-धर्म-गणित चरणानुयोगसम्बन्ध ॥१६४॥

[165] अथ प्रथम चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बधः ।

बालाईणणुकपा, सखडिकरणमि होइ अगारीण ।
उभे बीअ भत्त, रक्षा दिन जणनयस्स ॥१॥

एव थेरेहिं इमा, अपावमाणाण पयविभाग तु ।
साहूणणुकपट्ठा, उवहिट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥२॥

तथाहि-कस्मिन् ग्रामे विवाह जायमाने बालाना प्रातरेवानुकम्पायै सुकुमारिकादिना प्रथ मालिका दीयते । अन्येषां वृद्धानां मध्याह्ने । एव प्रथमदीक्षितानां साधूनां प्रथममोघनियुक्तिर्दीयते भाण्यते पश्चात्क्रमादपरशास्त्राणि । एव बाला प्रथमदीक्षिता साधव सुखिन' स्यु' ।

इति प्रथमं चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बन्ध ॥१६५॥

[160] अथ धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्ध ।

अवमे दुर्भिक्षे सर्वाः प्रजा धान्य विना म्रियमाणा दृष्ट्वा वृद्धयौ—प्रजासु सतीषु राजा वर्धते । ततो राजा भाण्डागाराद् धान्य कर्षयित्वा प्रजाभ्यो ददौ । प्रजा सुखिन्योऽभूवन् एव जिनै-रोघनियुक्तिर्दत्ता । इति धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्ध ॥१६६॥

[167] अथ सन्दिग्धजल्पने सम्बन्धः ।

उज्जयिन्यां मालवाख्या भूपा आगत्य मनुजान् हरन्ति । ततो लोका बिभ्यति ।

एकदा कूपेऽरघट्टमाला पतिता । तदैकेन नरेणोक्त—माला पतिता । अपरेण ज्ञात मालवा', ततो मालवा मालवाः पतिता इति शब्दे श्रुते भयाल्लोका नष्टा ।

इति सन्दिग्धजल्पनसम्बन्ध ॥१६७॥

[168] अथ हितोपदेशे धर्माद्देवा अपि सान्निद्ध्य कुर्वन्तीति विषये कथा ।

कलिङ्गदेशे काञ्चनपुरे धर्मिष्ठा' श्राद्धा वसन्ति । सातिशयज्ञानिनः सूरयस्तत्र भव्यजीव-प्रतिबोधायागता विहरन्त । सहाया गच्छता तेषां सूरीणामेकस्य वृक्षस्य महत अधो देवता स्त्रीरूपधरा सकम्पं रोति । विलक्ष्य त्वय दृष्ट्वा सूरि प्राह—भो कि ! किं रोदिषि । साऽवग्—अहं कारणेन रोदिमि । गुरु' प्राह—कि कारणम् ? साऽवग्—अहमस्य पुरस्याधिष्ठात्री । अस्मिन्पुरे साधवः स्वाध्यायादिपुण्य कुर्वन्ति प्रासादा' सन्ति । पुरमेतन्नदीप्रवाहेण प्लावयिष्यते । गुरु प्राह किमभिज्ञानमस्ति । सा देवताऽवग्—कल्ये भवत्सम्बन्धी साधुयुग्म विहरिष्यति तस्य रुधिरं

भविष्यति । ततस्तद्दृष्ट्वा युष्माभिर्नष्टव्यं । यत्र रुधिरं दुग्धं भवति तत्र स्थातव्यं । एतत्सर्वं देवतोक्तं गुरुभि श्राद्धानां पुर प्रोक्तं । ततो द्वितीयदिने दुग्धं रुधिरं भूतं दृष्ट्वा गुरुभिर्नष्टं । यत्र तद् दुग्ध जात तत्र गुरुभिः स्थित, ये च गुरुभि सह निर्गतास्तेऽपि यत्र गुरवः स्थितास्तत्रागता । पश्चान्नदीप्रवाहेण पुरं सर्वं प्लावितं । ये स्थिता मृतास्ते, ये च गुरुभि सार्द्धं निर्गताश्चिरं जीवितास्ते च धर्मं चक्रु । यत्र रुधिर दुग्ध जातं तत्र पुर स्थापित, श्राद्धा वसन्ति स्म । गुरव स्थिताः प्रासादा अर्हतां निष्पन्ना ।

इति हितोपदेशधर्माद्देवा अपि सान्निध्य कुर्व्वन्तीति विषये कथा ॥१६८॥

[169] अथ जिनाज्ञापालने कथा ।

रन्नो तणघरकरण, सचित्तकम्मं गाममामिस्स ।
दुन्हंपि दंडकरणं, विवरीअमन्नेणुवणुओ अ ॥ १ ॥

जह नरवइणो आणं, अइक्कमंता पमायदोसेणं ।
पावंति बंधवहगोहछिज्जमरणावमाणाणि ॥ २ ॥

अत्र कथा—एकेन भूपेन एको ग्रामश्चन्द्रपुराह्वः सेवकस्य दत्तोऽन्योन्यस्य लक्ष्मीपुराह्व ।
अन्यदा राज्ञा ज्ञापित—अहं चन्द्रपुरे समेष्यामि । तदा ग्रामस्वामिना लोकैश्च राज्ञोऽर्थं तृणकुटीर कृतं । ग्रामेशस्य वर्यं सचित्रकर्म्म च । राजा तत्र गत । राज्ञा स्वोत्तारस्तृणमयो दृष्टः । ग्रामस्वामिनः सचित्रकर्म्ममयश्च, ततो राज्ञा लोका ग्रामेशश्च दण्डितः । एवं भूपतुल्यो जिन, ग्रामेशतुल्या गुरव., ग्रामलोकतुल्या श्राद्धाः । ये जिनेन्द्रोक्तं धर्मानुष्ठान कुर्वन्ति ते सुखिनः स्यु', ये न कुर्वन्ति ते दुःखिनः स्यु. ।

इति जिनाज्ञापालने कथा ॥ १६९ ॥

[170] अथ जिनेन्द्रगुरुमातृपितृसुहृदादिवचःपालने दृष्टांतः ।

जिअसत्तुदेविचित्तसहपविसणं कणगपिट्ठपासणया ।
डोहलदुब्बलपुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥ १ ॥

सीवन्निसरिसमोअग – करणं सीवन्निरुक्खहिट्ठासु ।
आगमणकुरंगाणं, पसत्थमपसत्थउवमाओ ॥ २ ॥

बिइय मेअं कुरंगाणं, जया सीवन्निसीवइ ।
पुराविवाया वायंति, न उण पुञ्जगपुञ्जगा ॥ ३ ।

वसन्तपुरे जितशत्रोर्भूपस्य धारिणी पत्न्यभूत् । सा चैकदा चित्रसभाया गता कनकपृष्ठमृगान् दृष्ट्वा दोहदं प्राप्य चेति दध्यौ । "सा धन्या स्त्री या एवंविधमृगचर्मसु सुकुमालेषु

स्वपिति, एवंविधानां मांसानि च खादन्ति" । एवंविधदोहलेन दुर्बलाऽभूद्धारिणी, राज्ञा दुर्बलकारणे पृष्टा राज्ञी स्वदोहदोत्पत्तिस्वरूपं जगौ । ततो राज्ञा दोहदस्वरूपं सेवकानामग्रे प्रोक्तं । ततस्ते सेवका जगुः । तेषां मृगाणां श्रीपर्णीफलाहारो वल्लभो भवति । यत्र श्रीपर्णीफलानि भवन्ति तत्रावश्यं भक्षयितुमायान्ति । अधुना श्रीपर्णीफलभवनकालो नास्ति तेन कृत्रिमाणि श्रीपर्णीफलानि कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षाणामधो मुच्यन्ते । तेषु ते मृगाः समायान्ति भक्षयितुं तानि ततो म्रियन्ते मृगाः तान् हत्वा राज्ञ्या दोहदः पूर्यते । एवं विचार्य राज्ञा कनकपृष्ठमृगग्रहणार्थं सेवकाश्चालिताः ते च तस्मिन् वने गताः, श्रीपर्णीतरूणामधः कृत्रिमश्रीपर्णीफलैः पुञ्जाः कृताः । ते नृपसेवकाश्छन्नं स्थिताः । तत्र शनैः शनैः कनकमृगाः श्रीपर्णीफलपुञ्जं दृष्ट्वा यूथपतेः पुरो मृगा जगुः—श्रीपर्ण्यः फलिताः । ततो यूथपतिस्तत्राभ्येत्य श्रीपर्णीफलपुञ्जान् वीक्ष्य दध्यौ—अस्मिन्काले श्रीपर्णीफलानि न भवन्ति । कदाचिद्भवन्ति तदा पुञ्जा न भवन्ति । वायुवशात्कदाचित्पतन्ति तदा पुञ्जा न भवन्ति । इत्यादि ध्यात्वा यूथपतिः प्राह—अत्र केन कूटं कृतमस्ति तेन वृक्षाणामधो न केनापि यातव्यं, यूथपतिना प्रोक्ता ये न तत्र गतास्ते सुखिनाऽभूवन् ये च गतास्ते हताः । एवं येऽर्हदुक्तं गुरुवचनं कुर्वन्ति ते स्वर्गादिभाजः स्युः, ये जना न कुर्वन्ति गुरूक्तं ते नारकादिदुःखभाजो भवन्ति ।

इति जिनेन्द्रगुरुमातृपितृसुहृदादिवचःपालने दृष्टान्तः ॥१७०॥

[171] अथ हितोपदेशे कथा ।

हत्थिग्गहण गिम्हे, अरहट्टेहिं भरतु सरसीण ।
अट्टुदए नलवणा, अभिरुद्धा गयकुलागमण ॥१॥

विइअ मेअं गयकुलाण, जयारोहंति नलवणा ।
अन्नया वि झरंति झरा, नय एवं बहु उदगा ॥२॥

श्रीपुरे अरिमर्दनभूपस्य हस्तिनां ग्रहणेच्छाऽभूत् । तेन राज्ञा कुञ्जरग्रहणाय पुरुषा आदिष्टाः । ततस्ते राजपुरुषा दध्युरिति यत्र हस्तिनस्तिष्ठन्ति तत्र नलवनं शुष्कं ग्रीष्मकालजलं तत्र नास्ति तेनारघट्टकरणसरणिप्रयोगेण जलं कर्षयित्वा नलवनमारोप्य सिच्यते । ततो नलवनं प्ररूढं हरितमयं नलवनं दृष्ट्वा हस्तिनो यूथपतेः पुरः प्रोचुः—नलवनं प्ररूढं तत्र गम्यते नलवनतृणानि भक्ष्यन्ते । ततस्तत्र समीपे समेत्य सरणिप्रयोगेण पानीयमागच्छत् प्ररूढं नलवनं दृष्ट्वा हस्तीश्वरोऽपरेषां हस्तिनां पुरः प्रोचुः—ग्रीष्मकाले एवंविधं जलं न दृश्यते । पुरा कदाचिद् दृश्यते चेत्तदा एवंविधानि न तृणानि दृश्यन्ते । तेनात्मनां ग्रहणाय केनचित्कूटं कृतमस्ति । अत्र न स्थीयते । तृणानि न भक्ष्यन्ते । एवं यूथपतिना प्रोक्ताः केचिद्यूथपतिप्रोक्तं मन्यन्ते स्म केचिन्न मन्यन्ते । यैर्हस्तिभिः स्वामिवचः प्रतिपन्नं ते सुखिनोऽभूवन् । यैर्न प्रतिपन्नं ते धृता हता दुःखिनोऽभूवन् ।

एवं यैर्गुरुमातृपितृतीर्थकृद्वचो मेने ते स्वर्गादिसुखभाजोऽभवन्, यैर्गुर्वादिवचो न मेने ते नरकतीर्यग्भवादिदुःखं प्राप्यते । इत्यादिहितोपदेशे कथा ॥१७१॥

[172] अथ स्वैरिवालनकथा ।

श्रीपुरे भीमो राजा राज्यं करोति। तस्य मस्तके टालिः पतिता। रोमाणि न निर्गच्छन्ति। तदा टालिस्फेटनाय वैद्यपार्श्वे औषधं पृच्छति स्म। तत्र एकदा तस्मिन्ग्रामे आरामिकेण वाटिका रोपिता। त्रपुसीप्रमुखफलानि वर्याणि जातानि। अन्यदा वाटीपार्श्वे गच्छन् कोऽपि धूर्त्तो वैद्य त्रपुसीकृते प्रविष्टः। तदा तेन ताडितो हक्कितश्च रे दुष्ट! त्वं मम वाट्यां प्रविशसि किं? ततो धूर्त्तो ग्राममध्ये गत्वा दध्यौ कस्य मया शिक्षा दास्यते। ततो राज्ञा मिलितः। राज्ञा पृष्टश्च कानि कानि शास्त्राणि भणितानि भवता? तेनोक्तं—वैद्यक—यन्त्रमन्त्रचूर्णवशीकरणादिशास्त्राणि भणितानि मया। ततो राजाऽवग्—भो वैद्य! तथा कुरु यथा मम टालिर्याति। धूर्त्तोऽवग्—अमुकारामिकवाटी सवृत्ति प्रज्वाल्यते तस्य भस्म स्याञ्जनं यदि मस्तके खण्डयते सप्त दिनानि यावत्तदा टालिर्याति। ततो राज्ञादिष्टः सेवकैस्ता वाटी भस्मसात्कारिता। ततस्तत्रागत्य धूर्त्तोऽवग्-वाटी किं रक्ष्यते, तेन ततो मालिकोऽवग्-भो धूर्त्त! मयापराधो यः कृतः स क्षम्यता। ततो राजा जगौ-कथं मस्तके रक्षा लगाप्यते। धूर्त्तोऽवग्—भवता मस्तके रक्षया लगयता घोटिका न स्मरणीया। ततः सप्त दिनानि राज्ञा रक्षा मस्तके लगयामास घोटिकां स्मरन्। सप्तदिनादनु स धूर्त्तोऽवग्—कथं रक्षा लगिता शिरसि। सा मम मनसि घोटिका यातीति स्मरन् रक्षां लगयामासाहं। ततो धूर्त्तोऽवग्-तव घोटिका विस्मृता न तेन टालिर्न गता।

इति स्वैरिवालने कथा ॥१७२॥

[173] अथ पतितपुष्पचटापने नीचकुलप्राप्तिसम्बन्धः ।

चाण्डालस्य पत्न्या सदन्तः पुत्रो जनितः सन् त्यक्तः अवकरे, स चापोत्कटेन भूपेन गृहीतः वर्द्धितः सर्वेषां मान्योऽभूत्। क्रमात्केवली राज्ञा पृष्टः। असौ पुत्रो मया पालितः। अनेन किं पुण्यं कृतं पुरा? केवली जगौ-अनेन पुत्रेण श्रीजिनेन्द्रस्य पूजां कुर्वता एकदा पद्मनिकाया अध पतित पुष्प प्रभोश्चटापितं भक्त्या, भक्तिपूजाप्रभावात्तत्र पालितपुत्रोऽखिलराज्यपूज्यमानोऽभूद्यदनेन पतितेन पुष्पेण प्रभुः पूजितः तेन चाण्डालकुलं प्राप्य तत्र पालितपुत्रतां प्राप। ततः प्रभुपूजाप्रभावात् भवे भवे वर्द्धमाना श्रियं प्राप्य मुक्तिं यास्यति।

इति पतितपुष्पचटापने नीचकुलप्राप्तिसम्बन्धः ॥१७३॥

[174] अथ हितोपदेशे वानरयूथसम्बन्धः ।

एकस्मिन्वने वानरयूथपतिः शुष्कवनं दृष्ट्वा वानरान्प्रति प्रोवाच। गच्छत यूयं शाद्वलं वनं पश्यत। ततस्ते वानरा वनं वीक्ष्य यूथपतेः पुरः प्रोचुः—ततो यूथपतिर्वानरैस्तस्मिन्वने ययौ, शाद्वलानि तृणानि वर्याणि फलानि भक्षितानि तैः। द्रहे पयः पातुं ययौ यूथपतिः। तदा तत्र यूथेशस्तस्मिन् द्रहे पयः पातुं आगच्छतां पशूनां पदानि दृष्ट्वा पश्चाद्वलमानानामदृष्ट्वा यूथेशो जगौ—भो वानरा! यूयं नलिनीपत्रैः पयोऽत्र पिबन्तु न च मध्ये प्रवेष्टव्यं। अथ ह्रदः

सापायो दृश्यते । तेन यूथेशेनोक्तं ये चक्रुस्ते सुखिनो जाता ये च न चक्रुस्ते मृता । एवं ये गुरुमातृपितृस्वामिमित्रादिवचः कुर्वते ते सुखिनो भवन्ति नेतरे ।

इति हितोपदेशे वानरयूथसम्बन्धः ॥१७४॥

[175] अथ विनये परस्परं भद्रिकासाधुसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे भद्रिका श्राविका वसति । तस्याश्चेट्यस्ति । अन्यदा भद्रिका क्षेत्रे गता । साधवस्तस्या गृहे भिक्षार्थमाययुः । चेटी धर्मलाभयामास तदा चेट्या कूरो दत्तः साधुभ्यः । साधुना मुद्गा मार्गिता तया तेऽपि दत्ता । पुनः पुनः मार्गितं घृतदध्यादि दत्तं च । साधुर्गतः भद्रिकागता जेमितुमुपविष्टा कूरं याचितवती, चेटी साधवे ददे कूरः, भद्रिकाऽवग्-वयं कृतं मुद्गा मार्गिता भद्रिकया, चेट्योक्तं साधवे दत्ता एवं यद्यद्याचते तत्तत्साधवे दत्तमिति चेट्योक्तं भद्रिका रुष्टा । गुरुपार्श्वे गत्वाऽवग्-भगवन् ! युष्माकं साधवः अनीदृशा विद्यन्ते । यतो मद्गृहसत्कं यतयः कूरमुद्गदध्यादि याचित्वा छलुदासीपार्श्वात् । ततो गुरुभिः साधूनाकार्योक्तं—भो साधवः ! एवं विहरणे पापं लगति सारणादिः प्रोक्तं च । ततः स साधुरुत्थाय गुरुं प्रणम्य जगौ—अहमद्य रसगृद्धोऽभूवमद्य मयैव कृतमतः परं न करिष्ये । ततो भद्रिकाऽपि साधुवचः श्रुत्वाऽवग्—अहं मुग्धाऽभूवं यद् गुरवः उपलम्भिताः ततो मिथो गुरुसाधुभद्रिकामिथ्यादुष्कृतं चक्रुः ।

एवं विनये परस्परं भद्रिकासाधुसम्बन्धः ॥१७५॥

[176] स्वपरिवारचिन्ताकरणवणिक्पत्नीद्वयसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे द्वौ सोदरौ वणिजौ जातौ । तयोः रूपश्रीधर्मश्रियौ प्रिये । ताभ्यामन्यस्मिन्ग्रामे कृषिमण्डिता । एकस्य महिला प्रभाते उत्थाय मधूदकेन मुखं प्रक्षाल्य दन्तान् धावयित्वा सर्वाभरणवस्त्रैर्भूषिता तिष्ठति । सा च कर्मकराणां सारां न चक्रे । एवं कुर्वत्यास्तस्याः कर्मकरादयो गताः । क्रमाद् गृहं कमलक्ष्म्यादिरहितं जातं । ततः सा दुःखिनी जाता ।

अन्यस्य भ्रातुः पत्नी पुत्रपौत्रसेवककर्मकरादीनां सारां भोजनादिना तु कुर्वाणा भुङ्क्ते । आभरणादि च परिधत्ते स्म । ततस्तस्या गृहं सदा पुत्रकर्मकरलक्ष्म्यादिभृतं जातं । ततः सा चिरं सुखिनी जाता ।

एवं यः साधुरन्यो वा गृहस्थः आत्मनः सारां करोति नान्येषां परिवारसत्कानां स दुःखी स्यात् प्रथमभ्रातृपत्नीवत् । यस्तु साधुगृहस्थो वा स्वपरिवारचिन्तां कृत्वा आत्मचिन्तां करोति स द्वितीयभ्रातृपत्नीवत् सुखी भवति ।

इति गृहसारासारकरणदोषादौ—स्वपरिवारचिन्ताकरणवणिक्पत्नीद्वयसम्बन्धः ॥१७६॥

[177] अथ दक्षत्वे मत्स्यसम्बन्धः ।

एकस्मिन् जलाशये मत्स्यान् धर्त्तु मत्स्यवन्धेन मांसं यन्त्रवद्ध कृत्वा मुक्तं तदा तत्रैको मत्स्यो विचक्षणस्तत्र शनैः शनैः समेत्य यन्त्रस्य परित स्थितं मांसं भक्षयित्वा पृथक्तिष्ठति। क्रमात्स मत्स्यः सर्वं मांसमाद। ततो मत्स्यवन्धे सावधानीभूते सति पुच्छेन जलं हन्ति मत्स्यः तदा मत्स्यवन्धकस्तं तथाविधं मत्स्यं दृष्ट्वा दध्यावेत्रमसौ यन्त्रे न पतिष्यति ततश्चैव ध्यायन्तं मत्स्यवन्धकं दृष्ट्वा मत्स्योऽवग्—अहमेकदा वलाकया गृहीतो यदा तदा वलाका मां मुखे क्षिपति यदा तदाऽहं वक्रो भवामि। ततो वलाकया मुक्तो जलेऽगम। पुनर्वलाकया पूर्ववद्गृहीतो जलेऽगममेव वारत्रय वलाकामुखे वक्रत्वेन पतित्वा नष्ट। ततोऽध्यौ गत, तत्र मत्स्यवन्धेन वलक (य) मुखानि मण्डितानि दृष्टानि मया, तेपु वलयमुखेपु पतितोऽहं २१ वारा वलयमुख त्रोटयित्वा कदाचिन्मायया मृतप्रायो भूत्वाऽऽस्थाम यदा तदा मत्स्यवधो मां मत्वा मुमोच। ततोऽह नष्ट्वा जलेऽपत दैवयोगादह जले स्थितः क्रमाद् ह्रद शुष्क मत्स्यवन्धस्तत्रागात् कियन्तो मत्स्या मृता. कियन्तो गृहीतास्तेन। ततोऽहं मत्स्य शूल मुखे स्वय क्षिप्त्वाऽऽस्था। ततो मत्स्यवन्धो दध्यौ—अय मत्स्यो मृत। ततो मत्स्यवन्धोऽन्यस्मिन् ह्रदे गत. यावत्प्रक्षालयितुं लग्नो मत्स्यान् तावदहमुत्प्लुत्य जलेऽगमम्। सोऽहं मत्स्यो भवता ग्रहीतु वाञ्छयते। तेन ते महती धृष्टता, अहं तु वहुधृष्टोऽभूव। यो वहुस्थानेपु धृष्ट स कुत्रापि न बध्यते, यत.—

(गलमंसंडगभक्खण गल्लस्स पुच्छेण घट्टणया ।)*
अह मंसंमि पहाणो, वायंतं मच्छियं भणइ मच्छो।
किं झायसि तं एवं, सुणु भाव जहा अहरिओमि ॥१॥
तिबालगमुहे मुक्को, तिखुत्तो वलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेन, सयं छन्नोदए दहे ॥२॥
एयारिसं महं सत्तं, मज्झ घट्टीअथट्टणे ।
इच्छंसि तं गले घित्तुं अहो ते अहरियआ ॥३॥

एव प्रोच्य मत्स्यो जले गतः। एव जनः कदाचिद्वह्वीषु आपत्सु आगतासु जीवति सम्पदं लभते। एव यः स्वकार्यं पुण्य वा कुर्वन् अन्येन न छल्यते स सुखी भवति।

इति दक्षत्वे मत्स्यसम्बन्धः ॥१७७॥

[178] भाषासमितिजल्पने देवदत्तसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे देवदत्त. पुमान् ढेढस्य१ मालाया२ वर्जरिकाया३ गर्दभस्य४ च नाम न गृह्णाति, सपापत्वात्। स चान्यदा स्वक्षेत्रे वर्जरीगालिनि गतः सन् तदा मालाचटित ढेढं

* इय गाथा सम्पूर्णा नोपलभ्यते कुत्रापि। संपा०

दोहनार्थं गर्दभं बजरीं खादन्तं वीक्ष्य भाषासमित्या जगौ—

"रे कुमाणुस १ कुरूपि चड्यो २ ताहरउ कुधन ३ कुलंठ ४ खायइ ।"

एतत् श्रुत्वा देवः सावधानोऽजनि । ततः क्षेत्रं रक्षितं तेन एवं बुद्धिमद्भिर्वक्तव्यम् ।

इति भाषासमितिजल्पने देवदत्तसम्बन्धः ॥१७८॥

[179] पुण्योपरि चतुर्वणिक्पुत्रसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे चत्वारः श्रेष्ठिपुत्रा बभूवुः । क्रमात् श्रेष्ठिना परलोकं गच्छता पुत्रेषु धनं वितीर्य कुटुम्बभारः स्थापितः । ते तु पृथग्भूताः । ज्येष्ठः पुत्रो यानं क्रयाणकभृतं कृत्वाब्धौ चचाल । अन्यस्मिन् द्वीपे गत्वा चतुर्गुणं लाभं प्राप्यागात् स्वपुरं । द्वितीयस्तु यानं भृत्वा क्रयाणकैश्चचालाब्धौ स च दैवयोगात्सर्वं निगम्य स्वपुरमागात् । तृतीयस्तु परिधानवस्त्रसखा चचालान्यदेशे भूरिधनमर्जयित्वागात् । चतुर्थस्तु बाहुसखा चलितो बाहुसखा समागात् ।

एवं केचित्सुपुण्या जीवाः पश्चाद्भवादागच्छन्ति कृतसुपुण्याः परत्र सुखिनो भवन्ति, भरत-बाहुबल्यभयकुमारादिवत् १ । केचित्सुपुण्या आगच्छन्ति अकृतपुण्या यान्ति कोणिकभूपवत् २ । केचिन्निष्पुण्या आगच्छन्ति सुपुण्या यान्ति परत्र च कालिकसूरिकपुत्रवत् ३ । केचिन्निष्पुण्या आगच्छन्ति निष्पुण्या गच्छन्ति दुःस्थपुरुषवत् ते तु इहामुत्र दुःखिनः ।

इति पुण्योपरि चतुर्वणिक्पुत्रसम्बन्धः ॥१७९॥

[180] स्वपापप्रकाशक-कौटुम्बिकपत्नीसम्बन्धः ।

एकया कौटुम्बिकस्त्रिया पत्युर्वशीकाराय परिव्राजिकापार्श्वात् कूरः चूर्णेनाभिमन्त्रितः । तया स्त्रिया अनुकम्पया ध्यातं कदाचिदनेन चूर्णेन पतिर्मृतो भविष्यति तदा मम का गतिः, एवं ध्यायन्त्या तया कूरः उत्करटके क्षिप्तः । स कूरस्तत्र गर्दभेन भक्षितः । खरस्तस्य गृहद्वारे समेत्य द्वारं पुनः पुनर्घट्टयति रारटीति ततः पत्नी पत्या पृष्टा किमेष खरो द्वारं वारितोऽपि घट्टयति पुनः पुनः, ततस्तया स्वचेष्टितं प्रोक्तं तेन । ततः पत्नी सविशेषं मानिता परिव्राजिका दण्डापिता । एवं जीवः स्वपापप्रकाशकः सुखी स्यात् ।

इति स्वपापप्रकाशककौटुम्बिकपत्नीसम्बंधः ॥१८०॥

[181] अथ विनीतशिष्यसंबंधः ।

एका स्त्री सुरूपं साधुं दृष्ट्वा कामेच्छया भिक्षां चूर्णमिश्रितां कृत्वा तस्मै ददौ । सोऽपि साधुरात्तभिक्षः तामेव स्त्रियं हृदि स्मरन् गुरुपार्श्वं समागात् । गुरुहस्ते दत्ता यावत्तावद्गुरूणामपि मनस्तस्यां नार्यां विषयभोगासक्तं जातं । ततो गुरुणा साधुः पृष्टः भिक्षाप्राप्तिसम्बन्धः । साधुना यथाप्राप्तं प्रोक्तः । ततो गुरुणा रक्षया रक्षितं कारयित्वा परिष्ठापिता

भिक्षा। ततो गुरुणोक्तमत. पर त्वया तस्या स्त्रियो गृहे भिक्षार्थे न गन्तव्यं। साधुना तथेति प्रतिपन्नम्। इति विनीतशिष्यसंबंधः ॥१८१॥

[182] अथ गुरुभक्तसाधुसम्बन्धः।

एकया स्त्रिया साधुद्विष्टया विषमिश्रिता भिक्षा साधवे दत्ता यावत्तां लात्वा निर्गतः तावत्तस्य शिरोऽर्त्तिर्जाता। गुरूणा पार्श्वेऽभ्येत्य शिरोर्त्तिभिक्षाप्राप्तिसम्बन्धः प्रोक्तः साधुना। गुरुणा गन्धेन विषं ज्ञात। ततो रक्षया मिश्रित कृत्वा परिष्ठापितम, एव ये गुरुपार्श्वे स्वं भाव प्रकाशयन्ति ते सुखिनः स्यु। इति गुरुभक्तसाधुसम्बन्धः ॥१८२॥

[183] अथ लेपश्रेष्ठिकथा मिथ्यात्वत्यागे।

राजगृहपुरे लेपश्रेष्ठि मिथ्यात्ववासिताशयोऽभूत्' तस्य शिवभूतिनामा तापसो गुरुरासीत्। तस्योपदेशेन श्रेष्ठी वापीकूपतटाकप्रपादिवृक्षारोपणादिकृत्यानि बहूनि धर्मबुद्धया कारयामास। श्रेष्ठी तु यदा शिवभूतिरागच्छति तदा चतुःपञ्चयोजनानि सन्मुख याति। एकदा शिवभूतिः स्व यजमान वन्दापयित्वा स्वस्थाने गत।

इतस्तत्र पुरोद्याने श्रीवीरजिन समवासार्षीत् देवै. समवसरणं कृतम्। अनेके देवा राजानो जना वन्दितु ययु.। तदा श्रीवीर वन्दितु मित्रस्य जिनदत्तस्य धर्मिष्ठस्य सार्थे लेप. श्रेष्ठी ययौ, प्रभोर्धर्मोपदेशं श्रुत्वा श्राद्धधर्मं प्रपेदे। ततः प्रपादि न पूरयति स्नानादिमिथ्यात्वं न कुरुते, ततो लोका मिथ्यात्विनो वदन्ति अयं श्रेष्टी मूर्खः कुलक्रमागत धर्मं त्यक्त्वा जैन धर्मं कुरुते। श्राद्धास्तु प्रशसां कुर्वन्ति-'अय धन्यः पुण्यवानिति'। श्रेष्ठी तु लोकोक्त किमपि मनसि नानयति, स्वेष्टं जैनं धर्मं करोति। यतः—

सर्वथा स्वहितमाचरणीयं, किं करिष्यति जनो बहुजल्पः।
विद्यते स नहि कश्चिदुपायः, सर्वलोकपरितोषकरो यः ॥१॥

इत शिवभूतिस्तत्रागत। श्रेष्ठी तु समुख न गतः, ततस्तापसो दध्यौ—अयमग्रे पञ्चयोजनानि सन्मुखमायाति, ममोत्तारेऽपि नायाति ततो लोकमुखात्त श्राद्धं श्रुत्वा स्व शिष्यमाकारणार्थं प्रैषीत्। स त शिष्यमागतमपि श्रेष्ठी न जल्पयामास न नमति। तदा स पश्चाद्गत्वा स्वगुरो पार्श्वे यजमानस्य स्वरूप प्राह। ततस्तापसोऽभ्येत्यावग्—त्व केन विप्रतारितोऽसि, येन मां मुक्त्वाऽत्रास्थितः उत्थानाद्यपि न कुरुषे, अह गुरुस्तवासि।

लेप· प्रह—त्व स्नानादि कुर्वन् कारयन् अनुमोदयन् दुःखी भविष्यति जीवहिंसातः। 'इत्यादि प्रोच्य त गुरु त्यक्त्वा श्रीवीरोक्त धर्मं कृत्वा क्रमादीक्षा गृहीत्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्ति गतः।

इति लेपश्रेष्ठिकथा मिथ्यात्वत्यागे ॥१८३॥

[184] अथ शीले श्रीपतिकथा ।

श्रीपुरे धनः सार्थवाहस्तस्य श्रीपतिः पुत्रस्तस्य भार्या रूपवती, श्रीपतिः पत्नीयुतोऽत्यन्तं कामाभिलाषी क्षणमपि पृथक्स्थातुं न शक्नुते ।

एकदा श्रीपतिर्बहून् बलीवर्दान् वस्तुभिर्भृत्वा महान्तं सार्थं कृत्वा विदेशं प्रतिचिचलिषुः प्रियां प्रति प्राह—अहं त्वां विना क्षणं स्थातुं न शक्नोमि । प्रिया प्राहाहमपि तथाऽस्मि । श्रीपतिः प्राह—त्वमत्र तिष्ठ, विदेशे स्त्रीणां प्रतिबन्धः स्यान्नृणां । रूपवत्यवग् यदि त्वं मां सार्द्धं न नेष्यसि तदाहं मृता एव । ततः पतिं श्वशुरं श्वश्रूं मातरं पितरं पर्यवसाय्य पत्या सह सश्रृङ्गारा पुराद्बहिर्ययौ । श्रीपतिस्तुङ्गटिकायां स्थितः प्रियां प्रति प्राह—त्वं तिष्ठ गृहे, स्त्रियं प्रति बन्धो भवति विदेशे यदि सार्द्धं स्त्री न स्यात्तदा सुखेन व्यवसायः क्रियते । स्त्री प्राह—अहं सर्वथा न तिष्ठामि कदाग्रहं चक्रे ततो रात्रिमध्ये प्रियां सुप्तां मुक्त्वा छन्नं श्रीपतिः स्वसेवकं छन्नं पार्श्वे मुक्त्वा चचाल । प्रोक्तं च—'यथा करोत्येषा प्रिया तथा मम पार्श्वं वक्तव्यम्' ।

इतः पश्चात्प्रहरे जागरिता रूपवती पतिमदृष्ट्वा सार्थमपि च चकिता रुदितुं लग्ना भोः पते ! कथं मामनापृच्छ्य गतोऽसि अहं त्वयि मुधा स्नेहं करिष्ये । त्वं तु निःस्नेहोऽभूः । एवं विलप्य पुनः प्राह—अहं मुग्धा मम भर्त्ता कुशलोऽस्ति विदेशे नराणां स्त्रियः प्रतिबन्धो भवति मां च सार्द्धमनेष्यत्तदा मम मोहेन द्रव्यं विनैव गृहे आगमिष्यत् । अहं तु अबला मूर्खा किमपि हिताहितं न जाने मया मुधा कदाग्रहः कृतः । एवं प्रोच्य दध्यौ आभरणसद्वस्त्राम्बूलादिसर्वं वस्तु रागकारणं भवति । एवंविधेषु वस्त्रादिषु सत्सु शीलं पालयितुं मया न शक्यते । भर्त्ता बहुभिर्वर्षैरागमिष्यति तथा करोमि यथा शीलरक्षा भवति । ततः सर्वाण्याभरणान्युत्ताय धवलां शाटिकां कम्बलिकां च परिधाप्याभरणवस्त्राणि ग्रन्थौ बद्ध्वा श्वशुरगृहे गता । तदा तां तादृशीमागच्छन्तीं दृष्ट्वा श्रीपतिमाता दध्यौ—मम पुत्रोऽद्यैव किं केन हतो मृतो वा रागेण यतो वधूः एवंविधवेषाऽभूत् । ततो रुदितुं लग्ना तदा स्नुषाऽवग्-मातर्मा रुदः । भवतः पुत्रः कुशलोऽस्ति । मया तु स कारणमेव एवंविधो वेषः कृतोऽस्ति । ततः स्नुषया स्वपतिजल्पनस्वशीलरक्षणादिस्वरूपं धवलवस्त्रपरिधापनादिजगौ च इति प्रोक्तं । तन्न श्वश्रूर्जगौ त्वं च यासि यस्याः स्वशीलरक्षायै ईदृग्मनोऽस्ति एतत्सर्वं पश्चान्मुक्तपुरुषमुखाच्छ्रीपतिः स्वपत्न्याः स्वरूपं ज्ञात्वा जहृषे । ततः कालान्तरे द्वादशवर्षप्रान्ते श्रीपतिर्धनं बहूपार्ज्य समागात्क्रमात्तयोः पुत्रत्रयं जातं महता महेन परिणायितं । अनेकास्तीर्थयात्राः कृताः । सप्तक्षेत्र्यां बहुधनं व्ययितं । देवगुर्वोर्भक्तिं कृत्वा ताभ्यां ततो द्वावपि प्रव्रजितौ जात्वा स्वर्गं गतौ पश्चान्मुक्तिं गमिष्यतः ।

इति शीले श्रीपतिकथा ॥१८४॥

[185] मिथो विरोधे पञ्चशतसुभटकथा ।

एकस्य राज्ञो भीमस्य बुद्धिसारो मन्त्री कुशलो बभूव । एकदा राज्ञोक्तं—भो मन्त्रिन् ! त्वया परीक्ष्यैव सेवकाः स्थाप्याः ।

अत्रान्तरे सुभटानां पञ्चशती समागात् । राज्ञो मिलिताः सम्मानिताः । ततो मन्त्रिणा

परीक्षार्थं सर्वेषा भोजनं दापितं । सन्ध्यायां सर्वेषामेक एव वासः, एकैव शय्या शयनाय दत्ता । ते सर्वे रात्रौ मिथो जगुर्ममाय शय्यार्पिता तेनाह स्वपिमि । द्वितीयोऽवग्— अहमेव स्वपिमि । एव पञ्चशतीमपि कलिपराः ज्ञात्वा मन्त्रिणा ज्ञातमेते सर्वे मूर्खा, येषामेकोऽपि न मुख्य एते सर्वे स्वपार्श्वे स्थापिता एव कलिं करिष्यन्ति यस्यैकोऽपि न मुख्यः सन् किंचित्ततो न स्थापितास्ते एव यत्र यान्ति तत्र न स्थाप्यन्ते ते । ततोऽखिलास्ते दु खिनो जाताः । एवमस्य कुटुम्बस्य राज्ञो वा न मेलोऽस्ति स विनश्यत्येव, अतः सर्वैरपि एकीभूय कार्यम् । इति मिथोविरोधे पञ्चशतसुभटकथा ॥१८५॥

[186] अथ सरलत्वे श्रेष्ठिपुत्रकथा ।

एकस्य श्रेष्ठिन पुत्रो जल्पितः प्रत्युत्तर दत्त । ततः श्रेष्ठिना प्रोक्त-भो पुत्र ! पितु प्रत्युत्तरो न दीयते । पुत्रस्तथेति प्राह । तत एकदा पुत्रो भोमाह्वा गृहे द्वार दत्त्वा शय्याया-मुपविष्टः ।

इत श्रेष्ठी आगत. प्राह-भो पुत्र ! अत्रागच्छ द्वारमुद्घाटय । स च पितुर्वचः स्मरन् उत्तर न दत्ते । घटीचतुष्टयानन्तर स्वकार्यार्थं द्वारमुद्घाटयामास । श्रेष्ठी जगौ-त्वया कथमुत्तरो न दत्तः । पुत्रोऽवग्-श्रीपूज्यै प्रोक्त-पितु प्रत्युत्तरो न दीयते । पिताऽवग्-पुत्र ! एव विधे कार्ये उत्तरादि दीयते । तत पुत्रोऽवग्-ओमिति ।

एवं सरलत्वे श्रेष्ठिपुत्रकथा ॥१८६॥

[187] अथाशुचि सर्वमित्यादौ मोदकप्रियकथा ।

श्रीस्थलकपुरे भानुभूपस्य रुक्मिणी प्रिया सुरूप. पुत्रोऽभूत् । स च पञ्चभिर्धात्रीभिर्वर्द्धितो यौवन प्राप परिणायितः । तस्मै मोदका एव रोचन्ते । ततो मोदकप्रियेतिनामाभूत् । स चान्यदा वसन्ते प्रातरुत्थायास्थानमण्डपिकायामाजगाम । तत्र स्वर्गिस्त्रीतुल्यया नृत्त कर्तु प्रवृत्त । तत्र-स्थस्य तस्य भोजनावसरे जनन्या मोदकभृतस्थलानि प्रेषितानि । यत सपरिजनो मोदकान् बुभुजे । रात्रावपि गीताक्षिप्तजागरणतो मोदका न जीर्णा । ततोऽधोगन्धपूतिवाति नासिकायां प्रविवेश । ततो दध्यौ-यथा मोदका वर्या अपि सदुर्गन्धा जाताःतथासर्वं शरीराद्यपि एव विमृशन् प्राप्तवैराग्यो मोदकप्रियस्त्यक्त्वा कुटुम्ब दीक्षा ललौ । दीक्षा प्रपाल्य स्वर्गं गत्वा मुक्तिं याता ।

इत्यशुचि सर्वमित्यादौ मोदकप्रियस्य कथा ॥१८७॥

[188] अथ भाग्योपरि क्षत्रियसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे भीमक्षत्रियस्य वीरमती दुश्चारिणी पत्न्यभूत् । पतिं वञ्चयित्वाऽन्येन पुंसा रमते रह । सा च दध्यौ-यदि पतिर्म्रियते तदाह स्वेच्छया रमेऽन्येन पुसा, अङ्कुशो दु श-को विद्यते ।

एकदा भीमो भार्यादत्तमोदकशम्बलश्चचालान्यग्रामं प्रति, मार्गे चलन् कस्मिंश्चिज्जलाशये समागते यावच्छम्बलं भोक्तुमुपविशति भीमस्तावत्क्षुत्स्वयमभूत्, यतः—"आत्मच्छिक्का भयावहा।" ततो जलं पीत्वा सरःपाली तरोरधः सुप्तो निर्भरं श्रान्तः। इतस्तत्रागताः स्तेना धनयुक्तास्तं निर्भरं सुप्तं दृष्ट्वा तस्य ग्रन्थौ वस्त्रस्य मोदकान् वीक्ष्य जगृहुश्छन्नं यावत्ते मोदका भक्षितास्तावन्मृताः स्तेनाः। भीमो जागरितः सन् मोदकानदृष्ट्वा मृतान् चौरान् वीक्ष्य दध्यौ–एतैर्मोदका मे भक्षिताः। ततस्तेषां पार्श्वस्थं बहुधनं लात्वा स्वगृहं प्रति चचाल। शङ्कते च भार्यया किं विषमिश्रिता मोदका मह्यं दत्ता, मारणाय। पुनर्दध्यौ-भार्या तु पतिं न मारयति। क्वचित् मार्गे बुभुक्षित स तत्र वनेऽकस्मान्मृतान्मयूरान् दृष्ट्वा बुभुजे ततश्चलन् गृहद्वारे यावत्समागात् तावद्दिश स्वभार्यानीतो जारो भार्ययेति जल्पितः-त्वमुत्तिष्ठान्यत्र गच्छ। ततः स त्वरितं घोटिकामारुह्य गृहापरद्वारेण शीघ्रं निर्ययौ। तदाऽकस्मात्तया घोटिकया जनितः सद्यः किशोरस्तत्र स्थितः। भीमो भार्यापार्श्वे समागतः प्राह—भो प्रिये! आत्मनो गोपार्श्वे किमस्ति? ततस्तया जारघोटिकया जनितं किशोरं ज्ञात्वा प्रोक्तं-आत्मनो धवलया गवा किशोरो जनितः। ततो निजां पत्नीं कुशीलिनीं स्वहन्त्रीं ज्ञात्वा भीम आचष्ट पत्न्याः पुरम्

धवली जिणइ किसोरउ, दाधालामइ मोर।
डीहाडा होइ पाधरा, लाइ खाइ चोर ॥१॥

एवं प्रोच्य त्वं कुशीलिनी मम हन्त्रीति गदन् सपत्नीं तत्याज। अन्यामानीतवान्। सा च पत्या मुक्ता ततो जारेणापि मुक्ता दुःखिनी जाता।

इति भाग्योपरि क्षत्रियसंबंधः ॥ १८८ ॥

[189] अथ अतृप्तिविषये द्विजसम्बन्धः।

एकेन द्विजेन धनिना बहवो द्विजा भोजनाय स्वगृहे आनीताः, तेषां मध्ये ये धनिनस्ते गृहमध्ये भोक्तुमुपवेशिताः। ये मध्यमास्ते मध्यस्थाने। ये निर्धनास्ते मण्डपे बहिः। तदा द्विजेन सर्वेषां द्विजानां खण्डक्षीरघृतमण्डकवटकवरशाकादि परिवेष्यते। तदा बहिः स्थिता द्विजाश्चिन्तयन्ति-मध्यस्थाना द्विजानां यथा रसवती परिवेष्यमाणाऽस्ति न तथाऽस्माकं, ततस्तेषां खेदोऽभूत्।

ततो गृहस्वामिना द्विजेन सर्वे पूर्णहृदया दृष्ट्वोक्तं—यः एकं वटकं गृह्णाति तस्मै स्पर्द्धकं दास्येऽहं। ततो बहुषु वटकेषु भक्तेषूक्तं—य एतान् मण्डकान् गृह्णाति तेषां स्वर्णकं दास्ये एवं प्रोचे—प्रोच आकण्ठं सर्वे जेमिताः। तत एको विप्रो बहिर्भोक्तुमुपविष्टोऽतीव भृतोदरस्तापेनाक्रान्तो जलाशये प्रविष्टः। घटीद्वयादनुपूर्वप्रविष्टमहिषस्योदरं जलमध्ये तस्य हस्ते लग्नं ततो गृहमध्य—जेमितद्विजोदरभ्रान्त्या स द्विजः प्राह—भो द्विज! त्वं माहिलओ अथवा बाहिरलो मध्यभुक्त बहिर्भुक्तः एवं स्वोदरेऽतीवभृतेऽपि सद्विजोऽतृप्तोऽसिद्धिवशा गृहमध्यभुक्त-

द्विजान् सस्मार। एवमतृप्तो द्विजोऽन्त्यां मृत्वा तिर्यग्योनौ उत्पन्नः। एवमतीवान्नं न भोक्तव्यम्।

इति अतृप्तिविषये द्विजसम्बन्धः ॥१८९॥

[190] अथ निश्चलमनः साधुसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरेऽर्हन्नतोऽर्हन्मित्रश्च वसतः सोदरौ। ज्येष्ठभार्या लघुदेवरि रताऽभूत् पर लघुर्नेच्छति। स्त्रीस्वरूप तादृशं दृष्ट्वाऽर्हन्मित्रो व्रत ललौ तद्रक्ता सा मृता शुनी जाता, साधवस्तत्रायथुः शुन्या स मुनिर्दृष्टः। सा शुनी पतिमिवालिलिङ्ग त, नष्ट साधुः। साथ मृताटव्यां मर्कटी जाता। ततो भवितव्यतायोगात्तस्यामेवाटव्यां स मुनिर्गत', तं मुनिं दृष्ट्वा पूर्ववदालिलिङ्ग रागधिया तदाऽपरे साधवो जहसुः —असौ साधुर्मर्कटीपतिः, साधुस्ततो नष्टः, मर्कटी मृता यक्षिण्यभूत्। तं मुनिं दृष्ट्वाऽवधिज्ञानाद्ध्यौ—असौ मुनिर्मया बहुभवेषु वाञ्छितो मा न ववाञ्छ, ततोऽधुनाऽमुमालिङ्गामीति ध्यात्वाऽऽलिङ्गति स्म मुनिं। ततोऽपि मुनिर्नष्ट। ततो गच्छन् नदीमुल्लङ्घितुं यावज्जले प्रविष्ट तावत्तया यक्षिण्या साधोः पादश्छिन्न। तदा ता यक्षिणीं शासनदेवी ताडयामास प्राह च—रे पापिनि! त्वं यदा ऋषेः पराभव करोषि ततस्तस्या मिथ्यादुष्कृत दत्तं, सद्यो दिव्यानुभावेन पाद सज्जीकृत'। ततो यति सविशेष चारित्र प्रपाल्य स्वर्गं गतस्ततो मुक्तिं यास्यति। इति। इति निश्चलमनः साधुसम्बन्ध ॥१९०॥

[191] अथ धर्मरुचिभूपसम्बन्धः।

गङ्गायामन्यदा नाविको नन्दाह्वो नदीमुत्तारयन् द्रव्यं लाति तदा धर्मरुचिं नदीमुत्तारयामास। नन्दो धन मार्गयामास, यतिं न मुञ्चते। मध्याह्न जात। यति रुष्ट। तेजोलेश्यया नन्द भस्मीचक्रे।१। ततो मृतो नन्दो नाविकः क्वापि ग्रामे सभायां गृहकोलिकोऽजनि। तत्र दैवयोगात् धर्मरुचि साधुः समागात्। त दृष्ट्वा गृहकोलिको धूलिं चिक्षेप। ततो धर्मरुचिस्तेजोलेश्यया गृहकोलिकं भस्मीचक्रे।२। स च मृतो हंसोऽभूत् गङ्गाया। दैवयोगात्तत्र साधुः समागात्। सोऽपि हसो जलेन मुनिमुपद्रवति। तत्रापि पूर्ववत् मुनिना हतः।३। ततो मृतोऽञ्जनपर्वते सिंहोऽजनि। सोऽपि सिंहो यतिं हन्तु धावितो यतिना तेजोलेश्यया भस्मीकृत।४। तत. सिंहो मृतो वाराणस्यां बटुरभूत्। सोऽपि पूर्ववैरात् यतिं लेष्टुभिर्हन्ति, ततो मुनिस्त भस्मीचक्रे।५। ततोऽकामनिर्जरया कर्म क्षिपन् तस्मिन्नेव पुरे राजाऽभूत्।६।

सोऽपि राजा जातिस्मृतिं प्राप्य पूर्वभवान् स्मृत्वा तं धर्मरुचिं मुनिं क्षमयितुं ज्ञातुं च समस्यां लोकाय ददौ। लोका. सर्वत्र तां समस्या पठन्ति गायन्ति सदा। तथाहि—

"गङ्गायां नाविको नन्दः[१] सभायां गृहकोलिकः[२]।
मृतगङ्गातटे हंसः[३] सिंहश्चाञ्जनपर्वते[४] ॥ १ ॥
वाराणस्यां बटुः पुर्या[५], राजा तत्रैव चाभवत्[६]।"

ततो द्वावपि धनार्जनाय विदेशं प्रति चेलतुः । तत्र लक्ष्मीमर्जयित्वा पश्चाद्वलितौ अर्धमार्गे समागतौ तौ । चन्द्रोऽवग्—त्वां विना नाहं क्षणं स्थातुं शक्नोमि । किं क्रियते ? गृहे गमनं विना कुटुम्बं सीदति । तेनाहं स्वपुरे यियासुरस्मि । अस्मिन्मार्गे गमिष्यते मया तदा धनोऽपि तथैव जगौ । तथाद्वयोरपि विरहऽक्षमयोः स्वपुरगमनं विना निर्वाहो न वीक्ष्यते । ततश्चन्द्रो मित्रं प्रणम्य धनं प्रति प्राह—

जाता जणउ जुहार, साथी समारिआ धार ।
दैवह तणइ विचारि , मिलिइ के मिलीइ नहीं ॥२॥

ततो धनोऽप्याचष्ट—

टाढी छांय पलासडा, पाणी भरीआ न ।
साजण सरसी गोठडी, दैव छंडावइ माड ॥३॥

एवं प्रोच्य स्वस्वग्रामे गतौ ।

इतः कियता कालेन समागते परसैन्ये चन्द्रो युद्धाय सम्मुखं वैरिणो गतः युद्धं कुर्वन् चन्द्रो वैरिणा हतः पञ्चत्वं गतः । क्रमात् धनः स्वमित्रं हतं श्रुत्वा दुःखी जातो जगौ—

खणि खांडउ खणि आघिलउ, खणि आखु खणि लीह ।
दैव न दीघा ससहरह, सवे सरिया दीह ॥ ४ ॥

एवं विलप्य सन्तोषं धनः कृत्वा तस्थौ ।

इत्यनित्यतायां चन्द्रधनसम्बन्धः ॥१९४॥

[195] अथ निर्द्रव्यपुण्यविषये सिंहधनसम्बन्धः ।

भीमपुरे सिंहश्रेष्ठी, तस्य गृहे धनं भूरि विद्यते, क्रमात् सिंहस्यालये श्रीत्रुटिता वेर्वासिंहस्य गृहे सा श्रीवसृपे । तदा तां श्रियं दृष्ट्वा सिंहो दुःखी जातः । तत्र तदा मित्रेण सिंहं दुःखिनं दृष्ट्वा प्रोचे । यतः—

आगते गते च धने विषादो न क्रियते, कस्यापि श्रीः स्थिरा न भवति' । यत —

एकई दीहिविवात, इक ऊगइ इक आथिमइ ।
माणस केही मात्र, जइ दिणयर दिय पालटइ ॥१॥

कार्यः सम्पदि नानन्दः, पूर्वपुण्यभिदे हि सा ।
नैवापदि विषादः स्यात् , सा हि प्राक्पापपिष्टये ॥२॥

इमे गाथे श्रुत्वा निजमनसि सन्तोषं चक्रे । प्रत्यहं निर्द्रव्योऽपि प्रतिक्रमण—गुरुवन्दनक-देवपूजा-नमस्कार-परदानानुमोदनादिपुण्यं कुर्वाणोऽमेतने भवे स्वर्गे सुखी जातः, ततो मुक्तिं

यास्यति । इति निर्द्रव्यपुण्यविषये सिंहधनसम्बन्धः ॥१९५॥

[196] अथ पट्टकूलिकानयनचाहडमन्त्रिसम्बन्धः ।

बम्बेरकपत्तनस्वामिना राज्ञा वीसलदेवेन पत्तने श्रीकुमारपालभूपालाय पट्ट [दु] कूलवयं प्रीतिप्राभृतकृते प्रेषितं । तच्च राज्ञा कुमारपालेन गृहदेवालये धौतिक कृतं । राजा च तद् दुकूलं परिधाय देव पूजयामास । इतोऽन्यदा बाहडपुत्रेण दशवार्षिकेण तदेतद्वस्त्र परिधाय रन्तुं लग्नं बालकै सह रममाणस्य सप्ताष्ट दिना जाताः। राजा तद्वस्त्र मलिनं दृष्ट्वा जगौकेनेदं व्यापारितं ? से वकैरुक्त बाहडसूनुना चाहडेन । ततो राज्ञा शिक्षा तस्मै दत्ता कठोरवचसा, ततश्चाहडो रुष्टो भूपपार्श्वे नायाति ।

अन्यदा राज्ञा बाहड पृष्ट —चाहडः कथं न दृश्यते ! बाहडोऽवग्—वस्त्रव्यापारणव्यतिकर । ततो राज्ञा चाहड आकारितः पृष्टश्च किमर्थं त्वया सभायां नागम्यते ? तेन स्वपराभवस्वरूप प्रोक्तं । राजा प्राह —त्वया दु.ख न कार्यं । अपर वस्त्र व्यापारयिष्यते । ततश्चाहडः प्राह—त्वं मे स्वामी अतस्त्वया मह्यं शिक्षा दत्ता यत्तद्वरं अद्य दिनात्तव सभाया मया तदागम्यम् । यदा पट्टकूलानि एवंविधानि आनेष्यन्ते बहूनि । अहं बम्बेरकपत्तने यास्यामि । राज्ञोक्त-बम्बेरेशो वीसलदेवभूयो बलिपुष्टो विद्यते । तस्य दुर्गत्रपुमयो विद्यते । परिख ज्वलदङ्गारमयी तस्मिन्वप्रमध्ये सप्तशतानि पट्टकूलिकानां सन्ति । वीसलदेवस्तेभ्यः पट्टकूलानि लात्वा द्रव्येण स्वय परिधाय देशान्तरे प्रेषयति विक्रेयाय । पुराद्बहिस्तानि स्तोकान्येव निस्सरन्ति मार्गस्तु विषमोऽस्ति तेन तत्र गमन दुष्करं । चाहडोऽवग्-मया द्वितीयवारं तदा जेमनीयं यदा वीसलदेव जित्वा पट्टकूलकारका अत्रानेष्यन्ते पुरे तव प्रसादात् ततो हृष्टो भूपो बहुबलं ददौ । तस्मै प्राह च—वत्स ! त्वं लघुरसि । तेन यत्नेन युद्ध कार्यं । चाहड आचष्ट-स्वामिस्त्वया काऽपि चिन्ता न कार्या । मम हृदये एकः श्रीवीतरागो देवोऽपरश्च भवान् विद्यते तेन सद्यः स जेष्यते । ततश्चाहडः सुमुहूर्त्ते प्रथमं जिनालये जिन प्रणम्य, ततो राजानं, ततो मातापितरौ प्रणम्य चचाल चाहडः। मार्गे वर्या शकुना जाता । प्रथम मरुस्थली साधिता । तेऽपि राजानस्तेन सार्द्धं चेलुः। ततोऽन्ये देशा एवंविधनामान साधिताः । तथाहि—

जंगङ्गूर जडहार अज्जपुरनराणओ,
नग्रणवाहनग्गउरो नरहनरवरजिट्ठाणओ ।
सज्जवडसरिवाड भग्गउ सयंभरि,
वग्धेगे लडणूर हुओ झूरि बंबेरो ।
पींपलउरपहुक्करासपुर मंडलपुरमेवलतूकरि वीसलनारि–
वलिवइ अबललंकदाह चाहडमकरि ॥ १ ॥

एव देशान् साधयन् चाहडः ग्रामपुराणि लुण्टयन् ज्वलयश्च बम्बेरापुरोपान्ते यदागत तावतो वीसलराज प्राह-भो प्रिये ! एष धूम कुतोऽजनि ? जात प्राह—–

'हय हींसारो खेहरो दीसइ वग वलति'

पत्नी प्राह—लोडिज्जइ तुह गुठडा, चाहड पुहुतो कंत ।
मति धूरि कुमरपालह, दतिसमदालिसजुत्त करिहि कटीकरमालह ॥२॥

दीसइ दुगवलति लोडिज्जइ ताह गोठडा चाहडसूयचाहडहयमर हींसागे ।
रायघरट्टिहिं पसीओ, मवेरो जव कुइ पीसता उड्डुविगओ रायंगणि लट्ठा ॥३॥

गयर्यगणिलट्ट भणइ वरकामिणि भोली निगुण जिद्धइ निद्धोरचोरक्कियमूरको अपोलिअ कयसमय महीराजि गयणि गजबडिहि मरट्टीअ चाहडचंपीअपुअदूअलदुलीअरणिरा-यथरट्टिहि ।

एवं वीसलराज प्रियापाश्व श्रुत्वा चाहडेन समं युद्ध चक्रे मिथोऽतीव समामोऽभूत् । वीसलभूपो हत । पुरान्तरे चाहड प्रविष्ट तदा वीसलभूपपत्नी प्राह—त्व चिरं नय, त्वया द्विपोऽनेके जिता । यत —जगद्धुर जडहार हगीअ अउनपुर०

एव श्रुत्वा चाहडो देवगृहे देवान्नत्वा वीसलपुत्र तस्मिन् राज्ये यस्य नत्रत्यान् दकूलतनकान् पट्टसूत्रवस्त्रवनकान् पञ्चशतोमितकुटुम्बकसहितान् लात्वा दण्ड च पत्तने समेत्य चाहड श्रीकुमारपालभूपाल ननाम । तेषां पट्टसूत्रवस्त्रवनाकानां आवासा दत्ता । चाहडस्य राजघरट्ट इति बिरुदं न्दौ । राजा ततस्तेदुकूलानि वनितानीतैः श्रीसघ कुमारपालभूपेन परिधापित । ते पट्टकूलिन स्वच्छत्रयाथ स्नाविता शुद्धा कृता । वणिग्ज्ञातिमध्ये स्थापिता । ततश्चाहड श्रीशत्रुञ्जययात्रां चक्रे । श्रीसघ परिधापित भ्रात पितर मातर जिन कुमारपालभूप प्रणम्य जिमति चाहड सप्तक्षेत्र्यां धन वपति स्म ।

इति पट्टकूलिकानयनचाहडमन्त्रिसम्बन्ध ॥१९६॥

[197] अथ साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्ध ।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिन प्रभवती पत्न्यभूत् । सा चातीव विनयवती पतिजिनगुरुभक्ता । अ यदा केनचिदुक्त-भो चन्द्र ! आगच्छ, गङ्गायां स्वपापपिष्टये गम्यते । चन्द्रेणोक्त-गङ्गा मम गृहेऽस्ति । तेनोक्तमेव कथ प्रोच्यते । चन्द्रोऽवग्-मम प्रियेव गङ्गा धर्ममूर्तित्वात् । सोऽवग्-तव प्रियाया एवंविधा भक्तिस्त्वयि कथं ज्ञायते त्वया स्त्रिय प्रायो दुर्विनीता स्युः" चन्द्रोऽवग्-तर्हि परीक्षा क्रियता । ततोऽन्येद्यस्तस्मिन्पुंसि गृहे समागते चन्द्र प्राह-भो प्रिये ! मयाऽधुना वृत्स्यथ भू स समानाऽस्ति तेनात्रागम्य, ततस्तत्रागता सा । चन्द्रोऽवग्-अत्र घृतभृत कुम्भं क्षिप दूरे, तया तत्कृतम् । ततश्चन्द्रोऽवग्-इद घृत दूराद्धुत्सारय । तत सा याद्दग्हस्ते आगतं ताद्दगुत्सारितं । चन्द्रोऽवग्-घृत नीरस्थूतं क्षिप । ततस्तथा कृतम् । एवं यदघटकं घटक वक्ति तद्व-चनप्रत्युत्तरादानात्करोति पर सम्मुख न जल्पति । तत पुमानुत्थाय चन्द्रपत्न्या पदो पतित्वाऽवग्—एका गङ्गा त्वं विद्यते, अपरा तु दूरे । स पुण्यवान् यस्य गृहे त्व गङ्गा सदा वसते

तत स पुमान् प्रत्यहं गङ्गाबुद्धया तां नमस्करोति ॥१९७॥

इति साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्धः ॥ १९७ ॥

[198] अथ प्राक्कर्म्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रग्रामे द्वौ सुहृदौ भीमार्जुननामानौ वसतः स्म । एकदा ताभ्यां छागी एका आनीता । एकेन तस्याः पादचतुष्कं बद्धं । द्वितीयेन गलं छिन्नमसिना छागी भक्षिता सर्वकुटुम्बेन । ततः क्रमात्कियता कालेन छागीजीव. कर्म क्षिपन् कमलपुरे श्रीदश्रेष्ठिपुत्री चन्द्रावत्यभिधाऽभवत् । भीमजीव क्रमात् लक्ष्मीपुरे धनश्रेष्ठिपुत्रश्चन्द्रनामाऽभूत् । कर्मवशात्तयो पाणिग्रहण जात चन्द्रावतीचन्द्रयो ।

एकदा तस्य चन्द्रस्य गृहे कोऽपि प्राघूर्णको निशिवासे स्थितः । तदा कलिं कुर्वत्या प्रियया रुष्टया पतिमन्यमिच्छन्त्यास्तं पतिं सुप्तं निर्भरं ज्ञात्वा शनै पत्यु शिरश्छिच्छेद । स्वमस्तकात्कलङ्कमुत्तारयितुकामा प्राघूर्णकसुप्तस्य हस्तौ रुधिरेण लिम्पयामास वस्त्राणि च । ततो यदा स उत्थाय चलन्नभूचावत्तावत्कलकल चक्रे । जगौ च-धावत धावत लोकाः मम पत्युः शिरश्छित्त्वाऽसौ याति । लोका राजपुरुषा मिलिता. । स च धृत., हस्तौ वस्त्राणि रुधिरक्लिन्नानि दृष्ट्वा राज्ञा ज्ञापित ततो राजादेशात्तस्य हस्तौ पादौ छिन्नौ । ततः स छिन्नहस्तपदो जिजीवायुर्बलात् ।

एकदा ज्ञानिपार्श्वे तेन पृष्ट-मया किं पाप कृतं येन ममांह्री हस्तौ छिन्नौ ? ज्ञानी प्राह-त्वया पूर्वमर्जुनभवे यस्याः छाग्या पादौ बद्धौ धृतौ भीमेन च तस्याः शिरच्छिन्नं यत्त्वया हस्तपादा धृताः । अतोऽधुना हस्तपादाश्छिन्नाः । यत्कर्म क्रियते तदेव प्राप्नोति जीवः ।

इति प्राक्कर्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ॥१९८॥

[199] अथ दाने युधिष्ठरभीमसम्बन्धः ।

अन्येद्युर्युधिष्ठिरस्य भूपस्याग्रे एकः कविराशीर्वाद ददाविति—

द्वाभ्यां सहोदराभ्यां त्वं, सुभक्ताभ्यां युधिष्ठर !
जीयाच्च पृथिवीं न्याय-मार्गेण पालयंश्चिरम् ॥१॥

तदा युधिष्ठिरोऽवग्—यत्त्वया कूट जल्पित, मम तु सर्वे सोदराः सदृशा एव । यत.—

चेतः सार्द्रतरं वचः समधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दानदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकृता-
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो न, वसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥२॥

यथा चित्त तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया ।
धन्यास्ते त्रितयो येषा, विसंवादो न विद्यते ॥३॥

मम बान्धवा सर्वे सत्त्ववन्तो वर्मिष्ठा परोपकारिणो दानिनो दयावन्तो विद्यन्ते । ततः कवि प्राह्—

पञ्चभिः सोदरैर्भीमा–र्जुनादिभिर्लसद्बलैः ।
जीयास्त्व पृथिवीं न्याया–त्पालयन् श्रीयुधिष्ठिर ! ॥४॥

ततो राजा तथा दान ददौ यथा यावज्जीव भवति ।

इति दाने युधिष्ठिरभीमसम्बन्ध ॥१९९॥

[200] अथ क्षमाया श्रेष्ठिपुत्रसंबंधः ।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिन पुत्रश्चन्द्रो हट्टे उपविष्टो व्यवसाय कुर्वाणोऽपरवणिग्भि सम कलि कुरुते स्म । श्रेष्ठी स्व पुत्र निवारयति । तत स्वपुत्रसम्मुखहट्टस्थवणिजो कलि कुर्वाणयो श्रेष्ठी प्राह्—कलिन क्रियते इहपरलोकदुःखहेतुत्वात् । तथापि तौ कलेन निवृत्तौ । तत श्रेष्ठी मृदु–वचा सूनो पुर प्राहत्वाह यद्वच्मि तत्त्वया कार्य । पुत्र प्राह—शिक्षा वितर । ततः पिता आत्महट्टसमीपस्थो वणिगद्य शुभमशुभ वा यद्वक्ति तत्त्वया क्षन्तव्य । पुत्रोऽवग्—तात ! ते वच प्रमाणं । तत श्रेष्ठिना स्वपुत्राय तुला हट्टाग्रे मण्डिता एकस्मिन्पार्श्वे तस्या सेरो मुक्तः । तदा पार्श्वहट्टस्थो वणिग् गालि दायदाय सन्ध्या यावत्स्थित । श्रेष्ठिपुत्रस्तु मौनी जातः । सन्ध्यायां श्रेष्ठिनोक्त–भो पुत्र ! तुलापेन्नक द्वितीय किं गालिभिर्भृत न वा नमित नवा पुत्रस्तौ विलोक्याह्–तात यादृशी तुला प्रातमण्डिता तथैव धारणयाधुना तुलास्थितास्ति । पिता ततः प्राह्–यथा गालिभिस्तुला न भृता तथा गालिभिरप्यात्मनो न लगति । तत पुत्रोऽवग्—अद्यप्रभृति मया क्षमैव कर्त्तव्या । इति क्षमायां श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्ध ॥२४०॥

[201] अथ धर्मनिश्चलतायां महणसिंहसम्बन्ध ।

एकदा ढील्या पुरि पीरोजसुरत्राणश्चचालान्यपुर प्रति तदा महणसिंह साधु सार्द्धमाकारित., मार्गे सूर्यास्तसमये तुरङ्गमादुत्तीर्य प्रतिक्रमण कर्तु साधुमहणसिंह सामायिक लली । प्रतिक्रमण कर्त्तुं लग्नश्च राजा त्वग्रतने ग्रामे गत । तदा महणसिंहमाकारयितु जनमप्रैषीत् । तदा पश्चात्स्थितो ज्ञातः । ततस्तत्र जन प्रेषितः । सोऽपि तावत्स्थितो यावत्तेन सामायिक पारित । ततो महणसिंहो राजपार्श्वे समायात । राज्ञा पश्चात्स्थितिस्वरूपं पृष्टं । महणसिंहेनोक्तम्–अरण्ये वने ग्रामे रणे नद्यां वा अस्त याति रवौ अवश्यमुभयो कालयो प्रतिक्रमण मया क्रियते । राजाऽवग्—अनेके वैरिण सन्ति कदाचित्तैर्मारित स्यात्तदा का गति । महण सिंह प्राह–धर्म कुर्वतो यदि मरणं भवति तदा स्वर्ग एव भवति । तेन मया धर्मध्यान तत्रैव कृत, वेलातिक्रमो मया न क्रियते । महणसिंहधर्मवचने श्रुते राजा हृष्टो, यत्रारण्ये वने महणसिंहो

धर्मं कर्तुं तिष्ठति तत्र सुरत्राणस्यादेशात सहस्रमितभटप्रमाणं सैन्यं तस्य रक्षयति। राजा तु धर्मार्थी महणसिंहस्य धर्मिष्ठतां स्तौति सदा।

इति धर्मनिश्चलतायां महणसिंहसम्बन्धः ॥२०१॥

[202] कर्मणि कुटुम्बिकपुत्रसम्बन्धः।

एकस्य कुटुम्बिनो दश हलानि क्षेत्रे वहन्ति। स च मध्याह्ने समागते भुङ्क्ते। एकां घटीं यावत् हलानि खेटयन्ति तदा च दानं दत्तेऽर्थिभ्यः। स च कालेन मृत्वा पद्मपुरे राजपुत्रश्चन्द्राह्वोऽभूत्। वस्त्राभरणादि परिधत्ते। परं रोगग्रस्तो जातः। क्रमात्सत्यपि विभवे किमपि भोक्तुं न शक्नोति। यदा वर्यमाहारं गृह्णाति तदोदरपीडा भवति। दानप्रभावाद्राजपुत्रोऽभूत्। परं वृषभाणामतिवाहनात्तस्याङ्गे रोगः समागतः। एवं प्राग्भवं श्रुत्वा कृषिकरणे नियमं स ललौ।

इति कर्मणि कुटुम्बिकपुत्रसम्बन्धः ॥२०२॥

[203] अथ परस्त्रीपराङ्मुखत्वे महणसिंहसम्बन्धः।

एकदा पीरोजसुरत्राणस्याग्रे नर्तक्यो नृत्यं मण्डयामासुः। महणसिंहसाधुस्तदा यावदुत्थातुं लग्नः तदा राजाऽवग्-तिष्ठाधुना। ततो राजाग्रहान्महणसिंहस्तत्र स्थितः। तदा हस्तगृहीत-जपमालया नमस्कारान् गणयन् जपमालादत्तदृक् तस्थौ। नृत्यं तासां न वीक्षते। ततो महणसिंहं ध्यानारूढं दृष्ट्वा राजा हृष्टोऽभूत्। नृत्ते निवृत्ते राजा पप्रच्छ। नर्तकीभिर्नृत्यं कीदृक्कृतं? महणसिंहोऽवक्-लोका वदन्ति-वर्यं नृत्तं। अहं न जाने कीदृक्कृतं नृत्तं। राजाऽवग्-कथमेवं वक्षि? महणसिंहोऽवग्-अहं परस्त्रियः संमुखं दृढं न विलोकयामि तेन मया नृत्तं न वीक्षितं। ततो राजा हृष्टस्तं परस्त्रीपराङ्मुखं मत्वा बहुधनदानात्प्रीणयामास।

इति परस्त्रीपराङ्मुखत्वे महणसिंहसंबंधः ॥२०३॥

इति श्रीतपागच्छाधिराज *श्रीरत्नशेखरसूरि* पट्टालङ्करण *श्रीलक्ष्मीसागरसूरि*शिष्य
पं० *शुभशीलगणि*विहितपञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे-

॥ प्रथमोऽधिकारः समाप्तः ॥



द्वितीयोऽधिकार

[204] अथ 'घरसरीखी यात्रा नहीं' इति उखाणो ।

श्रीपुरात् धनदत्तश्रेष्ठी मातरमापृच्छ्य कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पार्श्वात् द्रम्मान् पञ्चशतीं व्याजेन लात्वा देवयात्रार्थं चचाल । मार्गे चलन् खिन्नोऽभूत् । तदा कस्मिंश्चिद्ग्रामे मस्तक मद्रीकृत्य यात्रिकवेषभृत् सर्वं धनं भक्षयित्वा यात्रिकलोकेन सार्द्धं पश्चादाययौ । सर्वे स्वजनाः सम्मुखमायाताः, पुरप्रवेशोत्सवोऽभूत् ।

कियद्दिनानन्तरं स धनदाता श्रेष्ठी स्वधनं सव्याजं याचते स्म, स च न दत्ते । ततो धनदाताऽभ्येत्य तस्यालये लङ्घयितुमुपविष्टः । यदा स श्रेष्ठी यात्रिको धनं न दत्ते तदा तेनोक्तं तीर्थयात्रापुण्यं वितर मम, नो चेद् धनं देहि, नो चेदहं मरिष्यामि । ततो धनदत्तो यात्रा-पुण्यं दातुं लग्नः ।

अत्रावसरे माताऽभ्येत्य प्रोवाच—पुत्र ! आत्मीयं यात्रापुण्यं न दीयते । यात्रापुण्येन स्वर्गसुखं भवति । अतः त्वया यात्रापुण्यं न दातव्यम् । ततश्छन्नं स्थित्वा मातुरग्रे तेन प्रोक्तं—इयं गृहसदृशी यात्रा नास्ति । माताऽवग्—पुत्र कथमेवं त्वया प्रोच्यते ? तदा पुत्रेण यात्रासम्बन्धः प्रोक्तः । ततस्तेनोक्तं—मम यात्रापुण्यं तव भवतु । एवं प्रोच्य धनदत्तस्तं विप्रतार्य धनं रक्षितवान् । 'घरसरीखी यात्रा नहीं' इति उखाणो जातः ॥२०४॥

[205] अथ दानफले भीमश्रेष्ठि विक्रमार्कसम्बन्धः ।

अन्यदा विक्रमादित्यो भूपो दानमर्थिभ्यो ददानो दध्यौ दानस्य किं फलम् ?

अत्रान्तरेऽम्बरे दिव्यवागभूत्— एकगुणं दानं, सहस्रगुणं पुण्यं कलौ वर्त्तते । राजा दध्यौ—कोऽप्येवं योग्नि वक्ति ! तत पुनर्वाण्यभूत्–यदि दानफलं द्रष्टुं वाञ्छति तदा सोपारकपत्तने गत्वा कदर्यमहेभ्यस्य दानपरभीमश्रेष्ठिनश्चरित्रं विलोकय ।

ततो राजा एकाकी सोपारकपत्तने ययौ । कदर्यश्रेष्ठिगृहे कोटिध्वजैश्शालिनि गतः । याञ्चा भोजनाय कृता । किमपि न दत्तं । उत्तरो विदधे—स्वयं न भुङ्क्ते स याचकादीनामपि न दत्ते भोजनं पयण्यपि । तं तादृशं बद्धमुष्टिं दृष्ट्वा भीमगृहे राजा गतः । श्रेष्ठिना स्वागतं कृतम्, भोजनं याचित्वा यावत्पश्चाद्वलितस्तावत्तेन रक्षितः श्रेष्ठिगेहे तदान्नं राद्धमभूत्, परं घृतं नास्ति । अतः कृपापरो दाता स भीमः कदर्यगृहे गत्वा कदर्याग्रे प्राह—मद्गृहे अतिथिरागतोऽस्ति तस्मै मया भोजनं दास्यते । तेन घृतमर्पय । स चाह धनं मुञ्च । भीमोऽवग् दाने दत्तेऽर्थिभ्यस्तवापि पुण्यं भविष्यति । कदर्योऽवग्—मम पुण्येन सृतम् कोऽधिकस्य पुण्यस्य भार

वहते । ततो भीमश्चतुर्गुणं घृतं दास्यामीति जल्पित्वा घृतमानीय विक्रमार्कप्राघूर्णकं सादरं गौरवयामास । भीमगृहे राजा रात्रौ स्थितः । दैवयोगात्कदर्यभीमश्रेष्ठिनौ मृतौ । राजा दध्यौ-येन ममादरादानं दत्तं स श्रेष्ठी कथं मृतः । अहमपि मरिष्यामि । ततो यावन्मर्तुकामो भूपोऽसिं कुक्षौ चिक्षेप, तावत्पुनराकाशवाणी जाता—

'इतो दशमे मासे त्वया कान्त्यां पुर्यां गम्यम् । तत्र दानफलं द्रक्ष्यसि ।' ततो राजा नवमासानन्तरं कान्त्याः पुर्याः पार्श्वे गतः । तत्रैकस्य चाण्डालस्य पत्नी षट् पुत्रीर्जनितवती । गृहे तु दारिद्र्यम् । सप्तमो गर्भोऽभूत्तस्या यदा तदा गर्भपातनेच्छाऽभूत्, परं गर्भः पात्यमानोऽपि नापतत् । क्रमात्पुत्री तया जनिता । तया चाण्डाल्या उत्करटके त्यक्ता ।

अत्रान्तरे राजा तत्रागतोऽवग्—पुत्री कथं त्यज्यते ? ततः सा प्राह—अस्या गर्भस्थाया दुष्टा दोहदा जाताः । गेहे तु अद्यतनमन्नं नास्ति । ततो राज्ञा घनं धनं दत्त्वा सा पश्चाद्ग्राहिता मातृपार्श्वात् । ततो राजा पुरांतरे गतः ।

इतस्तत्र पुरे भूपस्य पुत्रोऽभूत्, परं स्तन्यपानं पुत्रो न करोति । ततो राजादय सर्वे दुःखिता जाता । ततो राज्ञोक्त—'यो राजपुत्र स्तन्य पिबन्तं करोति, तस्मै राजा ग्रामशत दत्ते' इति पटहो वाद्यमानो न केनापि स्पृष्टः । ततः पटहस्पर्शनपूर्वं राजा विक्रमार्को भूपपुत्रपार्श्वे गतः । ततोऽसिं कण्ठे दत्त्वा प्राह राजा—येनास्य बालस्य गलं रुद्धं स्यात् स प्रकटीभवतु ममाग्रे, नो चेदहं मरिष्यामि । ततो दानाऽधिष्ठितदेवतया बालकमुखेऽवतीर्य प्रोक्त—भो राजन् किं मामुपलक्षयसि न वा ? विक्रमार्कोऽवग्—नाहमुपलक्ष्ये । ततो बालोऽवग्—अहं सोपारकपत्तनवासिभीमश्रेष्ठिजीवस्तुभ्यमतिथये दानमदाम् । तेन पुण्येन भूपपुत्रोऽभवम् । राज्ञोक्त—कदर्यः क्वावतीर्णोऽस्ति ? बालोऽब्रूत्—या त्वया चाण्डाल्या पुत्री त्यजन्ती धनं दत्त्वा ग्राहिता सा कदर्यश्रेष्ठिजीवोऽल्पपुण्यः । अहं तु दानाधिष्ठायिकदेवी दानफलं ज्ञापयितुं शिशोरास्येऽवतीर्याऽजल्पम् । ततो बालोऽपि स्तन्यं पातुं लग्न । देवी स्वस्थाने गता । बालपित्रा ग्रामशतं दीयमानं विक्रमार्को न ललौ, तदा दानफलं देवतामुखात् श्रुत्वा राजा लोकोऽपि दानतत्परोऽभूत् ।

इति दानफले भीमश्रेष्ठिविक्रमार्कसम्बन्धः ॥२०५॥

[206.]-अथ निरुपकारनरसम्बन्धः ।

एकस्य नरस्य राजवर्त्मनि गच्छतस्तैलभृतवर्तुलात्तैलबिन्दुर्भूमौ पपात, ततस्तत्र बहुभिर्जनैस्तैलबिन्दवः क्षिप्ता । तत्स्थानं देवताधिष्ठितं जातम् । स 'तैलदेवते'ति नामाभूत् । सा च देवी पूर्वक्षिप्तबिन्दुपुरुषाय पुनस्तत्र क्षिपत [ते] श्रिय दत्ते । ततस्तेन तैलदेवप्रतिमा कारिता । सा [ता] च तैलदेवताप्रतिमा [मां] सर्वेषां श्रिय ददाना दृष्ट्वा स पुमान् परश्रियमद्रष्टुकामस्ता प्रतिमा वने चिक्षेप । ततस्तस्य गृहाल्लक्ष्मीर्गता । स च दरिद्रयभूत् । ततः स एव पुमान् पूर्वस्थाने तां मुमोच । तत राजवर्त्मस्थतैलदेवता सर्वेषां मनोवाञ्छितं ददौ ।

इति स्थानप्रधानः निरुपकारनरसम्बन्धः ॥२०६॥

[207] अथ भाग्याभाग्ययो धनश्रेष्ठितत्पुत्रसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे धनश्रेष्ठिन पुत्रो बहवो जाता । श्रेष्ठिनि मृते परस्पर कलिं कृत्वा केचिन्मृता केचिद्दरिद्रिणोऽभूवन् केचिद्ग्राम त्यक्त्वा गता, केचिद्भूपपार्श्वाद्दण्डापिता तदा एकस्तस्य गृहासन्नस्थो नि स्वोऽवग्—

दालिद्र पुण रलियामणू कियती कियती वार ।
एक उचालइ अनइ पलीवणइ जूआ खेलणकालि ॥१॥

केनापि वैद्येन बह्वर्थितेन प्रथम किमपि दत्त नीरोग सन् किमपि न ददौ । वैद्यो ऽवग—ब्राह्मण । वइ दअनइ कोटीलउ कीधइ काजिमूकइ ढीलउ ।

इति भाग्याऽभाग्ययोः धनश्रेष्ठितत्पुत्रसम्बन्धः ॥२०७॥

[208] अथ भाग्ये तपस्विश्रेष्ठिसबध ।

एकस्मिन्ग्रामे श्रेष्ठिनो बह्वी श्रीर्विद्यते । कुटुम्ब महत् । इतस्तस्य गृहे एकस्तापसो भिक्षार्थमागत । तदा तापस श्रेष्ठिगृहे बह्वीं श्रिय दृष्ट्वा दध्यौ । कस्य [केन] कर्मणाऽस्य गृहे श्रीवर्धमानाऽस्ति । तदा श्रेष्ठिपत्नी पुत्रपौत्रगोधूमादीनामपि शुभकर्म न वीक्ष्यते । ततो विलोकमानस्तपस्वी तद्गृहभित्तौ काष्ठघोटकाञ्छ्रिय वर्धमानां ददर्श । ततस्तपस्वी स्वं श्रीमन्तं कर्तुं श्रेष्ठिप्रियोपान्ते काष्ठघोटकेन दद्धं क्षीरं हठात् याचते स्म, तदा त म्रियमाणं दृष्ट्वा श्रेष्ठिपत्नी हत्याभयात् तेन काष्ठेन क्षीर ररन्ध ।

इतस्तपस्वी स्नानार्थं गतः यावत्स तापस सरस आयाति तावदितो लेखशालागतो श्रेष्ठि पुत्रो मातुःपार्श्वात् बलात् क्षीरं बुभुजे । स च पुत्रो लेखशालायां गत तपस्वी तत्रागतः क्षीरं बालकभुक्तं ज्ञात्वा स्वशिरः कुट्टयामास जजल्प चेति—ममाभाग्य विद्यते किमहं स्नानायागाम् । यदि प्रथमं क्षीर मया भुक्तमभवत् तदा मम श्रीरभविष्यत् । अस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य भाग्यमित्युदित्वा स गत श्रेष्ठिगृहेश्रीश्चिर तस्थौ । इति भाग्ये तपस्विश्रेष्ठिसम्बन्ध ॥२०८॥

[209] अथ कृतघ्ने सिंहसम्बन्ध ।

एकस्यां गुहायां वनेचरस्य वसतः शीतार्त सिंहो द्वारेऽभ्येत्य करुणं रोदितरां गुहामध्ये प्रवेष्टु तदा वनेचरेण दयया द्वारमुद्घाटितम् । सिंहो गुहामध्ये प्रविष्ट । प्रहरानन्तरं शीते उत्तरिते वनेचरं हत्वा भुक्तवान् । इति कृतघ्न सिंहसम्बन्धः ॥२०९॥

[210] अथ कुशीलमायायां श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्य श्रेष्ठिन कुशीलिनी प्रियाऽभूत् । तयाऽऽकारितौ द्वौ नरौ भोगाय । तदाऽकस्माद् ग्रामान्तरादागत श्रेष्ठी । गेहद्वारे तदा ताभ्यां नृभ्यामुक्त मरणमागतम् । तत्र पति समायातो-

ऽधुना । तदा तया द्वयोर्मध्ये एकः स्त्रीवेषभृत् कृत. अपरो नृवेषधरश्च, छत्रं स्थापितौतौ च तदा बुभुक्षित. स भोक्तुं श्रेष्ठ्युपविष्ट, तदा च तया द्वयोर्नरयोरग्रे शनै' प्रोक्तं—द्वाभ्यां युवाभ्यामधोमुखाभ्या त्वरितं गन्तव्यं पश्चादह समर्थयिष्ये । ताभ्या तथा कृते श्रेष्ठी प्राह्—कौ त्वरितं गतौ । साऽवग् ईश्वरपार्वत्यो पूजां विना त्वमत्थ, तेन रुष्टौ तौ गतौ । अधुना ममाग्रे प्रोक्तमेताभ्यां तव पत्युर्मुखं न दर्शयिष्याव. । स श्रेष्ठी प्राह—पश्चाद्वालयात: पर पूजां करिष्ये तयो । तयोक्तम्—अद्य तु गतौ पुनर्यदा समेष्यत तदा कथयिष्यते मया । एव तया श्रेष्ठी प्रत्यायितः ।

इति कुशीलभार्यायां श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥२१०॥

[211] अथ श्रीदारिद्रसंवादसम्बन्धः ।

एकदा लक्ष्मीर्विशिष्टविभूषणाम्बरभूषिततनुरेकस्मिन्गृहे महेभ्यस्य विलसमाना सिंहासने उपविष्टा, तदाऽनेके महेभ्यास्तां द्रष्टुं समायाताः ।

इतो गोकुले नारायणो भूरिगोपीपरिवारपरिवृतो वादित्रनिनदं श्रुत्वा पार्श्वस्थं गोपीजन पप्रच्छ । किमधुनाऽत्र वाद्यन्ते वादित्राणि । गोपीभि. प्रोक्त-स्वामिन् ! श्रीदश्रेष्ठिगेहे लक्ष्मी. समागता तेन तत्रोत्सवो महान् जायमानोऽस्ति । तत. कृष्णो गोपीयुतस्तत्र गतः, लक्ष्मीः परिवारं वीक्ष्य मुमुदे ।

इतस्तत्र गृहद्वारे दारिद्रय' पुमान् समागात् । दारिद्रः प्राह-रे रण्डे ! किमत्रैव त्वया मां विना लोको विप्रतारयितुं मण्डितोऽस्ति । किं त्वं न जानीषे अहं तव माहात्म्य क्षणादेव भिनद्मि । लक्ष्मीजगौ-गच्छाऽतोऽचिराव; नो चेत्त्वां विगोपयिष्यामि । अहमेव लोक सुखिनं करोमि । मां विना लोका रङ्का इव गृहे गृहे भ्रमन्ति । दारिद्रः प्राह-त्वं तु माहात्म्य मत्त एव प्राप । मत्तो भीता लोकास्त्वा सेवन्ते । अतो मत्कृत एव प्रसादस्त्वयि विलसति । ततो द्वावपि मिथो विवादं चक्रतुः । क्षण विश्रामं न ललतुः । ततो लोकैरुक्तं-भो कृष्ण ! त्वमनयोर्विवाद छिन्द्धि । कृष्णोऽवग्—अह युवा साम्प्रतमस्मि ।

लक्ष्मीदारिद्रौ ! इन्द्रपार्श्वे गच्छतम् । तत्रेन्द्रो वादमनयोर्भेत्स्यति । ततो द्वावपि स्वर्गं गतौ, इन्द्रेण पृष्टौ द्वावपि स्वस्वरूप गदत स्मेति ।

श्रीरवग्—मया जगत्सुखवत् कृतम् ।

दारिद्रोऽवग्—मत्तो भीता जना एना सेवन्ते अतोऽस्या प्रसादो मया दत्त ।

तत इन्द्रो जगौ—युवा वर्यौ, विवादो न विधीयते । ततः शक्रेण श्रीः पृष्टा त्वमद्य यावत् केषु गृहेषु कुत्र स्थाने स्थिता ?

श्रीर्जगौ— ममैतानि गृहाणि विद्यन्ते—

गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वित्तं यत्र नयार्जितम् ।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥१॥

प्रीतिर्यत्र निवैर्गेहे, देहे मत्त्व सुसभूतम् ।
पुण्यमात्मजगुण्यं च, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥२॥

एव विधेषु गेहेषु सहस्रेषु अह स्यास्यामि, स्थिता, तिष्ठामि ।

तत इन्द्रपृष्टो दरिद्रोऽवग्—

द्यूतपोषी[1] निजद्वेषी[2] धातुवादी[3] सदालसः[4] ।
आयव्ययमनालोची[5] तत्र तिष्ठाम्यह हरे ! ॥१॥

तत्र शक्रो द्वया पुर प्राह—यस्य भाग्य विद्यते तस्य लक्ष्मि ! त्व तिष्ठसि नान्यस्य । यस्या ऽभाग्य विद्यते तत्र दारिद्रो वसति । अतो युवयो को गव ! अतो गर्व मुक्त्वा यस्य भाग्य विद्यते तत्र लक्ष्मीस्तिष्ठतु । यस्याभाग्य तत्र दारिद्र्यस्तिष्ठतु । ततो विषादो भग्न शक्रेण ।

इति श्री-दारिद्र्यसवादसम्बन्ध ॥२११॥

[212] अथ कूटमानकश्रेष्ठिसम्बन्ध ।

धनावहश्रेष्ठिनो धनाढ्यो नन्दनोऽजनि । क्रमात् श्रेष्ठी हट्ट मण्डयामास । तत्र हट्टे बहूनि क्रयाणकानि मण्डयन्ते । श्रेष्ठिना लोक वञ्चयितु कूटानि मानकतुलादीनि कृतानि । मानकस्य एकस्य दायकस्य 'एक पोकर' नाम दत्तम् । धान्यदानाय ग्राहकस्य मानकस्य पञ्चपोकर इति । तत श्रेष्ठी यदा धान्य गृह्णाति तदा पञ्चपोकरेण लाति । यदा दत्ते तदा एकद्वित्रिचतुपोकरेण । यदा धान्यं गृह्णाति तदा पुत्र प्रति वदति—पञ्चपोकरमानकमानय । यदा धान्यं दत्ते तदा वदति-एकपोकर-द्विपोकर-त्रिपोकर-चतुपोकर पुत्र ! मानकमानय ।

एकदा एकग्राहिका प्रोजगौ—श्रेष्ठिन् ! तव पुत्रस्तु एक एव दृश्यते नामानि बहूनि कथमस्य । श्रेष्ठ्यवग्—एकं नाम मया, एकं मात्रा, एक मातुलेन, एक मातुलान्या, एकं तु लोकैर्नामास्य पुत्रस्य दत्त । एव प्रोच्य सा वञ्चिता । एव वञ्चयन्श्च श्रेष्ठी स्वर्ग गत ।

इति कूटमानकश्रेष्ठिसम्बन्ध ॥२१२॥

[213] अथ सीतावनत्यजनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीरामो रावण जित्वा सीता स्वसदनेऽनैषीद्यदा तदा सीता श्रीराममान्यां दृष्ट्वा राज्ञीनामष्टसहस्रमीर्ष्यां कुरुते । तामी राज्ञीभिर्मिथो विमृष्ट, सीता रामचित्तादुत्तार्यते ।

ततस्ताभ्यस्ता सीतामन्त पुरे आगच्छन्ती वीक्ष्य सवा अन्तपुर्यो वर्यासन मण्डयामासु, अभ्युत्थान चक्रुश्च । सीतोपविष्टा ताभिः सविनय प्रोक्त—स्वामिनि ! त्व लङ्कामस्था, स रावणो दशानन कीदृशो दृष्ट लङ्का वा कीदृशी विद्यते ! सीताऽवग्—

रावणो यदा यदा मम पार्श्वे समागाद्यदा तदा अधोमुख कृतं तेन रावणाङ्ग न दृष्ट, पुन पादौ तस्य दृष्टौ ।

ताभिरुक्तं-तर्हि लङ्कादिरावणपादादि भूमौ खड्या लेखनीयानि ।

ततस्तया मुग्धस्वभावत्वात् लङ्काधिरावणपादादि सर्वं भूमौ लिखितं । रामोऽवग्— सीतैवं कथं लिखति । ताभिः प्रोक्तं—यो यस्याश्चेतसि विद्यते स तस्या हृदि तिष्ठत्येव । रावणांह्री आलिख्य प्रणमति सीता ।

ततो रामो दध्यौ-अहं सीतां सर्वामेव वेद्मि, यस्या हेतवे मनुष्याणां बहूनां संहारः कृतो मया सा त्वेवंविधाऽस्ति । ततो रामो दध्यौ—सर्वाः पत्न्य एवंविधाः सन्ति, अतः सर्वास्त्यक्ष्यामि ।

ततो रामो रात्रावेकाकी पुरं द्रष्टुं निर्ययौ । एकस्य गांछिकस्य गृहोपान्ते गतः, तदा पत्नी तस्योत्सूरे समागता सती गान्छिकेनोक्तं-त्वमेतावन्तं कालं कुत्रास्थाः ? पत्न्योक्तं-प्रातिवेश्मिकालये । कान्तः प्राह-एवं त्वं यास्यन्ती असती भविष्यसि । साऽवग्-एवं यद्यसतीत्वमागमिष्यति तदा सर्वाः स्त्रियोऽसत्य एव भविष्यन्ति ।

ततो रुष्टः स यदा गृहाद्बहिः कर्षयितुं लग्नः तदा साऽवग्-श्रीरामः सीतां रावणगृहे बहुकालं स्थितामपि स्वगृहे स्थापयति, त्वमेवं कथं कुरुषे ?

'अहं रामतुल्यो नास्मि' । एतद्वचः श्रुत्वा पुन सीतोपरि जातद्विट् सीतां वने तत्याज ।

इति सीतावनत्यजनसम्बन्धः ॥२१३॥

[214] अथाविचार्य जल्पने क्षत्रियसूत्रधारपुत्रसम्बन्धः ।

काणककाछिकः कस्यचित्क्षत्रियस्य वृषभौ कस्मैचित्कार्यायानीतवान् । सिद्धे कार्ये तस्य गृहे वृषौ दत्तौ । तेन प्रोक्तं च दृग्भ्यां दृष्टौ ? सोऽवग्-दृष्टौ । काछिकः स्वगृहे गतः ।

इतस्तौ वृषौ गतौ तस्य गृहात्, विलोकितौ सर्वत्र न लब्धौ । स च क्षत्रियो वृषौ मार्गयितुं गतः । काछिकोऽवग्-मया पश्यतस्तव तौ दत्तौ, तथापि स क्षत्रियस्तौ मार्गयति सदा, कलिं कुरुते । ततस्तौ मार्गे कलिं कुर्वाणौ निर्गतौ ।

इतः काछिकस्याग्रे क्षत्रियेणोक्तं-भो पुमन् ! अश्वो हन्तव्यः गच्छन्नस्ति । तेन तदाऽसिना हतेऽश्वो मृतः । स चाश्वं मार्गयति । द्वाभ्यां पुनः काछिको देवगृहे गतः दध्यौ च, "अहमेतयोः पार्श्वान्मृतिं विना न छुटिष्यामि" ततस्तयोः सुप्तयोर्मर्तुकामः काछिकः प्रासादस्योर्ध्वं चटित्वा झम्पामदात् । तदाऽधस्तात्सुप्तस्य सूत्रधारस्योपरि पपात । सूत्रधारो मृतः । सूत्रधारपुत्रोऽपि स्वपितरं याचते । त्रयोऽपि काछिकं दृढं कृत्वा राजकुले गताः । स्वं स्वं लहनकं ममार्गुः [मार्गयामासुः] स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचुः । काछिकोऽपि स्वसम्बन्धं जगौ । तदा भूपामात्येनोचे-'भो क्षत्रिय: त्वयोक्तं-दृग्भ्यां वृषभौ दृष्टौ ततस्त्वं दृष्टी देहि, असौ वृषभौ दास्यति ।' ततः स मौनं न्यधात् । द्वितीयक्षत्रियाग्रे प्रोक्तं-त्वया जिह्वयोक्तं अश्वो हन्यतां ततोऽस्मै त्वं जिह्वां छित्त्वा देहि, ततोऽसौ तुरङ्गमं दास्यति । सूत्रधारपुत्रस्याग्रे प्रोक्तं—त्वमपि प्रासादोपरि चटित्वाऽस्य

सुप्तस्योपरि यत । तत सर्वे मौन चक्रु । काछिकश्छुटितस्तेभ्य स्वगृहे गत ।

इति अविचार्यजल्पने क्षत्रियसूत्रधारपुत्रसबध ॥२१४॥

[215] अथ शुद्धाहारग्रहणे वत्सकथा ।

श्रीनिलये पुरे श्रीद श्रेष्ठी, पुत्रा ४ क्रमात्परिणायिता श्रेष्ठिना । तस्य च गृहे एका गौरैको वत्स तस्य चारिपानीययोश्चिन्ता ता वारकेण कुर्वन्ति ।

एकदा विवाहे जायमाने स वत्सो विस्मृतो बुभुक्षितस्तासा मुखं विलोकयति ताश्च विवाहासक्ता न स्मरन्ति वत्सम् । इत श्रेष्ठी वत्स बुभुक्षितं जज्ञौ । तत श्रेष्ठी ता प्रति प्राह्-यूयं न वरा यतो वत्सस्य सारा न कृता इति हसितास्ताश्चारिपानीयादि दातु वत्स प्रति चेलु, तदा यथा वत्सस्तस्मिन् चारिपानीयादौ एकाग्रचित्तोऽभूत्, न तासु । तथा साधुभिर्भिक्षासु चित्त देय नान्यत्र ।

इति शुद्धाहारग्रहणे वत्सकथा ॥ २१५ ॥

[216] अथ विध्यविधिभ्यां धम कर्तव्यमिति पुरुषत्रयकथा ।

कस्मात्पुरात् त्रय पुरुषा द्रव्यार्थ चेलु । गतास्तुङ्गशैले, तत्र सिद्धपुरुष षण्मास यावन्निरन्तरं सिषेविरे तथा यथा प्रसन्नीभूयऽवग्-मार्गयत यूय चिसेटं, ते जगुर्धन देहि । तत पुनस्तुम्बिका बीजानि दत्त्वाऽवग्-भवद्भि पुष्यार्कयोगे मध्याह्ने जाते शतवार क्षेत्र खेटयित्वा छायायां कृताया मण्डपयोगात् बीजानि वपनीयानि । अत्र म त्रश्च जपनीय इत्यादि विधिना तुम्बिकाबीजानि उद्गतानि पुनर्बीजानि तासा जाय ते यदा तदा सपत्रा सशाखास्तुम्बिका उत्पाट्य आतपे शुष्कयित्वा तासां बीजानि पृथक्कृत्वा सुस्थाने स्थाप्यानि । यत पुनर्वपनाय तासा चूर्णमेकग-दीयानकमित तप्तत्रपुमध्येऽपि क्षिप्यते सर्व सुवर्ण भविष्यति ।

एव श्रुत्वा तास्तुम्बीर्लात्वा तासा बीजानि ते लल्लु । ततस्त सत्पुरुष नत्वा स्वग्रामे ययुस्ते त्रय । तेषु प्रथमो गुरूक्तविधिना तानि तुम्बीबीजानि उप्त्वा सुवर्णं चक्रे बहु तत सुख्यभूत् । द्वितीयो गुरूक्त विधिं शिथिलयन् तानि बीजानि उप्त्वा रजत चक्रे। तृतीयो गुरूक्त विधिं न न व्यधात् तस्य किमपि नाभूत् ।

एव ये गुरूक्तविधिना आदर देवपूजादानशीलतपोभावनादिपुण्य कुर्वन्ति ते प्रथमपुरुष वत्स्वर्गापवर्गादिसुखभाज स्यु ।

ये तु विधिना धम कुर्वन्तः कदाचिदविधिनाऽपि देवपूजादिपुण्यं कुर्वन्ति ते द्वितीयपु-रुषवन्मनुष्यजन्म लभन्ते ।

ये तु गुरूक्तं धम विधिनाऽविधिनाऽपि न कुर्वन्ति ते तृतीयपुरुषवद्दु खिनो नरके भवन्ति । एव विधिना धमकृत्य नो चेदविधिनाऽपि कर्तव्यं, न धमकृत्य विना स्थेय । यत —

अविहिकए धरमकयं, असूयवयणं भणंति समयण्णू ।
पायच्छित्तं जम्हा, अकयगरुअं कयलहुअं ॥१॥

इति विध्यविधिभ्यां धर्मं कर्त्तव्यमिति पुरुषत्रयकथा ॥२१६॥

[217] अथ द्वेपे भूपपत्नीकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रभूपस्य पञ्चदशपत्न्योऽभूवन् । तासु मध्ये चन्द्रवती पट्टराज्ञी जिनधर्मे कुशला । अपरासामग्रे वक्ति-भो भगिन्य ! अस्माभि पूर्वं पुण्यं कृतं तेन वयं भूपस्य पत्न्योऽभूम । यदि जैनो धर्मः क्रियते तदा वरं । एवं कथयन्ती जिनप्रासादं कारयामास । तत्रादिदेव-प्रतिमा स्थापिता ।

एकदा भगिनीनां पुरः प्रोक्तं-जिनप्रासादप्रतिमाकारणे बहु पुण्यं जायते, यतः—

अङ्गुष्ठमात्रमपि यः प्रकरोति बिम्बं,
वीरावसानवृषभादिजिनेश्वराणाम् ।
स्वर्गप्रधानविपुलर्द्धिसुखानि भुक्त्वा,
पश्चादनुत्तरगतिं समुपैति धीरः ॥ १ ॥

इत्यादि धर्मोपदेशं पट्टराज्ञीमुखादाकर्ण्य सर्वाभी राज्ञीभिर्जिनालयास्तुङ्गाः कारिताः । चन्द्रवती गुरुणीति कृत्वा स्थापिता इयं पुण्यवतीति ता जल्पन्ति । क्रमाच्चन्द्रवती लोकमुखात्स्वं जिनालयमपरार्हदालयेभ्यो हीनं श्रुत्वा खिन्ना दध्यौ । मया पाप कृत यदासां पार्श्वात्प्रासादा कारिता । कि कथमपि प्रासादाः पतन्ति तदा वरम् । एव सदार्त्तध्यानपरा हृदये परेभ्यः स्व पापमप्रकाशयन्ती क्रमादुत्पन्नरोगा मृता ग्रामशुनी जाता । सा च प्रभुप्रासादे प्रविशन्ती ता कष्टापयन्ति कुट्टयन्ति बहिर्निष्काशयन्ति ।

एकदा प्रभुबिम्बं दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप्याश्रुप्रवाहं मुञ्चन्ती तिष्ठति स्म, न कुत्रापि गच्छति पुन स्वकृतकर्म निन्दति च तदा केवली तत्रागात् । स च सर्वाभिः पट्टराज्ञीभिर्भूपेन वन्दित धर्मोपदेशः श्रुत । पृष्ट ताभिः अस्मद्गुरुणी चन्द्रवती मृत्वा कुत्रोत्पन्ना ? केवल्यवग्—शुनी या जिनबिम्ब दृष्ट्वाऽश्रु पातयति सेव । ततः पृष्ट कथ पुण्यवत्येवंविधाऽभूत् ? केवल्यवग्-आर्त्त-ध्यानात् कुत्सितध्यानाच्च । ताभि पृष्ट कथ ज्ञायते ? केवल्यवग्—भवन्त्यस्तत्र गत्वा पृच्छन्तु, सास्य सञ्ज्ञापयिष्यति । तत केवलिपार्श्वे आनीता । केवल्यवग्—परस्मिन् द्वेपं कुर्वन् तिर्यग्पदीय भवति एषा शुनी यथा ततः सर्वो वृत्तान्तः प्रोक्तः । सा चानशनं लात्वा स्वर्गं क्रमाद् दिवि यास्यति । ततः सर्वा. राज्ञः पत्न्यो द्वेप त्यक्त्वा शुद्ध धर्मं कृत्वा प्रान्ते चारित्रं लात्वा सर्व-कर्मक्षयान्मुक्ति गताः । इति द्वेपे भूपपत्नीकथा ॥२१७॥

[218] अथ भाग्ययोगात्स्वेष्टयोगो भवति ।

एकस्मिन् ग्रामे भग्ने परैः एकस्य निगमस्य प्रिया तैर्गृहीता वैरिभिः । सा स्त्री वैरिभिश्चालिता

सही मार्ग समेत्य पत्या छोटयितुं चतुःशतीस्फरकानां मानिता । स्वगृहे सर्वं गृहं धनैः रिक्तं दृष्ट्वा स्वजनपार्श्वात् धनं मार्गयित्वा चचाल । तदा एको द्विजश्छली तद्धनं तेन नैगमेन समं चचाल । स वणिग् न विश्वसिति । स च चलन् मार्गे एकस्य कूपस्य प्रान्ते समागात् । तदा विप्रोऽवग्—अत्र पयः पीयते, कूपस्य कण्ठे उपविशत् । तदा छलेन द्विजस्तस्य पार्श्वात् धनं लात्वा कूपे चिक्षेप । कटिदघ्ने जले स्थितः क्षणात्सचेतनोभूतः स्वां प्रियां तत्रैव दृष्ट्वा हृष्टः प्राह—भो प्रिये ! कथं त्वमत्रागाः । ततस्तेन स्वस्य कूपपतनवृत्तान्तः प्रोक्तः । ततो भार्यापि तेन पृष्टाऽवग्—स्वकूपपतनवृत्तान्तं प्राहेति—अहमत्रायाते शिबिरे छलं कृत्वा कूपेऽपतं तदा दिनद्वयं जातं कोऽपि न तत्रायाति । यः कथयति तदाकस्मात् कूपस्याधःस्थविवरेऽकस्मात्तत्र पयः पातुं शिवा समागात् । सा पयः पीत्वा पश्चाद्यावद्वलते तावत्स वणिग् तस्याः पृष्ठौ विवरात् गव्यूतिद्वये बहिर्निर्गत्य स्वां प्रियां कथयामास । यत्र शिवा भूमध्यविवरेभ्यः पातालस्थं पयः पिबति ततस्तत्र विप्रपार्श्वे गत्वा तं हक्कयित्वा राजकुले नीत्वा स्वं धनं जग्राह । भार्यायुतः स्वपुरे गतः ।

इति भाग्ययोगात्स्वेष्टयोगो भवति ॥२१८॥

[219] अथ कुमारपालपश्चाद्भवसम्बन्धः ।

ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां वर्षावनद्धाम्बरे,
तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे ।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां,
पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥१॥

सुरगिरि एकाबला, सावउ भावउ देइ दाण ।
तस्स न तत्ती अपुन्न, जत्तीअ सामइए इक्के ॥२॥

सामाईअसुद्धिआण, जह जह उल्लसइ सुद्धपरिणामो ।
तह तह खवंति जीवा, अणेगभवसंचिअं कम्मं ॥३॥

सामाईअसामग्गिं, अमरा चिंतंति ही अयमज्झमि ।
जइ हुज्ज घडीव दुग ता अम्ह सुरत्तण सुलहं ॥४॥

एकदा कुमारपालः श्रीहेमसूरिपार्श्वेऽप्राक्षीत् । मया पूर्वभवे किं कृतं पुण्यमग्रे को भवो भविष्यति ? सिद्धराजः कुतो मह्यमद्रुह्यत् ? मन्त्री उदायनो यूयमपि वत्सलाः कुतः ? यतः—

नहि प्राग्जन्मसंबंधं, विना कस्यापि कर्हिचित् ।
वैरं च सौहृदय्यं च, स्यातामात्यन्तिके ध्रुवम् ॥५॥

सूरिः प्राह—नेदानीं तिसर्वं ज्ञानं न विद्यते तथापि देवतां पृष्ट्वा कथयिष्यामि । [
सिद्धपुरे गत्वा श्रीनेमिप्रासादे नेमिमम्बिकामुद्दिश्य तपस्तेपे । उपवासत्रयान्ते अम्बिका

प्राक्सम्बन्धं प्राह । ततो गुरुः प्राह-मेदपाटमध्ये भीमपर्वतोपान्ते परमान्वयी जयताह्वः पल्लीपतिः लोकान् मुमोष । ग्रामान् भनक्ति स्म ।

अन्येद्युर्धनदत्तं सार्थप तत्राध्वनि आगच्छन्त दृष्ट्वा लुलोट । धनदत्तो नष्टः सार्थपः स्वगृहे गत्वा मालवेशं ससेव्य तद्बल लात्वा पल्लीपुर वेष्टयित्वा युद्धे जयत जिगाय । जयतो नष्टः धनदत्तस्तद्भृत्यान् हत्वा तत्पत्न्या सगर्भाया उदर विदार्य कर्षयित्वा शिलायामास्फाल्य यम-गृहं नीतवान् । ततो यदा धनदत्त पल्लीपतिधन राज्ञोऽग्रे मुमोच, तदा राजा तत्कृत्यं ज्ञात्वा रुष्टो जगौ—

त्वं वाणिजोऽपि जात्यारे, कर्मणासि जनंगम ।
निर्घृणो यत्स्वहस्तेन, स्त्रियं बालं च जघ्निवान् ॥६॥

अथैतत्कर्म निर्माति, चाण्डालोऽपि न कर्हिचित् ।
यत्त्वया निर्मितं रे रे, लोकद्वयविरोधकम् ॥७॥

अतस्त्वमदृष्टमुखो दूर याहि, मद्देशे न स्थेय । ततो निर्गत्य तापसो भूत्वा अज्ञान तपः कृत्वा सिद्धराजोऽभूत् । धनदत्त जयताकः पल्लीपतिः निःस्वो भूत्वा यशोभद्रसूरिं सेवते स्म, धर्मं शृणोति । यतः—

रोगिणां सुहृदो वैद्याः, प्रभूणां चाटुकारिणः ।
मुनयो दुःखदग्धानां, गणिकाः क्षीणसम्पदाम् ॥८॥

चौर्यं श्वभ्रफलं ज्ञात्वा, स्तैन्यं तत्याज जयतः ।

स्थानभ्रंशं कुलध्वंसं, निःशेषविभवक्षयः ।
तत्कालं कलयन् स्तेया-त्कः सुधीर्विदधीत तत् ॥९॥

ततो जयताक एकशिलापुर्यां प्रेषितः । तत्र उदरमहेभ्यगृहे कर्मकरोऽभूत् । भद्रकस्वभावत्वात् गुरुरपि तत्रागात् उदरो धर्मोपदेश शुश्राव ।

एकदा उदरेण जयतः पृष्टः, कुत्र तिष्ठसि वह्वीं वेला । तेनोक्त-यशोभद्रसूरेः पार्श्वे तिष्ठामि । तत उदरो हृष्टस्त भृत्यं गुरुपार्श्वं निनाय । धर्मं द्वावपि शृणुतः स्म । उपदेशं श्रुत्वा उदरो जिनागारमकारयत् । तत्र श्रीवीरदेवप्रतिमा यशोभद्रसूरि [रिः] प्रतिष्ठयत् ।

एकदा पर्युषणादिने बहून् श्राद्धान् जिनमर्चयतो दृष्ट्वा स्वीयपञ्चकपद्दः पुष्पान् लात्वा प्रभोर्जयतोऽर्चां चक्रे । प्रातर्गुरून् प्रतिलाभ्योदरः पारणक व्यधात् । स कर्मकरोऽनुमुमोद तत्पुण्यम् । उदरो मृत्वा उदायनो मन्त्र्यभूत् । जयताको मृत्वा भवानभूत् । यशोभद्रसूरिर्मृत्वा हेमाऽभूवम् । धनदत्तः सार्थपो मृत्वा सिद्धराजोऽभूत् । अतः प्राग्भववैरात् त्व मारयितुमार-ब्धस्तेन मम तव उदयनस्य च प्रीति प्राग्भवभूताऽभूत् । तत एकशिलापुरिप्रेष्यभृत्यान् पुर-गृहप्रासादादिपुण्य ज्ञातमतो मृत्वा भवान् व्यन्तरेन्द्रो भविष्यति । इन्द्रवत्स्वशाश्वतचैत्यानि

चन्दिष्यसि ततश्च्युत इहभरते भद्दिलपुरे शतानन्दभूपस्य धारिणीकुक्षिभूतः शतबलाह्वः पुत्रो भविष्यसि। तत्र धर्मवान् भविष्यसि । त्वां राज्ये न्यस्य शतानन्दो स्वर्गं गमिष्यति। त्वयि शतबलभूपे राज्यं कुर्वति तत्र श्रेणिकभूपजीवः पद्मनाभः सर्वज्ञः तत्रागमिष्यति। उपदेशं श्रुत्वा प्रबुद्धः शतबलो राज्ये पुत्रं न्यस्य दीक्षां ग्रहीष्यति। तत्र गणधरो भविष्यति । केवलज्ञानं प्राप्य जीवान् प्रबोध्य भवान् मुक्तिं गमिष्यसि ।

इति कुमारपालपश्चाद्भवसम्बन्धः ॥२१९॥

[220] अथ कुबेरदत्त–कुबेरदत्ताकथानकमष्टादशनात्रकगर्भितम् ।

मथुरायां वेश्या कुबेरसेना मातुरुपरोधादेकादशदिने स्वापत्ययुग्मं कुबेरदत्तः—कुबेरदत्ताः नामाङ्कितमुद्रिकाद्वयसहितं काष्ठपेटायां प्रक्षिप्य यमुनायां प्रवाहयत्। सा वहमाना सूर्यपुरेऽगात्। इभ्यपुत्राभ्यां गृहीता। समये तयोरेव द्वयोः कुबेरदत्ता—कुबेरदत्तयोर्विवाहोऽभूत्। असम्बद्धे एव मुद्रिकात उपलक्षणं भ्रातृभगिनीभावं मुद्रिकाक्षरतो ज्ञात्वा देवनत्यवसरे निजनामाक्षराङ्कितमुद्रादर्शनात् कुबेरदत्तकुबेरदत्ताभ्यां भ्रातृभगिनीभावौ ज्ञातौ। ततो व्यवसायार्थं कुबेरदत्तो मथुरायां गतः। कुबेरसेनायां स्वमातुरज्ञानात्कलत्रीकरणं पुत्रोत्पत्तिरभूत् तया। कुबेरदत्ता विरक्ता प्रव्रज्यां लली। तपसा तस्या अवधिज्ञानमुत्पेदे। स्वपुत्रपुत्र्याविसम्बन्धमवगत्यावधिज्ञानात् कुबेरदत्ता यतिनी कुबेरसेनामातृगृहोपान्ते कस्यचिदुपाश्रयं याचित्वा स्थिता। ततो मातृभ्रात्रा प्रबोधाय कुबेरदत्तकुबेरसेनोत्पन्नं बालं पालनस्थं रटन्तमिति तत्रैत्यालापः—

भ्रातासि[1] तनुजन्मासि,[2] वरस्यावरजोऽसि[3] च ।
भ्रातृव्योऽसि[4] पितृव्योऽसि,[5] पुत्रपुत्रोऽसि[6] चार्भक ! ॥१॥

यश्च बालक ! ते पिता, स मे भवति सोदरः[1] ।
पिता[2] पितामहो[3] भर्ता,[4] तनय[5] श्वशुरोऽपि[6] च ॥२॥

या च बालक ! ते माता, सा मे माता[1] पितामही[2] ।
भ्रातृजाया[3] वधू[4] श्वश्रूः,[5] सपत्नी[6] च भवत्यहो ॥३॥

एतद्विवरणश्लोकाश्चैते—

आर्योंचे मम बालोऽयं, भ्रातैका जननी यतः । १
वदामि तनुजन्मानमम्मुं मत्पतिसूरिति ॥४॥ २

मद्भर्तुः सोदर इति, देवरोऽपि भवत्यसौ । ३
भ्रातुस्तनय इति च भ्रातृव्यं कीर्त्तयाम्यमुम् ॥५॥ ४

पितृव्यश्चैष भवति, भ्राता मातृपतेरिति । ५
पुत्रः सपत्नीपुत्रस्ये–त्यसौ पौत्रो मयोदितः ॥६॥ ६

योऽस्य वप्ता स मे भ्राता, माता ह्येका यदावयोः । १
अस्य तातश्च मे तातो, भर्त्ता मातुरभूदिति ॥७॥ २
पितृव्यस्य पितेत्येन—मुद्घोषयामि पितामहम् । ३
परिणीताऽहममुना–ह्यस्मीति पतिरेष मे ॥ ८ ॥ ४
ममैष तनुजन्मा च, सपत्नीकुक्षिभूरिति । ५
देवरस्य पितेत्येष, भविता श्वशुरोऽपि हि ॥९॥ ६
याऽस्याम्बा सा ममाप्यम्बा, तया जातास्म्यहं यतः । १
पितृव्यकस्य मातेति, मम सापि पितामही ॥१०॥ २
भ्रातृजायाऽपि भवति, मद्भ्रातुर्गृहिणीत्यसौ । ३
सपत्नीतनयस्यैषा, गृहिणीति वधूरिति ॥११॥ ४
मातापत्युर्मदीयस्ये–त्येषा श्वश्रूरसंशयम् । ५
भर्त्तुर्भार्या द्वितीयेय–मिति जाता सपत्न्यपि ॥१२॥ ६

ततः कुबेरदत्तभ्राता कुबेरसेनामाता च कुबेरदत्तायतिनीपार्श्वे पुत्र–पुत्री–भ्रातृ–पितृमात्रादि १८ नात्रकसम्बन्ध स्वस्य ज्ञात्वा प्रबुद्धौ। कुबेरदत्त गृहीतव्रत स स्वर्गमगात् । मुद्रिकादर्शनेन मातुरपि प्रबोधः सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिश्च ।

इति कुबेरदत्त–कुबेरदत्ताकथानकमष्टादशनात्रकसम्बन्धगर्भितं समाप्तम् ॥२२०॥

[221] अष्टविधप्रतिक्रमणस्य दृष्टान्तानि–प्रथमं अध्वदृष्टान्तम् ।

पडिक्कमणं[1] पडियरणा[2], परिहरणा[3] वारणा[4] निवत्ती[5] य ।
निंदा[6] गरिहा[7] सोही[8], पडिक्कमणं अट्ठहा होइ ॥ १ ॥

प्रतिक्रमणे दृष्टान्ता —

अद्धाणे[1] पासाए[2] दुद्धकाय[3] विसभोअणतलाए[4] ।
दोकन्नाओ[5] पइमारिया[6] य, वत्थे[7] अ अगए[8] अ ॥२॥*

अध्वानो नृपेण प्रासादार्थं दत्तस्तत्रान्तर्गच्छद्ग्राम्यद्वयस्य निषिद्धस्य एको धृष्टत्वात्को दोष इति वदन् नृपानुगैर्हतः । द्वितीयस्तु तैरेव पदैर्वलमानो मुक्तः सुखी जातः । एवं द्रव्य–प्रतिक्रमण ।

* आवश्यक निर्युक्तौ, गा० न० १२३९ ।

भावे दृष्टान्तस्योपनयो यथा—राजस्थानीयैरर्हद्भिः प्रासादः सूत्रस्थानीयः संयमो रक्षणीय इत्यादिष्टे ग्राम्यसाधुना एकेनातिक्रान्तः स तु खभागी । यः प्रासादेन सथमं गन्तु प्रतिनिवृत्तो ऽकरणतया प्रतिक्रमति स शिवभागी । इति प्रथमः ॥२२१॥

[222] अथ प्रतिचरणायां प्रासादेन दृष्टान्तो यथा—

कश्चिद्वणिगथसमृद्धः प्रासादो यस्त्वयाचिन्त्य इति भार्यायै उक्त्वा देशान्तरमगात् । तया देहमण्डनाविपरया स प्रासादः शनैः शनैः पतितो न प्रतिचरितः । आगतेन वणिजा तं पतितं दृष्ट्वा पत्नी निःसारिता गृहात् । अथा न दृष्टा । तेन पुनरन्यः प्रासादः कारितः । अन्या पत्नी परिणीता च । पूर्ववत् प्रासादं नवीनं पत्न्यं सम्भाल्य दूरे गतः । पुनरागतः सन् सं प्रासादं तया प्रतिचरितं दृष्ट्वा गृहस्वामिनी कृता । एषा द्रव्यप्रतिचरणा ।

भावे वणिक्स्थानीय आचार्य, प्रासादः संयमः इत्यादि पूर्ववत् ज्ञेयम् ।

इति द्वितीयः ॥ २२२ ॥

[223] अथ तृतीयः—(परिहरणायां) दुग्धकाये दुग्ध-कावडिः ।

एकः कुलपुत्रः, तस्य द्वे भगिन्यौ स्तः । स च परीक्षां विना न कस्यापि स्वां भगिनीं दत्ते । तस्य पुत्रीयाचनाय द्वौ नरौ समायातौ । कुलपुत्रेणोक्तः—यो दक्षो भविष्यति तस्मै दास्ये पुत्रीम् । ततस्तेन कावडियुक्तौ द्वौ दुग्धमानयनाय गोकुले प्रेषितौ । तत्र गत्वा दुग्धघटौ दुग्धेन भृत्वा कापोतीमादाय निवृत्तौ ।

तत्र द्वौ पन्थानौ एकः परिहारेण समोऽस्ति, अपर ऋजुर्विषमश्च । तत एकस्य ऋजुना प्रविष्टस्य प्रस्खलत्यैकघटभङ्गे द्वितीयोऽपि भग्नः । द्वितीयो दूरमार्गेण पर्वतपरिहारेणाखण्डघटः समायातः, तस्मै पुत्री दत्ता । तेन एषा द्रव्यपरिहरणा भावे कुलपुत्रस्थानीया अर्हन्तः, दुग्धं चारित्रं कन्या सिद्धिः गोकुलं मनुष्यभवः । इति तृतीयः ॥२२३॥

[224] वारणायां विषभोजनतडागेन दृष्टान्तः चतुर्थः ।

एको राजा परचक्रागमं ज्ञात्वा ग्रामेषु दुग्धदधिभोज्यादिषु तडाकादिषु वृक्षपुष्पफलादिषु च विषयोगं कारितवान् । आगतेन राज्ञा तथा ज्ञाते घोषणया वारितं सैन्यम् । ये वारिता भूत्वा राज्ञोक्तमङ्गीचक्रुस्ते सुखिनोऽभूवन् अपरे मृताः । भावे विषान्नपानसदृशा विषया भूपतुल्या गुरवः, भृत्यसमा भव्यजनाः ये गुरूक्तमङ्गीचक्रुस्ते सुखिनोऽन्ये तु न ।

इति चतुर्थः ॥ २२४ ॥

[225] अथ-द्वयोः कन्ययोः राजसुता-चित्रकरसुतयोर्मध्ये पूर्वं निवृत्तौ राजकन्यया दृष्टान्तः पञ्चमः ।

एकः शालापतिस्तस्य शालायामेको धूर्तो मधुरस्वरेण गायति । तेन समं शालापतिपुत्री

तत्सखी राजपुत्री लग्ने । द्वे अपि यातस्तस्य वरणार्थम् । मार्गे गाथामेकां शृणुतः स्मेति—

जइ फुल्ला कणी[णि]यारया चूयय[ ], अहिमासयंमि थट्टंमि [घुट्ठंमि] ।
तुह न खमं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करंति डमराइं ॥१॥

यदि कर्णिकाराद्या नीचाः पुष्पिताः तदा तव भूतोत्तमस्य पुष्पितुं न युक्तम्, श्रुत्वेति राजपुत्री मम रत्नकरण्डको विस्मृत इति छद्मना-कुविन्दसुतायै निवेद्य पश्चादागता । तस्मिन दिने सामन्तपुत्राय दत्ता पित्रा सुखिनी बभूव । स च श्वशुरबलेनारीन् जित्वा सुख्यभूत् । कुविन्दपुत्री तेन धूर्त्तेनाङ्गीकृता दुःखिनी जाता ।

भावे-आद्या भूपपुत्रीतुल्यो चारित्री साधु, कुविन्दपुत्रीतुल्यो धर्म., चारित्री साधु, धूर्त्ततुल्या विषयाः, गीततुल्याचार्येण मम तु शिष्टो निवृत्तः सुखी जातः । यथा द्रव्यभावनिवृत्तौ क्वापि गच्छे एक साधुस्तरुणो ग्रहणधारणसमर्थ इति सूरिप्रिय. सोऽन्यदाऽशुभकर्मोदयेन प्रतिगच्छन् शृणोति—

तरियव्वा च पइन्ना, मरिअव्वा समरे समत्थेण ।
असरिसजणतुल्ला वा, न हु सहिअव्वा कुलपसूएण ॥

श्रुत्वेति स प्रवुद्धो निवृत्त । इति पञ्चमः ॥२२५॥

[226] निन्दायां चित्रकरसुतादृष्टान्तः षष्ठः ।

चित्रकरसुता बुद्धिमती केनचिद्राज्ञा परिणीता बुद्धया षण्मासान् नृपं स्वावासे स्थापितवती सा । सपत्न्यश्छिद्राणि वीक्षन्ते । सा चापवरके प्रविश्य पुराणमणिचीवराणि पुरः कृत्वा आत्मानं निन्दति इति त्वं चित्रकरसुतासि । एतद्वस्त्रादि तव पितु. सम्बन्धी, एवं प्रतिदिनं वस्त्राभरणादि पितृसत्कमग्रे मण्डयित्वा तां सपत्नीं जल्पन्तीं दृष्ट्वा सपत्न्यो भूपस्याग्रे प्रोचु –एषा तव कार्मणं कर्त्तुमेव करोति वक्ति च । ततो राज्ञा रहःस्थितेन स्वं निन्दन्तीं शुभकर्मोदयादह । राज्ञ पत्न्यभूवमेतच्च वस्त्रादि पितृसत्कम्, एतच्च राज्ञः सत्कम्, त्वया च कस्याप्युपरि द्वेपो न कार्यः । श्रुत्वैतत्पत्नीवचो भूपस्तां पट्टराज्ञीं चक्रे ।

भावे साधुनैवमात्मा निन्दितव्यः । इति आत्मनिन्दायां षष्ठः ॥२२६॥

[227] अथ गर्हायां पतिमारिकाया दृष्टान्तः सप्तमः ।

कस्यापि वृद्धस्योपाध्यायस्य तरुणी पत्न्यभूत् । नर्मदा परकूलवासिगोपरता नर्मदां तीर्त्वा तत्र भोगं तेन समं भुङ्क्ते स्म । सा गृहे तु निछारके गच्छन्ती काकेभ्यो बिभेति । नद्यां च कुतीर्थानि जानाति च इत्यादि ज्ञात्वैकेन छात्रेणोक्त ता प्रति—

दिवा बिभेति काकेभ्यो, रात्रौ तरति नर्मदाम् ।
कुतीर्थान्यपि जानासि, जलजन्त्वक्षिरोधनम् ॥१॥

सा प्राह–किं कुर्वे युष्माकं सा नेच्छन्ति। स उपचरितः प्राह–उपाध्यायाद्बिभेमि। सा तत्पतिं सुप्तं व्यापाद्योज्झनाय पिटिके क्षिप्त्वाऽटव्यां गता। व्यन्तर्या पिटकं तच्छीर्षे स्तम्भितम्। क्षुधाकुला लोकगृहे गत्वा वक्ति। सा पतिमारिकायै भिक्षां दीयतामित्यादि जल्पन्ती भिक्षां प्राप्य बहुकालं निनाय। अन्यदा साध्व्याः पदोः पतितायास्तस्याः पिटकं भूमौ पपात। स्वपापमालोच्य व्रतिनी जाता। क्रमात्तस्मात्पापात् शुद्धा। इति सप्तमम् ॥२२७॥

[228] अथ शुद्धौ वस्त्रागदेइति अष्टम्।

तथाहि—वस्त्रे–राजकुले श्रेणिकेन स्वं क्षौमयुग रजकस्य समर्पितम्। कौमुदीक्षणे तेन भार्याद्वयस्य दत्तम्। कौमुद्यां च अभयश्रेणिकौ रहो हिण्डत स्म। श्रेणिकेन स्व क्षौमयुगं रजकपत्नीद्वयपरिधत्त दृष्ट्वा अभिज्ञानाय ताम्बूलेन सिक्तं वस्त्रं रजकेन क्षारादिभिः शोधितमानयने (राज्ञा) राज्ञस्तदर्पितम्। राज्ञा पृष्टो यथास्थितं प्राह रजकः, ततो राज्ञा सत्कृतः। एवं साधुनाऽपि पापमालोच्यं गुरोरग्रे।

अगदो यथा—परबलागमे नीरविनाशार्थं राज्ञा विषाकरः पातितः पुञ्जाकृता वैद्येन यवमात्रमानीत। राजाकृष्टोऽवग्–स्तोकं कथमानीत? वैद्योऽवग् सहस्रघात्येतत्। ततो मृतेभस्य पुच्छमुत्पाट्य क्षिप्त तद्विषं सर्वोऽपि हस्ती विषमयोऽभूत्। यस्तं खादति सोऽपि विषं ततो लक्षवेधे अगदे दत्ते तथैव वलित वैद्यधी एव शोधिः कार्या। इत्यष्टमम् ॥

इति प्रतिक्रमणविषये अष्टावुदाहरणानि ॥२२८॥

[229] अथ सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिनः चन्द्रो नन्दनोऽभूत्, स च परिणीतः। अन्यदा तस्यापि कमलाह्वः पुत्रोऽजनि। भीमपत्नी मृता। स भीमो वृद्धोऽभवत्। चन्द्रपत्नी पत्युः पुरः प्राह—'अयं श्वशुरो वृद्धो द्वारे उपविष्टो न शोभते। ततः पत्न्या प्रेरितेन तेन स्वपिता वाटके कुटीरकं कृत्वा स्थापितः। अन्नपानं तत्रैव दीयते। भृतजलभृतः कुम्भस्तत्र मुच्यते। वधूः भोजनावसरे एको वंशः सशिखिरस्तत्र मुक्तः। पुत्रेणोक्तं–तात! यदा जेमनावसरो भवति तदा त्वया एष वंशो वादनीयः तेन शब्देन मत्पत्नी समेत्य तुभ्यं भोजनं दास्यति। ततः श्रेष्ठी तत्रस्थः कालं गमयति दुःखेन।

अन्यदा कमलकुमारो रममाणो बाल्यचापल्यात् वंशटोकरकं लात्वाऽग्रे गच्छन् घोटकमिवारूढो व्रजति। ममायं घोटको वर्योऽस्ति। ततस्तेन बालेन रममाणेनान्यत्र त्यक्तः। दिनत्रयं जातं श्रेष्ठिनो भोजनं विना। ततोऽकस्मात्पुत्रागात्। पित्रोक्तं–दिनत्रयं जातमन्नेन विना। पुत्रोऽवग्–वंशः क्व गतः? ततः श्रेष्ठी वंशस्वरूपं प्राह। ततस्तेन कमलः पृष्टः। क्व वंशो मुक्तस्त्वया? वंशवादनं विना तातो दिनत्रयं बुभुक्षितोऽभूत्। पुत्रोऽवग्–वंशो रहसि स्थापितोऽस्ति। ततश्चन्द्रोऽवग्–भो पुत्र! वंशं न कुर्वं त्वया। कमलकुमारः प्राह—तात! यदा त्वमपि वृद्धो भविष्य(सि) तदा तत्रापि वंशो विलोकयिष्यते। श्रुत्वेति पुत्रवचश्चन्द्रस्तातं भोजयित्वा जिमति। यदा तस्याः आकारयितु कोऽपि न याति तदा चन्द्रपत्नी दध्यौ–अहं पत्या मुक्ता गृहं सर्वं

भवितम् । तेन छलं कृत्वा पत्युर्गृहे यास्यामि । ततः सा भार्यं महिषपुच्छे विलग्ना चलन्ती आह—"पाडा मांडमतेडिल्हं तुरीसावी छउं" ।

इति जल्पन्ती स्वगृहे समायाता । ततः श्वशुरस्य पतिकवद्भक्तिं चक्रे ।

इति सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ॥२२९॥

[230] कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे कृष्णद्विजस्य ज्योतिष्कस्य छालीदन्ताल्यादयो गृहे विलोक्यन्ते । स चान्यदा कस्यचिदाभीरस्य गृहे तत्पुत्रस्य चिकित्सार्थं गतः । ततस्य नाड्यादि वीक्ष्य लग्नं विलोक्य मस्तकं द्विजोऽधूनयत् । ततः स आभीरोऽवग्—मस्तकधूननकारणं प्रोच्यताम् । द्विजोऽवग्—विषमोऽस्य रोगः । पिताऽवग्—कथं याति रोगः ? वैद्योऽवग्—कथयिष्यते । ततस्तस्य गृहऋद्धिं विलोकयन् आह—

काली छाली घरखग्रकाली एवं ताली रोगनी आली ।
ए रोग छइ आमलदूमल, तो जाइ जो दीजइ पांच पीडल ॥१॥

ततः स तस्मै छाल्याद्य सर्वं ददौ । ततः क्रमाद्रोगोऽपि गतः । आभीरोऽवग्–अयं वैद्यो वर्यः ।

इति कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ॥२३०॥

[231] अथ रात्रौ उच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे घाञ्चिको रात्रौ तिलभृतं शुण्डलकं पीलयितुं मुक्त्वा सुप्तः । मध्यरात्रौ वैदिकद्विजोच्चारितोच्चैः शब्दश्रुतेजागरितः सकाल एवोत्थितः । घाणिकायां तिलान् क्षिप्त्वा पीलयामास । तैलमसदृशं दृष्ट्वा पार्श्वे बिलाडिकां रुदन्तीं दृष्ट्वा खलमध्येऽस्थिशकलानि दृष्ट्वा बिलाडिकाबालकं पिलितं जज्ञौ । ततः पश्चात्तापवान् सोवीरपार्श्वे व्रतं लात्वा स्वकृतं पापं प्रकाशयामास । भगवन् प्राह—बहु पापं द्विजानां लग्नं रात्रावुच्चैः शब्दोच्चरणात् । तव पापं स्तोकमज्ञानात्तव कृपा हृदि त्वयाऽतः परं रात्रावुच्चैर्न वक्तव्यम् । यतना च कार्या । ततस्तत्पापमालोच्य स्वर्गं गतः । ततो मुक्तिं यास्यति ।

इति रात्रावुच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ॥२३१॥

[232] देवपूजायामभयकुमारसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे श्रेष्ठिनो गृहे श्रीरस्ति । जिनपूजां विशेषतः श्रेष्ठी चक्रे ।

एकदा बटुकं कणान् मार्गयन्तं दृष्ट्वा श्रेष्ठी पप्रच्छ, कियन्तः कणाः कणवृत्तौ मिलन्ति । तेनोक्तं—मानकमेकं । श्रेष्ठी प्राह—मम देवपूजार्थं वाटीतः पुष्पाणि त्वयाऽऽनेतव्यानि, तुभ्यं

सा प्राह–किं कुर्वे युष्मादृशा नेच्छन्ति । स उपचरित प्राह–उपाध्यायाद्बिभेमि । सा तव पतिं सुप्तं व्यापाद्योच्छलनाय पिटिके क्षिप्त्वाऽटव्यां गता । व्यन्तर्या पिटकं तच्छीर्षे स्तम्भितम् । क्षुधाकुला लोकगृहे गत्वा वक्ति । सा पतिमारिकायै भिक्षा दीयतामित्यादि जल्पन्ती भिक्षां प्राप्य बहुकालं निनाय । अन्यदा साध्व्या पदोः पतितायास्तस्या पिटकं भूमौ पपात । स्वपापमालोच्य व्रतिनी जाता । क्रमात्तस्मात्पापात् शुद्धा । इति सप्तमम् ॥२२७॥

[228] अथ शुद्धौ वस्त्रागदेइति अष्टम् ।

तथाहि—वस्त्रे–राजकुले श्रेणिकेन स्वं क्षौमयुगं रजकस्य समर्पितम् । कौमुदीक्षणे तेन भार्याद्वयस्य दत्तम् । कौमुद्यां च श्रेणिकाभयौ रहो हिण्डत स्म । श्रेणिकेन स्व क्षौमयुगं रजकपत्नीद्वयपरिधत्तं दृष्ट्वा अभिज्ञानाय ताम्बूलेन सिक्तं गत्वा रजकेन क्षारादिभिः शोधितमानयने (राज्ञा) राज्ञस्तदर्पितम् । राज्ञा पृष्टो यथास्थितं प्राह रजकः, ततो राज्ञा सत्कृतः । एवं साधुनाऽपि पापमालोच्य गुरोरग्रे ।

अगदो यथा—परबलागमे नीरविनाशार्थं राज्ञा विषाकरः पातितः पुञ्जीकृता वैद्येन यवमात्रमानीतं । राजारुष्टोऽवग्–स्तोकं कथमानीतं ? वैद्योऽवग् सहस्रघात्येतत् । ततो मृतेभस्य पुच्छमुत्पाट्य क्षिप्तं तद्विषं सर्वोऽपि हस्ती विषमयोऽभूत् । यस्तं खादति सोऽपि विषं ततो लक्षवेधे अगदे दत्ते तथैव वलितं वैद्यवत् एवं शोधं कार्यो । इत्यष्टमम् ॥

इति प्रतिक्रमणविषये अष्टाद्युदाहरणानि ॥२२८॥

[229] अथ सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिनश्चन्द्रो नन्दनोऽभूत्, स च परिणीतः । अन्यदा तस्यापि कमलाह्वः पुत्रोऽजनि । भीमपत्नी मृता । स भीमो वृद्धोऽभवत् । चन्द्रपत्नी पत्युः पुरः प्राह—'अयं श्वशुरो वृद्धो द्वारे उपविष्टो न शोभते । ततः पत्न्या प्ररितेन तेन स्वपिता वाटके कुटीरकं कृत्वा स्थापितः । अन्नपानं तत्रैव दीयते । प्रातजलभृतः कुम्भस्तत्र मुच्यति । वधू भोजनावसरे एको वंशः सशिखिरस्तत्र मुक्तः । पुत्रेणोक्त–तात ! यदा जेमनावसरो भवति तदा त्वया एष वंशो वादनीयः तेन शब्देन मत्पत्नी समेत्य तुभ्यं भोजनं दास्यति । ततः श्रेष्ठी तत्रस्थः कालं गमयति दुःखेन ।

अन्यदा कमलकुमारो रममाणो बाल्यचापल्यात् वंशटोकरकं लात्वाऽग्रे गच्छन् घोटकमिवारूढो व्रजति । ममायं घोटको वर्योऽस्ति । ततस्तेन बालेन रममाणेनान्यत्र त्यक्तः । दिनत्रयं जातं श्रेष्ठिनो भोजनं विना । ततोऽकस्मात्पुत्रागात् । पित्रोक्त–दिनत्रयं जातमन्नेन विना । पुत्रोऽवग्–वंशः क्व गतः ? ततः श्रेष्ठी वंशस्वरूपं प्राह । ततस्तेन कमलः पृष्टः । क्व वंशो मुक्तस्त्वया ? वंशवादनं विना तातो दिनत्रयं बुभुक्षितोऽभूत् । पुत्रोऽवग्–वंशो रहसि स्थापितोऽस्ति । ततश्चन्द्रोऽवग्–भो पुत्र ! वरं न कृतं त्वया । कमलकुमारः प्राह—तात ! यदा त्वमपि वृद्धो भविष्यसि तदा तत्रापि वंशो विलोकयिष्यते । श्रुत्वेति पुत्रवचश्चन्द्रस्तातं भोजयित्वा जिमति । यदा तस्या आकारयितुं कोऽपि न याति यदा चन्द्रपत्नी दध्यौ–अहं परया मुक्ता गृहं सर्वं

श्चिंतम् । तेन छलं कृत्वा पत्युर्गृहे यास्यामि । ततः सा सायं महिषपुच्छे विलग्ना चलन्ती प्राह—"पाडा मांडमतेडिल्हं तुरीसावी छउं" ।

इति जल्पन्ती स्वगृहे समायाता । तत श्वशुरस्य पतिकवद्भक्तिं चक्रे ।

इति सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ॥२२९॥

[230] कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे कृष्णद्विजस्य ज्योतिष्कस्य छालीदन्ताल्यादयो गृहे विलोक्यन्ते । स चान्यदा कस्यचिदाभीरस्य गृहे तत्पुत्रस्य चिकित्सार्थं गतः । तत्तस्य नाड्यादि वीक्ष्य लग्नं विलोक्य मस्तकं द्विजोऽधूनयत् । ततः स आभीरोऽवग्—मस्तकधूननकारणं प्रोच्यताम् । द्विजोऽवग्—विषमोऽस्य रोगः । पिताऽवग्—कथं याति रोग. ? वैद्योऽवग्—कथयिष्यते । ततस्तस्य गृहऋद्धिं विलोकयन् प्राह—

काली छाली घरखग्रकाली एवं ताली रोगनी आली ।
ए रोग छइ आमलदूमल, तो जाइ जो दीजइ पांच पींडल ॥१॥

ततः स तस्मै छाल्याद्य सर्वं ददौ । तत क्रमाद्रोगोऽपि गतः । आभीरोऽवग्–अयं वैद्यो वर्य. ।

इति कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ॥२३०॥

[231] अथ रात्रौ उच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे घाञ्चिको रात्रौ तिलभृत शुण्डलकं पीलयितुं मुक्त्वा सुप्तः । मध्यरात्रौ वैदिकद्विजोच्चारितोच्चैः शब्दश्रुतेजागरित. सकाल एवोत्थितः । घाणिकायां तिलान् क्षिप्त्वा पीलयामास । तैलमसदृशं दृष्ट्वा पार्श्वे विलाडिकां रुदन्तीं दृष्ट्वा खलमध्येऽस्थिशकलानि दृष्ट्वा विलाडिकाबालक पिलित जज्ञौ । ततः पश्चात्तापवान् सोवीरपार्श्वे व्रत लात्वा स्वकृत पापं प्रकाशयामास । भगवन् प्राह—बहु पापं द्विजानां लग्नं रात्रावुच्चैः शब्दोच्चरणात् । तव पाप स्तोकमज्ञानात्तव कृपा हृदि त्वयाऽत परं रात्रावुच्चैर्न वक्तव्यम् । यतना च कार्या । ततस्तत्पापमालोच्य स्वर्गं गत. । ततो मुक्ति यास्यति ।

इति रात्रावुच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ॥२३१॥

[232] देवपूजायामभयकुमारसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे श्रेष्ठिनो गृहे श्रीरस्ति । जिनपूजां विशेषतः श्रेष्ठी चक्रे ।

एकदा वटुकं कणान् मार्गयन्त दृष्ट्वा श्रेष्ठी पप्रच्छ, कियन्तः कणाः कणवृत्तौ मिलन्ति । तेनोक्तं—मानकमेकं । श्रेष्ठी प्राह—मम देवपूजार्थं वाटीतः पुष्पाणि त्वयाऽऽनेतव्यानि, तुभ्यं

विस्मृतां ज्ञात्वा तां नेतुं गृहे समागात्। तदा दीपतैलेन पुमानुपानहौ चोपडयन्दृष्टः पृष्टश्च—त्वं कः? स प्राह—अहं दरिद्रो तव किंकरः। यत्र त्वं यास्यसि तत्र यास्यामि—

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुधावति ॥१॥

एतत् श्रुत्वा स तत्रैवोवास। इति दारिद्र्यसेवकसम्बन्धः ॥२३९॥

[240] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा।

एकदा श्रीपुरात्स्वस्नुषाया आनयनाय श्रेष्ठी ययौ। लक्ष्मीपुरे तां स्नुषां गृहीत्वा पश्चादागच्छन् वीरपुरे कस्यचित् श्रेष्ठिनो गृहे वासार्थं गतः। तस्य श्रेष्ठिनः पत्नीद्वयं विद्यते। तदा श्रेष्ठिपत्नी प्रथमा जगौ—अत्र स वासं वसति य आवाभ्यां वादं करोति। तदा श्रेष्ठी स्नुषां प्रत्यवग्, अन्यत्र गृहे गम्यते। ततः स्नुषाऽवग् भो श्वशुर! त्वं शय्यायां स्वपिहि अहं वादं करोमि। ततः श्रेष्ठिनि सुप्ते श्रेष्ठिवधूः तस्थौ यदा तदा तत्रत्यश्रेष्ठिपत्नी प्रथमा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा। ततस्तदा श्रेष्ठिस्नुषा द्वितीयां श्रेष्ठिपत्नीं प्रत्यवग्—किं तवैव सपत्नी विद्यते? तयोक्तं—त्वया कथमिदं ज्ञातम्। श्रेष्ठिस्नुषाऽवग्—तवैव सपत्नी पृष्ठिं दत्त्वा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा। ततो मिथोऽत्यन्तं कलिं कर्तुं लग्ने इति द्वितीययोक्तं—त्वं मम पृष्ठिं दत्से। एवं द्वयोः सपत्न्योरेव स्त्रियोर्विवादं कुर्वत्योः प्रभातं जातम्। ततः श्रेष्ठी चचाल। एवं पुरुषः स्त्रिया बुद्ध्या स्वं कार्यं करोति।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा ॥२४०॥

[241] वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा।

शुद्धान्नवस्त्रपात्रादि, ददानो यतये जनः।
लभते सुखसम्भारं, कथाचूडमहीशवत् ॥१॥

श्रीपुरे कथाचूडो भूपश्चतुरङ्गसहस्रभूपहस्तिचतुर्देशस्वामी बभूव। एकदा नृपश्चन्द्रपुरे समागात्। तत्र देवगृहासन्नस्थमेकं गृहं दृष्ट्वा मूर्च्छां च प्राप भूपः। तदामात्यैः शीतोपचारैः सचेतनीभूतो भूपो स्वयमेकं स्वकृतं श्लोकमाचष्ट—

मार्गागतचतुःसाधु—प्रवरेभ्यः पृथक्पृथक्।
वस्त्रचतुष्टयं दत्त्वा, राज्यं प्रापन्महन्नृपः ॥२॥

मन्त्रिभिः प्रोक्तस्यास्य श्लोकस्यार्थो विस्तरात्पृष्टः। ततो राजा जगौ—अस्य सद्मनोऽहं स्वामी कौटुम्बिको धीरो पुराऽभूवम्। एकदा मम क्षेत्रपार्श्वे साधुचतुष्टयमुत्सूरे गच्छन्तं दृष्ट्वा घोरं तपःरूपं स्वगृहे समानीयोपाश्रयं ददौ। ततो मध्याह्ने शुद्धमाहारं प्रतिलाभ्यैकैकमङ्गीयवस्त्रं पृथक्पृथग्ददौ। दानं सदक्षिणमेव देयं सद्भिः। यतः—

त्रिपञ्चसंख्याशततापसानां, तपःकृशानामपुनर्भवाय ।
अक्षीणलब्ध्या परमान्नदाता, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥३॥

ते साधवस्ततो विहृताः अन्यत्र । धीरः कौटुम्बिकस्तेन पुण्येन क्रमान्मृत्वा चतुर्दशचतुःसहस्रेशस्वामी बभूव । मन्त्रिणा जगुः—स को भूपः । राजोवाचाऽहमेव । मन्त्रिणो जगुः—कथं त्वया ज्ञातम् ? ततो भूपः स्वजातिस्मृतिभवनतः पश्चाद्भवं जगौ । ततश्चमत्कृता भूपेनोक्ता मन्त्रिप्रमुखा लोकाः सर्वे धर्मकरणतत्परा बभूवुः । तत कथाचूडभूपः शुद्धान्नपानवस्त्रादि साधुभ्यो ददन् क्रमात् शुद्धां भावनां भावयन् गृहवासेऽपि केवलज्ञानं प्राप्य देवतादत्तयतिलिङ्गो प्रबोध्य भव्यजीवांश्चिरं मुक्तिं ययौ । इति वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा ॥२४१॥

[242] अथ शुद्धान्नपानवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ।

कस्मिंश्चिद्ग्रामे पञ्चशती रजकानां चास्ति । समृद्धाश्च पञ्चशतग्रामाणां स्वामिन सर्वे घोटकारूढा गच्छन्त्यागच्छन्ति कस्याप्याज्ञां न धरन्ति ।

क्रमात्तत्र श्रीपुरात् श्रीधरभूपसैन्यं तान् जेतुं तत्रागात् । तदा सर्वेऽपि रजकाः संनह्य बहिर्निर्गताः । बहिर्नेजकान् स्वस्य स्वस्योत्तारेषु दत्त्वा स्थिताः । आडम्बरपूर्वकं तदा तत्र वैरिभूपेन स्वमन्त्रिणः प्रेषिताः । यस्य रजकस्योत्तारे मन्त्रिणो गच्छन्ति । स च वक्ति–अहमेव मुख्योऽस्मि । ततो ज्ञातं तैर्नेजे नेजे मीरो विद्यते । ततस्तैः स्वस्वामिपार्श्वे गत्वोक्त नेजे नेजे मीरो विद्यते । तत. सनह्य वैरी रजकैः समं युद्ध व्यधात् । ततो नष्टाः केचिद्रजकाः, केचित् हताः । तत श्रीधरो भूपः स्वामाज्ञां ग्राहयित्वैकच्छत्र राज्यं करोति स्म । हस्तिनां शतत्रयं घोटकानां लक्षाष्टक जातम् । ततोऽन्यदा चन्द्रसूरिपार्श्वे स्व पाश्चात्यं भवं पप्रच्छ । मया किं पुण्यं कृतं ? गुरुराह–

त्व पूर्वभवे महेन्द्रपुरे वणिग् निस्वो मेघाह्वोऽभूत् । तत्रैकदा साधुद्वय जीर्णवस्त्रयुगं समागात् । ताभ्यां वस्त्रद्वयं दत्त शुद्धभावात् । ततः कालक्रमान्मृत्वा त्वं श्रीधरभूपोऽभू ।
एतत् श्रुत्वा भूपो विशेपतो यतिभ्यः शुद्धान्नवस्त्रादि ददौ । ततो मृत्वा श्रीधरभूपश्चतुर्थं स्वर्गं गत्वा पुनर्भूपो भूत्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ ।

इति शुद्धान्नवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ॥२४२॥

[243] अथ वस्त्रदाने मदनभूपकथा ।

अन्यदा राजा चन्द्रपुरे गत्वाऽन्तस्तत्रैकं जीर्णं कुटीरं दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप । ततो मन्त्रिपृष्टो भूपो जगौ—

मयैकवस्त्रदानेन सुसाधोः पूर्वसमृतेः ।
अत्रेदं विपुलं राज्यं, प्राप्तं कुम्भ्यादिसंयुतम् ॥१॥

मानकं साधिकं दास्यामि । ततः स बटुको वर्षाणि पुष्पाण्यादाय दत्ते श्रेष्ठिने । स बटुकः स्वकर्णे पुष्पाणि लात्वा प्रभुं पूजयामास । तेन पुण्येन स्वर्गं गत्वा श्रीश्रेणिकस्य भूपस्याभयकुमारः पुत्रोऽजनि । इति देवपूजायामभयकुमारसम्बन्धः ॥२३२॥

[233] अथ सुपात्रदाने श्रेष्ठिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे दुष्काले जाते पात्रापात्रादिविचारं विना दानं श्रेष्ठी दत्ते । तदा श्रेष्ठिना एकस्य मात्स्यिकस्य दानं ददौ । स मात्स्यिकस्तेन धान्येन जालकं चक्रे । ततो जले जालकं क्षिप्त्वा बहून् मत्स्यान् नीत्वा विक्रीय धनी जातः । तस्य कुटुम्बं ववृधे । जालकं यत्नेन रक्षति स्म सः । तस्य श्रेष्ठिनोऽङ्गे कुष्ठं जातम् । तत्र ज्ञानी समागात् । श्रेष्ठिना वन्दितः पृष्टश्च रोगोत्पत्तिकारणम् । ततः केवली जगौ—त्वया मैनिकाय दानं दत्ते, स च मैनिको नाधुना धनी भूत्वा बहुपापं चक्रे । तज्जालं यदि विनश्यति तर्हि स पापं तेन जालकेन न करोति ततस्तव नीरोगता भवति । ततस्तेन श्रेष्ठिना मिषं कृत्वा जालकं लात्वा च वह्नौ भस्मीकृत्य तेन भस्मना स्वाङ्गं लूषयामास । श्रेष्ठी ततः नीरोगो जातः धनी च मैनिको निर्धनः । ततः स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति ।

इति सुपात्रदाने श्रेष्ठिमैनिकसम्बन्धः ॥२३३॥

[234] अथ पापदाने मैनिकसम्बन्धः ।

एकस्य श्रेष्ठिनो दुष्काले दानं ददतः कालो गच्छति । अत्रान्तरे एकस्य मैनिकस्य भोजनं दत्तम् । ततः उत्थाय मैनिकः प्राह—भो श्रेष्ठिन् ! तवाहारेण मम कुटुम्बं जीविष्यति यतोऽहं तव भोजनेन जले जालकं क्षिप्त्वा मत्स्यानानीय विक्रीय विक्रीय स्वकुटुम्बं जीवयिष्यामि । ततः स श्रेष्ठी दध्यौ । मम पापं लग्नमतस्तथा करिष्ये यथाऽमतः पापं न चलति । ततः स मैनिकः काष्ठागारे क्षिप्तः स्वसेवकपार्श्वात् तावद्यावत्त्वदत्ताहारं जीर्णं ततः कर्षयित्वोक्तः त्वं तु पापी तैनैव मया कृतम् । ततः स मैनिको जीवहिंसानियमं जग्राह । श्रेष्ठिना ततो धनदानात्समानितः । इति पापदाने मैनिकसम्बन्धः ॥२३४॥

[235] अथ उचितदाने याचकसम्बन्धः ।

एकदा एकेनापि राज्ञा याचकः पृष्टः 'ततत' इति शब्देन गीते किमुच्यते ? ततोऽर्थी राज्ञोऽग्रे जगौ—

प्राप प्रापं धनं भूरि, स्वर्णरूप्यादिकं सदा ।
धनिभ्योऽर्थिगृहे नूनं, तत्रास्ति यन्न भुज्यते ॥१॥

तत्र तत्र यद्दानिना दत्तं तद्गृहे चिरं न तिष्ठति इति ततत् न । ततत् न इत्युचितवचः श्रुत्वा राजा तस्मै याचकायोचितं बहुदानं ददौ ।

इति उचितदाने याचकसम्बन्धः ॥२३५॥

[236] अथ पापशुद्धोपरि शण्डसम्बन्धः ।

एकेन कौटुम्बिकेन पुण्यहेतोः स्वगवा जनितो वत्सो गोवर्गे मुक्तः । स च शण्डोऽभून्मत्तः । स च शान्तात्मा पुरमध्ये तिष्ठति कस्यापि शृङ्गेण न हन्ति । तस्य पदोरधो जनो याति तथापि विघ्नं तस्य न चक्रे । ततः साधुशण्ड इत्यभूद् घोषः ।

इतस्तत्रैकस्य श्रेष्ठिनो दुश्चारिणी पत्न्यभूत् । श्रेष्ठी तु पुण्यवान् धर्मं कुर्वन् कर्मक्षयाय शून्यगृहादौ कायोत्सर्गं चक्रे ।

इतः पत्न्या दुश्चारिण्या ध्वान्ते निविडे सति श्रेष्ठिपदोरुपरि शय्या मण्डिता । श्रेष्ठिचरणौ विद्धः । श्रेष्ठी तु पूर्वकर्म स्मरन् न क्रोधं चक्रे, मृतश्च स्वर्गं ययौ । तं श्रेष्ठिनं मृतपतिं ज्ञात्वा पत्न्या ध्यातं, लोकाग्रे किमुत्तरं दास्यते । ततस्तया तस्य शण्डस्य शृङ्गं रुधिरेणावलिप्तं कृत तया । ततः शण्डस्य श्रेष्ठिमारणकलङ्कस्तया दत्तः । ततो लोकाः प्रोचुः—अयं शण्ड पापी यतो तेन पापिना श्रेष्ठी हतः । ततस्तेन शण्डेन भूपमात्यलोकसाक्षिकं तप्तगोलक जिह्वया लात्वा स्व शुद्धं चक्रे । ततः सा निर्द्धाटिता श्रेष्ठिपत्नी ।

इति पापशुद्धोपरि शण्डसम्बन्धः ॥२३६॥

[237] अथ कृतघ्नतायां गृहोलिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन्स्थाने गृहोलिकाया नेत्रे मलोऽभूत् । तेन मलेन सा लिप्ताक्षी न पश्यति बुभुक्षिता मृतप्राया जाता ।

इतो मक्षिका स्वभक्ष्यबुद्धया तस्या नेत्रमलमपाचक्रे । ततः सा गृहोलिका तामेव मक्षिका जघान । इति कृतघ्नतायां गृहोलिकासंबंधः ॥२३७॥

[238] अथ परप्रत्यये वेश्यासम्बन्धः ।

अथ कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रो वेश्यया द्रव्यलक्षेण स्वं कौशल्य शिक्षितः । ततस्तया रात्रौ तस्य परीक्षार्थं प्रोक्तं—घोलवटकानि ममानय । ततस्तेन गर्द्दभमलपिण्डीरानीता ।

पुनरेकदा तस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य भोक्तुमुपविष्टस्य वेश्यया थूत्कृतम् । स पश्चात् स्थितो यदा तदा वेश्यामात्रा शपथपूर्वं प्रोक्त-मम पुत्रीं किमेवं करोति । ततः स यदा भोक्तु लग्न तदा तया चुट्टकेन शीर्षे आहतः, प्रोक्तं च नयनेन यद्दृष्टं तद्वचनेन किं मन्यते ? तदा क्षमां स चक्रे । ततो विनीतं तं मत्वा तस्मै ततस्तया वर्याः कला शिक्षिताः ।

इति परप्रत्यये वेश्यासम्बन्धः ॥२३८॥

[239] अथ दारिद्रसेवकसम्बन्धः ।

एको दरिद्री गृहे दीप मुक्त्वा श्रिये अन्यत्र गन्तु चचाल यदा तदा स्वां यष्टिं गृहे

विस्मृतां ज्ञात्वा तां नेतुं गृहे समागात् । तदा चोपवैकेन पुमानुपानहौ चोपढयन्दृष्टः पृष्टश्च-त्वं कः ? स प्राह—अहं दरिद्रो तव किंकरः । यत्र त्वं यास्यसि तत्र यास्यामि—

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुधावति ॥१॥

एतत् श्रुत्वा स तत्रैवोवास । इति दारिद्रसेवकसम्बन्धः ॥२३९॥

[240] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा ।

एकदा श्रीपुरात्स्वस्नुषाया आनयनार्थं श्रेष्ठी ययौ । लक्ष्मीपुरे तां स्नुषां गृहीत्वा पश्चादागच्छन् वीरपुरे कस्यचित् श्रेष्ठिनो गृहे वासार्थं गतः । तस्य श्रेष्ठिनः पत्नीद्वयं विद्यते । तदा श्रेष्ठिपत्नी प्रथमा जगौ—अत्र स वासं वसति च आवाभ्यां वादं करोति । तदा श्रेष्ठी स्नुषां प्रत्यवग्, अन्यत्र गृहे गम्यते । ततः स्नुषाऽवग् भो श्वशुर ! त्वं शय्यायां स्वपिहि अहं चाहं करोमि । ततः श्रेष्ठिनि सुप्ते श्रेष्ठिवधूः तस्थौ यदा तदा तत्रत्यश्रेष्ठिपत्नी प्रथमा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा । ततस्तदा श्रेष्ठिस्नुषा द्वितीयां श्रेष्ठिपत्नीं प्रत्यवग्—किं तवेयं सपत्नी विद्यते ? तयोक्तं—त्वया कथमिदं ज्ञातम् । श्रेष्ठिस्नुषाऽवग्—तवेयं सपत्नी पृष्टिं दत्त्वा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा । ततो मिथोऽत्यन्तं कलिं कर्तुं लग्ने इति द्वितीययोक्तं—त्वं मम पृष्टिं दत्से । एवं द्वयोः सपत्न्योरेव स्त्रियोर्विवादं कुर्वत्योः प्रभातं जातम् । ततः श्रेष्ठी चचाल । एवं पुरुषः स्त्रिया बुद्ध्या स्वं कार्यं करोति ।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा ॥२४०॥

[241] वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा ।

शुद्धान्नवस्त्रपात्रादि, ददानो यतये जनः ।
लभते सुखसङ्घातं, कथाचूडमहीशवत् ॥१॥

श्रीपुरे कथाचूडो भूपश्चतुरशसहस्रभूपहस्तिचतुर्दशस्वामी बभूव । एकदा नृपश्चन्द्रपुरे समागात् । तत्र देवगृहासमस्थमेकं गृहं दृष्ट्वा मूर्च्छां च प्राप भूपः । तदामात्यैर्वातक्षेपादिना सचेतनीभूतो भूपो वयमेकं स्वकृतं श्लोकमाचष्ट—

मार्गागतचतुः साधु-प्रवरेभ्यः पृथक्पृथक् ।
वस्त्रचतुष्टयं दत्त्वा, राज्यं प्रापन्महन्नृप ॥२॥

मन्त्रिभिः प्रोक्तमस्य श्लोकस्यार्थो विस्तराद्वच्यताम् । ततो राजा जगौ—अस्य सदनोऽहं स्वामी कौटुम्बिको धीरो पुराऽभूवम् । एकदा मम क्षेत्रपार्श्वे साधुचतुष्टयमुत्सूरे गच्छन्तं दृष्ट्वा धीरः उत्पन्नकृपः स्वगृहे समानीयोपाश्रयं ददौ । ततो मध्याह्ने शुद्धमाहारं प्रतिकाम्यैकैकमकोः वस्त्रं पृथक्पृथग्ददौ । दानं सत्क्षिणमेव देयं सद्भिः । यतः—

त्रिपञ्चसंख्याशततापसानां, तपःकृशानामपुनर्भवाय ।
अक्षीणलब्ध्या परमान्नदाता, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥३॥

ते साधवस्ततो विहृता. अन्यत्र । धीरः कौटुम्बिकस्तेन पुण्येन क्रमान्मृत्वा चतुर्दशचतुः-सहस्रेशस्वामी बभूव । मन्त्रिणा जगुः—स को भूप । राजोवाचाऽहमेव । मन्त्रिणो जगुः—कथ त्वया ज्ञातम् ? ततो भूप. स्वजातिस्मृतिभवनत. पश्चाद्भव जगौ । ततश्चमत्कृता भूपेनोक्ता मन्त्रिप्रमुखा लोकाः सर्वे धर्मकरणतत्परा बभूवु । तत कथाचूडभूप. शुद्धान्नपानवस्त्रादि साधुभ्यो ददन् क्रमात् शुद्धां भावनां भावयन् गृहवासेऽपि केवलज्ञान प्राप्य देवतादत्तयतिलिङ्गो प्रबोध्य भव्यजीवाश्चिर मुक्तिं ययौ । इति वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा ॥२४१॥

[242] अथ शुद्धान्नपानवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ।

कस्मिश्चिद्ग्रामे पञ्चशती रजकानां चास्ति । समृद्धाश्च पञ्चशतग्रामाणां स्वामिन सर्वे घोटकारूढा गच्छन्त्यागच्छन्ति कस्याप्याज्ञां न धरन्ति ।

क्रमात्तत्र श्रीपुरात् श्रीधरभूपसैन्यं तान् जेतुं तत्रागात् । तदा सर्वेऽपि रजका सनह्य बहिर्निर्गता. । बहिर्नेजकान् स्वस्य स्वस्योत्तारेपु दत्त्वा स्थिताः । आडम्बरपूर्वक तदा तत्र वैरि-भूपेन स्वमन्त्रिणः प्रेपिता । यस्य रजकस्योत्तारे मन्त्रिणो गच्छन्ति । स च वक्ति–अहमेव मुख्योऽस्मि । ततो ज्ञातं तैर्नेजे नेजे मीरो विद्यते । ततस्तै स्वस्वामिपार्श्वे गत्वोक्त नेजे नेजे मीरो विद्यते । तत सनह्य वैरी रजकैः सम युद्ध व्यधात् । ततो नष्टाः केचिद्रजकाः, केचित् हताः । तत श्रीधरो भूपः स्वामाज्ञां ग्राहयित्वैकच्छत्र राज्य करोति स्म । हस्तिनां शतत्रय घोटकानां लक्षाष्टक जातम् । ततोऽन्यदा चन्द्रसूरिपार्श्वे स्व पाश्चात्य भव पप्रच्छ । मया किं पुण्य कृत ? गुरुराह–

त्वं पूर्वभवे महेन्द्रपुरे वणिग् निस्वो मेघाह्वोऽभूत् । तत्रैकदा साधुद्वय जीर्णवस्त्रयुग समागात् । ताभ्यां वस्त्रद्वय दत्त शुद्धभावात् । तत. कालक्रमान्मृत्वा त्व श्रीधरभूपोऽभू । एतत् श्रुत्वा भूपो विशेपतो यतिभ्यः शुद्धान्नवस्त्रादि ददौ । ततो मृत्वा श्रीधरभूपश्चतुर्थ स्वर्गं गत्वा पुनर्भूपो भूत्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ ।

इति शुद्धान्नवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ॥२४२॥

[243] अथ वस्त्रदाने मदनभूपकथा ।

अन्यदा राजा चन्द्रपुरे गत्वाऽन्तस्तत्रैक जीर्णं कुटीर दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप । ततो मन्त्रि-पृष्टो भूपो जगौ—

मयैकवस्त्रदानेन सुसाधोः पूर्वसस्मृतेः ।
अत्रेदं विपुलं राज्य, प्राप्तं कुम्भ्यादिसंयुतम् ॥१॥

ततो विस्तरान्मन्त्रिपृष्टो भूपो जगौ—अहं पूर्वभवेऽस्मिन् कुटीरे वृद्धा नारी सुन्दर्याह्वाऽभूत्। तत्र सूत्रकर्तनादिना निर्वाहं करोति। वस्त्राणि च कारयति तन्तुवायपार्श्वात्। सरलचित्ता मायां विना धर्मं करोति।

एकदा यतिभ्य एकं वस्त्रं ददौ भावात्ततस्तेन दानेन क्रमान्मृत्वा सरलस्वभावत्वात् स्त्रीभवं त्यक्त्वा राजाऽभूवमेव जातिस्मृते राजधर्मं चकार। अन्ये मन्त्रिणोऽपि साधुभ्यः शुद्धान्नपानवस्त्रादि ददौ। ततो वस्त्रदाता मदनभूपः संयमं लात्वा कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ।

इति वस्त्रदाने मदनभूपकथा ॥४॥

[244] अथ वस्त्रदाने चन्द्रचूडकथा।

श्रीवराहपुरे चन्द्रचूडश्रेष्ठी गुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतुं गतः गुरुभिरुपदेशो ददे इति—

वसही सयणासण—भत्तपाणभेसज्जवत्थपत्ताई।
जइवि न पज्जत्तधणो, थोवावि हु थोवयं देइ ॥१॥

धर्मोपदेशं श्रुत्वा श्रेष्ठी जगौ—अतः परं शुद्धमाहारपानवस्त्रादि मया साधुभ्यो देयम्। ततोऽनिशं यः साधुस्तत्रायाति तस्मै शुद्धमाहारादि ददानः सहायं करोति स्म। ततः कालक्रमेण चन्द्रचूडो मृत्वा लक्ष्मीपुरे पद्माकरभूपस्य श्रीमत्या पत्न्या उदरे चतुर्दशस्वप्नसूचितो नन्दनः अवततार। क्रमात्पुत्रोऽभूत् तस्य नाम श्रीवत्सचक्रीति।

३२००० राजानः सेवन्ते, ६४००० अन्तपुरः सपादलक्ष खण्डविलासिन्योऽभूवन्, नवनिधयः चतुर्दशरत्नानि ९६ कोडिग्रामः इत्यादि ऋद्धिमानभूत्। तस्मिन्नपि भवे स्व प्राग्भवमक्षं ज्ञात्वा वस्त्रादिदानं साधुभ्यो दत्वा क्रमात्केवलज्ञानं प्राप्य मुक्तिं ययौ।

इति वस्त्रदाने चन्द्रचूडकथा ॥२४४॥

[245] अथोपकारेऽप्यपकारकर्तृकसर्पसम्बन्धः।

दवाग्निमध्येऽन्यदा ज्वलन्सर्पः कञ्चन पुरुषं प्रति प्राह—मामस्मात्कष्टात्कर्षय तव पुण्यं भविष्यति। यतः—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां, चन्द्रश्चण्डालवेश्मसु ॥१॥

स नरो दयापरस्तमहिं ततश्चकर्ष ततः सर्पोऽवग्—त्वामेव भक्षयिष्यामि। यतः—कलौ उपकारं करोति सोऽनर्थं लभते” सोऽपि पुमान्सर्पेण भक्ष्यमाणः आराधनापरः स्वर्गं गतः, सर्पो मृत्वा दुर्गतिं गतः।

इति उपकारेऽपि अपकारकर्तृकसर्पसम्बन्धः ॥२४५॥

[246] अथ उपकारेऽपि अपकारकर्तृकवृद्धासम्बन्धः ।

एकस्या वृद्धायाः पुत्रं सर्पो ददंश । तामतीव रुद्यमानां दृष्ट्वा वृक्षोऽवग्-भो वृद्धे ! मा रुदः, स्वस्थीभव, मन्मूलं वारिणा घर्षयित्वा अङ्गे देयम, नीरोग पुत्रो भविष्यति । कस्याप्यग्रे एतन्न कथनीयम् । तया वृक्षोक्तयुक्त्या पुत्रः सज्जीकृतः । क्रमात्तया केषामग्रे वृक्षमाहात्म्यं प्रोक्तम । ततः सर्वैरपि लोकैश्छिन्नमूलः कृतः सन् प्रलयं गतो वृक्षः ।

इति उपकर्त्तुरपकर्त्ता ॥२४६॥

[247] अथ कर्मणि स्तेनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिना कूटतुलामानादिना धनमर्जितं चौरभयात्स्वर्णटङ्ककस्वर्णेष्टिकाभिर्गोणीं बभार । स चाङ्गणे तां चिक्षेप, परितो धूलीछाराणि क्षिपति स्म ।

एकदा तत्र गृहे धाटी प्रविष्टा । गृहं मुषितम । एकेन ता जीर्णवस्त्रावृतामपि गोणीं ललौ । मार्गेऽतीवभार मुक्त्वा एकस्मै तां दत्त्वा स्वर्णपल्ल्ययनं ललौ । स च ग्रामे सर्वे गता, यावद्गोणीं विलोकयति तावत्स्वर्णमेव पश्यति । अपरस्तु पल्ययनं वालत्रयस्वर्णखचितं ददर्श । यतः उक्तं च-

आः खुदा जस कूंदिइ, तसकूं मुह्मिारी दिइ ।
जसकूं कूदालइ तसकूं, हाथि चडाविउं लंखावइ ॥

इति कर्मणि स्तेनकथा ॥२४७॥

[248] अथ शुद्धाशुद्धविचारे कथा ।

एकेन श्रेष्ठिना कपटेन व्यवसायेन सौवर्णिकपञ्चकमर्जितं । सौवर्णिकत्रयं तु शुद्धमार्गेण एकस्या ग्रन्थौ अष्टौ बद्धाः । इतश्चौराः प्रविष्टाः ग्रन्थिश्चटितास्तेषां हस्ते यावत्ते छोटयन्ति तावत्सौवर्णिकपञ्चकं श्रेष्ठिपार्श्वे ढलित्वा गतम् । अयं [इदं] तु विवरोपरि पपात । यथा ते चौराः कर्षयन्ति तथा तत्त्रयमधस्ताद् गत । तदा श्रेष्ठी जहास । चौरैः पृष्ट किं हस्यते भवता ?

श्रेष्ठी जगौ—अन्यायेन यदर्जितं तद् मद्गृहाद्भवद्भिर्गृहीत, भवद्धस्ताद्विवरे पतित, यच्च न्यायेन स्वर्णपञ्चकं तन्ममोपान्ते ढलित्वा गतमतो हस्यते । ततश्चौरै श्रेष्ठिना च नियमो गृहीतः परधनग्रहणे । इति शुद्धाशुद्धविचारे कथा ॥२४८॥

[249] अथ वञ्चकस्त्रीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे कामकेतुर्भूपो विज्ञः । चन्द्रकान्ता पत्नी, सन्तानाभावाद्दुःखी राजा । अपरां स्त्रियं परिणीतवान्, काष्ठमयेन गरुडेन हिण्डति भूपः ।

अन्यदा द्वितीया काष्ठमयूरारूढा कीलक कर्षितवती । ततो मयूरो व्योम्नि भ्रमन् पश्यतां नृणामदृश्योऽभूत् । राजादिजन. सर्व. सचिन्तोऽभूत् । क्रमादन्येद्युर्भूपः पत्नीं प्रति प्राह—प्रिये !

पत्नीविलोकनाय यामि । प्रिया प्राह—गच्छ । तत सप्तदिनभोजनयोग्य शम्बल कृत्वा सप्तग्रन्थिषु बधापितवती राजा हृष्ट सशम्बल प्रियावीक्षार्थे चचाल । भोजनावसरे प्रथमग्रन्थिशम्बले भुक्ते भूपस्त्रिफणी सर्प ।१। द्वितीयग्रन्थौ सहजस्वरूप ।२। तृतीयग्रन्थौ ओतु ।३। चतुर्थग्रन्थौ स्व स्वरूप ।४। पञ्चमग्रन्थौ सिंह ।५। षष्ठग्रन्थौ सहजम् ।६। सप्तमग्रन्थौ मृग ।७।

तत स गच्छन् व्याधत्रिबाणैर्विद्ध. एकस्मि पर्वते गत । इत स काष्ठगरुड तस्मिन् पर्वते आस्फाल्य भग्न । सा पतिता मूर्च्छिता क्षणा सचेतनाऽभूत् । ततो रुदितु लग्ना क्रमाद्भ्रमन्ती श्रीऋषभजिन दृष्ट्वा पूजयामास तुष्टाव च । एव बहुषु दिनेषु गतेषु क्षीणपूर्वकुकर्मत सा मृग त दृष्ट्वा बाणान् चकर्ष । तयोः स्नेहोऽभूत् । द्वावपि ऋषभ नमत स्माभीक्ष्णं अन्यदा ज्ञानी तत्रागात् । विद्याधराणामग्र धर्मोपदेश मृगराज्यौ दृष्ट्वा ज्ञानिना हसित तदा तै पृष्ट कथं हास्य कृतम् । ततो गुरुणा तयो कान्तकातास्वरूप प्रोक्तम् । येन सर्वेषां धर्मे दृढताऽभूत् । तथा विद्याधरै राजा स्वरूपभृत् चक्रे । कामकेतुराज्यौ हृष्टौ तत कामकेतु सप्रिय सम्यक्त्व मूल जिनधर्म प्रपेदे । ततो भूपो ज्ञानिन ऋषभ नत्वा स्वपुर प्रति चचाल । मार्गे तदको वतिरभिग्रह ललौ । यदा वन शुद्धाहारमटिष्यसि तदा पारण करिष्ये । पञ्चमे मासे ताभ्यां भूपराज्ञीभ्या पारण कारित । पञ्च दिव्यानि दव कोऽपि प्रकटीभूय वर वृणु । ततो राज्ञोक्त नव नगर स्वर्णप्राकारमय कारय । तता रत्नादेवेन नगर कारितम् । लोका वासिता । राज्ञा प्रासाद कारित । सप्तक्षेत्रेषु राज्य व्ययाय क्रमात्स्वपुत्राय राज्य दत्त्वा स्वर्गं गतः मुक्ति यास्यति ।

इति चञ्चकलीसम्बन्ध ॥२४९॥

[50] अथ पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्ध ।

अक्खरेनो पोक्खरे हल वहइ बलदसरवार ।
हलखेडो कुडे वासे वद फिरइ विहुं पासे ॥१॥

कस्मिंश्चिद्ग्रामे द्विजस्य द्वौ पुत्रौ बभूवतु । एको विज्ञोऽभूत् द्वितीयो मूर्ख । एको वेदान् पाठपाठ सदा दरिद्रोऽजनि । द्वितीय कृषि कुर्वाणा धनी जात । ततो धनी सन् न धर्म करोति स्म । तदा द्वितीय प्रति प्राह—अक्खरे नइ पोक्खरे । ततो द्विज सदा लक्ष्मीमजयन् तादृग् हास्यवाचा जल्पन् यद्यपि स द्विजो दुर्गतिं गत । अन्यस्तु आरम्भसङ्कुर्वाण स्वर्गमागात । अत पापक वचो न जल्पनीयम् ।

इति पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्ध ॥२५०॥

[51] अथ कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्ध

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठी चक्रेश्वरीमाराराध । सा च प्रत्यक्षीभूताऽवग्-मन्त्रो दत्त । उक्त च-त्वया एष मन्त्रो लक्षवार जपनीय । ततोऽह वर दास्ये तव । ततस्तेन मन्त्रो जपितुमारब्धो । लक्ष प्रमाणो जपित देवी न प्रत्यक्षाऽभूत् । ततो द्वितीयवार जपित तथापि न प्रत्यक्षाभूत् । एव

दशलक्षवार जपितः एकादशे लक्षे गणितुमारब्धे देवी प्रत्यक्षाऽभूत्, प्राह च-वर मार्गय। सोऽवग्-त्वयोक्त लक्षे गणिते मन्त्रेऽह प्रत्यक्षा भविष्यामि। एकादशे लक्षे जपिते कथ प्रत्यक्षाऽभूस्त्वम्। सा देवी प्राह—त्वया पूर्वभवे दशवार कठोरवाक्यानि 'मारिस्फाडि' इति जल्पित तत्कर्म दशलक्षगणने न गतं। तेन एकादशे लक्षे जपिते प्रत्यक्षाऽभूवम्। ततो देवी तुष्टा स्वर्णरससिद्धिविद्या ददौ तस्मै। तत स श्रीमानभूत्। सप्तक्षेत्र्या श्रिय व्ययित्वा स्वर्ग गत। ततः क्रमान्मुक्तिगाम्यपि भविष्यति। इति कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥२५१॥

[252] अथ प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः।

ब्रह्मदत्तचक्रिणो देवतापार्श्वात् सर्वतिरश्चा भाषा ज्ञाता। देवतयोक्त-यदि मया दत्ता विद्याऽन्यस्मै कथयिष्यते तदा तव मृतिर्भविष्यति। तत स चक्री सर्वेषा तिरश्चा भाषा वेत्ति।

अन्यदाऽन्तःपुरस्थस्य चक्रिणश्चन्दनभृत कच्चोल अगांगोपभागायाऽऽनयन्ती राज्ञी तदा भित्तिस्थया गृहालिकया गृहालिकपार्श्वे प्रोक्त स्वभाषया च दन देहि। गृहालिकाऽवग्—यद्य चन्दन कच्चोलकाल्लात्वा तुभ्य दास्य तदा राजा मा हन्त्येव। ततो गृहालिकाऽवग्-यदि न दत्से चन्दन तदाऽह मृतव। एतत्कथाञ्च तस्या श्रुत्वा राजा जहास। राज्ञी प्राह-स्वामिन्त्वया कथ हसित? ततो राजा यदा यथास्वरूप न प्राह तदा राज्ञी प्राह यदि न कथयिष्यसि हास्यहेतु तदाह मृतव। ततो भूपाऽवग्—चितापार्श्वे गच्छ तत्राऽह कथयिष्यामि। हास्यहेतौ कथिते मम मृतिर्भविष्यति। कदाग्र[हे]ण्येवमुक्ते राजा चलित राज्ञ्या सह चिताया प्रवेष्टुम।

अत्रान्तरे राजमार्गे राज्ञोऽश्वाना भक्षणाय यवभृत शकट नीयमान राजपुरुषैर्वीक्ष्य छागी छाग प्रति प्राह-मम यवपूलक देहि। बोल्कटोऽवग्-यदि यवपूलक तुभ्य दास्य तदा राजपुरुषा मम प्राणान् गृह्णन्ति। बोल्कटिकाऽवग्-यदि न दत्से यवपूलक तदाऽह मृतैव। बोल्कटोऽवग्-अह तु ब्रह्मदत्तवत् बोल्कटो नारीवश्यो नास्मि। यत-प्रियावचसा मर्त्तु चचाल। एतत् श्रुत्वा राजा दध्यौ-अह बोल्कटादपि मूर्खः। यत-प्रियावाक्यान्मर्त्तु चलितोऽस्मि ततो राजा बोल्कट गुरु कृत्वा पश्चाद्वले राज्ञी स्वय कदाग्रह तत्याज॥

इति प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः ॥२५२॥

[253] अथ कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहसम्बन्धः।

केनापि क्षत्रियेण स्वीया पुत्री चन्द्रक्षत्रियाय दत्ता। तस्यालये एवमाचारोऽस्ति या नवीना वधूरायाति तस्या ऊर्ध्वस्थाया कर्णकुण्डलमध्ये बाणो दूरत क्षिप्यते। सा च बिभ्यती नेहते। तत सा पश्चात्पितुर्गृहे गच्छन्ती गाल्हिका पितुः स्वल्पा (?) उपरि वंशात् छिन्दन्तीं दृष्ट्वा पितु पार्श्वे प्राह-अस्य गाल्हिकस्य किं मस्तके पीडा न भवति। पिता प्राह-तदुच्यति मस्तकमस्य—

जो जस्स कम्माचरइ, सो तस्स जाणइ भेओ।
खलीइं वंश जिफाडिइं, तोइ न होइ पीड ॥१॥

ततः सा पश्चात्पत्युर्गृहे गता । तत्र साहस कृत्वोर्ध्वं तस्थौ । ततो दूरं स्थित्वा तस्याः कर्णयोरन्तरे बाणस्तथाक्षिप्तो यथा न मनाक्पीडा बभूव ।

इति कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहससम्बन्धः ॥२५३॥

[254] अथ दयाया विप्रमीनसम्बन्ध ।

कस्मिंश्चिद्वेलाकूले अब्धीचिप्रेरितो वारिधेर्महानेको मत्स्य समागात् । जले पश्चाद्गतम् मीनस्तत्र तस्थौ । तत्र यदा दुर्भिक्षे घोरे सति धान्याऽभावात् क्षुधार्त्तो लोकः कुठारैर्मत्स्य छेदछेदं स्व निर्वाह चक्रे, तथापि महाकायत्वान्न म्रियते ।

अत्रावसरे पत्नीप्रेरित कोऽपि विप्र क्षुधार्त्तो मीनमांसं लातु ययौ । त मीन छेदयन्त बहुजन वीक्ष्य विप्रस्य कृपाऽभूत् । अहमेन न छिनद्मि पापहेतुत्वात्तदा तस्य दयां वीक्ष्य कोऽपि देवो मीनकायमधिष्ठायावग्–भो विप्र ! मामन्ये लोकाश्छेदछेद मांसं गृहणन्ति त्व कस्मान्मांसं न गृहाण । विप्रोऽवग्––मम दयास्ति पर मायया प्रेरितोऽत्रागां मांसाय परमधुना पुनर्दयोत्पन्ना मीनोऽवग्–तव कृपाऽस्ति यदि तदा तेन पुण्येन त्वमप्येतनभवे सुखी भविष्यसि । अयं पापी लोको मां मारयन् दुःखी भविष्यति । अहं मृत्वा अकामनिजरातपसाऽत्रैव पुरे राजपुत्रः पुरन्दराह्वो भविष्यामि । त्व च ममोपाध्यायो भावी । अहं प्राग्वैरान् लोकान् कदर्थयिष्यामि । तदा त्वयाऽहं वारणीयः पापात् । एव प्रोच्य देवे गते स मीनो मृत्वा तत्र पुरे राजाऽभूत् । स भूपं लोकं दण्डय त वारयामास । विप्रः मीनमारणसम्बन्ध यदा आह तदा राज्ञो जातिस्मृतिर्जाता । पश्चाद्भव स्मृत । ततो विशेषतो राजा विप्रश्च दयाधर्मं चक्रतु । ततो मृतौ स्वर्गं गतौ ।

इति दयाया विप्रमीनसम्बन्ध ॥२५४॥

[255] अथ रामरावणदुर्योधनकंसशातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्धः ।

श्रीरामो रावणः कंस–स्तुर्यो दुर्योधनो नृप ।
एषा चतुष्टयी मूर्खा, पञ्चम शातवाहनः ॥१॥

कुरङ्ग काञ्चन पूर्व, न दृष्टो न श्रुत क्वचित् ।
दृष्ट्वा दधाव स रामो, यचन्मूर्खत्वमुच्यते ॥२॥ (१)

सीताया परितो यस्य [येन] रेखामुल्लङ्घयितु कोऽपि देवो वा दानवो वा न शक्नोति तां तादृशीं रेखां दृष्ट्वाऽपि कामपीडितो रावणा भिक्षुरूपधरो भिक्षायाचनाकपट कृत्वा सीतां यज्जहार तद्रावणस्यापि मूर्खत्वम् । (२)

देवक्या पाणिग्रहे देवक्या सप्तापत्यानां मध्यादेकेन स्वमरणं श्रुत्वाऽपि मत्कंसो देवकीमेव न मारयामास तत्कंसस्यापि मूर्खत्वम् । (३)

पञ्चभि पाण्डवैर्महाबलभुजाशालिभिर्द्वादशवर्षाणि वनवासे स्थितम् । पुनः प्रतिज्ञां पूरयित्वा

गतैस्तैर्ग्रामपञ्चकं दुर्योधनपार्श्वे मार्गितम् । ततः क्रमादेकं ग्रामं मार्गितम् । स च दुर्योधनः शूच्यग्रमात्रां भुवं न तेभ्यो ददौ । पश्चाद्युद्धे जायमाने स्वमरणात्सर्वां भुवं तेभ्यो ददौ । यत्तद्दुर्योधनस्य मूर्खत्वम् । (४)

शेषेण पूर्वं शातवाहनस्याग्रे तुष्टेन प्रोक्तं–त्वया मृन्मयं सैन्यं कारयित्वा गोदावर्यां मोच्यं ततः सजीवं तद्भविष्यति युद्धं च दृढं करिष्यति । ततो वैरिबलं मृन्मयं सैन्यं कृत्वा जितं तेन एवं बहुशो मनोरथस्तस्य पूर्णः । एकदा शातवाहनेन वरे दत्ते शेषेण संशयः कृतः ततस्तत्कार्यं न सिद्धम् । इति शातवाहनस्यापि मूर्खत्वम् । (५)

इति रामरावणदुर्योधन–कंस–शातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्धः ॥२५५॥

[256] अथ तीर्थसेवाफले गिरिकुण्डसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे गिरिकुण्डभूपोऽनेकपापकृत् न मन्यते देवगुरुमातृपितॄन् । परस्त्रीपरधनहरणपापर्धिचौर्यादि करोति स्म । जीवान् घ्नतस्तस्य रोग उत्पन्नः । एकदा यावत्परद्रोहं परस्त्रीहरणं ध्यायति तावदेकः श्लोकः व्योम्नि श्रुतः —

धर्मादधिगतैश्वर्यो, धर्ममेव निहन्ति यः ।
कथं शुभायतिर्भावी, स स्वामिद्रोहपातकी ॥१॥

एतदर्थं ज्ञात्वाऽवबुद्धः सन् अचिन्तयदिदम्–अहो मया बहूनि पापानि कृतानि, तेभ्यः कथं छुटनं मे भविष्यति । तत्पापच्छिदेऽद्रिजलपाताय ययौ । स यावद्बहिर्ययौ तावद् गां पश्यति स्म । सा च शृङ्गेण नॄन् घ्नन्ती तटान्युत्पाटयन्ती सम्मुखमायान्ती खड्गमुत्पाट्य तां हन्तुं दधाव । ततो गौरपि तं हन्तुमधावत् । तदाऽसिना भूपेन तस्या द्विधा कृतायां काचित् स्त्री निर्ययौ । सा च स्त्री भीषणाङ्गी कर्त्तिकां करे कुर्वती निष्ठुराक्षरेण भूपं प्रत्याह––

अरे त्वया पशुर्दीना, हता गौरस्त्रवर्जिता ।
यद्यस्ति काऽपि ते शक्तिः, तद्युध्यस्व मया सह ॥२॥

श्रुत्वैतत् राजा तां प्रत्यवग्––

भवता (ती) युवती काचित् कदलीदलकोमला ।
अहं तु क्षत्रियः शूरः, शास्त्रशस्त्रविशारदः ॥३॥

गौरवग्–यदि ते शक्तिः स्यात्तदा युद्धं कुरु । श्रुत्वैतत् भूपः सासिस्तां जघान । ततो वत्सोऽपि शृङ्गेण तमहन् । अखण्डिताङ्गो गौर्जगौ ।

तावद्बलं महस्ताव–त्तावत्कीर्तिरखण्डिता ।
यावत्पुराकृतं पुण्यं, न म्लानिमधिगच्छति ॥४॥

पुण्यमेव प्रमाण स्या-दङ्गिनां शुभकर्मभि ।
क्षीणतेजा कियत्काल, तपत्यपि विभाकर ॥५॥

पुण्यैः समाप्यते सव, सुखदायि सदापति ।
तदव हीनपुण्यस्य, विपवद् दु खदायकम् ॥६॥

तदा दध्यौ भूप—अहमनया गवा पशुनाऽपि जितो व्योम्नि उत्पादितश्च तया एव ध्यायति स्म । स मया राज्य त्यक्त गोवधश्च कृत । एतदपि पाप जात मे दुर्गविद, यत —

अनासादितपुण्य सन्, जन्तुर्भवति दु खित ।
विना नीवीं सुदक्षोऽपि, पुमान् सीदति दीनवत् ॥७॥

अधुना क्रियते पुण्य मया दु खात्मना किमु ।
लग्ने प्रदीपने कूप, खन्यमान सुखाय न ॥८॥

एव ध्यायतस्तस्य देवाङ्गनागताऽवग—पूर्व मदायेन राज्य त्यक्त पश्चाच्चिन्तित मूर्ति मुक्ता मे वध कृत । अधुना कि धर्म कर्त्त शक्नोमि । राजा दध्यौ—केय मे वक्ति । तावद्देवी जगौ अह त्वद्गोत्रदेवी । त्वत्सत्त्वपरीक्षण कृत गोरूप कृत्वा । कोपो न क्रियते । धर्म कुरु । कथय मया कुत्र धर्म क्रियते ? देव्यवग-त्व गच्छ सततीर्थेषु । अवसरे धर्मस्वरूप वक्ष्ये । सातिरोऽभूत् । राजा दध्यौ—मद्भाग्य विद्यते यतो देवी प्रसन्नाऽभूत् । ततोऽनेकेषु तीर्थेषु भ्रमतो गतकृत्पाप-कस्य कोल्लकगिरिं गतस्य चित्त निर्मलमभूत् । इतः कोऽपि सुर पूर्वभववैरी प्रत्यक्षोऽभूत् । गादापाणि कोपवान् जगौ । यत्त्वया मत्पत्नी हृता तत्पाप समेतमधुना तदा माने कृते तेन समुत्पाट्याम्बरे पर्वतगुहायां नीत्वा विविधैर्घनादिभिस्ताडयामास । ताड्यमान स पुनस्तेन पर्वताग्र आस्फाल्यते स्म । तदा स दध्यौ—

अहो प्रागुप्तपापद्रो, पल्लवोऽयमभून्मम ।
पुष्प फल पुनर्भावि, दुर्योनिनरकादिषु ॥९॥

ततस्त मुक्त्वा स तिरोदधे तस्य प्राग्भवमाख्याय । ततो व्यपरिक्त पुण्यकृते भूमौ भ्रमन् गोदावरीतटे ययौ । तत्र सैव सुरी समेत्यावग-वत्स ! त्व गच्छ सिद्धाद्रौ । तत्र हत्यादिपाप गमिष्यति तत्तीर्थ सर्वपापहृत् । यत —

यदा शत्रुञ्जये तीर्थे, गत्वा विधीयते तप ।
तदा हत्यासमुद्भूत, पातकं छेद्यते ध्रुवम् ॥१०॥

पापिनाऽपि मनुष्येण, गत्वा शत्रुञ्जयाचले ।
कुर्वताचीं जिनेन्द्रस्या-नन्त पापं निकृत्यते ॥११॥

तत्र तीर्थे गत्वा सर्वं कर्म क्षिप । तत्र त्वं सेत्स्यति इति श्रुत्वा तीर्थमाहात्म्यं शत्रुञ्जयं प्रत्यचलत् । सप्तभिर्दिनैरनाहार स शत्रुञ्जयं ददर्श । दृष्ट्वा तत्र तत्तीर्थं, नत्वा तत्रस्थं मुनि धर्ममिति शुश्राव । यदि शीघ्रं मुक्तिं गन्तास्ते तदा चारित्रं गृहाण । शत्रुञ्जये गत्वा शुद्धं तप कुरु यथा ते हत्यादि पापं याति । ततो व्रतं गृहीत्वा शत्रुञ्जये ययौ । तत्र सुर एकोऽवग्—इदं तीर्थं सर्वपापक्षयक नगदुरुक्रान्त मीमन्धरजिनेन वर्ण्यमान मया श्रुतम । तत्र गिरिकुण्ड तीर्थसेवया सर्वागमगहिना द्वारा त्वन्या सिद्ध ।

इति तीर्थसेवाफले गिरिकुण्ड सम्बन्धः ॥२५६॥

[257] अथ धर्मौषधविषये भूपपुत्रसम्बन्धः ।

क्षितिप्रतिष्ठिते पुरे जितशत्रोर्नृपस्य नाम्ना नतं पुत्रोऽभूत । स च ... जीवितनाम्नाऽपि । ततस्तेन राज्ञा ध्यातम । मम पुत्रस्य यथा रोगा न भवन्ति तथा कर्त्तव्यं । ततो वैद्या आहूताः । भूपेन प्रोक्त च तेभ्य—तथा कुरुत यथा मम पुत्रस्य नारोगता स्यात । तैरुक्तं—... । ततो राजोक्त—कस्य कीदृशी चिकित्सा विद्यते । प्रथम प्राह—मदीय औषधानि ... पुत्रा-त्पन्नं रोग घ्नन्ति [घ्नन्ति], यदि पूर्वं न स्याद्रोग तदौषधभक्षिनार घ्नन्ति आपद्यान मत्यं । ततो राज्ञोक्तमल तवौषधैः स्वहस्ताक्षप्रमदनशूलव्यथातुल्यै । (१)

द्वितीयोऽवग्—यद्यस्ति रोगस्ततस्तमुपशमयन्ति । अथ नास्ति ततः तानि प्रयुक्तानि प्राणिना न दोष न गुण कुर्वन्ति । राजोक्त-अलमेतरपि भस्माहुतिकल्पैः । (२)

तृतीयोऽवग्—यदि रोगे सति प्रयुज्यन्ते तदा रोग निर्मूलकाप कषन्ति । अथ न विद्यते रोगस्तथापि त देहिन बलवर्णलावण्ययन्त कुर्वन्ति, पूर्वोत्पन्न रोग घ्नन्ति, उत्पद्यमान घ्नन्ति, भविष्यन्तमपि च । (३)

ततो राज्ञा तृतीयवैद्योक्तानि औषधानि पुत्र कारित [पुत्राय कारितानि] । ततो यावज्जीव नीरोगशरीरः स पुत्रोऽभूत् भावितभूतभविष्यद्रोगस्फेटनात् । अतस्तृतीयवैद्योक्तौष-धतुल्यानि वन्दनप्रतिकमकृत्यानि । इति धर्मौषधविषये भूपपुत्रसम्बन्धः ॥२५७॥

[258] अथ मातापित्रोर्विषये पुत्रभक्त्यादिकथा ।

कमलपुरे श्रीवश्रेष्ठिनश्चत्वारः पुत्रा शिवापत्नीभवा बभूवुः । चत्वारोऽपि परिणायिताः बहुधनव्ययात् हर्षेण, कष्टेन भूरिधनमर्जित क्रमात्, स्नुषाभिः स्वस्वपतयो वशीकृताः पृथ-क्पृथग्जाताः । तत पिता स्वयमेव लक्ष्म्यर्जनकृते ग्लति [अटति] ।

एकदा श्रेष्ठिन स्वय घृतमानयन्त वीक्ष्य विमल सुहृद प्राह-भो मित्र ! कथ त्व स्वमानयसि कणादि । श्रेष्ठी प्राह-वसति ग्रामे मुषितोऽस्मि । सुहृत्प्राह-केन मुषितः ? श्रेष्ठी जगौ-मम स्नुषाभि पुत्रा उद्दाल्य गृहीताः किं क्रियते । सुहृद् आह्ह तव पुत्रान् वालयिष्यामि । ततो मित्रेण धर्मोपदेशेन द्वौ पुत्रौ स्वपत्नीभ्या वालयित्वा श्वशुरश्वश्रूभक्त्यं कृतौ अन्यौ न । ततो माता-पित्रोर्भक्तौ जातौ तौ इहपरलोकसुखिनौ जातौ नान्यौ [नान्यौ] ।

इति मातापित्रोर्विषये पुत्रभक्त्यादिकथा ॥२५८॥

[259] अथ अणक्षककुम्भकारकथा ।

पाटलपुत्रपुरे अणक्षक कुम्भकारः कस्यापि भोटिमादिवयचळनवस्त्रपरिधानभूषणपरिधानोऽभ्यजल्पनादि असहमानो नगरान्निर्गत्यारण्ये तृणमये कुटीरके तस्थौ । पुरमध्ये नैति । तत्रैकदा नृपः भ्रमणस्वारूढो भूपो गतः । तृषा छन्ना, तेन पानीयं पायितो भूपः सन्मानं दत्त्वा पुरीमध्ये आनीय सप्तग्रामदानपुरस्सरं धवलगृहं तस्य वासायादात् ।

इतो राजा तैलिकपुत्रीं अरण्ये बदरीफलानि चुण्टन्तीं सुरूपां वीक्ष्य परिणीतवान् । तस्याः सप्तभूमिमय गृहमदात् । तथैवेश्वरा सखीपरिवृता सुखासनासीना कुम्भकारगृहोपान्ते गच्छन्ती कचिन्नर वरवेषं दृष्ट्वा नक्रं मोटयामास । तां तथा कुर्वन्तीं दृष्ट्वा अणक्षकोऽवग्—

कल्ले बोरज्ञ वीणती, अज्ज न जाणइ सक्क्ख ।
अडविई करिसि घर, न सहु एह अणक्ख ॥१॥

पुनरपि कुम्भकारः पुराद्बहिर्गत्वा पूर्ववत्तस्थौ । इति अणक्षककुम्भकारकथा ॥२५९॥

[260] दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ।

अन्यायसम्भवा श्री–रन्यायेनैव याति सा नियतम् ।
अर्जुनहानिक्लेशः, केवलमवशिष्यते सुधिया ॥१॥

साकारोऽपि सविद्योऽपि, निर्द्रव्यः क्वापि नार्च्यते ।
व्यक्ताक्षरः सुवृत्तोऽपि, द्रम्मः कूटो विवर्ज्यते ॥२॥

हस्तिनागपुरे युधिष्ठिरस्याग्रे भीमेनोक्तम्—

मूर्खस्तपस्वी राजेन्द्र !, विद्वांश्च वृषलीपतिः ।
उभौ तौ तिष्ठतो द्वारे, कस्य दानं प्रदीयते ॥३॥

युधि०— सुखसेव्यं तपो *भीम* ! विद्याकष्टं दुराचरम् ।
विद्वांसं पूजयिष्यामि, तपोभिः किं प्रयोजनम् ॥४॥

भीमोऽवग्— श्वानचर्मगता गङ्गा क्षीरं मद्यघटे स्थितम् ।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर ॥५॥ इत्यादि ।

भय लोभस्तथा स्नेह–स्त्रयो दानस्य हेतवे ।
ये दातारस्त्रयं मुक्त्वा, धन्यास्ते मुक्तिगामिनः ॥६॥

इति दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ॥२६०॥

[261] अथ दाने (स्वर्भोगीति) शालिभद्रश्रेणिकभूपसम्बन्धः ।

स्वर्भोगभङ्गी [भोगी] नृपतिः क्रयाणकं, सुवर्णं निर्माल्यमभूत्स्रगादिवत् ।
भूपस्य मानेऽप्यमानचिन्तनं, शालेर्महाश्चर्यकरं चतुष्टयम् ॥१॥

कृत्वा समर्घ्यं यदि वा महर्घ्यं, क्रयाणकं श्रेणिकनामधेयम्
यथा तथा मातरिदं गृहाण, प्रमाणमम्बैव किमत्र पृच्छा ॥२॥

शालिभद्रस्य पिता गोभद्रश्रेष्ठी देवलोक गतः, सम्मोहात्स्वपुत्रस्य दिव्याभरणवस्त्रादि पूरयामास इति स्वर्भोगभङ्गी ।१।

यदि श्रेणिकभूप शालिभद्रगृहवीक्षार्थमागत' तदा मात्रोक्तं-पुत्र ! आगच्छ गवाक्षादुत्तर तदा शालिभद्रोऽवग्-यादृक्तादृगागत क्रयाणक गृह्यतां मूल्येन इति नृपतिक्रयणाकम् ।२।

दिनं दिनं प्रति हेमाद्याभरणादीनि दिव्याम्बरादीनि च कूपे क्षिप्यन्ते इति स्वर्णाद्याभरणानि स्रगाद्यभूत् ।३।

यदा शालिभद्रो यदा श्रेणिकेन स्वोत्सगे निवेशित. तदा भूपाङ्गतापमसहमानो गलद्बिन्दुतनुरभूत् तथा स्वमर्धमासने निवेशित दृष्ट्वा स्त्रस्योपरि स्वामीति राजनाम श्रुत्वा मानेऽप्यमानचिन्तनं जातं शालिभद्रस्येति मानेऽप्यमानजातम् ।४।

तदा श्रेणिकवचः—

स्नुही महातरुर्वह्नि-र्बृहद्भानुर्यथोच्यते ।
सारं तेजोवियोगेऽपि, नरदेवास्तथा वयम् ॥३॥

पूर्वं न मन्त्रो न तदा विचारः, स्पर्द्धा न केनापि फलेन वाञ्छा ।
पश्चानुतापोऽनुशयो न गर्वो, हर्षस्तथा संगमके बभूव ॥४॥

बसुहाण० ॥१॥

पुरुषाः तीर्थङ्कर-चक्रि-वासुदेव-मण्डलिक-महेभ्यप्रमुखपुरुषाः । इयं भूमिः वर्यपुरुषावतारं विना अरण्यभूमिवत्स्यात् । यदा यदा जिनाद्या आभरणभूताः स्युस्तदा वसुधा भूषिता स्यात् । पुरुषस्याभरणं लक्ष्मी सुवर्णरत्नरूप्यादि । अरण्ये पर्वते गत न किंचित् स्यात् । तदेव पुरुषाश्रित शोभते । पुरुषो हेमादिना शोभते, नान्यथा कृपणश्रीवत् दानस्याभरणं सुपात्रमेव दानमित्यादिदाने स्वर्भोगोति । इति शालिभद्रश्रेणिकसम्बन्धः ॥२६१॥

[262] अथ आम्रभूप-बप्पभट्टिगुरुमाननसम्बन्धः ।

पुरिसेहिं रईयतित्थं, न हु पुरिसा हुंति तित्थरईयावि ।
इच्चोऽपि वर तित्थ, पुरिस पमणति सव्वण्णू ॥१॥

पुरिसाउ होइ तित्थं, न हुति तित्थाउ तिहुयणे पुरिसा ।
सलिलाउ हवइ घण, नो नीरं होइ घण्णाओ ॥२॥

जिणभवणाइं जे उद्धरंति, भत्तीइ सडियपडियाइ ।
ते उद्धरंति अप्पाण, भीमा स भवसमुद्दाओ ॥३॥

यथा गोपगिरौ आमनृप स्व यं सिंहासन बप्पभट्टीसूरेरुपवेशनायादात्। तद् दृष्ट्वा द्विजै क्रुद्धैर्भूपो विज्ञप्तः श्वेताम्बरा अमी एष्य सिंहासन किं दीयते । एवं सूरिश प्रोक्तो भूप तत्सिंहासन कोशगतं कारयित्वा लघु गुरोरुपवेशायादात् । प्रात सूरिर्भूपावज्ञां सिंहासनग्रहणे ज्ञात्वाऽपग् भूपस्याग्रे—

मर्दयमान मतगह दप्प, विनयशरीरविनाशनसर्प्यम् ।
क्षीणो दर्पाद्दशवदनोऽपि, यस्य न तुल्यो भुवने कोऽपि ॥१॥

इद श्रुत्वा राजा लज्जित सन् मुख्यसिंहासन पुनर्मण्डापयामास। ततो राजा १० सहस्र-सौवर्णिका आनीता । भो विप्रा यो वर्यो विप्रो भवति तस्मै दीयते । तदा सर्वे जल्पन्ति । वयं पात्रमेव त नूनं तैर्गृहीतम् । द्वितीयेऽह्नि सूरय आकारिता भूपेनोक्त—लक्षसौवर्णिकानि गृहाण । सूरिराह-धनेनास्माक किं प्रयोजन, यत —दोससयमूल० ॥१॥

आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासए बंभ ।
सकाए संमत्त, पव्वज्जा अत्थगहणेण ॥२॥

लाभफलतरि चिंतविउ, गठिं बाधिउ दम्म नवि ।
खमणो नवि सेवइओ, गउअ कयत्थो जम्म ॥३॥

सजम मेली रिद्धिडी, जिहिं मूकि तिहि जाइ ।
पेटिं घूसक्कउ हियय, मय मीपी मगरि जयाइ ॥४॥

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, क्षत्रियाः शस्त्रपाणय ।
कृषिकर्मकरा वैश्या, शूद्राः प्रेषणकारकाः ॥५॥

हस्ततलप्रमाण तु, यो भूमिं कृषति द्विजः ।
नश्यते तस्य ब्रह्मत्वं, शूद्रत्वमभिजायते ॥६॥

अतो वयं न शूद्राः किन्तु वैश्या, यदि वयं शूद्रा भवामः तदा वणिजा गृहे द्विजा प्रतिग्रहं न गृह्णन्ते, यतः—

अधीत्य चतुरो वेदान, साङ्गोपाङ्गान् सलक्षणान् ।
शूद्रात्प्रतिग्रहं कृत्वा, खरो भवति ब्राह्मणः ॥७॥

खरो द्वादशजन्मानि, षष्टि जन्मानि शूकरः ।
श्वानः सप्ततिजन्मानि, इत्यैवं मनुरब्रवीत् ॥८॥

इति मनुपुराणे । एव श्रुत्वा राजा विप्रान् निराकृत्य सूरेर्मानं ददौ ।

इति आम्रभूपवप्पभट्टिगुरुमाननसम्बन्धः ॥२६२॥

[263] अथ जीर्णोद्धारे धनसारकथा ।

यत्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्धात्तथैकदिवसमपि ।
भक्त्या परमगुरुभ्यः, पुण्योन्मानं कुतस्तस्य ॥१॥

राजगृहे धनसार-गुणसारो द्वौ बान्धवौ । वृद्धस्य धनी प्रिया शीलादिगुणशालिनी, लघोः काली पत्नी परं दुष्टत्वेन कालिकैव । काल्या वचसा लघुः पृथग्भूय मुख्यगृहे बलात्स्थितः । वृद्धस्त्वपरगृहे कर्मयोगाल्लघो. श्रीर्वृद्धौ, वृद्धस्याल्पा श्री ।

एकदा ग्रामान्तरवासिनः शिलकुट्टका ऐयुस्तत्र कालीं वर्यवेषां वीक्ष्य ते पप्रच्छुः कोऽत्रास्ति प्रासादादिकारयिता । तदा तया धनमदेन हास्यार्थं धनसार एप आवास कारयिष्यति । ततस्ते धनसारगृहे गताः । धन्या पृष्टा किं कुरुथ यूयं ? तैरुक्तं-वय प्रासादं कुर्मः । तदा तत्र कान्तोऽपि आगात् । कान्तेन काली. हास्यादिवचः प्रोक्तं । ततो धन्या स्वाभरणानि दत्त्वा प्रासादो जीर्णः समुद्धृतः । प्रतिष्ठाधनार्थं धनसारो देशान्तर गच्छन् मार्गे कस्यापि सिद्धपुरुपस्य मिलितः । तदुक्तकल्पविधिना योगिना सार्द्धं योगिकृतमाहिपीपुच्छदीपिकोद्योतेन श्रीपर्वतगुहायां प्रविष्टः । अन्तरा वृश्चिकभ्रमरादिभिरुपसर्प्पितोऽपि न खिन्न । ततः स्त्रीभिरुपसर्गितो नाचालीत् शीलात् । साहसत्वेनाग्रतो गतः योगी स्त्रीक्षुब्धस्तत्रस्थः शतखण्डीकृतः । धनसारस्तु गुफान्तरे हेममयं सप्त-भूमावास हेममयखद्ध(?)न्दोलकसिंहासन ददर्श । तत्रत्यदेवेन समानित. प्रोक्तं त्वं मम भ्रातृतुल्योऽसि । पूर्वभवेऽह जिनदास इभ्योऽभूवम् । मयैप प्रासाद. कारित, स त्वयोद्धृतः । ततो रत्नानि कोटिमूल्यानि लक्षमितानि दत्त्वोत्पाद्य स्वगृहे धनसारो मुक्तः । कार्येऽहं स्मरणीयः । तदनु प्रतिष्ठामहोऽभूत् । सघगुरुभक्तिश्च काल्या स्वर्णजिह्वा कारिता । सघेन पृष्टं किं त्वया काल्या ईदृशी जिह्वा कारिता ? साऽवग्—कालीजिह्वाप्रसादात् जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाधनाप्तिरभूत् । ततोऽनिश सप्तक्षेत्र्यां व्ययित्वा धनसार सप्रियः स्वर्गे गत. मुक्तिं यास्यति ।

इति जीर्णोद्धारे धनसारकथा ॥२६३॥

पुरिसेहिं रईयतित्थं, न हु पुरिसा हुंति तित्थरईयावि ।
इत्थोऽपि धर तित्थ, पुरिस पभणति सव्वण्णू ॥१॥

पुरिसाउ होइ तित्थं, न हुति तित्थाउ तिहुयणे पुरिसा ।
सलिलाउ हवइ घण, नो नीर होइ घण्णाओ ॥२॥

जिणभवणाइ जे उद्धरति, भत्तीइ सडियपडियाइ ।
ते उद्धरति अप्पाण, भीमा स भवसमुद्दाओ ॥३॥

यथा गोपगिरौ आमनृप स्व यथं सिंहासन बप्पभट्टीसूरेरुपवेशनायाधात्। तद् दृष्ट्वा द्विजै क्रुद्धैर्भूपो विज्ञप्त श्वेताम्बरा अमी एभ्य सिंहासन किं दीयते । एव भूरिश प्रोक्तो भूप तत्सिंहासन कोशगत कारयित्वा लघु गुरोरुपवेशायादात् । प्रात सूरिर्भूपावज्ञां सिंहासनग्रहणे ज्ञात्वाऽग्र भूपस्याग्रे—

मर्द्यमान मतगह दप्प, विनयशरीरविनाशनसर्पम् ।
क्षीणो दर्पाद्दशवदनोऽपि, यस्य न तुल्यो भुवने कोऽपि ॥१॥

इद श्रुत्वा राजा लज्जित सन् मुख्यसिंहासनं पुनमण्डापयामास। ततो राजा ३० सहस्र-सौवर्णिका आनीता । भो विप्रा ! यो वर्यो विप्रो भवति तस्मै दीयते । तदा सर्वे जल्पन्ति । वयं पात्रमेव तन्नूनं वैगृहीतम् । द्वितीयेऽहनि सूरय आकारिता भूपेनोक्त—लक्षसौवर्णिकानि गृहाण । सूरिराह-धनेनास्माक किं प्रयोजन, यत—दोससयमूल० ॥१॥

आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासए बंभ ।
संकाए संमत्त, पव्वज्जा अत्थगहणेण ॥२॥

लाभकलंतरि चिंतविउ, गठिं बधिउ दम्म नवि ।
खमणो नवि सेवडओ, गउअ कयत्थो जम्म ॥३॥

सजम मेली रिद्धिडी, जिहिं मूकि विहि जाइ ।
पेटिं धुसक्कउ हियय, भय भीपी भगरि जपाइ ॥४॥

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, क्षत्रियाः शस्त्रपाणय ।
कृषिकर्मकरा वैश्या, शूद्रा प्रेषणकारकाः ॥५॥

हस्ततलप्रमाणं तु, यो भूमिं कृषति द्विजः ।
नश्यते तस्य ब्रह्मत्व, शूद्रत्वमभिजायते ॥६॥

अतो वयं न शूद्राः किन्तु वैश्या, यदि वयं शूद्रा भवामः तदा वणिजा गृहे द्विजा प्रतिग्रहं न गृह्णन्ते, यतः—

अधीत्य चतुरो वेदान, साङ्गोपाङ्गान् सलक्षणान् ।
शूद्रात्प्रतिग्रह कृत्वा, खरो भवति ब्राह्मणः ॥७॥

खरो द्वादशजन्मानि, षष्टि जन्मानि शूकरः ।
श्वानः सप्ततिजन्मानि, इत्यैवं मनुरब्रवीत् ॥८॥

इति मनुपुराणे । एव श्रुत्वा राजा विप्रान् निराकृत्य सूरेर्मानं ददौ ।

इति आम्रभूपबप्पभट्टिगुरुमाननसम्बन्धः ॥२६२॥

[263] अथ जीर्णोद्धारे धनसारकथा ।

यत्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्द्यात्तथैकदिवसमपि ।
भक्त्या परमगुरुभ्यः, पुण्योन्मानं कुतस्तस्य ॥१॥

राजगृहे धनसार-गुणसारौ द्वौ वान्धवौ । वृद्धस्य धनी प्रिया शीलादिगुणशालिनी, लघोः काली पत्नी पर दुष्टत्वेन कालिकैव । काल्या वचसा लघुः पृथग्भूय मुख्यगृहे वलात्स्थितः । वृद्धस्त्वपरगृहे कर्मयोगाल्लघो. श्रीर्वह्वी, वृद्धस्याल्पा श्री. ।

एकदा ग्रामान्तरवासिनः शिलकुट्टका ऐयुस्तत्र कालीं वर्यवेषां वीक्ष्य ते पप्रच्छुः कोऽत्रास्ति प्रासादादिकारयिता । तदा तया धनमदेन हास्यार्थं धनसार एष आवास कारयिष्यति । ततस्ते धनसारगृहे गताः । धन्या पृष्टा किं कुरुथ यूय ? तैरुक्तं—वय प्रासादं कुर्मः । तदा तत्र कान्तोऽपि आगात् । कान्तेन काली. हास्यादिवचः प्रोक्त । ततो धन्या स्वाभरणानि दत्त्वा प्रासादो जीर्णः समुद्धृतः । प्रतिष्ठाधनार्थं धनसारो देशान्तरं गच्छन् मार्गे कस्यापि सिद्धपुरुषस्य मिलितः । तदुक्तकल्पविधिना योगिना सार्द्धं योगिकृतमाहिषीपुच्छदीपिकोद्योतेन श्रीपर्वतगुहायां प्रविष्टः । अन्तरा वृश्चिकभ्रमरादिभिरुपसर्पितोऽपि न खिन्न । ततः स्त्रीभिरुपसर्गितो नाचालीत् शीलात् । साहसत्वेनाग्रतो गतः योगी स्त्रीक्षुब्धस्तत्रस्थः शतखण्डीकृतः । धनसारस्तु गुफान्तरे हेममयं सप्तभूमावास हेममयखद्ध(,?)न्दोलकसिंहासन ददर्श । तत्रत्यदेवेन समानित. प्रोक्तं त्वं मम भ्रातृतुल्योऽसि । पूर्वभवेऽहं जिनदास इभ्योऽभूवम् । मयैष प्रासाद कारित, स त्वयोद्धृतः । ततो रत्नानि कोटिमूल्यानि लक्षमितानि दत्त्वोत्पाद्य स्वगृहे धनसारो मुक्तः । कार्येऽहं स्मरणीयः । तदनु प्रतिष्ठामहोऽभूत् । सघगुरुभक्तिश्च काल्या स्वर्णजिह्वा कारिता । संघेन पृष्टं किं त्वया काल्या ईदृशी जिह्वा कारिता ? साऽवग्—कालीजिह्वाप्रसादात् जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाधनाप्तिरभूत् । ततोऽनिशं सप्तक्षेत्र्यां व्ययित्वा धनसार सप्रियः स्वर्गं गत. मुक्तिं यास्यति ।

इति जीर्णोद्धारे धनसारकथा ॥२६३॥

[264] अथ दशधा दानकथा ।

कमलपुरे श्रीमश्रेष्ठिना गुरुपार्श्वे प्रोक्तं कति दानानि ? गुरुणोदितानि दश दानानि । तथाहि–

दप[1] संगह[2] भय[3] कारणिय[4] लज्जा[5] गारव[6] अधम्म[7] धम्मेय[8] ।
काहीइ[9] कयमाणेण, दाणमेय भवे दसहा ॥ १ ॥

सरोग[1] भिक्षाचरादीनां[2] दुर्जनानां[3] पुत्रादिवियोग[4] लोकलज्जया भट्टचारणानां[5] यत्नार्थं[6] हिंस्राणां[7] साध्वादिसमरय[8] पुण्यार्थ[9] प्रत्युपकारवाञ्छया प्रागनेन मे बहूपकृत[10] ।

श्रुत्वेति कमलो गुरूक्तदानानि ददानः स्वर्गभागभूत् क्रमान्मुक्तिमपि यास्यति ।

इति दशधा दानगाथा ॥२६४॥

[265] अथ शुद्धाहारग्रहणे यतिक्षुल्लकसम्बन्धः ।

कश्चिद्भूपो जातवैराग्यो धर्मपरीक्षां चक्रे । कोऽत्र निस्पृह भुङ्क्ते । ततो राज्ञा पृष्टा अनेके जना यूयं कथं निवहथ ? । एकेनोक्तं—मुखेन । द्वितीयेन पादाभ्यां । तृतीयेनोक्तं-हस्ताभ्यां । चतुर्थ लोकानुग्रहेण । पञ्चमो जैनक्षुल्लकोऽवग्-अहं मुधा जीवामि । भावार्थं पृष्टास्ते जगुरेवं—

प्रथमोऽवग्—रामायणादिकथाकथनेन जीवामि मुखेनैव ।

द्वितीयोऽवग्-लेखवहनेन ।

तृतीयोऽवग्—अहं लेखकोऽस्मि अतो हस्ताभ्यां जीवामि ।

चतुर्थो भिक्षुरवग्—लोकानुग्रहेण ।

क्षुल्लोऽवग्—संसारासारतां विलोक्याहं महेभ्यसुत प्रव्रजितः ततो न मदर्थं कृत यत्नं तदाहारं मुधा गृह्णामि । ततो राजा जैनव्रत सर्वदुःखमोचक मत्वा दीक्षां लात्वा शत्रुञ्जय गत्वा तपस्तप्त्वा मोक्षं गत । इति शुद्धाहारग्रहणे यतिक्षुल्लकसम्बन्ध ॥२६५॥

[266] औदार्ये कुमारपाललक्षटङ्कदानसम्बधः ।

एकदा श्रीहेमसूरिणः स्वकरधृतचामरकरस्य कुमारपालस्य शत्रुञ्जयचैत्यपाटीं कुर्वत कपर्दिक-कविः प्राह—

श्रीचौलुक्यसदक्षिणस्तव करः पूर्वं समासादित,
प्राणिप्राणविघातपातकमलः शुद्धो जिनेन्द्रार्चनात् ।
वामोऽप्येष तथैव पातकमलं शुद्धिं कथं प्राप्नुयात्,
न स्पर्शेन करेण चेद्यतिपतेः श्रीहेमचन्द्रप्रभो ॥१॥

तत्र श्रीकुमारपालभूपालस्तस्मै कवये लक्षटङ्कान्ददौ ।

इत्यौदार्ये कुमारपाललक्षटङ्कदानसम्बन्धः ॥२६६॥

[267] अथ वस्तुपालौदार्यदानबालचन्द्रसूरिसम्बन्धः ।

एकदा बालचन्द्रक्षुल्लेन श्रीवस्तुपालो वर्णित इति—

गौरी रागवती त्वयि त्वयि वृषो बद्धादरस्त्वं पुन-
र्भूत्या त्वं च समुल्लसद्गुणगणः किं वा बहु ब्रूमहे ।
श्रीमन्त्रीश्वर नूनमीश्वरकलायुक्तस्य ते युज्यते,
बालेन्दु चिरमुच्चकै रचयितुं त्वत्तः परः कः क्षमः ॥१॥

तदनु मन्त्रिणा तस्य सूरिपदं दापितम् ।

इति वस्तुपालौदार्यदानबालचन्द्रसूरिसंबंधः ॥२६७॥

[268] अथ ललितासरोवरवर्णने ललितादेवीदानसम्बन्धः ।

हंसैर्लब्धप्रशंसैस्तरलितकमलप्रस्तरङ्गैस्तरङ्गै-
र्नीरैरन्तर्गभीरैश्चटुलबककुलग्रासलीनैश्च मीनैः ।
पालीरूढद्रुमालीतलसुखशयितस्त्रीप्रगीतैश्च गीतै-
र्भाति प्रक्रीडदातिस्तव सचिवबलच्चक्रवाकस्तटाकः ॥१॥

ललितादेवीसरोवरवर्णने सोमेश्वराय १६ सहस्रान् ददौ ।

इति ललितसरोवरवर्णने ललितादेवीदानसम्बन्धः ॥२६८॥

[269] अथ सालिगसाधुदानसम्बन्धः ।

अनेकतीर्थोद्धारक सा० देसलसुतस० सालिगसंसदि कश्चिद्द्विजः समागात् । पृष्टः कुतः समागास्त्वम् ? तेनोक्तं तीर्थात् । किं वर्त्तते तत्र ? श्रीऋषभदेवः सर्वदेवसुतोऽस्ति तेन वर्णिततीर्थे सहस्रं दत्तिः । इति सालिगसाधुदानसंबंधः ॥२६९॥

[270] अथ समरसाधुनोद्धारकारितसंबंधः ।

एकदा १८०००० अश्वयुतेन सुरत्राणेन जावड्प्रतिमा भग्ना । तत उकेशज्ञातिचूडामणिसाधुसमराकेन १३७१ वर्षे श्रीशत्रुञ्जये प्रतिमोद्धार कारितः । तदा सघाचार्या रामभट्टेनाभाणि—

अधिक रेखया मन्ये, समरं सगरादपि ।
कलौ म्लेच्छबलाकीर्णे, येन तीर्थं समुद्धृतम् ॥१॥

सुवर्णजिह्वादत्तिरत्र—

पित्तलसुवन्नरूप्पय—रयणेहिं चंदकतमाईहिं ।
जो कारेइ जिणवर—पडिमं सो पावए मुक्खं ॥२॥

इति समरसाधुनोद्धारकारितसंबंधः ॥२७०॥

[271] अथ अर्बुदगिरौ साधुभीमकारितपित्तलमयप्रतिमासंबंधः ।

यथा श्रीमालज्ञातीयभीमसाधुना भीमेन अर्बुदे स्वकारितप्रासादे ५१ अङ्गुलमयी श्रीआदिनाथप्रतिमा निमज्जबहुगालितपित्तलसैद्धिकोपमा साधता प्रल्हादनपुरीय स० धनाकेन विज्ञप्तं भो भीम ! मद्भागो मध्ये दातव्यस्तेन निषिद्धस्ततो बिम्बभरणवेलायां *रत्नाङ्करक्षकबाहुद्वयं सह—स्रमितहेमटङ्कैर्भृत्वा विलोकनमिषेणागतो रसढालनवेलायां बाहुद्वयं विस्ताय हाटकमध्ये मुक्त्वा—स्तेनाद्यापि द्वादशादित्यवद् झगझगायते श्यामिका न । सा० सम्प्रतिकुम्भमेरौ पूज्यमानाऽस्ति ।

इति अर्बुदगिरौ भीमकारितपित्तलमयप्रतिमासंबंधः ॥२७१॥

[272] मण्डपदुर्गे सीताकारितश्रीसुपार्श्वप्रतिमासम्बन्धः ।

तथा सीतामहासतीपूजनार्थं वनवासे लक्ष्मणकुमारकृता छगणमयी श्रीसुपार्श्वप्रतिमा तच्छीलमाहात्म्याद्वज्रमयी च जाता । सा सम्प्रत्यपि मण्डपदुर्गे यवनादिभिः कुसुमभोगादिभिः प्रेषणैः पूज्यमानाऽस्ति, इत्यादि ।

इति मण्डपदुर्गे सीताकारितश्रीसुपार्श्वप्रतिमासम्बन्धः ॥२७२॥

[273] अथाम्रभूपकारितपौषधशालासंबंधः ।

यस्तनोति वरपौषधशालां, सर्वसिद्धिललनावरमालाम् ।
सर्वदैव लभते सुविशाला, बोधिबीजकमला विमला स ॥१॥

यथा गोपगिरौ बप्पभट्टीसूरिप्रतिबोधितश्रीआमनरेश्वरेण सहस्रस्तम्भमयी साधुश्राविकासुगमप्रवेशनिगमप्रवरद्वारत्रयमण्डिता दूरतरपट्टशालोपविष्टसाधूना प्रतिलेखनास्वाध्यायादिसमस्तमण्डलीवेलाज्ञापकमध्यस्तम्भबद्धितमहाघण्टाटङ्कारवरणरणकारिणा पौषधशाला कारिताऽऽम्रेण ।

तत्र व्याख्यानमण्डपस्थितमद्रव्येण, ज्योतीरूपमणिशिलाछिन्नश्च चन्द्रकान्तमणिकुट्टिम (?), १२ सूर्यवञ्चिशायां सर्वतमोपहं, पुस्तकाक्षरवाचनसूक्ष्मबादरजीवविराधनादिहेतो पौषधशालापुण्यकृते आम्रकथा । आम्रभूपकारितपौषधशालासंबंधः ॥२७३॥

[274] अथ पौषधशालायां सान्तूसंबन्धः ।

---

* जूर्णपट इति प्रत्यन्तरे ।

पापनिष्कन्दनं धर्म-सदनं कारयन्ति ये ।
तारयन्ति भवाब्धेः स्वं, तेजनाः कुलतेजनाः ॥१॥

एकदा श्रीपत्तने जयसिहभूप सर्वव्यापारकृत् ५०००० तुरङ्गाधिपतिः श्री श्रीमालज्ञातीय-मन्त्रिसान्तू श्रीदेवसूरिगुरुभक्तश्चतुरशीतिसहस्रटङ्कव्ययेनापूर्वं राजधवलगृहसमानगृह कारितवान्। लोका विलोकितुमायान्ति। श्रीगुरोरेकदा तददीदृशत् गुरूणामव्याख्याने कारणं पृष्टं मन्त्रिणा, तदा सौभाग्यनिधानक्षुल्लकेनोक्तं-मन्त्रिन् ! यद्येवंविधा पौषधशाला स्यात्तदा वरं धर्महेतुत्वात् अन्यस्य पापहेतुत्वात गुरुभिर्न व्याख्यायते, गृहं पापारम्भमयमेव, यत.--

खण्डनी पेषणी चुल्ही जलकुम्भप्रमार्जनी ।
पञ्चैते तमसां हेतु-स्तेन नो वर्ण्यते सदा ॥१॥

ततस्तदेव गृहं प्रासुकं सान्तूर्धर्मनिमित्तमकरोत्, एवमन्यां धर्मशालां व्यधाः ।

इति पौषधशालायां सान्तूप्रबन्धः ॥२७५॥

[275] अथ प्रासादपुण्ये आम्रकथा ।

सुघरीकाकचट्यादिपक्षिणोऽपि अनेकशः ।
कुर्व्वते स्वगृहं यत्ना-न्न पुण्यं तत्र जायते ॥१॥

पुण्याय कुर्व्वते धर्म्म-शालादि ये जनाः सदा ।
तेषां स्याद्विपुलं पुण्य-माम्रभूमिपतेरिव ॥२॥
श्रीरियं पुरुषान् प्रायः, कुरुते निजकिङ्करान् ।
कुर्वते किङ्करी ता ये, तैरसौ रत्नसू रसा ॥३॥

एतत् श्रुत्वाऽऽम्रभूप. श्रीवीरप्रासाद कारयामास। तत्र एकोत्तरशतहस्तोच्च प्रासादः सार्द्ध-तृतीयकोटिसुवर्णमयप्रतिमालङ्कृत तद्रङ्गमण्डपे २१ सुवर्णलक्षा लग्नाः। मूलमण्डपे तु पञ्चविंश-तिसहस्राधिकस्वर्णलक्षः, ८११ वर्षे एककोटिसुवर्णव्ययेन श्रीबप्पभट्टिसूरीणां सूरिपद कारितं तदुपदेशेन श्रीशत्रुञ्जये रैवते च यात्रोद्धाराश्च कारिताः ।

इति प्रासादपुण्ये आम्रकथा ॥२७५॥

[276] अथ प्रासादकारणपुण्ये सम्प्रतिकथा ।

श्रीमज्जैनगृहे जिनप्रतिकृतौ जैनप्रतिष्ठाविधौ,
श्रीजैनस्नपने जिनार्चनविधौ श्रीसंघपूजादिके ।
श्रीजैनागमलेखने च सततं श्रीतीर्थयात्रादिके,
येषां स्वं विनियोगमेति धनिनां धन्यास्त एव क्षितौ ॥१॥

येषां धर्मे समेति ते धन्याः । यदुक्तम्—

ज्वलनजलचौरचारण–नृपखलदायादबन्दिकोवृत्तम् ।
धन्योऽसौ यस्य धनं, जिनभवनादौ शुभे लग्नम् ॥२॥

विशिष्य च प्रासादपुण्यमपारमाहुर्महर्षय । यदुक्तम्—

काष्ठादीनां जिनावासे, यावन्तः परमाणव ।
तावन्ति वर्षलक्षाणि, तत्कर्ता स्वर्गभाग्भवेत् ॥३॥

परमाणुस्वरूपं लौकिक—

जालान्तरगते सूर्ये, यत्सूक्ष्मं दृश्यते रज ।
तस्य त्रिंशत्तमो भाग, परमाणुः स उच्यते ॥४॥

नूतनार्हद्गृहावासे, विधाने यत्फलं भवेत् ।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं जीर्णोद्धारे विवेकिनाम् ॥५॥

अतो मातुः प्रमोदाय जिनप्रासादमण्डितां भुवं व्यधात् । प्रातर्मातुः पादौ प्रणम्यापरकार्यं करोति ।

सम्प्रतिर्वर्चयामास, सौवायुर्वासराण्यहो ।
नव्यकारितषट्त्रिंश–त्सहस्रार्कगृहैर्मुदा ॥६॥

श्रीसम्प्रतिनृपस्त्रिखण्डभूभर्ता भूविजयं कृत्वा १६ सहस्रमुकुटबद्धनृपपरिवृतोऽन्यदोज्ज-यिन्यामागात् । समहं धवलगृहे प्राप्तः स्वजनन्याः कमलाया पादयोः पतितः यदा जननीं श्यामास्यामप्राक्षीत् । मातर्मया देशाः साधिताः त्वं कथं न हृष्टा ? माताऽवग्–मम जिनप्रा-सादादिषु पुण्यकृत्यैरेव हर्षं स्यान्नान्यथा । ततो वर्षशतायुर्भूत्वा प्रति दिनं एकैकं प्रासादं कारयन् ३६ सहस्रप्रासादान् कारयामास । मातुः पादौ प्रणम्यैव जिमति ।

इति प्रासादकारणपुण्य सम्प्रतिकथा ॥२७६॥

[277] अथ चन्द्रकथा ।

कल्याणपुरे चन्द्रभीमौ द्वौ सोदरौ वसतः स्म । क्रमात् चन्द्रो निःस्वोऽभूत् । भीमो महेभ्यो जात । चन्द्रो यदाऽन्यगेहेषु अन्येषां सेवां कृत्वा निर्वाहं करोति तदा भीमोऽवग्–त्वमात्मनो गृहे तिष्ठ, यद्विलोक्यते तद्ग्राह्य । चन्द्रस्ततो भ्रातृगृहे कर्म कृत्वा निर्वाहं कुरुते ।

एकदा रात्रौ जलदे वर्षति भीमोऽवग्—चन्द्र ! त्वं क्षेत्रं गच्छ । तत्र केदारेभ्यो जलं निर्गच्छत् त्वया समायते तेन तत्र पालिर्बन्धनीया । चन्द्रो दध्यौ—यद्यहं नाधुना गमिष्यामि तदा निर्वाहो मे दुःशक इति ध्यात्वा क्षेत्रं गतः । केदाराणां स्फुटन्तीं पालीर्बध्नतो नरान् वीक्ष्य चन्द्रोऽप्राक्षीत्—के यूयं, ते प्रोचुः—वयं व्यन्तरा भीमस्य कार्मुका स्मः । भीमस्य पुण्याकृष्टा

पालीर्बन्धयन्तः स्मः । चन्द्रोऽवग्–मम क्व सन्ति सेवकाः कामुकाः । ते प्रोचुस्तव वीरमपुरे सन्ति । तत्र गत्वा यदि श्रीऋषभस्य सेवा कुरु । तथा तेऽपि कामित स्यात् । ततश्चन्द्रः सकुटु-म्बस्तत्र गतः । ऋषभस्य जिनस्य प्रत्यहं सेवां कुर्वाणस्तृणकाष्ठभार वनादानीय विक्रीय निर्वाहं कुरुते ।

एकदा प्रभुभक्त्या तुष्टः कपर्दी यक्षोऽवग्—अहमस्यां चतुर्दश्यां शत्रुञ्जयाद्रौ श्रीशान्तिजिनस्य दृष्टे रसकूपिकामुद्घाटयामि । सन्ध्यां यावत् यदि तवेच्छा स्यात्तदा तत्रागम्यं । रसो ग्राह्य । स रस एकगदीयानकप्रमाण. षष्टिगदीयानकत्रपुमध्ये क्षिप्यते । सर्वं सुवर्णं स्यात् । ततश्चन्द्र-स्तत्र गत्वा ऋषभं जिन भक्त्या पूजयित्वा स्तुत्वा ततः श्रीशान्तिजिनं प्रणम्य रसकूपिकातस्तु-म्बकत्रयं जग्राह । ततो गृहे समेत्य स्वर्णं कार कार महेभ्यो जात । सप्तक्षेत्र्यां धनं व्यय-यामास । तथा यथा सप्ताष्टभवमध्ये मुक्तिं गन्ता चन्द्रः ।

इति चन्द्रकथा ॥२७७॥

[278] अथ उग्रपापकरणे तत्क्षपणाविषये वीरमतीकथा ।

कुन्तुलपुरे वीरश्रेष्ठिनो मुकुन्दाह्वः पुत्र, तस्य पत्नी वीरमती । अन्यदा पितु श्रिय यो भुङ्क्ते सोऽधमं एव इत्यादि ध्यात्वा बलात् पितरमापृच्छ्य विदेश प्रति श्रियोऽर्जितु चचाल । इत' पत्न्यास्थिता वीरमती मठस्थिततापसान्ते गत्वाऽवग्—मां भुङ्क्ष्व । अहं कामार्त्ताऽस्मि । मम पतिस्तु विदेशे गतोऽस्ति । ततस्तेन भुक्ता । एव सप्तवर्षाणि स्वेच्छया तेन तापसेन सह रेमे । भर्त्ता समागात् । ततो भर्त्तार रात्रौ भोगदानेन रञ्जयित्वाऽत्रागाम् । तापसाऽवग्-भर्त्तरि जीवति समागते नाहं भोक्ष्ये त्वाम् । तत पश्चाद् गत्वा गलटुम्पकदानेन पतिं परासु कृत्वा पुनर्भोगायागता तापसाग्रे पतिस्वरूप प्राह । तत. सोऽवग्—गच्छ त्वया मम न कार्यम् । तत सा द्वयाच्चुकिता बलाद्भर्त्ता अकस्मान्मृतो मे इति प्रोच्य प्रातः काष्ठभक्षणाय चलिता चिता-पार्श्वे गता तदा राज्ञः सतीं वीक्षितुमागता । राजाऽपि तस्याश्चरित जानन् तत्रागत्यावग्—त्वया यथा तापसो भुक्तः पतिर्मारितस्तथा ज्ञात मया रात्रावेवमधुना त्वेव काष्ठभक्षणात्कृत-कर्मणो न छुटिष्यति । जीव. तपसा छुटति कर्मत । सा पश्चाद् गृहे समेत्य प्रव्रज्यां लात्वाऽभि-ग्रह ललौ । यदा मम पूर्वकृतं स्मरिष्यति तदा न भोक्तव्यमेव कदाचिन्मासेन द्विमासेन त्रिमासेन चतुर्मासेनेत्यादिदुष्करं तपस्तप्त्वा सर्वकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तकेवलज्ञाना मुक्तिं गता वीरमती । इत्युग्रपापकरणे तत्क्षपणाविषये वीरमतीकथा ॥२७८॥

[279] अथ सुबुद्धौ कमलश्रेष्ठिकथा ।

एकस्मिन् श्रीपुरे धनो वणिग् भारवाहनाद् द्रम्माणां लक्षमर्जयामास । किमपि न व्ययति धर्मादौ एव तत्पुत्रो भीमो द्विलक्षस्वाम्यजनि । तत्पुत्रश्चन्द्रस्त्रिलक्षस्वामी बभूव । तत्पुत्रो मदनश्चतुर्लक्षस्वामी अजनि । तत्पुत्रकमलोऽपि पञ्चलक्षाधिपः । किमपि धर्मादौ स्वगृहेऽपि धन न व्ययति । तदा पत्नी लक्ष्मीर्जगौ—स्वामिंस्त्वं किमपि धर्मं न कुरुषे ।

एकदा कमलः पत्न्या गुरुपार्श्वे नीतः । तदा गुरुणोक्तं–धर्मं विना जीवा न सुखिन

स्युः । अतस्त्वं किमप्यभिग्रहं गृहाण । ततः कमलोऽवग्—अतः परं देववन्दनं विना न भोक्ष्ये ।

एकदा श्रीयुगादिजिनं प्रणम्य भोक्तुमुपविष्टः कमलो यावत्कवलं हस्ते लली, तावत्स्वगृहीताभिग्रहं सस्मार, प्राह च प्रियां प्रति अहं देवं नत्वैव भोक्ष्ये । तथावस्थित एवाभ्युत्थितस्तदा प्रिया प्राह-स्वामिन्! हस्तं घृतस्निग्धं प्रक्षालय । कमलोऽवग्-एतद् घृतं हस्तलग्नं कथं त्यज्यते । ततो गेहिनीहस्तेनाम्बरं परिधाय देवगृहे ययौ । युगादिजिनं भावात्प्रणम्य यावद्वलितस्तावद्गोमुखयक्षः प्रकटीभूत्वाऽवग्—तव प्रभुभक्त्या तुष्टोऽस्मि । वरं मार्गय । कमलोऽवग्—प्रियां पृष्ट्वैव मार्गयिष्यामि वरम् । ततः कमलस्तथावस्थः पश्चादागत्य गोमुखयक्षतुष्टत्वादि प्राह प्रियान्ते । ततः प्रियाऽवग्—सद्बुद्धिं मार्गय । ततः कमलो यक्षपार्श्वे सुबुद्धिं याचित्वा गृहागतः प्राह-प्रिये! जलमर्पय हस्तं प्रक्षालयामि । प्रियाऽवग्—सर्पिर्हस्तलग्नं गमिष्यत्येव । कमलः प्राह—हस्तपादप्रक्षालनानि विना न भोक्ष्यते मया, ततो हस्तं प्रक्षाल्य भुक्ते स्म सः ।

इतस्तत्र पुरे राज्ञा स्वकारितमहत्सरोमध्ये स्तम्भं स्थापयित्वोक्तम्—

“यः पुरुष अमुं स्तम्भं कण्ठस्थो दवरकेण बध्नाति पट्टहस्तिनं तोलयित्वा यावन्तो भाराः स्युस्तावतः कथयति तस्मै सर्वमन्त्रिमुख्यं पदं ददामि ।”

तदा वाद्यमाने पटहे कमलः पृष्ट्वा महान्तं दवरकं सरसः पालौ परितो मुक्त्वा तदोरप्रान्ते तदोरस्यादौ ग्रन्थिं बध्वा कथयन्स्तम्भं कमलः सरःपालिस्थो बबन्ध ।

यानपात्रे हस्तिनं आरोहयामास । यावन्मात्रं यानं जलनिमग्नं तत्राभिधानं कृतं तेन । ततो हस्तिनमुत्तार्य पाषाणैस्तं बभार तावद्यावत्पूर्वाभिधानं ततः सर्वे पाषाणास्तोलिता । तोलयित्वाऽवग्—अष्टादशभारप्रमाणोऽयं हस्ती । ततो राज्ञा ग्रामाणां सहस्रं दत्त्वा मन्त्रिमुख्यः कृतः । ततो वयं धौतकादि परिधाय वयपुष्पचन्दनादिना पूजयति । प्रभुं त्रिकालं गुरुपार्श्वे धर्मं शृणोति सदा पञ्चशतीलोकोत्सर्गकायोत्सर्गं करोति ।

एकदा तस्य कायोत्सर्गस्थस्य सर्वं कर्म क्षीणं केवलज्ञानमुत्पन्नं ततः प्रियापि तस्य केवलिपार्श्वे राजापि धर्मं श्रुत्वा देवपूजादिधर्मं कुर्वाणो मुक्तियोग्यं कर्मार्जयामास ।

इति सुबुद्धौ कमलश्रेष्ठिकथा ॥२७८॥

[279] अथ शुद्धधर्मे कमलकथा ।

एकः श्रेष्ठी अनुज्ञाप्य भूम्यधिष्ठायिका कायिकीं करोति । एकदा बहिर्गतो यत्र यत्र ‘अणुजाणह जस्सुग्गह” करोति तत्रैको यक्षो वक्ति—मा उपविश । ततः एकदा यक्षं वञ्चयित्वा कायिकां व्युत्सृजन् । ततो यक्षस्तुष्टोऽवग्—वरं मार्गय । ततो यक्षपार्श्वात्कावासो महाङ्कारितः । ततो बहूनि निधानानि स्वगृहे आनीतवान् । तदा यक्षोऽवग्—मम कार्यं कथयिष्यति न तदा त्वां छलयिष्यामि । ततः कमलो यं यमादेशं दत्ते तं तं स सद्यः करोति । ततः श्रेष्ठिगृहस्याग्रे महान्तं स्तम्भं कारयित्वा तत्र स्फारां शृङ्खलां कारयित्वा तस्य गले क्षिप्त्वा-

ऽवग्-अस्मिन्स्तम्भे चट उत्तर च. यावदहं द्वितीयमुत्तरं न दास्ये । ततो वानररूपधर श्रेष्ठयुक्तं कुर्वन् खिन्नोऽवग् यक्षो—मा मुञ्चात पश्चात्त्वा न छलयिष्यामि । तत. श्रेष्ठ्यवग्—यदाऽहं त्वां स्मरामि तदाऽऽगन्तव्यम् । ततः श्रेष्ठिमुक्तो यक्ष. श्रेष्ठिवश्योऽभूत् । तत श्रेष्ठी शुद्ध धर्मं कृत्वा मुक्ति गतः । इति शुद्धधर्मे कमलकथा ॥२८०॥

[281] अथ आखुसेवकहस्तिमोचनसम्बन्धे मित्रकरणविषये कथा ।

पद्मवनेऽनेकपाभिः सप्तशतमिताभि परिवृत एको महान्हस्ती सल्लकीभक्षयन्मत्तोऽभूत् । तस्यैकदैक उन्दरोऽभ्येत्यावग्—यदि ते रोचते तदाऽहं सेवां करिष्ये तव । तदेभो हसन्नाह—'अहो त्व मम सेवां करोपि तदाऽह रक्षितोऽस्मि वैरिभि.' इत्यादि हास्यं वचः श्रुत्वोन्दरोऽवग्-कदाचि-ल्लघुजातिजोऽपि लघुतनुरपि वृद्धतनोरुपकारकृत् स्यात्, तदापि स हसतितरा हस्ती ।

एकदा हास्यादाह हस्ती—यदि मा त्वमापदः कर्षयिष्येस्तदाऽहं त्वां महान्त मन्ये ।

एकदा व्याधमण्डितदृढपाश हस्ती पपात । तदा हस्ती कष्ट तिष्ठति । पाशान्निर्गन्तु न शक्नोति । दिशो विलोकयति । तदोन्दरः सोऽभ्येत्यावग्-त्व मया स्वामी चक्रे । यदि रोचते ते तदा कर्षयिष्याम्यतस्त्वाम । तदा हस्त्यवग्-त्व कथ मोचयिष्ये मामुन्दरोऽवग्-मम वीर्य विलोकयाह तथा प्रपञ्चं करिष्ये यथा त्व मुत्कलः स्यात् इत्युक्त्वाऽऽखु सर्वान् वनस्थानाखून् मेलयित्वा बाध आर्द्रं कृत्वा ततो दन्तैस्त्रोटयामास तथा यथा हस्ती मुत्कलोऽभूत् । ततो हस्ती आखून्प्रीत्या प्रामोदयत् । एव हस्तिवज्जीवः कर्मबन्धैर्मोहव्याधेन बद्धः सन् शुभध्यानमन्त्रतिरूपश्वेताखुभिर्मोचितः सुखी शिवभाग् स्यात् ।

इति आखुसेवकहस्तिमोचनसम्बन्धे मित्रकरणविषये कथा ॥२८१॥

[282] अथ असम्बद्धजल्पने चौरव्यवहारिकथा ।

कश्चिद्व्यवहारी बहुविधरत्नरूप्यादिवस्तुयुतो विदेशं प्रति गच्छन् मार्गे चौरैर्दृष्टस्तैर्यदा हर्तुं धन चेलु तदा स व्यवहारी सम्मुख तेषामचलत् । प्राह च बुद्ध्या-भवतां यद्विलोक्यते तद् गृह्यताम् । तदा चौरा जगुर्दास्यात् भवतः सर्वं पश्चादर्पयिष्यते । ततो वणिक्प्राह-मम कोऽपि साक्षी क्रियतां । ततस्ते जगुरय वनमार्जार एव साक्षी । तदा तेन वणिजा सर्वं वस्तु व्यक्त्या जल्पयित्वा इदं हेम, इद रौप्यमित्यादि दत्तम् । ते चौरा हृष्टा वस्तु लात्वा गता रमापुरे वणिगपि पृष्ठौ तस्मिन्पुरे ययौ । भूपश्च मिलित उक्त च तेन ममैतैश्चौरै. सर्वं वस्तु गृहीतम् । ततो मन्त्रिभिर्भूपादेशादुक्त-वणिज. पार्श्वे कः साक्ष्यस्ति ? वणिजोक्त मार्जारोऽस्ति । ततः स वणिग् यत्र कृष्ण बिडाल गृहीत्वाऽऽगात्तत्र मन्त्रिणां पुरः प्राहाय साक्षी ।

ततस्ते चौरा जगु.-स मार्जारो रक्तवर्णोऽभूदयं तु कृष्णवर्णः । ततो मन्त्रिभिरुक्तं-एते चौरा एतस्य धनं हृत्वा कूट जगदुः । ततस्तान् दण्डयित्वा नैगमस्य सर्वं धनं दापित मन्त्रिभिः । इति असम्बद्धजल्पने चौरव्यवहारिकथा ॥२८२॥

[283] अथ औदार्ये भोजश्रेष्ठिकथा ।

श्रीपुरे भोजाह्वश्रेष्ठिन पद्माह्वा पुत्री बभूव विचक्षणा । श्रेष्ठी दानी । पुत्र्यपि तादृशी । श्रेष्ठिना पद्मपुरे वीरमहभ्यस्य धनाह्वपुत्राय दत्ता । सा च श्वसुरगृहे स्थिता साय दीप चकार गृहे तदा तैलस्य बिन्दव सप्ताष्ट दीपाद् भूमौ पेतु । श्रेष्ठी आगात् तैलबिन्दून् भूपतितान् वीक्ष्य पादयोरुपानह्रौ उत्तार्य लु(प)श्चयामास । स्नुषया ध्यातमय श्रेष्ठी कृपण, कथ काला नेष्यते । य एव तैल गृह्णाति स तु अतीव मितपच । एव ध्यात्वाऽपरेद्युर्मिष मण्डयित्वा सुप्ता शय्याया श्वशुरेण पृष्टा वधू । कि दुष्यसि तव ? स्नुषाऽवग्—शिरोर्त्तिर्बाढ जाताऽस्ति । ततोऽनेकान्यौषधानि कारितानि । ततोऽपि साऽवग्—ममैवविधैरौषधै शिरोर्त्तिर्न याति, येन याति तत्त्वया कर्त्तुं न शक्यते । तत श्रेष्ठी जगौ यत्त्वयौषध कथ्यते तत् कारयिष्यते मया । तत स्नुषाऽवग्—मम पुरा यदा शिरोर्त्ति स्यात्तदा सर्वोत्कृष्टमुक्ताफलचूर्णेन भाल लिप्यते तदा शिरोर्त्तिरुत्तरिष्यति । तदा महेभ्येन कोशात्सर्वोत्तममुक्ताफलानि चूर्ण कर्त्तुं प्रकटीकृतानि । यदा दलयितु प्रारब्धानि तदा वधू प्राह-शिरोर्त्तिरुत्तीर्णा । महेभ्य प्राह-भो स्नुषे ! कथमेव प्रोच्यते ? वधू प्राह—मया तवौदार्यगुणपरीक्षाकृतमिद । यत महेभ्योऽवग्—अव्यवहारेण यद्यपि तैलादि तद्वृथैव । अतो मया भूपतिततैलबिन्दुभिरुपानह्रौ लूषितौ । अह तु धर्मकृत्यगृहकृत्यादिषु बहुधन व्ययामि मुधा तु एक लोहडिकमपि न व्ययामि । ततो महेभ्यो भूरिधन सप्तक्षेत्र्या व्यययामास ।

इति औदार्ये भोजश्रेष्ठिकथा ॥२८३॥

[484] अथ सम्प्रतिभूपपृष्टचतु प्रकारजयकथा ।

एकदा सम्प्रतिभूप श्रीसुहस्तिगुरुपार्श्वे पप्रच्छ कियन्तो जयाः स्यु ।

तदा गुरुराह—बाह्यान्तरङ्गाभ्या द्विधा-अन्तरङ्गबहिरङ्गवैरिणो जयश्चक्रवर्तिना केषाचित्प पञ्चपाण्डव श्रीरामप्रभृतिभूपाना च ।१।

अन्तरङ्गजयो न बाह्यजय गणधरश्रीनेमिनाथमल्लिजिनादीना स्यात् ।२।

बाह्यजयो नान्तरङ्गजय वासुदेवदुष्टभूपादीना स्यात् ।३।

नान्तरङ्गारिजयो न बाह्यारिजय कालिकसूरिकपामरभिल्लवणिगादीना स्यात् ।४।

सम्प्रतिभूपपृष्टचतुःप्रकारजयकथा ॥२८४॥

[285] अथ अर्कदुग्धौषधकथकवैद्यकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमाह्वस्य वैद्यस्य सकुटुम्बस्य कलह कुर्वत तत्रत्यैका वणिकप्रिया वृद्धा अन्धीभूता औषध प्रष्टु समागता । औषध पप्रच्छ पुन पुन , तदा रुष्टेन भीमेनोक्तम्—अयमर्कतदर्श्यते ? तस्या कस्य क्षीर चक्षुषो क्षिप । तया तथा कारित स्वकुटुम्बान्तिकात्, तदा तस्या चक्षुषी निर्मले जाते ।

दिवि तारा पश्यन्त्यभूत् । ततो भीमो दध्यौ कथमर्कतरुक्षीरेण चक्षुषी वर्ये जाते । ततस्तस्य तरोरधस्तात्खनित्वाऽधोधृतभृतं भाजनं ददर्श । भीमः तत श्रेष्ठी महावैद्य इति नाम जातम् । तत. स वैद्यो सकललोकानामुपकारं चक्रे । तत उपकारात्स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति । इति अर्कदुग्धौषधकथक ेधकथा ॥२८५॥

[286] अथ परिग्रहपरिमाणे जिनदत्तभूपसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे जिनदत्तस्य गृहे वही श्रीरस्ति । व्यवसाय कुर्वतस्तस्य यत्तत्क्रयाणकं गृह्णतो द्विगुणस्त्रिगुणश्चतुर्गुणो लाभो भवति, तदा भार्या जगौ प्रिय ! सप्तक्षेत्र्यां धनं व्यय । तत स न किमपि व्ययति धन धर्मे । ततः क्रमादेकदा श्रीर्देवी स्वप्नेऽभ्येत्यावग्—अह यास्यामि । तव पुण्यं क्षीणम् । प्रातः श्रीप्रोक्ते पत्न्या पुर प्रोक्ते पत्नी प्राह—मया बहु प्रोक्तं, धन धर्मे व्यय, त्वया तु न व्ययित, किं क्रियतेऽधुनाऽपि व्यय धन तदपि वर । तत तेन सर्वं धन धर्मे व्ययित । रात्रौ देवी श्रीर्धनं व्ययित दृष्ट्वा तत्पुण्यवद्धा तथैव मुक्ताफलमण्यादिगृह तस्य पूर्णीचक्रे । एवं तेन तस्मिन्धने व्ययिते श्रीस्तथा व्यधाद् गृहं २१ दिनप्रान्ते श्रेष्ठिना विंशतिसहस्रटङ्कपरिग्रहपरिरक्षणमानं लात्वा शेष धन व्ययित । ततः श्रिया तस्य पुरस्य भूपस्यापुत्रस्य मृतस्य तस्मै राज्यं दत्तं । तत स जिनदत्तभूप प्रभुं राज्ये निवेश्य स्वयं मन्त्री भूत्वा सप्तक्षेत्र्या धनं सदा व्ययन्मुक्तियोग्यं कर्म्मोर्ज्जयामास । ततो जिनदत्तः सप्रियो मृत्वा स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति । इति परिग्रहपरिमाणे जिनदत्तभूपसम्बन्धः ॥२८६॥

[287] अथ नीचानीचभवनचाण्डालिनीसम्बन्धः ।

सिद्धपुरासन्नकम्बलिकाग्रामस्थ-भीमस्य भाम्भिकस्य मृतस्य पत्नी विदेशं ययौ ।

एकस्मिन्ग्रामे गता लोकैः पृष्टा तस्या जातिः । तयोक्तं मुग्धत्वात् ढेढस्य पत्नी । लोकैरुक्तमेवं ग्राममध्ये नागम्यते । साऽवग्—को ग्राममध्ये समेति । तैरुक्तं—यो वणिग् विप्रो वा भवति स चोक्ष. । ततः साऽपरस्मिन्ग्रामे गता तथा तत्र ब्राह्मणीवेषधारिणी जाता । ततो 'ब्राह्मणी अहमिति' जल्पन्ती वाराणस्यां गता । तत्र मठवासनिका जाता यमुनायां सदा स्नानं चक्रे । विदेशागता द्विजास्तस्या गृहे भुञ्जते ।

एकदा सिद्धपुरीया द्विजास्तत्रागतास्तस्या गृहे भोजनं कारयितुमागताः । तयोक्तं यूयं के ! तैरुक्तं वयं ब्राह्मणाः । तयोक्तं—भवन्तो-भवन्तः क्रमाद्द्विजा जाता । तैरुक्तं-'भवन्तो भवन्त' इत्यस्य कोऽर्थः ! तयोक्तं—अहमिव । तैरुक्तं-त्वं भवन्ती कथं जाता ! साऽवग्—धुरि अहं भाम्भिकभार्याऽभूवं, ततो वणिजाभूवं, ततः क्षत्रिया, ततः सूत्रधारिका, ततो ब्राह्मणी, ततो मठवासिका इति भवन्त्या अर्थः । ततस्तैरुक्तं—अहो पापिन्या त्वया सर्वे द्विजा विटालिता । तयोक्तम्-एवं कथमुच्यते ! अस्मिंस्तीर्थे ये स्नातास्ते सर्वेभ्योऽपि पवित्राः । ततस्तैरुक्तम्-इयं सत्यं वक्ति । इदं तीर्थं पवित्रं । ततः इयमस्मिन्जले स्नाता पवित्राऽभूत् ततो द्विजास्तत्र भुक्ता ।

इति नीचानीचभवनचाण्डालिनीसम्बन्धः ॥२८७॥

पूर्णा गाथा जाता। एवं प्रोक्तेऽपि मोहाधेन योगिना यथोऽन्यगाथ न ज्ञात। ततः स्थाने स्थाने सम्पूर्णा गाथां जल्पति। योगी तु स्वां पत्नीं सुशीलां वेत्ति। सा लब्ध्वा(लब्धा)स्वादा पुसा ऽन्येन रमते। एवं पापं कृत्वा श्वभ्रे गता। योगी तु यावत्स्वां पत्नीं सतीमेव मेने।

इति मुग्धजटिलसम्बन्ध ॥२९१॥

[292] अथ काकेन काकशतमिति सम्बन्ध ।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिन पत्नी कथितकारिणी विद्यते। कस्मादाद्रिद्रे ममेते किमपि न करोति। इतोऽन्यदा मलोत्सर्गं कुर्वन् बहिर्निधिं ददर्श। स तत्र स्थगित्वा गृहागतो भार्याया पुर प्राह-मयाऽद्य मलोत्सर्ग कुर्वता काकपिच्छ हदितं, त्वया कस्याग्रे न प्रोच्य। तयोक्तं-मयाऽद्य यावत्कस्याग्रे नोक्त ततस्तयाऽन्येद्यु पानीयानयनार्थं गच्छन्त्याऽन्यपानीयहारिकाया पुर पत्युः पिच्छहरणोत्स्वरूपं प्रोक्त। ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे प्रोक्त ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे ततो लोकशतै श्रुत गृहे गृहे सा वार्ता जाता। लोकैरुक्त-भो श्रेष्ठिन्! काकपिच्छं शतं हृदितं त्वया। ततो ज्ञात भायास्वरूप ततस्तेन नीधिरानीतो विलसितः परं पत्न्या पुरो नोक्त श्रेष्ठी तत 'काक काकशत'मिति ख्यातिं दध्यौ [धौ] ॥

इति काकेन काकशतमिति सम्बन्ध ॥२९२॥

[293] अथ मुखवासे कौटुम्बिककथा।

श्रीग्रामे लक्ष्मीधरो राजा न्यायी लोकप्रियः। लोकाः सर्वे यथोक्त ददते धनिनो जाता।

एकदा मन्त्रिणा स्पद्धकद्वयं चन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वे याचितम्। सोऽवग-अप्यमप्य धन मग्ना अधुना नास्ति यथा मां मागय तथाऽन्योऽपि किं न मार्ग्यते। अहमेवैकोऽस्मि किम्।

अत्रान्तरेऽन्येद्युस्तेन कौटुम्बिकेन खलात् छन गोधूमै शकट भृत्वा निगत रात्रौ। वत्सनि शकट गर्ताया पतित न निस्सरति यदा तदा स कौटुम्बिक आकुलोऽभूत्।

अत्रान्तरे राजा अजल्पन् तस्य शकट कथयामास। राज्ञा स्तैन्य ज्ञात। तथापि चित्ते किमपि नानीतम्।

इतोऽन्येद्यु मन्त्रिणा समं कलिं कुर्वन्भूपपार्श्वे कौटुम्बिको ययौ। तदा मन्त्रिणा राज्ञोऽग्रे प्रोक्त यदाऽसौ मान्यते तदा यद्वा तद्वा जल्पति। कौटुम्बिकोऽप्यवग्—अह वासे स्थातु न शक्नोमि। अमुकममुकं मयाऽर्पित पुन स्पद्धकद्वयं मन्त्री याचते। राज्ञोक्त—यो राजा गोधूमभृत शकट गर्ताया पतित कथयति, तस्य वासे त्वया उषितव्यम्। एतद्वच श्रुत्वा कौटुम्बिको मौनी भूत्वा भूपपार्श्वे प्राह-यद्विलोक्यते तद् गृह्यताम्। ततो राजाऽपि तद्वचनेन तुष्टः।

इति मुखवासे कौटुम्बिककथा ॥२९३॥

[294] अथ धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ।

लोडणपुरे ग्रामपति कृष्ण प्रजाः पाति स्म । तत्रान्यदा तैलिकमोचिके कलिं कुर्वाते समेति । त्वया मम छगणानि छन्न गृहीतानीत्युक्ते तैलिका जगौ-रे घाञ्चिके । मम गृहात्त्वया गोमयं छन्नं गृहीतम् । एव मिथः कलिं कृत्वा प्रथम घाञ्चिका ग्रामपतये तैलिकसद्दोलिकं दत्त्वा स्वं सम्बन्धं कथितवती । ग्रामेशोऽवग् —मा भैषी., चर्मकारिका दण्डयिष्यते ।

इतश्चर्मकारपत्नी भूपपत्न्यै वर्यं पादुकायुगं दत्त्वा स्वसम्बन्ध प्राह । त्वया ममोपान्ते स्थातव्यम् । अपराह्णे द्वे कलिं कुर्वाणे ग्रामपतिपार्श्वं समेते । स्वं स्वरूप द्वाभ्यां प्रोक्तम् । राजाऽवग्-चर्मकारिकामन्यायिनीं दण्डयिष्यते । तैलिकया तैलसद्दोलिकोर्पितोऽस्ति । राज्ञा राज्या' पुर प्रोक्तम । राज्ञी प्राह-पल्यङ्कस्याधस्ताद्विलोक्यताम् । नोर्ध्वं वीक्ष्यते । ततो राजा पादुकाद्वय नवीनमपूर्वं दृष्ट्वा प्राह-द्वयोर्मध्ये कस्या अपि दोषो न । स्वस्वगृहे यात युवाम नः परमन्यायो न कार्यं. तेन स्वस्वगृहे गते ।

इति धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ॥ २९४ ॥

[295] अथ ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ।

कस्मिन्ग्रामे भीमस्य सूत्रधारस्य भूरिषु देवेषु आराधितेषु पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सव कृत । स्वर्णमय पालनकं कृतं, तत्रस्थ हिण्डालयति स्म । क्रमाद्रिङ्गन् वर्याहारभूषणादिभि पोष्यते पुत्रः ।

एकदा स्वोत्सङ्गे कृत्वा पुत्र रमयन्त श्रेष्ठिनं दृष्ट्वा साधुः प्राह । पुत्र दर्शं दर्शं किं मोद धत्से ? एव प्रोच्य यावत्साधुर्निस्ससार तावच्छ्रेष्ठी चकितः । साधोः पदोः पतित्वा प्राह-- त्वयैव कथ प्रोक्तम् ? साधुः प्राह पृच्छनेन सृत, पुत्रस्वरूपे प्रोक्ते तव दुःख भविष्यति । तस्यो बहु कथिते एकान्ते साधुः प्राह--

पद्मपुरे चन्द्रो वणिग् बभूव । स चान्यदा कमलपुरे सिंहश्रेष्ठिगृहे गतः । तस्यापण उपविशति च सिंहोऽन्यदा पञ्चशतटङ्कभृतां वासनिकां हट्टमध्ये मुक्त्वा कार्यार्थं गतः । ततश्चन्द्रस्तां वासनिकां छन्न कृत्वाऽन्यत्र मुक्त्वा तत्रापण आगत्योपविष्टः । ततः सिंहो हट्टागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—त्वया धनं गृहीतम् । चन्द्रोऽवग—कूट किं जल्पसे । शपथं चकार । ततः क्रमात् साधुभ्यो दानं दत्त्वा चन्द्रो मृत्वाऽय तव पुत्रो जातोऽस्ति । तेनाय लहनकं लात्वा गमिष्यति । यदि त्वमेतस्यार्थं न व्ययिष्यसि तदा सर्वां श्रियमपहरिष्यसि तत सूत्रधारेण पूर्वदत्त धनं तस्य लेखके धर्मे व्ययित । तत स स्व लहनकं लात्वा परलोकं गत ।

इति ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ॥२९५॥

[296] अथ मुग्धतायां कुटुम्बिकधनतत्पत्नीलिम्बडीपुत्रीकथा ।

श्रीपुरे धनकौटुम्बिकस्य लीम्बडीनाम्नी पुत्री बभूव । क्रमाच्चन्द्रपुरे धनदत्ताय सोत्सव

[288] अथ परवञ्चनद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे द्विजस्य पत्नी पतिवचनासक्ताऽस्ति । एकदा द्विजे ग्रामे गते वैदिका द्विजास्तत्रागताः । तैश्च विप्रगृहं पृष्ट्वा वैदिकगृहे गत्वा द्रव्यं दत्त्वा क्षीरपूपिकाघृतवरमण्डकमोदकादिवया रसवती कारिता । ततो द्विजा नद्यां स्नानार्थं गताः । इतो द्विजो गृहस्वाम्यागात् रसवत्याग्निचनं ज्ञात्वा द्विजोऽवग्—इयं रसवती आत्मनो गृहे स्थाप्यते स्वयं भोक्ष्यते तदा वरं । भार्याऽवग्—कथमेवं क्रियते परान्नहरणात् । द्विजोऽवग्—तथाऽहं करोमि यथा स्वयं द्विजा यास्यन्ति त्वया मौनमेव कार्यं च । ततो यदा द्विजा स्नानं कृत्वा गतास्तदा द्विजः पिप्प(प्प)लस्य वृक्षस्य शाखां छेत्तुमूर्ध्वं चटितः । वृक्षशाखां छिन्दानं तं दृष्ट्वा द्विजास्ते जगुः—भो द्विज ! कृष्णवसनस्थानं पिप्प(प्प)लस्त्वया किं छिद्यते ! सोऽवग् पिप्पलपत्रभक्षणं विना ईश्वरनामाङ्किता वृषभा षण्ढा असमारिता कथं क्षेत्रे वहन्ते । तैरुक्तं त्वं किमीश्वरनामाङ्कितान् षण्ढान् खेटयति । द्विजोऽवग्—यद्येवंविधा वृषभा न पोष्यन्ते तदा घृतभार्याया अपत्यानि धान्यं विना कथं जीवन्ति । तैरुक्तं—तव गृहे किं मृता पत्नी विद्यते । तेनोक्तं मम मामादस्य घृतमयादिसेविनः का द्विजः पुत्रीं निजां दत्ते । तैरुक्तं—का जातिस्तवपत्न्याः तेनोक्तं—मम वसनसेवकस्य यदा कोऽपि द्विजः स्वां पुत्रीं न दत्ते तदाऽहं गतो वयमौचिकगृहे मां वयःवरं दृष्ट्वा साऽवग्—मम रण्डा पुत्री विद्यते । यदि रोचते तव तदाङ्गीकुरु त्वं तां । ततस्तस्य तां पुत्रीं मया दृष्ट्वाऽहं परिणीतवान् । ततस्तयाऽपत्यानि जातानि अमूनि विद्यन्ते । ततस्ते द्विजाः पापिष्ठोऽयं पापिष्ठोऽयं एवं वदन्त उत्थिताः । तां रसवतीं तादृशीं त्यक्त्वा गता अन्यत्र । ततो द्विजोऽवक् पत्नि ! यथारुचि इयं रसवती भुज्यतां बुद्धिबलेन गृहीता न मुधा, तेन पापं न लगति, ततस्तेन स्वेच्छया पत्न्या युतेन रसवती भुक्ता । इति परवञ्चने द्विजसम्बन्धः ॥२८८॥

[289] अथ मोहेन काष्ठभक्षणसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्ग्रामे कोऽपि कौटुम्बिकः पत्नीवियोगात्काष्ठभक्षणाय चचाल यदा तदा कश्चिद् भट्टो धनार्थी प्राहोच्चैः स्वरं, भो कौटुम्बिक ! त्वं भाग्यवानसि त्वं मातापितृपक्षोद्योतकारकः स्वर्गसुखमनुभवसि । त्वमस्माद्दुःखाच्छुटितोऽसि इत्यादि जल्पन्तं भट्टं प्रति स प्राह—अधुनैव कथं पुनः भोक्ष्यते । यदि वयं काष्ठभक्षणं स्वर्गसुखदायकं भवति तदा त्वं कथं न करोषि ! अत्र तु दीनादिधनजल्पनादुदरं बिभर्षि । तत्र स्वयमत्यन्तं सुखं भविष्यति । भट्टोऽवग्—कथं त्वयैव भोक्ष्यमानमस्ति । स प्राह—अहं मोहेन काष्ठभक्षणं कुर्वाणोऽस्मि । अग्रे को जानाति किं भविष्यति । त्वमपि धनलोभादेव जल्पसि किं बहुजल्पने । ततो भट्टो मौनी जातः ।

इति मोहेन काष्ठभक्षणसम्बन्धः ॥२८९॥

[290] अथ कुशीलिनीस्त्रीविषये सम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे मोचिका चर्माणि खेटकानि रचयति तेनान्यदा मोसलेन चर्मकृताऽन्येन स्वकीया पत्नी कृता । अत्रान्तरे तस्य भट्टे पुमांसो जजल्पुर्नीसल ! त्वया पत्नी आनीता भूता सा

कस्य पुत्री विद्यते । नीसलोऽवग् किमेवं पृच्छयते । ते प्रोचुः—रण्डा विधवा वा । सोऽवग्—देवढेन त्यक्ता मयाङ्गीकृता । तदा केचिज्जगुः—वयं कृतं गेहं च सदभूत् । तदैकेनोक्तं-या पत्या त्यज्यते सा कुशीलिन्येव । अथवा अकथितकारिका दोषं विना कोऽपि स्त्रियं न त्यजति । तदा नीसलोऽवग्—अतीवाधुना सलज्जा दृष्यते स्तोकजल्पा च । वृद्धः पुमान् प्राह-स्वरूपं न ज्ञायते यतः—

अक्कफल किविणधणं, दुज्जणवयणं सुकोमलं होइ ।
असई होइ सलज्जा, खारजलं सीअलं होइ ॥१॥

नीसलोऽवग्-साम्प्रतं वर्याऽस्ति ततोऽन्यदा कस्मिन्स्थाने पुंसाऽन्येन समं वार्त्ता कुर्वाणा नीसलेन पृष्टा परपुंसा च । यदा साऽस्येषां पुर पत्नीस्वरूपं प्राह तदा तैः प्रोक्तं—त्यज्यते पत्नीयं । नीसलोऽवग्—रूपवती कथं त्यज्यते । अन्यस्मात्पुरुषाद्यदीयं ममापत्यानि जनिष्यति तदा तान्यपि मां प्रति 'तात बाप अऊआ आता' इति जल्पिष्यन्ति । तेनेय स्थाप्यमानाऽस्ति तदा तैरुक्तम्-एव चेदस्ति तदा वयं जातं । नीसलेन तादृशी पत्नी ज्ञाताऽपि न त्यक्ता मोहपाशबद्धेन ।

इति कुशीलिनीस्त्रीविषये सम्बन्धः ॥२९०॥

[291] अथ मुग्धजटिलसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे आसन्नाद्रिरुच्चशृङ्गे विषमे मठी योगिना कृता । तत्र च योगिना बालिका स्थापिता । साऽथाऽन्यं नरं न पश्यति क्रमात्परिणीता स्वयं । इयं कुशीलिनी न भविष्यति । ततो ग्राममध्ये भिक्षां याचमानो गृहे गृहे वदति—"इकपरिसाई इकपरिसाई" एवं पुनर्वदन्तमन्यः पुमान् प्राह-'इमकाई बालइ भाई' । ततो योगी जगौ-'ऊचइ डुंगरि कोई न जाई' । एवं जल्पन्तं श्रुत्वा दध्यौ । स स्वां पत्नीं सुशीलां वेत्त्यसौ । ततः स योगिप्रियापरीक्षणायैव वर्यपक्वान्नादि लात्वा योगिन्यन्यत्र गते पर्वतशृङ्गे योगिनीपार्श्वे गत । योगिन्यै पक्वान्नादि दत्तं । योगिन्या भोगस्तेन सहेप्सितः ।

इतः स योगी मठपार्श्वे समागात् । ततः सद्यस्तया मठमध्ये छन्नं कृत्वा महोद्वारेऽभ्येत्यावग् अत्रैव स्थिरीभव । अधुना ईश्वर आगतोऽभूत् । तेनेत्युक्तं गतं च यदि ते पतिश्चक्षुषो. पट्टकं बन्धित्वा कण्ठे घर्घरमालिका च त्रिर्वारं मठया. परितोऽधोमुखी मन्त्रामजापपरो भविष्यति ततो मठींमध्ये समेष्यति तदा बहुवर्षाणि आयुर्भविष्यति । ततस्तेन पत्न्योक्तं सर्वं कृत्वा मठीमध्ये आगतं यदा छन्नं तदा स च निर्गत्य स्वस्थाने गतः । द्वितीयदिने योगी तस्य गृहे समागाज्जल्पन्निति—

इक्कपुरिसाई पुरिसाई कांई बोलइं भाई
ऊंचे ऊंचे डूंगरउइ कोइ न जाई ॥

तदा स पुमान्प्राह—

आंखिडं पाटा कोटइं माटा, अम्हे हुंता मठमांही ॥१॥

पूर्णा गाथा जाता। एवं प्रोक्तेऽपि मोहात्तेन योगिना यथोल्यगत्य न ज्ञातं। ततः स्थाने स्थाने सम्पूर्णा गाथां जल्पति। योगी तु स्वां पत्नीं सुशीलां वेत्ति। सा लब्ध्वा(लब्धा)स्वादा पुनः अन्येन रमते। एवं पापं कृत्वा श्वभ्रे गता। योगी तु यावत्स्वां पत्नीं सतीमेव मेने।

इति मुग्धजटिलसम्बन्धः ॥२९१॥

[292] अथ काकेन काकशतमिति सम्बन्धः।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिनः पत्नी कथितकारिणी विद्यते। कथ्याहारिद्रे नमेते किमपि न करोति। इतोऽन्यदा मलोत्सर्गं कुर्वन् बहिर्निधि ददर्श। स तत्र स्थगित्वा गृहागतो भार्यायाः पुरः प्राह–मयाऽद्य मलोत्सर्गं कुर्वता काकपिच्छं ढूदितं, त्वया कस्याग्रे न प्रोच्य। तयोक्तं–मयाऽद्य यावत्कस्याग्रे नोक्तं ततस्तयाऽन्येद्युः पानीयानयनार्थं गच्छन्त्याऽन्यपानीयहारिकायाः पुरः पत्युः पिच्छहरणोत्स्वरूपं प्रोक्तं। ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे प्रोक्तं ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे ततो लोकशतैः श्रुतं गृहे गृहे सा वार्ता जाता। काकैरुक्तं–भो श्रेष्ठिन्! काकपिच्छं शतं ढूदितं त्वया। ततो ज्ञातं भार्यास्वरूपं ततस्तेन नीधिरानीतो विलसितः परं पत्न्या पुरो नोक्तः श्रेष्ठी ततः 'काकं काकशत'मिति ख्यातिं दध्यौ [धौ]॥

इति काकेन काकशतमिति सम्बन्धः ॥२९२॥

[293] अथ मुखवासे कौटुम्बिककथा।

श्रीग्रामे लक्ष्मीधरो राजा न्यायी लोकप्रियः। लोकाः सर्वे यथोक्तं ददते धनिनो जाताः।

एकदा मन्त्रिणा स्पर्द्धकद्वयं चन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वे याचितम्। सोऽवग्–अस्यमस्य धनं भग्ना, अधुना नास्ति यथा मां मार्गय तथाऽन्योऽपि किं न मार्गयन्ते। अहमेवैकोऽस्मि किम्।

अत्रान्तरेऽन्येद्युस्तेन कौटुम्बिकेन बलात् छन्न गोधूमैः शकटं भृत्वा निर्गतं रात्रौ। वर्त्मनि शकटं गर्तायां पतितं न निस्सरति यदा तदा स कौटुम्बिकः आकुलोऽभूत्।

अत्रान्तरे राजा अजल्पन् तस्य शकटं कर्षयामास। राज्ञा स्तैन्यं ज्ञातं। तथापि चित्ते किमपि नानीतम्।

इतोऽन्येद्युः मन्त्रिणा समं कलिं कुर्वन्भूपपार्श्वे कौटुम्बिको ययौ। तदा मन्त्रिणा राज्ञोऽग्रे प्रोक्तं यदाऽसौ मार्ग्यते तदा यद्वा तद्वा जल्पति। कौटुम्बिकोऽप्यवग्—अहं दातुं स्थातुं न शक्नोमि। अमुकममुकं मयाऽर्पितं पुनः स्पर्द्धकद्वयं मन्त्री याचते। राज्ञोक्तं—यो राजा गोधूमभृतं शकटं गर्तायां पतितं कर्षयति तस्य दासे त्वया अर्पितव्यम्। एतद्वचः श्रुत्वा कौटुम्बिको मौनी भूत्वा भूपपार्श्वे प्राह–यद्विलोक्यते तद् गृह्यताम्। ततो राजाऽपि तद्वचनेन तुष्टः।

इति मुखवासे कौटुम्बिककथा ॥२९३॥

[294] अथ धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ।

लोडणपुरे ग्रामपतिः कृष्णः प्रजाः पाति स्म । तत्रान्यदा तैलिकमोचिके कलिं कुर्वाते स्मेति । त्वया मम छगणानि छन्नं गृहीतानीत्युक्ते तैलिका जगौ-रे घाञ्चिके ! मम गृहात्त्वया गोमयं छन्नं गृहीतम् । एवं मिथः कलिं कृत्वा प्रथमं घाञ्चिका ग्रामपतये तैलिकसहोलिकं दत्त्वा स्वं सम्बन्धं कथितवती । ग्रामेशोऽवग्—मा भैषीः, चर्मकारिका दण्डयिष्यते ।

इतश्चर्मकारपत्नी भूपपत्न्यै वर्यं पादुकायुगं दत्त्वा स्वसम्बन्धं प्राह । त्वया ममोपान्ते स्थातव्यम् । अपराह्णे द्वे कलिं कुर्वाणे ग्रामपतिपार्श्वं समेते । स्वं स्वरूपं द्वाभ्यां प्रोक्तम् । राजाऽवग्—चर्मकारिकामन्यायिनीं दण्डयिष्यते । तैलिकया तैलसहोलिकोऽर्पितोऽस्ति । राज्ञा राज्ञ्याः पुरः प्रोक्तम् । राज्ञी प्राह-पल्यङ्कस्याधस्ताद्विलोक्यताम् । नोर्ध्वं वीक्ष्यते । ततो राजा पादुकाद्वयं नवीनमपूर्वं दृष्ट्वा प्राह-द्वयोर्मध्ये कस्या अपि दोषो न । स्वस्वगृहे यातं युवामतः परमन्यायो न कार्यः तेन स्वस्वगृहे गते ।

इति धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ॥ २९४ ॥

[295] अथ ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ।

कस्मिन्ग्रामे भीमस्य सूत्रधारस्य भूरिषु देवेषु आराधितेषु पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सवः कृतः । स्वर्णमयं पालनकं कृतं, तत्रस्थं हिण्डालयति स्म । क्रमाद्द्विक्षुः वर्याहारभूषणादिभिः पोष्यते पुत्रः ।

एकदा स्वोत्सङ्गे कृत्वा पुत्रं रमयन्तं श्रेष्ठिनं दृष्ट्वा साधुः प्राह । पुत्रं दर्शं दर्शं किं मोदं धत्से ? एवं प्रोच्य यावत्साधुर्निस्ससार तावच्छ्रेष्ठी चकितः । साधोः पदोः पतित्वा प्राह—त्वयैवं कथं प्रोक्तम् ? साधुः प्राह पृच्छनेन सृतं, पुत्रस्वरूपे प्रोक्ते तव दुःखं भविष्यति । तस्यो बहु कथिते एकान्ते साधुः प्राह—

पद्मपुरे चन्द्रो वणिग् बभूव । स चान्यदा कमलपुरे सिंहश्रेष्ठिगृहे गतः । तस्यापणे उपविशति च सिंहोऽन्यदा पञ्चशतटङ्कभृतां वासनिकां हट्टमध्ये मुक्त्वा कार्यार्थं गतः । ततश्चन्द्रस्तां वासनिकां छन्नं कृत्वाऽन्यत्र मुक्त्वा तत्रापणे आगत्योपविष्टः । ततः सिंहो हट्टागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—त्वया धनं गृहीतम् । चन्द्रोऽवग्—कूटं किं जल्पसे ! शपथं चकार । ततः क्रमात् साधुभ्यो दानं दत्त्वा चन्द्रो मृत्वाऽयं तव पुत्रो जातोऽस्ति । तेनायं लहनकं ज्ञात्वा गमिष्यति । यदि त्वमेतस्यार्थं न व्ययिष्यसि तदा सर्वां श्रियमपहरिष्यसि ततः सूत्रधारेण पूर्वदत्तं धनं तस्य लेखके धर्मे व्ययितं । ततः स स्वं लहनकं लात्वा परलोकं गतः ।

इति ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ॥२९५॥

[296] अथ मुग्धतायां कुटुम्बिकधनतत्पत्नीलिम्बडीपुत्रीकथा ।

श्रीपुरे धनकौटुम्बिकस्य लीम्बडीनाम्नी पुत्री बभूव । क्रमाच्चन्द्रपुरे धनदत्ताय सोत्सवं

दत्ता । तस्या आभरणानि कारितानि । एकदा समुत्पन्नरोगा लिम्बडी पतिगृहस्था मृता । तां मृतां श्रुत्वा मातापितरौ दुःखिनौ जातौ । आभरणानि पितृगृहे स्थितानि । तदा कोऽपि धूर्तो धनकौटुम्बिकोऽभ्येत्यावग्--नमश्चक्रे तयो । तदा साभ्यां प्रोक्त--कुत स्थानात्त्वमागा ? सोऽवग्--अहं भवतो पुत्रीपार्श्वाऽत्सदा माताऽवग्--लिम्बडीपुत्री क्वास्ति ? धूर्तोऽवग्--स्वर्गे देवाङ्गना जाताऽस्ति सुखिनी च । मन्मुखेन तया सर्वाणि आभरणानि याचितानि सन्ति । यदि अर्प्यसे तानि तव पुत्र्या अर्पयामि । मात्रा मुग्धया पुत्रीमोहात्तस्मै सर्वाण्याभरणानि दत्तानि । सोऽपि छलितानि लात्वा चचाल ।

इतो धनो गृहे आगात् । पुत्रीभूषणप्रेषणस्वरूप पत्युरग्रे पत्न्योक्त धनोऽवग् । प्राह--त्व तु मुग्धा । स तु छली । तानि लात्वा गत । ततो भूषणानि वालयितु वयघोटिकारूढस्तत्पृष्ठौ चचाल । मार्गे मिलित सन् स हक्कयामासोच्चैः रे दुराचार ! मुञ्च भूषणानि पुत्र्या नो चेद्धनिष्यसे । छली धनमागत दृष्ट्वा मार्गस्थतरोरूर्ध्व चटित । स च कौटुम्बिक घोटिकाया उत्तीर्य वृक्षमारूढो धर्त्तु तम् । स छली शाखयोत्तीर्य त्वरित घोटिकामारुह्य त्वरित चचाल । कौटुम्बिको वृक्षादुत्तीर्य तत्पृष्ठौ दधाव हक्कयति च । यदा न मिलति धनस्तस्य तदोच्चैः स्वर प्राह--एषाऽपि घोटिका साभरणा लिम्बडयै भवतु एवं प्रोच्य पादचारी गृहागतो धन पृष्ठ पत्न्या तदा धनोऽवग्--त्वया पुत्र्या आभरणानि प्रेषितानि मया तु घोटिका । पत्नी प्राह--वरं कृतम् ।

इति मुग्धतायां कौटुम्बिकधनतत्पत्नीलिम्बडीपुत्रीकथा ॥२९६॥

[297] अथ द तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिनस्तिस्रो वध्वोऽभूवन् । एकस्या वधा मुद्रिका कारिता श्रेष्ठिना, द्वितीयस्या वधा शाटिका, तृतीयस्या स्वर्णमया द ताः । ताभिरेकदा स्वजना जेमनाय निमन्त्रिता । ता जेमनायागता यदा तदा प्रथमया मुद्रिका दर्शिता, द्वितीयया शाटिका दर्शिता तृतीयस्या गृहे या जेमनायागता तासां पुर तृतीया दन्तान् स्वर्णमयानुद्घाट्य हसित्वा प्राह--भो स्त्रिय अद्य किमपि रद्धु न शकित मया । कल्ये जेमनायागन्तव्यम् । ताभि प्रोक्त--वयं कृत गौरव दन्ता स्वर्णमया दर्शिता । द तदर्शनेन वय भोजिता । दन्तदर्शनेनापि यच्छुटितास्तद्वर इति जल्पन्त्यस्ता स्वस्वगृहे गता । इति दन्तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ॥२९७॥

[298] अथ अविमृश्यकारकधनकथा ।

एक कोऽपि मुग्ध पुमान् पलाशपत्राणि फलानि च वर्याणि वीक्ष्य दध्यौ--एवंविधो वृक्षो यदि गृहाङ्गणे भवति तदाऽतीव गृहशोभा भवति ।

ततस्तेन तद्बीजान्यानीयारोपितो वृक्ष वर्धितो वारिसिञ्चनत सच्छायोऽभूत् । क्रमात्फलानि लग्नानि आस्वादितानि कटुकानि । पत्रेषु च वृश्चिका उत्पद्यन्ते । पक्षिणोऽभ्येत्य ते कलकल

कुर्वन्ति । ततो रुष्टस्तमुत्पाटयामास । स ज्वालित । स एकं पत्रं तस्योद्धरितं, तच्च क्रमात् हेममयं जातम् । ततस्तादृशानि बीजान्यलभमानो दु खी जात ।

इत्यविमृश्यकारकधनकथा ॥२९८॥

[299] अथ परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ।

चन्द्रवत्या पुरि सोमभीमौ सोदरौ वसत स्म । पृथग्जातौ तथापि व्यवसायमेकत्र कुरुतः स्म । सोमो गुरूपान्ते परद्रव्यपरिहाराभिग्रह ललौ । भीमस्तु न गृह्णाति स्म ।

एकदा द्वावपि भ्रातरौ द्रव्यार्जनाय मार्गे चेलतुः । साय रात्रिघटीद्वय गत यदा तदा रत्नकुण्डल बहुमूल्य सोमो दृष्ट्वाऽपि चचालाग्रत । तत पश्चात्क्रमशते भीम आगच्छन् रत्नकुण्डल ललौ । रहो विधाय चचाल । ततः मार्गे भ्रात्रा पृष्ट—त्वया पश्चात् कि दृष्टम् ! भीमोऽवग्—न किमपि दृष्ट मया । ततस्तावपि भ्रातरौ श्रीपुरे गतौ । तत्र भीमो व्यवसाय कुर्वन् कुण्डल विक्रीय बहुमूल्य क्रयाणक बहु ललौ । तदा बहुमूल्य क्रयाणक बहु गृह्णान भीम वीक्ष्य सोमोऽवग्—भ्रातस्त्वया किं लब्ध येन बहु क्रयाणकमलास्त्वं बह्वाग्रहे कृते भ्रात्रा रत्नकुण्डलग्रहणविक्रयसम्बन्धः प्रोक्तो भीमेन । ततः सोमोऽवग्—यत्त्वया रत्न कुण्डल पतित गृहीतं तन्न वरं कृतम् । आत्मनः क्रयाणकमग्रेतनवस्तुमत्क यद्विद्यते तन्मम दीयताम् । त्व तावकं पृथक्कुरु । क्रमाद्द्वौ सोदरौ गृहे आगतौ भीमस्य तस्मिन्नेव दिने गृहे चोराः प्रविष्टा । सर्वमानीत लुण्टित्वा गता । प्रात सर्वं गृह क्रयाणरिक्त दृष्ट्वोदर कुट्टयन् जगौ भीम । चौरा मम जीवं गृहीत्वा गता । सोम आगत प्राह—भ्राता रुद्यते कि यत्परद्रव्य गृह्यते तच्चात्मीयमग्रेतनमपि धन लात्वा याति । अत पर त्वया परकीय पतितमपि धन न ग्राह्यम् । ततस्तेन परद्रव्यग्रहणे नियमो गृहीतः । ततो भ्रात्रा बहुधन ददे । ततो द्वावपि सोदरौ चिर स्वमभिग्रह प्रपाल्य स्वर्गं गतौ । क्रमान्मुक्तिं यास्यतः । इति परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ॥२९९॥

[300] अथ 'वानर अनइ वींछी खाधउ', इति ऊखाणा कथा ।

कस्मिन्वने वानर आम्रछोतरकं भक्षितु मुखे चिक्षेप तदा छोत्तरकस्थेन वृश्चिकेन कपिर्भक्षित. । ततो झलयित्वा त्वरितं भूमौ पतितः । मुखं भग्नप्राय जातम् । कुत्रापि रतिं न लभते । तदा कपिना अन्येन पृष्ट भो वानर ! किमेवंविधाक्रिया करोषि ! तदा स प्राह—यत्र तत्र मुख न प्रक्षिप्यते, सरलदृष्टमार्गेण चलनीयम् । उक्त च तेन—

जीवज्जीव जीवउं किमइ आंबइ हाथ न लाउं किमइ जीवज्जीव ।
जीवइ ईम छोत्तरि हाथि जीवाहिं वानीम ॥१॥

इति वानर अनइ वींछी खाधउ इति ऊखाणा कथा ॥३००॥

[301] अथ कर्णसम्बन्धः ।

नगरे भीमभूपस्य पत्नी पद्मिनी सगर्भा ज्योतिष्कक प्रति जगौ । वय पुत्रो जातो यस्मिन्

क्षणे स्यात् स क्षण कथ्यताम् । ततो ज्योतिष्कको जगौ । उच्चपरमोच्चग्रहसम्बन्ध ज्योतिष्ककोक्तक्षणे तथौषधग्रहणात् पुत्रो जनित कर्णभरणे निर्गत । ततस्तस्य कर्ण इति नाम दत्तो । तस्मिन् जनिते सुते सूतरोगेण मृता माता क्रमाद्वर्धमाने तस्मिन् राज्यभार न्यस्य राजापि मृत । तदा उज्जयिन्यां भोजो राजा द्वाभ्यां दानस्पर्द्धा क्रियते । ततस्ताभ्यां मिथो ज्ञापित य एकस्मिन् दिने सपूर्ण प्रासाद कारयिष्यति तेन जित ततः कर्णेन यामचतुष्केण सपूर्णः प्रासाद कारित । तस्मिन् लिङ्गमपि स्थापित भोजेन । ततस्तस्य प्रासादस्य कर्णमेरुरिति नाम जातम् ।

इति कर्णसम्बन्ध ॥३०१॥

[302] अथ मरणसमये वृद्धभोजसम्बन्धः ।

वृद्धभोजेन म्रियता स्वसेवकस्य प्रोक्त मया पुण्य न कृत तेन कृपाणस्याग्रे मम कृष्ण हस्त कृत्वा स्थाप्य । यदा लोका पृच्छन्ति तदा प्रोक्तव्य । राज्ञा प्रोक्त क्रियमाणमस्ति । ततो वृद्धभोजसेवकैर्लोकप्रबोधाय धर्म कृष्णो हस्तो भोजस्य दर्शित । लोका भोजस्य मरणचेष्टित श्रुत्वा दानिनो जाता । इति मरणसमये वृद्धभोजसम्बन्ध ॥३०२॥

[303] अथ वस्तुपालमन्त्रिण १२ यात्राशकुनकथा ।

वस्तुपालमन्त्रीशस्य प्रथमयात्रायां चलत आदौ दुर्गा विपरीता जाता । यदा मन्त्री स्थित-स्तदा सारवकोऽवग्—चल्यतां मन्त्रीश ! १२ यात्रा भविष्यन्ति । मन्त्री कथमेव ज्ञायते । सोऽवग् यस्मिन्नावासे उपविश्य दुर्गा रव चकार । तस्य निष्पद्यमानस्य १२ स्थरा निष्पन्ना दृश्यन्ते, अत उच्यते मया । ततो मन्त्री तां शकुन ज्ञात्वा चचाल । तत १२ यात्रा अभूवन्× त्रयोदश्यां यात्रायां अद्धमार्गे उत्पन्नज्वरस्य अङ्के (ङ्क) वालकग्रामे स्वर्गगमन मन्त्रिणोऽजनि ।

इति वस्तुपालमन्त्रिण १२ यात्राशकुनकथा ॥३०३॥

[304] अथ शत्रुञ्जयतीर्थप्रभावे शूरकथा ।

कलापकपुरे मदनभूपते पत्नी प्रेमवती पुत्र शूर स च उत्कटः । एकदा राजा पुरोद्याने गत । तत्रैका श्वेताम्बरधरा नारी प्राह—भो भूप ! अहं यदि तव पत्नी स्यां तदा तव राज्यं वर्धते । राजा जगौ आगच्छ, पत्नी भव । तत साऽवग्—त्वं गृहे गच्छ अहं तव पृष्ठौ आगमिष्यामि । ततो राजा गृहे गत ।

इतो कस्माद्वैरिचक्रेणागत्य पुर वेष्टित । राजोत्थाय युद्ध कर्तुं लग्न । ततो महद्बल वीक्ष्य पुरमध्ये भूप प्रविष्टो दध्यौ । वैरिसेना तु महती तत्र किं करिष्यते ! अहं तथा स्त्रिया वाहित शब्दच्छलात् तव राज्य वर्धते वर्धते च । वर्धन विध्यापन च कथ्यते । कोपो

× इत्येतद् C सञ्ज्ञकप्रतौ नोपलभ्यते ।

वर्ध्यतां दीप क्षय नीयताम् । अतो राज्य गतम् । सा स्त्री दरिद्रिणी यदि साम्प्रतं नश्यते तदा वरम् । जीवन्नरो भद्राणि लभते । एव विमृश्य राजा पत्नी पुत्रयुतः किंचिद्धनं लात्वा छन्न रात्रौ पुरान्निर्ययौ । पथि गच्छतो भूपस्य धन भिल्लैर्लुंटितम् । क्रमाद्धनाभावात्परिवारो गत । ततो राजा पत्नीपुत्रयुत पादचारी जातः । पदेषु कण्टका भज्यन्ते । रुधिरं निर्गच्छति । क्रमात्तृषा लग्ना । ततो राजा दूरं गत्वा पानीयमानीय पत्नीपुत्रौ पायितौ । फलाहारं कुर्वाणो राजा पद्मपुरे गतः । तत्र राजानं सेवते स्म । किमपि न लभते । ततः काष्ठेन्धनतृणादि वनादानीय विक्रीय च स्वोदरं बभार भूपः सकुटुम्बः एवं तस्याब्दाष्टक गतम् ।

इतोऽन्यदा कयाचिद्देवतया तत्पुण्यप्रेरितयाऽभ्येत्य प्रोक्तम् । गच्छ स्वपुरे । तत्र छन्नं स्थेयं वैरी अपुत्रको मरिष्यते । तव राज्यं भविष्यति । ततस्तेन देव्योक्ते कृते वैरिणि मृते राजा बभूव । मदनः क्रमाद्राजा । मदनः पुत्राय राज्यं वितीर्य परलोकमसाधयत् । स शूरराजा कुसंसर्गादिनं प्रति [प्रतिदिन] बहून्पशून् हन्ति । सचिवैः प्रोक्तं—ईदृशी जीवहिंसा न क्रियते नरकहेतुका । ततो न शूररतस्थौ तस्मात्पापात् । ततस्तीर्थध्वंसं चकार । एवं पापपरः शूरः कुष्ठी जातः । अनेकैर्वैद्यैश्चिकित्सितो रोगो न गतः । ततो गङ्गागयादितीर्थेषु स्नानानि चकार । राजा [ज्ञः] तथापि न गुणोऽभूत् । ततोऽतीवजातार्त्तिः सचिवान्प्रति प्राह—अहं जीवितुं न शक्नोमि । काष्ठभक्षणेन देहं त्यक्ष्यामीति । ततो मन्त्रिणो जगु । काष्ठभक्षणात्कृतकर्मणो न छुट्यते । ततो यदा राजा काष्ठभक्षणायाचालत्तदा तत्राकस्मात् ज्ञानी समागात् । ततस्तं गुरुं भूपोऽप्राक्षीत् मम कथं रोगोपशमो भविष्यति ? ततो ज्ञानी जगौ । शत्रुञ्जये गम्यते । तत्र चन्द्रकुण्डे स्नानं कृत्वा श्री ऋषभदेवस्य पूजा क्रियते । रूप्य षष्टानि, एकमष्टमं च । राजादन्या अध स्थितया मृत्तिकयाङ्ग रक्ष्यते २१ दिनानि यावत्, तदा रोगो याति तव । ततो ज्ञान्युक्ते कृते राज्ञो रोगो गतः । ततो राजा महान्तं तत्र प्रासादं कारयामास । तत्र ऋषभस्य प्रतिमामस्थापयत् । श्री शत्रुञ्जये यात्रा विस्तराच्चकार । ततः शूरः स्व सुतं राज्ये न्यस्य शत्रुञ्जये गत्वा तपस्या लात्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ ।

इति शत्रुञ्जयतीर्थप्रभावे शूरकथा ॥ ३०४ ॥

[305] अथ भाग्ये चन्द्रकथा ।

चन्द्रपुरे चन्द्रो वणिग् दुःस्थोन्यदा नदीतटे गतः । तत्राकस्मान्नदीतटं पपात । तत्र निधिं प्राप । ततोऽन्यदा भूपपार्श्वे भूमिं मार्गयित्वा आवासं कारयितु चन्द्रो लग्न । तदा तत्र भूमि खनयतस्तस्य कोटिमितं धनं निर्गतं । तद्राज्ञो दर्शितं चन्द्रेण । राजाऽवग्—मया तु भूरिय तुभ्य दत्ता । ततोऽधुना तव पुण्याद्धन निर्गतं । ततस्त्वमेव गृहाण । ततश्चन्द्र सर्वज्ञप्रासादान् धर्मशालाश्च भूरिश कारयामास सप्तक्षेत्र्यां लक्ष्मीं व्ययति स्म । चन्द्रः स्वर्गं गतः क्रमात्सेत्स्यति । इति भाग्ये चन्द्रकथा ॥३०५॥

[306] अथ मेघवातसंवादसम्बन्धः ।

एकदा मेघवातौ मिथो जल्पत स्मेति । मेघोऽवग्—अहमेव लोक जीवयामि वारिदानात् ।

वायुराचष्टे—त्वया किं ज्ञायते यद्यहं वर्षे न वामि, तदा तव पुष्ट्योत्पादितं धान्यं विनक्ष्यत्येव, तेनाहमेव जगज्जीवयामि । अहमेव यावल्लोकानां शरीरे तिष्ठामि तावल्लोका जीवन्ति यदाऽहं गतः तदा स मृत एव ।

मेघोऽवग्—मत्कृत्य पश्य । ततोऽवसरेऽवसरे विलोक्यमानस्तथा मेघो ववर्ष यथा लोकानां शस्यमुद्गा कणभवन यावद्वर्द्धित । इतोऽकस्माद्वातस्तथा वाति स्म यथा सर्वं शुष्कमेकस्मिन् वर्षे मेघा वृष्टा नैव, तदा लोकैर्धान्यमुममपि न । ततो लोकैरुक्त—भो मेघवातौ ! युवामेकीभूय जगज्जीवयथो नो चेन्मरिष्यति जगत् । ततो वातमेघौ प्रीतिभाजौ तथा चक्रतुः यथा बहु सस्य जात । लोका अन्ये जीवा अपि यथा सुखिनोऽभूवन् ।

इति मेघवातसंवादसम्बन्धः ॥३०६॥

[307] अथ निःस्वत्वानिःस्वत्वयोर्वीरकथा ।

एकपुरे देवदश्रेष्ठिना धनश्रीराह्वो द्वौ पुत्रौ धीमनौ भीम यद्व पुत्रौ बभूवतु । सव परिणायिता श्रेष्ठी परलोक ययौ । द्वौ सोदरौ पृथग्जातौ । क्रमादेको धनी अन्यो दुःस्थोऽजनि ।

एकोदरसमुत्पन्ना, एकनक्षत्रजातकाः ।
न भवन्ति समा शीला, यथा बदरीकण्टका ॥१॥

यथा सोदर्या मिलनाय यातः तत्र वृद्धस्य भ्रातु लक्ष्मीत्वात्सोदर्यौ भक्तिं चक्रतु लघोस्तु निःस्वस्य न । एकदा लघुभ्राता लक्ष्म्यर्थं कस्यचित्सार्थस्य सार्थं विदेश प्रति चचाल । मार्गे भगिनीपुर समागात् सरःपालौ सार्थ स्थित ।

इतो वीरभगिनी जलाय सरसि समागात् तया भ्राता जीर्णत्रुटिताम्बरो निःस्वो दृष्टः, तदा भगिनी भ्रातुः सम्मुखमपि न व्यलोकयत्स्ववान् । वीरो दध्यौ भगिन्यादिकः सर्व श्रिय मन्यते न भ्रातर । ततोऽग्रे चचाल कर्मयोगाद्बह्वा श्रियमनयित्वा पश्चादागच्छन् तस्यैव सरसः पालौ स्थित । भ्रातरमर्जितबहुधन श्रुत्वा तत्रागत्य भगिनी जगौ—सोदर ! गृहे आगच्छ । ततो वीरो भगिनीगृहे गत । भगिन्या बया रसवती कृता । स्नानादि कारितं वय । भाजन मण्डित जेमनायोपविष्टः । भगिन्या पक्वान्नादि परिवेषित यदा तदा वीरो वरकुण्डलरत्नमुद्रिकाभरणानि भाजने मुमोच । प्राह च—भो कुण्डलकेयूरमुद्रिकाः ! पक्वान्न भक्षयत । एव पुन पुनर्जल्पति सोदरे भगिनी प्राह—भ्रातरेव किं पुनः पुन जल्प्यते । भ्राता प्राह—भगिनि ! इद मोदकादि सर्व कुण्डलकेयूरप्रभृतिविभूषणवस्तुधनानां परिवेषित विद्यते । मम परिवेषित नास्ति किन्तु श्रिया कुण्डलादिरूपाया । यदाऽहमभवत्स्खलितस्तदा त्वया सन्मुखमपि न वीक्षितं मयि निर्धनत्वादधुना सधनत्वादेव भक्तिः क्रियते मम अतोऽहमेव जल्पामि मुद्रिकादीनां पुर । ततो भगिनी भ्रातर क्षमयामास । अहं मुग्धा त्वमेव धन्यः । ततो भ्रात्रा

सर्वमाभरणादि भगिन्यै ददौ । ततो जिमित्वा वीरोऽवग्—लोके धनमेव, न भ्रात्रादयः ।

इति निःस्वत्वानिःस्वत्वयोर्वीरकथा ॥३०७॥

[308] अथ यशोदाने याचकसम्बन्धः ।

हेमपुरे एकः क्षत्रियो याचको भूत्वा सोमं धनिनं घोटिकादि याचनाय गतो विरुदावलीमिति जगाद—

वैरिकुम्भिकेसरि ! त्वं वैरविजित्वर ! त्व ।
दानजितार्जुनकर्ण ! त्वं सत्येन युधिष्ठिर ! त्वम् ॥

एतत् श्रुत्वा तेन घोटको दत्तस्तस्मै । इतोऽन्येद्युस्तस्य धनिनः पुरः एकः समागतो जगौ—

"यथाऽन्ये दानं ददते तथा त्वं कथं दत्से त्वं गृहशूरः"

इत्यादि श्रुत्वा तस्मै गालिं ददौ ।

इति यशोदाने याचकसम्बन्धः ॥३०८॥

[309] अथ जिनप्रभसूरिभिः पीरोजसुरत्राणः प्रतिबोधित इति सम्बन्धः ।

ढिल्या श्रीविजयसिंहसूरय आगताः। श्राद्धा धर्मं श्रुत्वा प्रोचुः। पीजनकसुरत्राणो म्लेच्छोऽनेकान् जिनप्रासादान पातयन् केनापि निषिद्धु न शक्यते । ततो गुरुभि ध्यात यदि केपि देव आराध्यते तदा सुरत्राणमनुकूली करोमि तथा यथा प्रासादान् न पातयति ।

इतो धर्मोपदेशावसरे गुरुभिः प्रोक्तं प्रासादा कार्यन्ते मुक्तिहेतुत्वात् । श्राद्धैरुक्तं—अग्रेतना पात्यमानाः सन्ति यवनैर्नवीनाः कथ कार्यन्ते ? यदि वः शक्ति स्यात्तदा रक्ष्यन्तां प्रासादाः । गुरुभिः प्रोक्तं—यदि प[पा]ण्मासीं यावत्पद्मावतीध्यानं क्रियते तत्र ध्यानं कुर्वतो यस्य साधुभिर्विह्वत्यानीतमन्न पद्मिनी परिवेषयति । सा पार्श्वे अहोरात्रौ तिष्ठति । तस्य चेद्ध्यानं निश्चलं भवति मनोऽपि न चलति तदा पद्मावती स्मृता सती सदा चिन्तितं करोति । श्राद्धैरुक्तं—यद्विलोकयिष्यते तदस्माभिरानेष्यते । ततो गुरुभिर्मानिते पद्मिनी स्त्री आनीता । गुरुभि [पा]पण्मासीं यावन्निश्चल ध्यानं कृतम् । पद्मावती प्रत्यक्षाऽभूत् यदा तदा गुरवो न जल्पन्ति । तत पद्मावती प्राह—भगवन् ! कथ न जल्प्यते, प्रसन्नीभूय जल्प, ममापराधं क्षमस्व । त्वया यदा ध्यानमारब्ध तदाऽहं प्रभोः पार्श्वे समागा परं जल्पितुं न शक्ताऽभूवं कारणात् । गुरु प्राह—किं कारण पद्मावत्याह-श्रीपूज्यपादबलात् ध्यानादहं समागता परं स्तोकमायुर्दृष्ट्वा विमर्शे पतिताऽहं । गुरुराह—मम कियदायुरस्ति ? पद्मावत्यवग्—षाण्मासीमेव । गुरवो जगुः—आयुर्वर्धते न तथापि तथा कुरु यथा मम ध्यानं सफल भवति । पद्मावती जगौ—तव शिष्यस्याहं प्रत्यक्षा भविष्यामि । गुरु प्राह—को योग्यो यस्य प्रत्यक्षा भवसि । पद्मा प्राह—गच्छमध्ये

न दृश्यते शिष्यः । गुरुः प्राह—अन्यत्र यो मम पट्टयोग्यः स्यात्तस्य [स्मै] दीयते । पद्माऽवग्—

गलिककोटकपुरे जिनदत्तश्रेष्ठिनः सप्त पुत्राः सन्ति । तेषां सप्तमो भूमिगृहे वर्धमानोऽस्ति लघीयान् । गुरवो जगुः—परं स दूरो लघीयान् मुग्धः । पद्माऽवग्—दूरेऽपि स्थितः आसन्नो भविष्यति । ततः पद्मावत्या गुरवः शीघ्रं तत्र नीताः । उपदेशः श्रेष्ठिनो दत्तः । श्रेष्ठी जगौ किं कार्यं गुरवो जगुः—यः सप्तमः पुत्रस्तवास्ति स दीयतां । श्रेष्ठी जगौ पद्मावत्या जल्पितं भवतः सप्तमो मम पट्टे सूरिर्भविष्यति । ततः श्रेष्ठिनार्पितः गुरवस्तं लात्वा पश्चादागताः स दीक्षितस्तस्य सूरिमन्त्रो[न्त्रं] ददे । पद्मावत्या स्वा विद्या ददे प्रोक्तं च—यदा सर्व कार्य स्यात्तदा ऽहं स्मरणीया । जिनप्रभसूरिनामाऽजनि । गुरवः स्वर्गं जग्मुः । पद्मावतीसान्निध्याद्यन्मनसि चिन्तयति तत्सिध्यति । क्रमात्सम्पूर्णविद्यावान् जातः ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयो राजमार्गे पीरोजसुरत्राणप्रधानेन वन्दिताः । तत्र सुरत्राणेन गवाक्षस्थेन दृष्टं । गुरवः आकारिताः पृष्टं च भूपेन । भवद्भिः किं ज्ञायतेऽतीतानागतादि तदा गुरुभिः प्रोक्तं—ज्ञायते किमपि न तथापि किमपि ज्ञायते । ततो राज्ञाऽन्यदा स्वमुद्रिका छन्नं चित्रशालायां स्तम्भमध्ये तथा क्षेपिता यथा कोऽपि न जानाति । ततो गुरवः पृष्टाः—मम मुद्रिका क्वास्ति ? ततो गुरुणा तृणवृश्चिकः कृतः उक्तं यत्र सुरत्राणमुद्रिकाऽस्ति तत्र गच्छ । मुद्रिकां प्रकटीकुरु । ततो वृश्चिकोऽपरवृश्चिकवच्चलन् स्तम्भे चटित्वा मदनमपसार्य मुद्रिकां प्रकटीचकार । ततोऽवग् राजा चौरं वञ्चय । ततः स राजपार्श्वं गतः । ततो राजा चमत्कृतः राजा यद्यत्पृच्छति तत्तत्पद्मावत्याः सान्निध्यात्कथयति । सुरत्राणोऽवग्—मार्गय वाञ्छितं । गुरुभिः प्रोक्तं—अद्यप्रभृति जिनप्रासादा न पातयितव्याः । ततः सुरत्राणोऽवग्—ये पातितास्ते पातिताः अतः परं न पातयिष्यन्ते । श्रीजिनप्रभसूरिभिः सुरत्राण शत्रुञ्जये यात्रा कारिता एवं गुरुनामवशाता बहवोऽभूवन् ।

इति जिनप्रभसूरिभिः सुरत्राणः प्रतिबोधितः इति सम्बन्धः ॥३०९॥

[310] अथ स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ।

एको वणिक् क्रयाणकैः शकटं भृत्वा पुरं प्रत्यव्रजन् मार्गे शुल्किको मिलितः । तेन पृष्टं—किमस्ति शकटे ?

वणिक्प्राह—सेरोसेरा । शुल्किनोक्तं—लिखितं पुनः पृष्टं किमस्ति ?

तेनोक्तं—हलूपेलु ! इति वक्ते बहुशो यद्व्यग्रत्वेन तिष्ठति शुल्की तदा स रूपकत्रयं हस्ते मुमोच न पुनर्वस्तुनो नाम जगौ मुग्धो ।

इति स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ॥३१०॥

[311] अथ मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ।

कस्या अपि विधवायाः पुत्रो व्यवसायं कुर्वन्नेकस्यापि कार्यस्य पारं सन्ध्यायामपि न

याति । कार्याणि बहूनि आरभते न कस्य पारं गृह्णाति । ततो विचाले कार्याणि मुञ्चति । एकदा मात्रोक्तं—पुत्र ! तव पिता यत्कार्यं कर्त्तुमारब्धवान् तस्य पारं नीत्वैवामुञ्चत् । एतन्मातुर्वचनं श्रुत्वा एकदा भाद्रमासमत्तशंडस्य क्षेत्रे प्रविष्टस्य हक्कयितुं धावितः, पुच्छे विलग्नः स शण्डः क्षेत्रमध्ये इतस्ततस्त्वरितं त्वरितं धावति । मातुर्वचः स्मरन् शण्डस्य पुच्छं यदा नामुञ्चत् तदा लोकैरुक्तं—मुञ्च शण्डपुच्छं नो चेत् यमसद्मानि यास्यसि । तेषामग्रे प्राह स मम पिता समारब्ध कार्यं कदापि नामुञ्चत । अहमपि पितृवत्कार्यं कुर्वाणोऽस्मि, एवं जल्पन् स मृतः । माता दुःखिनी जाता ।

इति मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ॥ ३११ ॥

[312] अथ कातरत्वे तम्बोलिककथा ।

एकदा तम्बोलिकगृहे गृहोलिका निरगात् तदा श्रेष्ठः तम्बोलिको बिभ्यन् बहिः कर्षयितुं न शशाक । स वधू प्रति प्राह—गच्छ चतुःपथे कंचन पुरुषं चतुःपथादाकारय । यथा स एतां बहिः कर्षयति, सा च श्वसुर वचोऽङ्गीकृत्य चतुःपथे गता लज्जया कमपि पुरुषमाकारयितुं न शशाक । ततः पश्चादागात् । तम्बोलिकोऽवग्—कोऽपि पुरुषो नाकारितः । सा प्राह—भा भा भा भा त्वमपि पुरुषोऽसि । ततस्तेनोक्तं—वधु ! वरं प्रोक्तं अहमपि पुरुषोऽस्मि परं कातरत्वात्स्त्रीलक्षणोऽस्मि । ततो वध्वोक्तं—भा भा भा भा सत्यं प्रोक्तं, एवं जल्पतोस्तद्योर्गृहोलिका गृहाद्बहिर्निर्गता यदा ताभ्यामुक्तं वरं जातं । गृहोलिका स्वयमेवात्मनो भाग्याद्गृहाद्बहिर्निर्ययौ । इति कातरत्वे तम्बोलिककथा ॥३१२॥

[313] अथ पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ।

कस्मिंश्चिद्देवाकूले धनश्रेष्ठी धर्ममूर्त्तिर्धर्मं करोति, दानं दत्ते । अन्यदा श्रेष्ठी चतुःपथे गतः तदा तत्र मज्जिपत्राह्निकानि विक्रेतुमानीतानि सन्ति । तदा सप्ताष्ट त्राह्निकानि लात्वा व्यवहारिणो गताः । त्रीणि त्राह्निकानि स्थितानि तेषां कोऽपि लाता न । ततो धनस्तान्यपि लात्वा गृहे समागात् । रात्रौ सुप्तो धनः । कोऽप्यागत्य स्वप्नेऽवदत्तस्य यानि त्राह्निकानि त्वया गृहीतानि तानि विलोक्यैव विक्रेतव्यानि । तव गृहे कल्पद्रुमाः समागताः । ततो जागरितस्तेषु रत्नपञ्चकं दृष्ट्वा स धर्ममूर्त्तिस्त्राह्निकदातृपार्श्वे गत्वा प्राह—भवद्भिः सत्यं प्रोच्यतां । कुत्र गृहीतानि त्राह्निकानि । तैरुक्तं—स्तेनोपान्ते । ततस्तेन चिन्तितम्—एतद्धनं धर्मे एव मया व्ययितव्यं ततस्तद्धनं सर्वं परकीयमिति वदन् जिनप्रासादान् कारयामास । ततस्तेन पापानुबन्धि धनं धर्मानुबन्धि कृतं ।

इति पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ॥३१३॥

[314] अथ स्वकौशल्यदर्शने जिनप्रभसूरिकथा ।

गुरुपार्श्वे अद्य मम शुद्ध आहारो दातव्यः । ततः श्रीगुरुभिः शुद्धाहारेण श्रीजिनप्रभसूरयो

न दृश्यते शिष्यः । गुरुः प्राह-अन्यत्र यो मम पट्टयोग्यः स्यात्तस्य [स्मै] दीयते । पद्माऽवग्--

गलिककोटकपुरे जिनदत्तश्रेष्ठिनः सप्त पुत्राः सन्ति । तेषां सप्तमो भूमिगृहे वर्धमानोऽस्ति लघीयान् । गुरवो जगुः-परं स दूरो लघीयान् मुग्धः । पद्माऽवग्—दूरेऽपि स्थितः आसन्नो भविष्यति । ततः पद्मावत्या गुरवः शीघ्रं तत्र नीताः । उपदेशः श्रेष्ठिनो दत्तः । श्रेष्ठी जगौ किं कार्यं गुरवो जगुः—यः सप्तमः पुत्रस्तवास्ति स दीयताम् । श्रेष्ठी जगौ पद्मावत्या जल्पितं भवतु सप्तमो मम पट्टे सूरिर्भविष्यति । ततः श्रेष्ठिनार्पितः गुरवस्तं नाम्ना पश्चादागताः स दीक्षितस्तस्य सूरिमन्त्रो[त्रं] ददे । पद्मावत्या विद्या दत्ते प्रोक्तं च—यदा तव कार्यं स्यात्तदाऽहं स्मरणीया । जिनप्रभसूरिनामाऽजनि । गुरवः स्वर्गं जग्मुः । पद्मावतीसान्निध्याद्यन्मनसि चिन्तयति तत्सिध्यति । क्रमात्सम्पूर्णविद्यावन्तो जाताः ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयो राजमार्गे पोरोजसुरत्राणप्रधानेन वन्दिताः । तच्च सुरत्राणेन गवाक्षस्थेन दृष्टम् । गुरवः आकारिताः पृष्टं च भूपेन । भवद्भिः किं ज्ञायतेऽतीतानागतादि तदा गुरुभिः प्रोक्तं-ज्ञायते किमपि न तथापि किमपि ज्ञायते । ततो राज्ञाऽन्यदा स्वमुद्रिका छन्नं चित्रशालायां स्तम्भमध्ये तथा क्षेपिता यथा कोऽपि न जानाति । ततो गुरवः पृष्टाः—मम मुद्रिका क्वास्ति ? ततो गुरुणा तृणवृश्चिकः कृतः उक्तं यत्र सुरत्राणमुद्रिकाऽस्ति तत्र गच्छ । मुद्रिकां प्रकटीकुरु । ततो वृश्चिकोऽपरवृश्चिकशतचलन् स्तम्भे पतित्वा मदनमपसार्य मुद्रिकां प्रकटीचकार । ततोऽवग् राजा चौरं ज्ञय । ततः स राजपार्श्वं गतः । ततो राजा चमत्कृतः राजा यद्यत्पृच्छति तत्तत्पद्मावत्याः सान्निध्यात्कथयति । सुरत्राणोऽवग्—मार्गय वाञ्छितम् । गुरुभिः प्रोक्तं-अद्यप्रभृति जिनप्रासादा न पातयितव्याः । ततः सुरत्राणोऽवग् -ये पातितास्ते पातिताः अतः परं न पातयिष्यन्ते । श्रीजिनप्रभसूरिभिः सुरत्राणं शत्रुञ्जये यात्रां कारितः एवं गुरूणामवदाता बहवोऽभूवन् ।

इति जिनप्रभसूरिभिः सुरत्राणः प्रतिबोधित इति सम्बन्धः ॥३०९॥

[310] अथ स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ।

एको वणिक् क्रयाणकैः शकटं भृत्वा पुरं प्रत्यचलत् मार्गे शुल्किको मिलितः । तेन पृष्टं—किमस्ति शकटे ?

वणिक्प्राह—खेरोखेरा । शुल्किनोक्तं—लिखितं पुनः पृष्टं किमस्ति ?

तेनोक्तं—वलूपेलु ! इति उक्ते बहुशो यदा पृच्छन् तिष्ठति शुल्की तदा स रूपकत्रयं हस्ते मुमोच न पुनर्वस्तुनो नाम जगौ श्रेष्ठी ।

इति स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ॥३१०॥

[311] अथ मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ।

कस्या अपि विधवायाः पुत्रो व्यवसायं कुर्वन्नेकस्यापि कार्यस्य पारं सन्ध्यायामपि न

याति । कार्याणि बहूनि आरभते न कस्य पारं गृह्णाति । ततो विचाले कार्याणि मुञ्चति । एकदा मात्रोक्तं—पुत्र ! तव पिता यत्कार्यं कर्तुमारब्धवान् तस्य पारं नीत्वैवामुञ्चत् । एतन्मातुर्वचनं श्रुत्वा एकदा भाद्रमासमत्तशण्डस्य क्षेत्रे प्रविष्टस्य हक्कयितुं धावितः, पुच्छे विलग्नः स शण्डः क्षेत्रमध्ये इतस्ततस्त्वरितं त्वरित धावति । मातुर्वचः स्मरन् शण्डस्य पुच्छं यदा नामुञ्चत् तदा लोकैरुक्तं—मुञ्च शण्डपुच्छं नो चेत् यमसद्मनि यास्यसि । तेषामग्रे प्राह स मम पिता समारब्ध कार्यं कदापि नामुञ्चत् । अहमपि पितृवत्कार्यं कुर्वाणोऽस्मि, एव जल्पन् स मृतः । माता दुःखिनी जाता ।

इति मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ॥ ३११ ॥

[312] अथ कातरत्वे तम्बोलिककथा ।

एकदा तम्बोलिकगृहे गृहोलिका निरगात् तदा श्रेष्ठः तम्बोलिको बिभ्यन् बहि कर्षयितु न शशाक । स वधू प्रति प्राह—गच्छ चतुःपथे कंचन पुरुषं चतुःपथादाकारय । यथा स एता बहिः कर्षयति, सा च श्वसुर वचोऽङ्गीकृत्य चतुःपथे गता लज्जया कमपि पुरुषमाकारयितु न शशाक । तत पश्चादागात् । तम्बोलिकोऽवग्—कोऽपि पुरुषो नाकारितः । सा प्राह—भा भा भा भा त्वमपि पुरुषोऽसि । ततस्तेनोक्तं—वधु ! वर प्रोक्त अहमपि पुरुषोऽस्मि पर कातरत्वात्स्त्रीलक्षणोऽस्मि । ततो वध्वोक्त—भा भा भा भा सत्यं प्रोक्तं, एव जल्पतोस्तद् योगैर्गृहोलिका गृहाद्बहिर्निर्गता यदा ताभ्यामुक्तं वर जातं । गृहोलिका स्वयमेवात्मनो भाग्याद्गृहाद्बहिर्निर्ययौ । इति कातरत्वे तम्बोलिककथा ॥३१२॥

[313] अथ पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ।

कस्मिंश्चिद्देवाकूले धनश्रेष्ठी धर्ममूर्त्तिर्धर्मं करोति, दान दत्ते । अन्यदा श्रेष्ठी चतुःपथे गत, तदा तत्र मञ्जिष्ठत्राहिकानि विक्रेतुमानीतानि सन्ति । तदा सप्राष्ट त्राहिकानि लात्वा व्यवहारिणो गता. । त्रीणि त्राहिकानि स्थितानि तेषा कोऽपि लाता न । ततो धनस्तान्यपि लात्वा गृहे समागात् । रात्रौ सुप्तो धनः । कोऽप्यागत्य स्वप्नेऽवदत्तस्य यानि त्राहिकानि त्वया गृहीतानि तानि विलोक्यैव विक्रेतव्यानि । तव गृहे कल्पद्रुमाः समागताः । ततो जागरितस्तेषु रत्नपञ्चक दृष्ट्वा स धर्ममूर्त्तिस्त्राहिकदातृपार्श्वे गत्वा प्राह—भवद्भिः सत्य प्रोच्यता । कुत्र गृहीतानि त्राहिकानि । तैरुक्त—स्तेनोपान्ते । ततस्तेन चिन्तितम्—एतद्धन धर्मे एव मया व्ययितव्य ततस्तद्धन सर्वं परकीयमिति वदन् जिनप्रासादान् कारयामास । ततस्तेन पापानुबन्धि धनं धर्मानुबन्धि कृत ।

इति पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ॥३१३॥

[314] अथ स्वकौशल्यदर्शने जिनप्रभसूरिकथा ।

गुरुपार्श्वे अद्य मम शुद्ध आहारो दातव्यः । ततः श्रीगुरुभिः शुद्धाहारेण श्रीजिनप्रभसूरयो

गौरविता वासकं स्थिता । प्रातः प्रतिलेखनावेलायां प्रतिलेखनां भाणयित्वा सर्वे साधवः प्रशाक्किका यतनयोचाय प्रतिलेखनां कर्त्तुमुपविष्टा, तदा तादृशीं सामाचारीं दृष्ट्वा जिनप्रभसूरयो जगुः । धर्मोऽधुनाऽत्र विजयते । तदा एकस्य यतेर्गुच्छकादिवस्त्राणि आखुना भक्षितानि । तेन साधुना गुरुणा (मग्र) तानि (दर्शितानि) ततश्चमत्कारार्थं श्रीजिनप्रभसूरिभिः प्रोक्तम्— शालास्थैरुन्दरैः सर्वैरत्रागम्यम् । ततः क्षणात्सर्वे उन्दरा आगताः समुखहस्तौ याजयित्वा स्थिताः । गुरुभिः प्रोक्तम्—यैः साधुशिक्किका भक्षिता तेऽत्र तिष्ठन्तु अन्ये न तिष्ठन्तु । अद्यप्रभृति अन्यायो न कार्यः । ततस्तेऽपि सर्वेषां साधूनां पदेषु पतित्वा स्वस्थाने गताः ।

इति स्वकौशल्यदर्शने जिनप्रभसूरिकथा ॥३१४॥

[315] अथ भक्त्यभक्तिविषये भ्रातृद्वयकथा ।

श्रीपुरात् द्वौ सोदरौ श्रियै निर्गतौ । कस्मिंश्चिद्ग्रामोपान्ते कस्यचित् सिद्धपुरुषस्य पार्श्वे तुम्बकबीजानि प्राप्य तेषां माहात्म्यं पप्रच्छतुः । तेन शुद्धनरेण प्रोक्तम्—क्षेत्रं शतवारं कृष्यते बीजानि तत्र पुष्यार्के रोप्यन्ते तेषां तुम्बकानां फलानि पत्राणि छायायां शुष्यन्ते । ततश्चूर्णं क्रियते । नवं वह्निना क्षारं क्रियते । ६४ गद्याणकताम्रमध्ये एकगद्याणकं क्षिप्यते स्वर्णं भवति । ततस्तौ तानि लात्वा गृहे आगतौ वृद्धेन भ्रात्रा शुद्धपुरुषोक्तविधिना भक्तिपूर्वकं शुद्धपुरुषनामस्मरणपूर्वकं स्वर्णं कृतं । लघुभ्राता अवहीलनपूर्वं ९९ वारकर्षितक्षेत्रे शुद्धपुरुषोक्तविधिना रूप्यं चकार । बीजानि तु रक्षितवान्, वृद्धभ्राता तु तानि रक्षितबीजानि पुनरुप्त्वा स्वर्णं चक्रे । ततो यावज्जीवं सुखी जातः । लघुभ्राता तु एकवारं रूप्यं कृत्वा तच्च भक्षित्वा दरिद्रो जातो दुःखी च । एवं च गुरूक्तं बहु मन्यते स सुखी स्याद् वृद्धभ्रातृवत् । यस्तु गुरूक्तमवमन्यते स लघुभ्रातृवद् दुःखी भवति । इति भक्त्यभक्तिविषये भ्रातृद्वयकथा ॥३१५॥

[316] अथ साधुशकुने मित्रद्वयकथा ।

द्वौ सुहृदौ मार्गे चलितौ । वर्त्मनि साधू मिलितौ । वृद्धेन साधू वन्दितौ । लघुना तु हसितौ साधू । ततोऽग्रे गच्छतो वृद्धस्य श्रीपुरे अपुत्रमृतभूपस्य राज्यमभूत् । अपरस्य ज्वरश्चटितः । चिरं मोघं भुक्त्वा मृतः ।

इति साधुशकुने मित्रद्वयकथा ॥ ३१६ ॥

[317] अथ अवहेलनायां भरटककथा ।

एकस्मिन् ग्रामे भरटका वसति स्म । इत आसन्नग्रामे सोमकौटुम्बिकेन बहवो लोका जेमनायाकारिताः सन्ति । ततः पत्नी भरटकं पतिं प्रति प्राह—त्वं क्षेत्रे गच्छन्नसि । यदि कदाचित्तव जेमनायाकारणमागच्छति तदा क उत्तरो दीयते ? तेनोक्तम्—अस्य पापिनो गृहे को याति ! यदि कदाचिन्नायात्याकारणं तदा प्रोच्यम् । अस्मिन्नासन्नक्षेत्रे भरटकोऽस्ति । एव

प्रोच्य स क्षेत्रे गतः। इत आकारणं नायात। तत. सन्ध्यायां भरटक आगत.। पत्न्योक्त— भवत आकारण नायातं। भरटकोऽवग्—तस्य कृपणस्य गृहे को याति।

इति अवहेलनायां भरटककथा ॥३१७॥

[318] अथ श्रीविक्रमादित्ययात्राप्रबन्धः।

श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रतिबोधितस्य विक्रमादित्यस्य श्रीशत्रुञ्जयादितीर्थयात्राविस्तरोऽयम्—

श्रीसंघे चतुर्दश नृपाः मुकुटवर्धनाः, ७० लक्षा श्राद्धकुटुम्बानाम्। श्रीसिद्धसेनदिवाकरादय ५०० सूरीणां चलनम्। ६९ सौवर्णदेवालया.। एककोटि १० लक्षनवसहस्रमितानि शकटानाम्। १० लक्षतुरङ्गमा। षट्सप्ततिशतानि गजानाम्। एव करभादिसख्या ज्ञेया। तत्र तीर्थोद्धारश्चक्रे।

राजा क्रमाद्वत्सरावधि लोकमनृणीकृत्वा स्वनाम्ना सवत्सरं प्रावीवृतत्। हेमपुरुषद्वय जातमनेका उपकाराः कृता। इति श्रीविक्रमादित्ययात्राप्रबन्धः ॥३१८॥

[319] अथ सप्तक्षेत्रेषु आभूव्ययप्रबन्धः।

थिरापद्रे सघवी आभू श्रीश्रीमालज्ञातीय पश्चिममण्डलीकविरुदं वहन् बभूव। तथाहि—

कमलः श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं दातु थिरापद्रे भीमश्रेष्ठिन. पुत्राय गत। शकुनाभावाद्विवाहो नामिलत्। ततो यदा पश्चाद्वलते तावदेकेनोक्तम्—अस्य श्रेष्ठिनो भागिनेयो वर्योऽस्ति। ढौग्यते पुत्री स चाधुना कलहरीं कुर्वाणोऽस्ति यावत्तत्र याति श्रेष्ठी तावदेक पुमान् असौ श्रेष्ठिभागिनेयोऽभ्र यावद्विस्तरितोऽस्ति। सर्वेषामप्युच्चोऽस्ति श्रुत्वेति तेन तस्मै पुत्री दत्ता। आभूनाम जात। क्रमान्निधानप्राप्तिराजबहुमानादि वा यस्य यात्रायां ७०० देवालया द्वादशकोटिस्वर्णव्ययः प्रथमयात्रायां कृतः। ३ त्रिकोटिटङ्कै सरस्वतीभाण्डागारे वर्त्तमानसर्वागमप्रतिरेका, सौवर्णाक्षरा द्वितीया सर्ववर्त्तमानग्रन्थप्रतिर्मष्यक्षरमयी। ३६० आत्मसदृशा साधर्मिकाः कृता। सघे ७०० महिषाः पानीयानयनाय। ७०० आचार्यपदानि कारितानि। सूनेतरमाहृतग्रामयोः सारू। आरघाटमयौ प्रासादौ कारितौ। सस्तारकदीक्षावसरे कोटिद्रव्यव्यय कृत.। इति सप्तक्षेत्रेषु आभूप्रबन्धः ॥३१९॥

[320] अथ पेथडप्रबन्धः।

मण्डपदुर्गे सघपतिपेथडेन प्रथमयात्रायां १ लक्षा टङ्का रूप्यमयाना व्ययश्चक्रे। सघे ७ लक्ष मनुष्याणा देवालया ५२। मण्डपगढे जैनप्रासादशतत्रयोपरि स्वर्णमया कलशाः कारिता। श्रीधर्मघोषसूरीणा पेथडसघपतिना प्रवेशमहोत्सवे ७२ सहस्रव्यय कृत। भृगुकच्छे यो

भाण्डागारमलीलिखत्। ८४ प्रासादा कारिता । श्रीगिरनारमहातीर्थे युगपदेव श्वेताम्बरदिगम्बर श्रीसंघ प्राप्त । श्वेताम्बरदिगम्बराणां मिथः तीर्थविवादोऽजनि । सघपतिद्वयस्यापि मध्ये यः इन्द्रमालां परिधास्यति तस्य तीर्थमिदमिति । वृद्धचतुर्नोक्तौ पेथडसंघपतिना सुवर्णस्यैव ५६२१ धडीप्रमाणस्येन्द्रमाला परिधापनं चक्रे । तीर्थं च स्वकीयं कृत येन धर्मघोषसूरीणां पार्श्वे परिग्रहपरिमाणं पूर्वं गृहीत टङ्ककद्वयशतप्रमाणाभिग्रहे सति पुरुषभाग्य निःसामत्वमिति । श्रीगुरुवचनेन लक्षत्रयप्रमाणद्रव्याभिग्रहो गृहीत । ततोऽप्यधिकद्रव्यप्राप्तौ देवगुरुप्रासाद-मिति नाम दत्त । द्रव्ये तस्य सुतः झांझणदेव समजनि । तेन श्रीशत्रुञ्जयगिरिनारमहातीर्थ-योरेकैव ध्वजा पञ्चवर्णा स्वर्णरूप्यपट्टकूलादिमया दत्ता । तेन राजाधिराजस्य सारङ्गदेवस्य जेमनानन्तरं कर्पूरार्पणसमये द्विहस्त योजनप्रभृतिविधानं कारित । एकः प्रासादा देवगिरौ कारितस्तत्र अष्टौ काम्य षण्णवतिलक्षा ८४ सहस्रदोररज्जुपाषाणानामुपरि घटनार्थं एकलक्षटङ्का दीपवेले । इति पेथडप्रबन्ध ॥३२०॥

[321] अथ सम्प्रतिप्रबन्ध ।

सम्प्रतिभूपेन सपादकोटिजैनप्रतिमा कारिता । सपादलक्षजैनप्रासादा कारिता । सिन्धुदेशमध्ये मरोटग्रामे ९५ सहस्रप्रतिमा पित्तलमया अद्यापि सन्ति । ७०० दानशालाना[र्था] यन स्वकीया वण्ठा साधुसामाचारीं शिक्षयित्वा साधुवेषेण सर्वत्रदेशमध्ये प्रथम प्रेषिता पश्चात्स-त्यसाधवः प्रेषितास्तत्रानार्यदेशे। ३६ सहस्रनवीना प्रासादाः । अन्येऽन्यत्र बहवा जीर्णोद्धारा कारिताः । बहुविस्तरपूर्वं रथयात्रा । इति सम्प्रतिप्रबन्ध ॥३२१॥

[322] अथ कुमारपालप्रबन्ध ।

श्रीपत्तने श्रीकुमारपालेन पितुस्त्रिभुवनपालस्य प्रासाद कारित । ७२ देवकुलिकायुतः ४ प्रतिमा रत्नमयाः २४ प्रतिमा पित्तलस्वर्णमयाः, रूप्यमयाः १४ । १४ भारमया मुख्य-प्रासादे १२५ अङ्गुलप्रमाणारिष्टरत्नमयीप्रतिमा कारिता । तत्र द्रव्यव्यय ९६ लक्षमाण । सर्वत्र स्वर्णमया कलशाः । प्रासादे आम्बडमन्त्रिणा मङ्गलप्रदीपावसरे ३२ लक्षा दीनाराणां याचकेभ्यो दान दत्त । लक्षमध्ये दान न यस्य कुमारपालस्य ।

इति कुमारपालप्रबन्ध ॥३२२॥

[323] अथ वस्तुपालदानप्रबन्ध ।

तथा श्रीवस्तुपालेन हेममया लक्षटङ्का आरात्रिकावसरे दत्ता याचकेभ्य । वीजनावसरे सोमेश्वरेणोक्तमिद काव्यम्—

इच्छामि द्विसमन्विते सुरगणे कल्पद्रुमे स्थीयते,
पाताले पवमानभोजनजने कष्टं प्रन[ष्]टो बलिः

नीरागानगमन्मुनीन् सुरगवी चिन्तामणिः क्वाप्यगात्,
तस्मादर्थिकदर्थनां विपहतां श्रीवस्तुपालः क्षितौ ॥१॥

काव्यं श्रुत्वा लक्षं ददौ ॥३२३॥

[324] अथ प्रासादादिपुण्यकरणे हरिषेणचक्रिप्रबन्धः ।

एकदा हरिषेणचक्री धर्मघोषगुरोः पार्श्वे वन्दनार्थे गत, गुरुभिर्धर्मदेशना कृता । तथाहि—

जिणभवणबिंबपुत्थयसंघसरूवाइं सत्तखित्तेसु ।
ववीअं धणं पि जायइ, सिवफल इम हो अणंतगुणं ॥१॥

सर्वज्ञो हृदि वाचि तद्गुणगणः कायेन देशव्रतं,
धर्मे तत्परतापरः परिणतो बोधो बुधश्लाघ्यता ।
प्रीतिः साधुषु बन्धुता बुधजने जैने रतिः शासने,
यस्यैवं भवभेदको गुणगणः स श्रावकः पुण्यभाक् ॥२॥

श्रुत्वैतदुपदेशं चक्री प्राह—मया सर्वा भूर्जिनप्रासादमण्डिता कारयितव्या । ततो गृहमेत्य स्वसचिवादिप्रधानान् प्रति प्राह—कोशाद् द्रव्यं गृह्णन्तु ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे सर्वत्र प्रासादान् कारयत यूयं । विलम्बो न कार्यः । धर्मस्य त्वरिता गतिर्विलोक्यते । यत —

अवाप्य धर्मावसरं विवेकी, कुर्याद्विलम्बं न हि विस्तराय ।
ततो जिनस्तक्षशिलाधिपेन, रात्रिं व्यतिक्रम्य पुनर्न मेने ॥१॥

चक्रिण आदेश प्राप्य मुदिता मन्त्रिणो ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे प्रासादान् कारयामास । राजा तत्र स्वय गत्वा गुरूनाकार्य प्रतिष्ठादिकार्यं सर्वं विस्तरपूर्वं कारयामास । एवविधं पुण्यकृत्य कृत्वा प्रान्ते त्यक्तराज्यः चारित्रं केवलज्ञानं प्राप्य मुक्तिं ययौ ।

इति प्रासादिपुण्यकरणे हरिषेणचक्रिप्रबन्धः ॥३२४॥

[325] अथ रावणजिनप्रासादकरणम् ।

एकदा रावणो व्योम्नि गच्छन् पुरे पुरे तीर्थे तीर्थे प्रासादपंक्तिं वीक्ष्य पप्रच्छ । केनेयं मही जिनप्रासादसुन्दरा कारिता । मन्त्रिणोक्तं–सम्प्रतिचक्रिणा । ततस्तस्य चक्रिणो धर्मकृत्यानि श्रुत्वा रावणोऽपि बहून्प्रासादानर्हतां कारयामास ।

इति रावणजिनप्रासादकरणम् ॥३२५॥

[326] अथ विमलप्रबन्ध ।

प्राग्वाटवंशे श्रीविमलो दण्डनायक । स चिरमबुदाधिपत्यमनुभवन् श्रीगूर्जरेश्वरस्य प्रशस्ते॰ तस्य विमलमतेर्वाञ्छाद्वयमभूत् । पुत्रप्रासादवाञ्छा । तत्सिद्धौ श्रीअम्बादेवी प्रत्यक्षीभूय प्राह–भो वत्स ! वाञ्छा-स्वरूप ब्रूहि ।

विमलोऽवग्—पुत्रप्रासादयोर्वाञ्छाऽस्ति ।

देव्योक्त—द्वे प्राप्ती न स्तस्तव, एकां ब्रूहि ।

पुत्रवाञ्छा संसारविवर्द्धिनीमिति मत्वा विमलोऽवग्—हे देवि ! अम्बे ! तवोक्त भवतु ।

देव्यवग्—प्रतीक्षस्व क्षणमर्बुदा प्रष्टव्या । श्रीमातुरनुमतिं गृह्णामि । तावद्विमलो ध्याने स्थित । श्रीमातु सम्मतिं ज्ञात्वा अम्बाऽवग—हे वत्स ! यत्र पुष्पस्रगुरुचिरां गहुली द्रक्ष्यसि तत्र प्रासाद कार्य । तथा दृष्ट्वा प्रासादमस्थापयत् । अष्टकोटिसुवर्णव्यय॰ तत्र प्रासादे, पित्तलमयी प्रतिमा महती स्थापिता सवत् १ ८८ । इति विमलप्रबन्धः ॥३२६॥

[327] अथ यात्रोपरि पुनडसंघभक्त्युपरि वस्तुपालमन्त्रिकथा ।

नागपुरे सा० देल्हासुत सा० पूनडश्रीमोजदीनसुरत्राणबीबीप्रतिपन्नबन्धु अश्वपति-गजपति नरपतिमान्योऽभूत् । सोऽन्यदा गुरो॰ पार्श्वे गतस्तत्र गुरुदेशना कृता । लक्ष्मीर्धर्मस्थानेषु स्थाप्यते तदा शाश्वती भवति । इहलोकपरलोके च जीवः सुखी भवति । विशेषतो यात्रापुण्यं महत् । यत॰–

आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता संघवात्सल्यमुच्चै–
नैर्मल्य दर्शनस्य प्रणयिजनहित जीर्णचैत्यादिकृत्यम् ।
तीर्थोन्नत्य प्रभावो जिनवचनकृतिस्तीर्थकृत्कर्मकृत्य,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥१॥

श्रुत्वैतत्प्रथमा यात्रा १२७३ वर्षे बिम्बेरपुरात्कृता । द्वितीया यात्रा सुरत्राणदेशात् १२८६ नागपुरात्कर्तुमारब्धा । १८०० शकटानि महान्ति १००० सेजवाला । ४० वाहिन्य॰ । ५०० घोटका । भूरिशो देवालया । भूरिशो महाधरा शुभे मुहूर्ते चलश्चलन् स्थाने स्थाने उत्सव कुर्वन् माण्डलिकग्रामासन्नो यावदायातस्तावत्सम्मुखमागत्य तेज पालेन धवलक्कमानीतः श्रीसंघ। श्रीवस्तुपालसम्मुखमागात् । संघधूलीपवनानुकूल्यतो यां दिशं याति तत्र तत्र गच्छति । सज्जनै रभाणि—मन्त्रीश ! इतो रज इत॰ पादाववधार्यताम् । मन्त्री प्राह—इद रज पुण्यै स्पष्ट लभ्यते । अस्मिन्स्पृष्टे पापरजो दूरे नश्यति । यतः—

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति, तीर्थेषु बम्भ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ।
द्रव्यव्ययादिह नराः स्थिरसम्पदः स्युः, पूज्या भवन्ति जगदीशमथार्चयन्तः ॥२॥

पूनडसंघपतिमन्त्रिणोर्गाढालिङ्गनादिप्रतिपत्तिः परस्परमभूत् । सरस्तीरे स्थितः सघ, रात्रौ मन्त्रिणा कथापित पूनडाय, प्रात श्रीसघेन सह भवताऽस्मदावासे भोक्तव्य । तथेत्यादृतम् । भोजनमण्डपे निष्पन्ना सर्वप्रकारा रसवती । प्रातरायान्ति नागपुरीया भोजनाय । मन्त्री सर्वेषां पृथक्पृथक्पादप्रक्षालन तिलक च स्वयमेव करोति । एवं द्विप्रहरी लग्ना । मन्त्री तथैवाऽखिन्न' तदा तेज.पालेन विज्ञप्तमन्यैरपि तथा देव ! भक्ति. कारयिष्ये। यूयं भुङ्ध्वम् । तापो भावी। मन्त्री प्राह्—मैव वद । पुण्यैरयमवसरो लभ्यते । गुरुभि' कथापित—

जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिस आयरेण रक्खिज्ज ।
नहि तुम्बंमि विणट्ठे, अरया साहारया हुंति ॥३॥

मन्त्रिणेद काव्य गुरुभ्यः प्रहितम्—

अद्य मे फलवती पितुराशा, मातुराशिशिखाङ्कुरिताऽद्य ।
यद्युगादिजिनयात्रिकलोकं, प्रीणयाम्यहमशेषमखिन्नः ॥४॥

भोजयित्वा परिधाप्य च रञ्जितः श्रीसंघः ।

इति यात्रोपरि पूनडसंघभक्त्युपरि वस्तुपालमन्त्रिकथा ॥३२७॥

[328] अथ साधर्मिकवात्सल्ये कथा ।

श्रीकुमारपालो राज्य चकार । अन्येद्यु श्रीहेमसूरिपार्श्वे गतः उपदेशं शुश्राव । तथाहि—

दानं वित्ताद् ऋतं वाचः, कीर्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं काया—दसारात्सारमुद्धरेत् ॥ १ ॥

साधर्मिकभक्त्या श्राद्ध उत्तम पद प्राप्नोति—

पुरा भरतभूपेन, युगादिजिनसूनुना ।
साधर्मिकाय विहिता, भक्तिरन्नादिदानतः ॥२॥

अत्र ब्राह्मणोत्पत्तिर्वाच्या । श्रुत्वैतत्कुमारपाल साधर्मिकभक्ति कुर्वाण एकसाधर्मिक शालाया चिन्ताकारकं चकार । स च मुखवस्त्रिकामर्प्पयति भूपाय गृह्णाति च । तस्य राज्ञा द्वादश ग्रामाणि दत्तानि । गङ्गाजलतुरङ्गमपञ्चशती दत्ता ।

एकदा साधर्मिकस्यैव समृद्धिर्दृष्ट्वा श्रीपार्श्वजिनप्रासादाग्रे केनचिच्चारणेनोक्तम्—

रुडउं पारसनाथ जइ एए हवउं जाइ सिइ सहिसि ।
सेवउ सत्थ कुमरनरिंदहवाहिरउं ॥ ३ ॥

श्रीकुमारपालेन भूरय साधर्म्मिका लक्ष्मीवन्त कृता ।

इति साधर्मिकवात्सल्ये कथा ॥ ३२८ ॥

[329] अथ सघभक्तौ रत्नकथा ।

श्रीवस्तुपालो गुरूणामुपदेश कृत्वा बहुसघयुत १४४ देवालयसहितो वढवाणग्रामे प्राप्तलक्षमनुष्यो तत्र पुरस्थेन श्रीरत्नेन सकलस्य सघस्य भक्ति कृता । अत्रावसरे एकेन कविना काव्यमुक्तमिदम्-

पूर्वं श्रीऋषभान्वयी यरचयन् *श्रीदण्डवीया* नृपः,
श्रीमास्तीर्थपथाध्वगार्ततततेर्वात्सल्यमुच्चैस्तराम् ।
कुर्वन् सप्तमनुष्यलक्षकलित श्रीसघभक्ति परा
श्रीरत्न कृतवान् त्वदीययशस श्रेष्ठी पुनर्यौवनम् ॥१॥

वस्तुपालाग्रहात् श्रेष्ठ्यपि सघसार्थ चलित । एकत्र मध्यरात्रौ दक्षिणावर्त्तशङ्खाधिष्ठायकदेवेन कथित अह श्रीवस्तुपालमन्त्रिपार्श्वे यास्यामि । तत कियत्कालमभ्यर्च्य स्थापित । श्रीशत्रुञ्जयादितीर्थे यात्रां कृत्वा श्रीवस्तुपालसघो वढवाणे प्राप्त । रत्नश्रेष्ठिना भोजनार्थ निमन्त्रित पर न तिष्ठति बहुकालविलम्बात् । बह्वाग्रहाद्दिनाष्टक स्थापित । पुन शङ्खेनोक्तम्--

सघगृहे भोजनसामग्री मत्प्रभावात्कार्यता । सकलोऽपि सघोऽन्नपानादिना सन्मानित । अष्टौ दिनानि श्रीसघ सन्मान्य रत्नश्रेष्ठो सुखी जात । ततो रत्नो गुरूणा सघार्चां कृत्वा वस्तुपालमन्त्रिण स्वगृहे आकार्य गोमयेन गृहलिका कृत्वा तदुपरि आसने उपवेश्य छायायां शङ्ख मुक्त्वाऽर्पयामास । तत शत्रुञ्जये यात्रा कृता रत्नेनापि मन्त्रिणा समम् ।

इति श्रीसघभक्तौ रत्नकथा ॥३२९॥

[330] अथ निर्लोभे कुमारपालकथा ।

श्रीपत्तने कुमारपालोऽन्यदा सामायिक लात्वा नमस्कार श्रीयोगशास्त्रादिगणनपरोऽभूत् । तत्र चत्वारो आम्बड बाहड चाहडसोलाका समायाता । राज्ञा पृष्टास्ते किमर्थमागमनम् ? ते प्रोचु कुबेरदत्तो व्यवहारी सन्ना घटति निष्पुत्रोऽद्य विपन्नः । सोऽपि श्रूयमाणोऽस्ति तेन गृहलक्ष्मीर्विलोक्य गृह्यताम् । राजा प्राह-पौषधशालायामिद वक्तु न युज्यते सामायिकमध्यात् । यत-'सामाइअमि अ कए' तत सामायिक सपूर्य-पारयित्वा च गृहे गत । तस्यावासो दृष्ट परमरम्य गृहमध्ये । देवालये चन्द्रकान्तरत्नमयीप्रतिमा रत्नमयालय भूमिपीठ रत्नमय तत्र परिग्रहपरिमाण तस्य दृष्टम् । एकसहस्र हस्तिन । ५० सहस्रतुरङ्गमाः । ८० सहस्रगोकुलशतमूढकैरेका खारी । एवविधा खारी वर्षे द्विसहस्रा विलोक्यन्ते । रत्नहीरातुलापलशत सहस्र च । ५० वाहण । ५ ० हल । ५०० शकट । ६ कोटिसुवर्ण । ८ कोटिरूप्य । १४ कोटिनवीना व्ययार्थ वाहने

समागता सन्ति । एतत्सर्वं दृष्ट्वा राज्ञा चेतसि चिन्तितं । योऽस्य लक्ष्मीं ग्रहीष्यति स तस्य पुत्रो भविष्यति । एतद्विचार्य किमपि न गृहीतं । ततः ७२ लक्ष रुदतीपट्टः स्फेटित उक्तं । चातः परं नाऽपुत्रिकायाः स्त्रियाः श्रीभूपेन ग्राह्या । ततः कविनोक्तं—

निःशूकैः शङ्कित न यन्नृपतिभिस्त्यक्तुं क्वचिन्प्रागुनैः[प्रागुणैः]
पत्न्याः क्षार इव क्षितेः पतिमृतौ यस्यापहारः किल ।
आपाथोधि कुमारपालनृपतिर्देवो रुदत्या धनं,
बिभ्राणः मदयं प्रजासुहृदयं मुञ्चत्ययं तत् स्वयम् ॥१॥

राजा सुखी जातः । इति निर्लोभे कुमारपालकथा ॥३३०॥

[331] अथ पात्रदाने सालवाहनभूपसम्बन्धः ।

प्रतिष्ठानपुरे सालवाहनो राजा । एकदा गोलानदीतीरे राज्ञा स्नानं कृतं, तदा मीनो जलान्निर्गत्य हासं कुर्वन् दृष्ट । राज्ञा हास्यकारणं मीनपार्श्वे पृष्टम् । मीन उवाच पूर्वभवे त्वं काष्ठवाहकोऽभूत् ।

एकदा त्वया सातूआ मासक्षपणपारणे साधो[धवे]र्दत्ता तेन पुण्येन राजा जात । अतस्त्वं कस्माद्दानं न ददासि । राज्ञा पृष्ट—दानदापनविषये तव का चिन्ता ? मीनेनोक्त—अह पूर्वभवे काष्ठभारवाहकस्तव मित्रमभूवम् । परं मम दानेच्छा न परं त्वद्दत्तदानानुमोदनात् व्यन्तरो जातः अत्रासन्नवटे । अतो दानं देय त्वया । राज्ञा प्रोक्त—तादृशी लक्ष्मीर्नास्ति, सरस्वत्या रोधने शब्दवेधी रस पारदो लब्ध । तस्य प्रभावेण धातवः सर्वा अपि स्वर्णमया भवन्ति । ततो राजा दानानुमोदनात्सुर जात श्रुत्वा मुमुदे पूर्वभवपुण्याद्देवा अपि वशीभवन्ति । यतः—

"धम्मो मंगल० १ पंचसु जिणस० २"

ततो राज्ञा तेन स्वर्णसिद्धिरसेन प्राप्तेन स्वर्णं कारंकारं दीनदुःस्थादिभ्यो बहुदानं ददानोऽन्यदा महत्सघयुतः श्रीशत्रुञ्जयगिरिनाथतीर्थयोर्यात्रां चक्रे । तत. श्रीशत्रुञ्जये उद्धारं चकार च । ततश्चिर सुखी जातः ।

इति पात्रदाने सालवाहनभूपसम्बन्धः ॥ ३३१ ॥

[332] अथ उदारत्वे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ।

उज्जयिन्या विक्रमादित्यो राजा राज्य करोति, दानं दत्ते स्म बहु । एकदा कुतश्चिद्ग्रामात् कोऽपि द्विज. स्वक्षेत्रलब्धरत्न राज्ञ. समीपे मूल्यार्थमागात् । अमूल्यत्वात्केनापि मूल्यं न कृत । ततोऽग्निवेतालसान्निध्यात्त रत्नं गृहीत्वा राजा पाताले बलिपार्श्वे गत. । तत्र द्वारपालो विष्णुरस्ति । विष्णुना तमागत दृष्ट्वा बलिपार्श्वे गत्वोक्तं—राजाऽऽगतोऽस्ति । बलि-

नोक्तं—किं युधिष्ठिर ? विष्णुनोक्त—मण्डलीक । बलिनोक्त— किं रावण ? पुनर्गतो विष्णु-बलिपार्श्वे गत्वा प्राह—मण्डलीको न कुमार आगतोऽस्ति । बलिनोक्त—किं स्वामिकार्त्तिकेय १ लक्ष्मणः २ बलिपुत्रोऽङ्गद ३ पुण्यधवल ४। विष्णुनोक्त—शाठ आगतोऽस्ति तर्हि हनुमान् सोऽपि न पुनर्गत्वा प्रोक्तं —तलारः समागतोऽस्ति तर्हि किं विक्रमादित्य समागतोऽस्ति ? ततो मिलित बलिनोक्त राज्ञा बले रत्न दर्शित बलिनोक्त—राजा युधिष्ठिर एव कथ्यसे नापर येन सदा ८८ सहस्रऋषीणां दिने दिने अमूल्यरत्नानि अष्टाशीतिसहस्राणि ब्राह्मणाना दिने दिने भुञ्जते हेमपात्रेषु युधिष्ठिरनिकेतने ।१। अतएव स राजा सत्य । मण्डलीको रावण विनाऽपर कथ कुमारस्वरूप प्रोक्तम् । शाठोऽपि न तादृक्कार्यकरणाभावात् । अतस्त्व तलारसम ग्रामपुरादिरक्षाकारकत्वात् गर्वोसाले अमूल्यरत्नमेक एवास्ति अपराणि अमरै रक्षितानि अस्य मूल्य नास्ति । एव श्रुत्वा राजो अवन्त्यामागत । राज्ञा दशकोटि स्वर्णस्य दत्ता । रत्न विनापि द्विजस्य ततो राजा सुखी जात ।

उदारत्वे विक्रमार्कभूपसम्बन्ध ॥ ३३२ ॥

[333] अथ यात्रोपरि कुमारपालभूपकथा ।

श्रीपत्तनात् कुमारपालो यात्रार्थी शत्रुञ्जय प्रति चलित । सघे ७२ सामन्तदेवालया । एको राज्ञ चत्वार—आम्बड-वाहड-चाहड-सोलादिमन्त्रिणामेव ७७-९९ स्वर्णलक्ष स्वामी व्यय ठाकुरप्रमुखाष्टादशशत व्यवहारिणा चाष्टादशशतदेवालयादि श्रीसघसहित चलितः । स्थाने स्थाने महोत्सव कुर्वन् वलभ्यां सघो गत । शत्रुञ्जय दृष्ट्वा स्नपनपूजाध्वजारोपणादिस्नात्रमहोत्सवगीतगानादि चकार । श्रीशत्रुञ्जये श्रीऋषभदर्शनेन च लक्षस्वर्णैर्नवाङ्गपूजा तदनु परिधापनावसरे केनचित्पुरुषमात्रेण सपादकोटिरत्न मुक्त्वा प्रथममाल गृहीता । एव गिरिनारेऽपि अगपूजादि ज्ञेय । तथा पत्तने श्रीचन्द्रप्रभप्रासादेऽपि नवाङ्गपूजा नवलक्षस्वर्णै कृता । त्रिषु स्थानेषु सपाद २ कोटिरत्नेन मालापरिधापन कृत दृष्ट्वा चमत्कृतो भूप पृष्ट स पुरुष । तेनोक्त—हे राजन् ! मधुमतीवास्तव्यो मण्डलीक पिताऽभूदाम्रमाताऽभूत् तयोरह पुत्रो नाम्ना जगडुक । मम पिता ११ वार समुद्रे चलित क्षेमेण यात समुद्रदेवेन मम पितु सपादकोटिमूल्य रत्नपञ्चक दत्तं, तेन मया तव सघावसर प्राप्य प्रमोदा मालापरिधापन कृत । तच्चमत्कृतेन राज्ञा शेषरत्नद्वय मूल्येन गृहीत्वा पञ्चस्थानेषु हारेषु पदकस्थाने स्थापितमेकस्तु श्रीशत्रुञ्जये, द्वितीय रैवतगिरौ तृतीय श्रीचन्द्रप्रभप्रासादे देवपत्तने चतुर्थो हारोभृगुकच्छे, पञ्चम पत्तने त्रिभुवनपालप्रासादे च, एवविधा यात्रा कृत्वा राजा सुखी जात ।

इति यात्रोपरि कुमारपालभूपकथा ॥३३३॥

[334] अथ पूजाया कपर्दिकश्राद्धकथा ।

एकदा पत्तने श्रीहेमसूरिपार्श्वे कपर्दी श्राद्धो वन्दितुमाययौ । तै सूरिभिः समाधिस्वरूप पृष्टं, तेनोक्त—दारिद्र्यमेवास्ति मम गृहे । श्रीगुरवः प्राहु भक्तामरस्य दशम काव्य—'नात्यद्भुत'

मिति गणनीयं षण्मासान् यावत्, मन्त्रश्च विधिना, तस्य गुरूक्तविधिना जपतो रात्रावेकदा चक्रेश्वरी देवी प्रसन्ना धवलवस्त्रा स्त्रीवेषभूता जाता। तयोक्त षोडश—षोडश मयणमया· [मृण्मया] ३२ कुम्भा गृहमध्ये स्थाप्याः, अहं तु कामधेनूरूपेण तत्रागता त्वया दुह्या, सर्वे कुम्भाः स्वर्णमया भविष्यन्ति। तत प्रतिप्रभातं गोदोहनात् ३१ घटा भृता· द्वात्रिंशत्तमे दिने देव्या पद्योः पतित्वा श्रेष्ठी प्राह—तव प्रसादादेते घटाः एकत्रिंशत्स्वर्णमया बभूवुः, द्वात्रिंशत्तमं कुम्भं तथा कुरु यथाऽहं सपरिवार भूपं भोजयामि। देव्योक्तमेव भवतु। ततः स मुदितः श्रेष्ठी प्रात· कुमारपालभूप निमन्त्रयामास, प्रहरे याते राजा चरमुखेन भोजनसामग्री न पश्यति, अहो हास्यं मया सह मण्डितं। एवं सति स आकारणाय समागातः, कामधेनूरूपेण देवी समागता। द्वात्रिंशत्तमे कुम्भे भोजनसकलसामग्री जाता। हृष्टेन राज्ञा चमत्कृतेन पृष्टः स, ज्ञातं श्रीयुगादिजिनपूजाध्यानमाहात्म्य, स सुखी पुण्यवान् ध्यानप्रभावाज्जात·।

इति पूजायां कपर्दिकश्राद्धकथा ॥३३४॥

[335] अथ तीर्थपूजायां वस्तुपालकथा।

एकदा वस्तुपालमन्त्री शत्रुञ्जये विस्तरेण स्नात्रमहोत्सव कृत्वा यावदुत्तरति द्वितीयप्रपायामगात् तावन्मधुमतीपुरात् बहवो मालिकाः पुष्पकरण्डकान् भृत्वा त्वरितं तत्र प्रपायामाययु। सघमुत्तरन्तं वीक्ष्य खिन्नाः तान् तादृशान्वीक्ष्य वस्तुपाल प्राह—खेदो न कार्य·, अह तथा कुर्वे यथा भवत्ता बहु द्रव्यमुत्पत्स्यते, रह·स्थापितास्ते तत्र, क्रमादन्ये व्यवहारिण आगता·। मन्त्री प्राह—भवद्भिर्देवा सर्वत्र पूजिताः सन्ति न वा? किमपि विस्मृतं नास्ति इति पृष्टे ते इभ्याः प्राहु—युष्माकं प्रसादाद्देवा नता पूजिताः। मन्त्री प्राह—इदं तीर्थमेव स्पृष्ट शिवाय भवति, इद तीर्थमेव पूज्य, तीर्थपूजा न कृता इभ्या प्रोचुः—पुष्पाणि न सन्ति। मन्त्री प्राह—पुष्पाणि आयास्यन्ति ततस्ते मालिका· प्रकटीकृता·। श्रीवस्तुपालेन ससघेन पुष्पाणि लात्वा सर्वत्र तीर्थभूपूजा कृता, यतः—

पञ्चाशद्योजने मुक्ति—दर्शनात्स्पर्शनादपि।
ये जातास्ते गमिष्यन्ति, कालेनापि परां गतिम् ॥१॥
तीर्थनामुत्तमं तीर्थं, नगानामुत्तमो नगः।
क्षेत्राणामुत्तम क्षेत्रं, सिद्धाद्रिः श्रीजिनैर्मतः ॥२॥

ततो बहु द्रव्यमुपार्ज्य स्वस्थाने गता मालिका·। मन्त्री ससंघः पुण्यद्रविण भूरि उपार्ज्य स्वपुरमगात्। इति तीर्थपूजायां वस्तुपालकथा ॥३३५॥

[336] अथ वप्पभट्टि प्रबोधितद्विजकथा

एकस्मिन् पुरे एक शिवभक्तो विद्वान् विप्रोऽनशन गृहीत्वा शिवप्रासादे उपविष्टस्तस्मिन् समये तत्र बप्पभट्टिसूरय आगताः। श्राद्धैरुक्त—भवद्भिः सर्वं जगत् प्रतिबोध्यते यदि तदा

एषोऽपि द्विज कथ न प्रतिबोध्यते ? तत सूरिभिस्तत्र गत्वा शिवस्तुति शृङ्गाररौद्रमयी प्रारब्धा । तथाहि--

एक ध्याननिमीलित मुकुलित चक्षुर्द्वितीय पुन,
पार्वत्या विपुले नितम्बफलके शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यत्क्रूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपित,
शम्भोर्भिन्नरस समाधिसमये नेत्रत्रय पातु व ॥१॥

कृष्णात्प्रार्थय मेदिनीं धनपतेर्बीज बलेर्लाङ्गलं,
प्रेतेशान्महिषो वृषस्च भवत फाल त्रिशूलादपि ।
शक्ताह तव भक्तदानकरणे स्कन्दोऽपि गोरक्षणे,
दग्धाऽह तव भिक्षया कुरु कृषिं गौर्या वच पातु व ॥२॥

द्विजेनोक्तमधुनाऽनवसरे मम पुरोऽनशनगृहीतस्य रागमयी स्तुति कस्माद्विधीयते ? गुरुणोक्त— यादृशी सभा तादृग् वाच्य, यादृशो देवस्तादृशी पूजास्तुतिरिति" भवानेवानवसरज्ञोऽनशन लात्वा सरागदेवपार्श्वे उपविष्टस्तत प्रबुद्धो जिनेन्द्रगृह गत्वा । शान्तो वेष शमसुखफल १ ।

प्रशमरसनिमग्न दृष्टियुग्म प्रसन्न, वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्य ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्य, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥३॥

इत्यादि स्तुति पपाठ स द्विज, तदनन्तर जिनभवनोपविष्टः क्षीणायु स्वर्ग गतः । अत स्तुत्यार्हो जिन एव, नान्य । इति बप्पभट्टिप्रबोधितद्विजकथा ॥३३६॥

[337] अथ तीर्थभक्तिभुवोक्तिकाव्ये वस्तुपालमन्त्रिदानसम्बन्ध ।

अन्यदा श्रीवस्तुपाल ससघ श्रीशत्रुञ्जये देवान्नत्वाऽग्रतश्चलन् देवकपत्तने ययौ । श्रीसघं सदनपानतः सन्मान्य सघपूजायामनेके आचार्या उपविष्टा सन्ति, गुरव परिधापिता । अत्रान्तरे सोमेश्वरपण्डितेनेदं काव्यमुक्त वस्तुपाल प्रति--

लक्ष्मि प्रेयसि ! केयमास्यशितता वैकुण्ठ ! कुण्ठोऽसि किं ?,
नो जानासि पितुर्विनाशमसम सघोत्थितै पाशुभिः ।
मा भै[षीः]र्मरुमीर एष मविनाम्भोधिश्चिर नन्दतात्,
सघेशो ललितापतिर्जिनपते स्नात्राम्बुकुल्यां सृजन् ॥ १ ॥

एव सोमेश्वर काव्यपद्धत्यायमाह--अहमद्य विष्णुसद्मनि गतस्तत्र विष्णुप्रियो मिथ एव

जल्पन्तावभूतां, प्रथमं कृष्णेन श्रीः पृष्टा, किं भवत्या मुखे कालिमा ?। श्री प्राह—हे वैकुण्ठ ! कुण्ठोऽसि मूर्खोऽसि न वेत्सि मम पितुर्विनाशो भविष्यति मघस्य वस्तुपालस्य रजोभि । ततो विष्णु' प्राह—"मा भैरित्यादि०"। ततो वस्तुपालेन तस्य लक्षद्रव्यं दत्तम् ।

इति तीर्थभक्तिश्रुतोक्तिकाव्ये वस्तुपालमन्त्रिदानसम्बन्धः ॥३३७॥

[338] अथ यात्रायामामप्रबन्धः ।

गोपालनगराच्छ्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यं बप्पभट्टिगुरुमुखात् श्रुत्वा बहुसंघसमेत आमराजः तीर्थनतिं यावत् त्यक्ताहारश्चलितः। मार्गे स्थाने स्थाने उत्सव कुर्वन् गूर्जरायामागात् । शरीर ग्लास्यति स्म भूपस्य। मन्त्रिणो वदन्ति—पारणं क्रियतां, गुर्वादिभिर्बहूक्तोऽपि पारणं न करोति। राज्ञ साहस दृष्ट्वा शासनदेवता रात्रौ राज्ञ. मन्त्रिणां सर्वसंघस्य पुरः प्रकटीभूयेद प्राह-भूमिलाभविभूषणायां ' पुरि जीर्णा श्रीयुगादिप्रतिमा परिसरभूमिमध्यस्था कथयामास । अथवा श्रीशत्रुञ्जयादानीतेति प्रघोष । ततः प्रातर्देवीवचनात्प्रतिमां भूमध्यात्कर्षयामास। शत्रुञ्जयस्य स्थापना कृता । ता प्रतिमां नत्वा राजा पारणं चकार । ततो राज्ञा तत्र स्थाने महा प्रासादः कारितः । प्रतिमां तस्य प्रासादस्य मध्ये स्थापयामास समहोत्सवं । ततो लोकैरपि पूजार्हतः कृता । तत. प्रभृति लघुश्रीत्रुञ्जयेति नाम शिखर' ' जात । ततो प्राज्यशत्रुञ्जये रैवते च देवान्नत्वा स्वपुरमगात् । इति यात्रायामामप्रबन्धः ॥३३८॥

[339] अथ श्रीशत्रुञ्जयप्रासादबिम्बसंघपतिभवनादिसम्बन्धः ।

युगादौ श्रीशत्रुञ्जये प्रथमचक्रिणा श्रीभरतेश्वरेण स्वर्णमयं श्रीजिनभवनं कारित । तत्र भवने मणिमय बिम्ब स्थापितं । तस्मिन्समये कोडि ८९ लक्ष ८४ सहस्राः किञ्चिदधिका एते प्रौढछत्रधरा राजान संघपतयोऽभूवन् । तत्र येऽन्तरान्तरा उद्धारा आदित्यक्षितिपादिभि कारितास्तेषा संख्यां केवली वेत्ति ।

तदनन्तर ५० कोडिलक्षसागरोपमान्तरे द्वितीयः सगरश्चक्री सजात. । तेन श्रीशत्रुञ्जये द्वितीयो उद्धारः कारितः। ताम्रमय जिनभवनं रत्नमयं बिम्ब । कारितं तस्मिन् समये ७ कोडि ९५ लक्ष ७५ सहस्रा एते प्रौढछत्रधरा राजेन्द्रा सघपतयोऽभूवन् ।

तदनन्तर ५० कोडिलक्षसागर ८६७५० न्यूनान्तरे पाण्डवैस्तृतीयः उद्धारः, काष्ठमयप्रासादे लेपमय बिम्बं स्थापित तस्मिन्समये। २५ कोडि ९५ लक्ष ७५ सहस्रा एते भूपा' सघाधिपतयोऽभूवन्। ८६७५० पाण्डव श्रीमहावीरान्तर जात । तदनन्तरं वीरविक्रमादित्यान्तरे ८४ सहस्रा नरेन्द्राः शतानीक-श्रेणिक-दधिवाहनप्रमुखाः संघपतयोऽभूवन्। एकशताष्टोत्तरे वर्षे श्रे० जावडेन बिम्बोद्धार' कारितः । पञ्चप्रासादोद्धारः श्रीमाली वाहडदेवेन कारित. १२१३ । अस्मिन्समये सवत् १३७१ सा० समरनरेन्द्रेण ६ श्रीयुगादिजीर्णोद्धार कारित' । श्रे० जावडसमरनरेन्द्रान्तरे सप्रतिसघपतिसख्या श्रूयतां ३ लक्ष ८४ सहस्राः प्रौढाः श्राद्धा संघपतयोऽभूवन् । ७७ सहस्रा मीणाकारा सघपतय., जैनक्षत्रियाः १६ सहस्रा' सघपतयः, जैनविप्राः १५ सहस्रा संघपतय,

१२ सहस्रा कौटुम्बिकसंघपतयः, ९ सहस्रा ठेक्कुरा कौटुम्बिकाः संघपतयः, ५०४५ कांसाराः संघपतयः, ७ सहस्राः अन्त्यजाः संघपतयः श्रीशत्रुंजयतलहट्टिकां यावत् भरतचक्रि-बाहडमन्त्रिणामन्तरे अन्ये ये प्रासादोद्धाराः बिम्बानि जातानि कारितानि अन्यैर्भूपेभ्यादिभिस्तेषां संख्या न ज्ञायते । इति श्रीशत्रुंजयप्रासादबिम्बसंघपतिभवनादिसम्बन्धः ॥३३९॥

[340] अथ पञ्चपाण्डवकृतोद्धारमुक्तिगमनसम्बन्धः ।

अन्यदा श्रीयुधिष्ठिरराजः दक्षिणमथुरायां राज्यं कुर्वन् न्यायमार्गेण पृथिवीं शशास ।

इतः द्वारकायां दग्धायां सत्यां कृष्णबलभद्रौ निःसृत्य कस्मिंश्चिद्वने गतौ । बुभुक्षा लग्ना । बलभद्रो भिक्षार्थमासन्नग्रामे गतः ।

इतस्तत्र भ्रमन् जराकुमारः सुप्तकृष्णपादे मृगभ्रान्त्या बाणं मुमोच । करुणशब्दं श्रुत्वा यावत्तत्रायाति जराकुमारस्तावद्भ्रातरं वीक्ष्य शुशोच, दूनोऽभूच्च । कृष्णोऽवग्-गच्छ, अमुं कौस्तुभं लात्वा पाण्डवपार्श्वे । मम प्राणा यास्यन्त्यथ नेमिनाथपूर्वोक्तत्वात् । बलभद्रो यदि आयास्यति तदा त्वं हत एव तेन ततो भयभ्रान्तो जराकुमारः भ्रातरं क्षमयित्वा कौस्तुभरत्नमादाय युधिष्ठिरराजपार्श्वे गतः । रत्नं तस्मै दत्त्वा कृष्णमृत्युवृत्तान्तः कथितस्तेन । पाण्डवाः सर्वेऽपि कृष्णमरणादिवृत्तान्तात्संसारानित्यतां भावयामासुः । ततो बहुविस्तरपूर्वं तद्रत्नगर्भितां श्रीयुगादिजिनलेप्यमयप्रतिमां प्रासादं च श्रीशत्रुञ्जये कारयामासुः । प्रतिष्ठां च । पश्चादागता संसारानित्यतां भावयता गिरिनारगिरावागतं श्रीनेमिनाथं श्रुत्वा ते पञ्चापि पाण्डवा मातृपत्नीयुताश्चेलुः । अन्तराले श्रीनेमिनिर्वाणगतं श्रुत्वा आत्मानं नेमिं च दूनवञ्चितं निन्दित्वा श्रीशत्रुञ्जये सिद्धक्षेत्रे गत्वा दीक्षां लात्वा पादपोपगमनानशनेन सर्वेऽपि अष्टौ कर्माणि क्षिप्त्वा द्रौपदीवर्जं मुक्तिं ययुः । द्रौपदी द्वादशे स्वर्गे ययौ । पूर्वभवनिन्दाऽज्ञानबहुत्वात् ।

इति पञ्चपाण्डवकृतोद्धारमुक्तिगमनसम्बन्धः ॥३४०॥

[341] अथ सा० गुणराजसम्बन्धः ।

आशापल्ल्यां गुणराजः सा० बाचान्दलोऽहम्मदसुरत्राणमान्योऽभूत् । संवत् १४६८ वर्षे श्रीदेवसुन्दरसूरिगुरुवचनं श्रुत्वा दिने दिने मूढकत्रयधान्यदानेनात्मक्षात्रिपरजातिजनान् जीवयामास । एकदा महाविस्तरेण सोपारकपत्तने यात्रां चकार । तत्र ८० सहस्रटङ्का व्ययिताः । विंशतिसहस्रटङ्कान् व्ययेन श्रीमुनिसुन्दरसूरीणां उपाध्यायपदं कारितं येन । यस्य भ्राता आम्बाकः ४०० द्रम्मान् यथा यथापूर्वं व्ययति स्म महाव्यसनी च ।

एकदा भार्यया तस्य निर्विकृति भग्नं । ततो जातवैराग्यस्तादृशीं समृद्धिं भार्यां पुत्रयुतां मुक्त्वा स्वयमेव व्रतं जग्राह सः । गुरवो भार्याया अनुमतिं विना न ददते । बहु अवदातैर्भार्यां मानयित्वा श्रीदेवसुन्दरगुरुपार्श्वे दीक्षां जग्राह । तत्र विंशतिसहस्रा टङ्कानां व्ययो गुणराजेन कृतः । श्रीसोमसुन्दरादेशात् अहम्मदसुरत्राणादेशं प्राप्य १० देवालयाः, ३६००

सेजवालां, ७०० शकट, ४००, वाहिन्यः, ५०० तुरङ्गम, लक्षद्वयानुमितबहुदेशागतश्रीसंघ. तेन श्रीसोमसुन्दरसूरि-श्रीमुनिसुन्दरसूरिप्रमुखाः शतानुमितसूरिसहस्रद्वयानुमितसाधुः स्थाने स्थाने स्नात्रपूजादिमहोत्सवः श्री शत्रुञ्जयगिरिनारयोश्चकार गुणराजः । प्रान्तेऽनशनं समहोत्सवं लात्वा स्वर्गं गतः । इति सा० गुणराजसम्बन्धः ॥३४१॥

[342] अथ कल्याणत्रयोद्धारसम्बन्धः ।

श्रीसोमसुन्दरसूरीणामुपदेशात् सोनीसमरसिंहमालादेभ्यां श्रीगिरिनारतीर्थे श्रीनेमिनाथकल्याणत्रयप्रासादोद्धारः कारित । तत्र लक्षसाधिकलक्षटङ्कव्ययः ।

इति कल्याणत्रयोद्धारसम्बन्धः ॥३४२॥

[343] अथ गोविन्दनाणावटीसंबंधः ।

ईयदरनगरे नाणावटीगोविन्दोऽभूत् धर्मवान् । तत्रैकदा श्रीसोमसुन्दरसूरय आगता । वन्दितुं गतः गुरूणामित्युपदेशः "जिणभवणबिंबपुत्थय०"

प्रासादप्रतिमायात्रा-प्रतिष्ठादिप्रभावना
अमार्युद्घोषणादीनि महापुण्यानि गेहिनाम् ॥१॥

तारङ्गगिरौ श्रीकुमारपालप्रासादे सप्तभूमिके प्रासादे बिम्बमतीव लघीय., । पूर्वबिम्बस्य भङ्गोऽभूत्, तेन यः कश्चिद्बिम्बोद्धार कारयति स महान् । एतत् श्रुत्वा नाणावटीगोविन्दो हस्तौ योजयित्वा प्राहाह बिम्बोद्धार कारयिष्यामि, तत आरासणपुराद् बहुद्रव्यव्ययेन ९५ अङ्गुलप्रमाण प्रतिमां तत्रानिनाय । बहुषु देशेषु कुङ्कुमपत्रिकाः प्रेषिताः । श्रीसंघ सप्तलक्षप्रमाणो मिलितः । शोभने लग्ने श्रीअजितस्वामिप्रतिमां श्रीसोमसुन्दरसूरयः प्रतिष्ठयामासु । सर्वोऽपि श्रीसंघः परिधापितः, टङ्कानां लक्षत्रयी व्ययिता संभाव्यते ।

इति गोविदनाणावटीसम्बन्धः ॥३४३॥

[344] अथ धरणविहारसम्बन्धः ।

मेदपाटभूमण्डनराणकपुरनगरे श्रीधरणसाधुः । श्रीसोमसुन्दरसूरीणामुपदेशात् १०८ देवकुलिकालंकृतं श्रीऋषभदेवविहारं चतुर्मुख प्रासाद कारयामास । तत्र बहुलक्षटङ्कव्यय, स-१४९५ वर्षे । इति धरणविहारसम्बन्धः ॥३४४॥

[345] अथ पाजाश्रेष्ठिकारितप्रासादसम्बन्धः।

वढवाणग्रामे श्रे० पाजाह्वः कोटिध्वजो वसति स्म । तेन गुरोरुपदेशात् पाजाह्वा वसतिः कारयितुमारब्धा । बह्वो जनाः कार्यं कुर्वन्ति । राजा वप्र महान्त ग्राम परित कारयति ।

प्रासादे बहव कर्मकरा आयान्ति वप्रे च नायान्ति । राज्ञा वारि निषिद्ध । श्रेष्ठिना तैलकुपानुद्घाट्य माषपीठकेन प्रासाद' कर्त्तुमारब्ध । राज्ञा तत् ज्ञात । समानितः श्रेष्ठी । सहस्रस्तम्भमयः प्रासादो निष्पन्न' । प्रतिष्ठाऽभूत् । तत्रात्मीयात्मीयां कलां दर्शयितु सूचिकाधाधिकाभ्यां च कीर्त्तिस्तम्भोपरिस्थाभ्यां मूल्यसूचिप्रोतन मूल्यतैलभाजनभरणादिकला दर्शिता प्रासादाग्रे । इति प्रजाश्रेष्ठिकारितप्रासादसम्बन्ध ॥३४५॥

[346] अथ पूर्नसिंहकोष्ठागारिककारितगिरिनारतीर्थप्रासादसबंध ।

तपागच्छाधिराजश्रीरत्नशेखरसूरीणामादेशात् श्रीगिरिनारतीर्थे पूर्नसिहकोष्ठागारिको महान्त प्रासाद कारयामास । तत्र श्रीऋषभदेव प्रातिष्ठिपत् । तत्र बहुलक्षटङ्ककधनव्यय' ।

इति पूर्नसिंहकोष्ठागारिककारितगिरिनारतीर्थप्रासादसम्बन्ध ॥३४६॥

[347] अथ साधर्मिकभक्ति ।

राजा कुमारपाल त्रुटितसाधर्मिकस्य समीपागतस्य दीनारसहस्र दत्ते । आमडमन्त्रिपार्श्वात् गुरूणां च ज्ञापित राज्ञा यदुचित' साधर्मिको ज्ञाप्य' ।

एकदा वर्षलेखके कृते एका कोटिर्जाता । यदा तदा आमड' प्राह–स्वामिस्तव द्विधा कोशोऽस्ति एक' स्थावरोऽन्यो जङ्गम । अह तु जङ्गम' कौशल्येनाह यद्ददामि तत्तवैव । राज्ञोक्त–एव त्वया विनयेन प्रोच्यते । यन्मया मम कोशाद्दीयते तदेव पुण्याय । ततो राजा हृष्ट' । आमड विशेषाद्गुरु मन्यते स्म । एव भूपाभिग्रहो बहुवर्षाण्यभूत् ।

इति साधर्मिकभक्तिः ॥३४७॥

[348] अथ दाने कुमारपालमन्त्रि–अभयकुमारश्रेष्ठिकथा ।

अन्यदा श्रीश्रीमालजातिशिरोरत्न नेमिनागपुत्र' अभयकुमार श्रेष्ठी कृतो राज्ञा ।

अत्रान्तरे श्रीपालपुत्रेण सिद्धपालेनोक्त–

क्षिप्तो तोयनिधेस्तले मणिगण रत्नोत्करः रोहणे,
रेण्वावृत्य सुवर्णमात्मनि दृढ बद्ध्वा सुवर्णाचल' ।
क्ष्मामध्ये च धनं निधाय धनदो विस्मयपरेभ्य स्थितः,
किं स्यात्तैं कृपणै समोऽयमखिलार्थिभ्य स्वमथ ददत् ॥१॥

ता जुय देवकय, तुमए जं इत्थधम्मठाणमि ।
अभयकुमारो सिट्ठी, एसो सव्वेसरो विहिओ ॥२॥

तत्र साधर्मिकभक्तिरेवम्–

[246] अथ उपकारेऽपि अपकारकर्तृकवृद्धासम्बन्धः ।

एकस्या वृद्धायाः पुत्रं सर्पो ददंश । तामतीव रुद्यमानां दृष्ट्वा वृक्षोऽवग्-भो वृद्धे ! मा रुदः, स्वस्थीभव, मन्मूलं वारिणा घर्षयित्वा अङ्गे देयम्, नीरोग पुत्रो भविष्यति । कस्याप्यग्रे एतन्न कथनीयम् । तया वृक्षोक्तयुक्त्या पुत्रः सज्जीकृतः । क्रमात्तया केषामग्रे वृक्षमाहात्म्यं प्रोक्तम् । ततः सर्वैरपि लोकैश्छिन्नमूलः कृतः सन् प्रलयं गतो वृक्षः ।

इति उपकर्त्तुरपकर्त्ता ॥२४६॥

[247] अथ कर्मणि स्तेनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिना कूटतुलामानादिना धनमर्जितं चौरभयात्स्वर्णटङ्कस्वर्णेष्टिकाभिर्गोणीं बभार । स चाङ्गणे ता चिक्षेप, परितो धूलीछाराणि क्षिपति स्म ।

एकदा तत्र गृहे धाटी प्रविष्टा । गृह मुषितम । एकेन ता जीर्णवस्त्रावृतामपि गोणीं ललौ । मार्गेऽतीवभारं मुक्त्वा एकस्मै तां दत्त्वा स्वर्णपल्ल्ययनं ललौ । स च ग्रामे सर्वे गता. यावद्गोणीं विलोकयति तावत्स्वर्णमेव पश्यति । अपरस्तु पल्ययनं वालत्रयस्वर्णखचित ददर्श । यतः उक्तं च-

आः खुदा जस कूंदिइ, तसकूं मुहिमारी दिइ ।
जसकूं कूदालइ तसकूं, हाथि चडाविउं लंखावइ ॥

इति कर्मणि स्तेनकथा ॥२४७॥

[248] अथ शुद्धाशुद्धविचारे कथा ।

एकेन श्रेष्ठिना कपटेन व्यवसायेन सौवर्णिकपञ्चकमर्जित । सौवर्णिकत्रय तु शुद्धमार्गेण एकस्या ग्रन्थौ अष्टौ बद्धाः । इतश्चौराः प्रविष्टाः ग्रन्थिश्चटितास्तेषां हस्ते यावत्ते छोटयन्ति तावत्सौवर्णिकपञ्चकं श्रेष्ठिपार्श्वे ढलित्वा गतम् । अयं [इदं] तु विवरोपरि पपात । यथा ते चौराः कर्षयन्ति तथा तत्त्रयमधस्ताद् गत । तदा श्रेष्ठी जहास । चौरै पृष्टं किं हस्यते भवता ?

श्रेष्ठी जगौ—अन्यायेन यदर्जित तद् मद्गृहाद्भवद्भिर्गृहीत, भवद्धस्ताद्विवरे पतित, यच्च न्यायेन स्वर्णपञ्चकं तन्ममोपान्ते ढलित्वा गतमतो हस्यते । ततश्चौरै श्रेष्ठिना च नियमो गृहीतः परधनग्रहणे । इति शुद्धाशुद्धविचारे कथा ॥२४८॥

[249] अथ वञ्चकस्त्रीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे कामकेतुर्भूपो विज्ञः । चन्द्रकान्ता पत्नी, सन्तानाभावाद्दुःखी राजा । अपरा स्त्रियं परिणीतवान्, काष्ठमयेन गरुडेन हिण्डति भूपः ।

अन्यदा द्वितीया काष्ठमयूरारूढा कीलक कर्षितवती । ततो मयूरो व्योम्नि भ्रमन् पश्यता नृणामदृश्योऽभूत् । राजादिजन. सर्वं सचिन्तोऽभूत् । क्रमादन्येद्युर्भूपः पत्नीं प्रति प्राह—प्रिये ।

पत्नीविलोकनाय यामि । प्रिया प्राह—गच्छ । ततः सप्तदिनभोजनयोग्यं शम्बलं कृत्वा सप्तग्रन्थिषु बधापितवती, राजा हृष्टः सशम्बलः प्रियावीक्षायै चचाल । भोजनावसरे प्रथमग्रन्थिशम्बले मुक्ते मूषकत्रिफणी सर्पः ।१। द्वितीयग्रन्थौ सहजस्वरूपः ।२। तृतीयग्रन्थौ ओतुः ।३। चतुर्थग्रन्थौ श्व स्वरूपः ।४। पञ्चमग्रन्थौ सिंहः ।५। षष्ठग्रन्थौ सहजम् ।६। सप्तमग्रन्थौ मृगः ।७।

ततः स गच्छन् व्याधत्रिबाणैर्विद्धः एकस्मिन्पर्वते गतः । इतः स काष्ठगरुडः तस्मिन् पर्वते आस्फाल्य भग्नः । सा पतिता मूर्च्छिता क्षणात्सचेतनाऽभूत् । ततो रुदितुं लग्ना क्रमाद्भ्रमन्ती श्रीऋषभजिनं दृष्ट्वा पूजयामास तुष्टाव च । एवं बहुषु दिनेषु गतेषु क्षीणपूर्वकर्मतः सा मृगं तं दृष्ट्वा बाणान् चकर्ष । तयोः स्नेहोऽभूत् । द्वावपि ऋषभं नमतः स्माभीक्ष्णं अन्यदा ज्ञानी तत्रागात् । विद्याधराणामग्रे धर्मोपदेशः मृगराज्यौ दृष्ट्वा ज्ञानिना हसितं तदा तैः पृष्टं कथं हास्यं कृतम् । ततो गुरुणा तयोः कान्तकान्तास्वरूपं प्रोक्तम् । येन सर्वेषां धर्मे दृढताऽभूत् । ततो विद्याधरैः राजा स्वरूपभृत् चक्रे । कामकेतुराज्यौ हृष्टौ ततः कामकेतुः सप्रियः सम्यक्त्वमूलं जिनधर्मं प्रपेदे । ततो भूपो ज्ञानिनं ऋषभं नत्वा स्वपुरं प्रति चचाल । मार्गे तदैको यतिरभिग्रहं ललौ । यदा वनं शुद्धाहारश्चाटिष्यति तदा पारणं करिष्ये । पञ्चमे मासे ताभ्यां भूपराज्ञीभ्यां पारणं कारितं । पञ्च दिव्यानि देवः कोऽपि प्रकटीभूय वरं वृणु । ततो राज्ञोक्तं नवं नगरं स्वर्णप्राकारमयं कारय । ततो रक्षादेवेन नगरं कारितम् । लोका वासिताः । राज्ञा प्रासादः कारितः । सप्तक्षेत्रेषु राज्यं व्ययाय क्रमात्स्वपुत्राय राज्यं दत्त्वा स्वर्गं गतः मुक्तिं यास्यति ।

इति वञ्चकस्त्रीसम्बन्धः ॥२४९॥

[250] अथ पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्धः ।

अक्खरेनो पोक्खरे हल वहइ वलदेसरवार ।
हलखेडो कुडे वासे बदे फिरइ विहु पासे ॥१॥

कस्मिंश्चिद्ग्रामे द्विजस्य द्वौ पुत्रौ बभूवतुः । एको विज्ञोऽभूत् द्वितीयो मूर्खः । एको वेदान् पाठंपाठं सदा दरिद्रोऽजनि । द्वितीयः कृषिं कुर्वाणो धनी जातः । ततो धनी सन् न धर्मं करोति स्म । तदा द्वितीयं प्रति प्राह—अक्खरे नइ पोक्खरे । ततो द्विजः सदा लक्ष्मीमजयन् तादृग् हास्यवाचा जल्पन् धन्यपि स द्विजो दुर्गतिं गतः । अन्यस्तु आरम्भमकुर्वाणः स्वर्गभाग्जातः । अतः पापकं वचो न जल्पनीयम् ।

इति पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्धः ॥२५०॥

[251] अथ कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्धः

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी चक्रेश्वरीमाराराध । सा च प्रत्यक्षीभूताऽवग्—मन्त्रो दत्तः । उक्तं च—त्वया एष मन्त्रो लक्षवारं जपनीयः । ततोऽहं वरं दास्ये तव । ततस्तेन मन्त्रो जपितुमारब्धो । लक्षप्रमाणो जपितः, देवी न प्रत्यक्षाऽभूत् । ततो द्वितीयवारं जपितः तथापि न प्रत्यक्षाभूत् । एवं

दशलक्षवार जपितः एकादशे लक्षे गणितुमारब्धे देवी प्रत्यक्षाऽभूत्, प्राह च-वरं मार्गय। सोऽवग्-त्वयोक्त लक्षे गणिते मन्त्रेऽहं प्रत्यक्षा भविष्यामि। एकादशे लक्षे जपिते कथं प्रत्यक्षाऽभूस्त्वम् । सा देवी प्राह्—त्वया पूर्वभवे दशवार कठोरवाक्यानि 'मारिस्फाडि' इति जल्पित तत्कर्म दशलक्षगणने न गत। तेन एकादशे लक्षे जपिते प्रत्यक्षाऽभूवम्। ततो देवी तुष्टा स्वर्णरससिद्धिविद्यां ददौ तस्मै। तत. स श्रीमानभूत् । सप्तक्षेत्र्यां श्रिय व्ययित्वा स्वर्गं गत । तत' क्रमान्मुक्तिगाम्यपि भविष्यति । इति कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥२५१॥

[252] अथ प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः ।

ब्रह्मदत्तचक्रिणो देवतापार्श्वात् सर्वतिरश्चा भाषा ज्ञाता। देवतयोक्त-यदि मया दत्ता विद्याऽन्यस्मै कथयिष्यते तदा तव मृतिर्भविष्यति । तत स चक्री सर्वेषां तिरश्चां भाषा वेत्ति ।

अन्यदाऽन्तःपुरस्थस्य चक्रिणश्चन्दनभृत कच्चोल शरीरोपभोगायाऽऽनीतवती राज्ञी तदा भित्तिस्थया गृहोलिकया गृहोलिकपार्श्वे प्रोक्त स्वभाषया च-दनं देहि। गृहोलिकोऽवग्—यद्यह चन्दन कच्चोलकाल्लात्वा तुभ्य दास्ये तदा राजा मां हन्त्येव । ततो गृहोलिकाऽवग् यदि न दत्से चन्दन तदाऽह मृतैव। एतत्कदाग्रह तस्याः श्रुत्वा राजा जहास । राज्ञी प्राह – स्वामिस्त्वया कथ हसित ? ततो राजा यदा यास्यस्वरूपं न प्राह, तदा राज्ञी प्राह यदि न कथयिष्यसि हास्यहेतु तदाह मृतैव। ततो भूपोऽवग्—चितापार्श्वे गच्छ तत्राऽह कथयिष्यामि। हास्यहेतौ कथिते मम मृतिर्भविष्यति। कदाग्रे[हे]त्वमुक्ते राजा चलित राज्या सह चिताया प्रवेष्टुम् ।

अत्रान्तरे राजमार्गे राज्ञोऽश्वाना भक्षणाय यवभृत शकट नीयमान राजपुरुषैर्वीक्ष्य छागी छाग प्रति प्राह—मम यवपूलक देहि । बोत्कटोऽवग्-यदि यवपूलक तुभ्य दास्ये तदा राजपुरुषा मम प्राणान् गृह्णन्ति । बोत्कटिकाऽवग्-यदि न दत्से यवपूलक तदाऽह मृतैव। बोत्कटोऽवग्-अह तु ब्रह्मदत्तवत् बोत्कटो नारीवश्यो नास्मि । यतः-प्रियावचसा मर्त्तुं चचाल । एतत् श्रुत्वा राजा दध्यौ-अह बोत्कटादपि मूर्खः। यत --प्रियावाक्यान्मर्त्तुं चलितोऽस्मि ततो राजा बोत्कट गुरु कृत्वा पश्चाद्वलते राज्ञी स्वय कदाग्रह तत्याज ॥

इति प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः ॥२५२॥

[253] अथ कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहससम्बन्धः ।

केनापि क्षत्रियेण स्वीया पुत्री चन्द्रक्षत्रियाय दत्ता। तस्यालये एवमाचारोऽस्ति या नवीना वधूरायाति तस्या ऊर्ध्वस्थाया कर्णकुण्डलमध्ये बाणो दूरत क्षिप्यते। सा च बिभ्यती नेहते। तत' सा पश्चात्पितुर्गृहे गच्छन्ती गाब्लिकां पितुः स्वल्पा (?) उपरि वंशात् छिन्दन्तीं दृष्ट्वा पितु पार्श्वे प्राह-अस्य गाब्लिकस्य किं मस्तके पीडा न भवति ? पिता प्राह-नदुष्यति मस्तकमस्य—

जो जस्स कम्माचरइ, सो तस्स जाणइ भेओ।
खलीइं वंश जिफाडिइं, तोइ न होइ पीड ॥१॥

ततः सा पश्चात्पत्युगृहे गता । तत साहसं कृत्वोर्ध्वं तस्थौ । ततो दूरं स्थित्वा तस्याः कर्णयोरन्तरे बाणस्तथाक्षिप्तो यथा न मनाक्पीडा बभूव ।

इति कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहससम्बन्ध ॥२५३॥

[254] अथ दयायां विप्रमीनसम्बन्ध ।

कस्मिंश्चिद्वेलाकूले जलवीचिप्रेरितो वारिधेर्महानेको मत्स्यः समागात् । जलं पश्चाद्गतम् मीनस्तत्र तस्थौ । तत्र तदा दुर्भिक्षे घोरे सति धान्याऽभावात् क्षुधार्त्तो लोक कुठारैर्मत्स्य छेदंछेदं स्व निर्वाह चक्रे, तथापि महाकायत्वान्न म्रियते ।

अत्रावसरे पत्नीप्रेरित कोऽपि विप्र क्षुधार्त्तो मीनमांस लातु ययौ । त मीन छेदयन्त बहुजन वीक्ष्य विप्रस्य कृपाऽभूत् । अहमेनं न छिनद्मि पापहेतुत्वात्तदा तस्य दया वीक्ष्य कोऽपि देवो मीनकायमधिष्ठायावग्–भो विप्र ! मामन्ये लोकाश्छेदंछेद मांस गृह्णन्ति त्व कस्मान्मांस न गृहाण । विप्रोऽवग्—मम दयास्ति पर भार्यया प्रेरितोऽत्रागां मांसाय परमधुना पुनर्दयोत्पन्ना मीनोऽवग्–तव कृपाऽस्ति यदि तदा तेन पुण्येन त्वमप्येतन्नभवे सुखी भविष्यसि । अयं पापी लोको मां मारयन् दुःखी भविष्यति । अहं मृत्वा अकामनिर्जरातपसाऽत्रैव पुरे राजपुत्रः पुरन्दराह्वो भविष्यामि । त्वं च ममोपाध्यायो भावी । अहं प्राग्वैरान् लोकान् कदर्थयिष्यामि । तदा त्वयाऽहं वारणीय पापात् । एवं प्रोच्य देवे गते स मीनो मृत्वा तत्र पुरे राजाऽभूत् । स भूप लोकं दण्डयं त वारयामास । विप्रो मीनमारणसम्बन्धं यदा प्राह तदा राज्ञो जातिस्मृतिर्जाता । पश्चाद्भवः स्मृत । ततो विशेषतो राजा विप्रश्च दयाधर्मं चक्रतु । ततो मृतौ स्वर्गं गतौ ।

इति दयाया विप्रमीनसम्बन्ध ॥२५४॥

[255] अथ रामरावणदुर्योधनकंसशातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्ध ।

श्रीरामो रावणः कंस–स्तुर्यो दुर्योधनो नृप ।
एषा चतुष्टयी मूर्खा, पञ्चम शातवाहन ॥१॥

कुरङ्गः काञ्चन पूर्व, न दृष्टो न श्रुत क्वचित् ।
दृष्ट्वा दधाव स रामो, यत्तन्मूर्खत्वमुच्यते ॥२॥ (१)

सीतायाः परितो यस्य [येन] रेखामुल्लङ्घयितु कोऽपि देवो वा दानवो वा न शक्नोति सा तादृशी रेखा दृष्ट्वाऽपि कामपीडितो रावणो भिक्षुरूपधरो भिक्षायाचनाकपटं कृत्वा सीतां य जहार तद्रावणस्यापि मूर्खत्वम् । (२)

देवक्या पाणिग्रहे देवक्याः सप्तापत्यानां मध्यादेकेन स्वमरणं श्रुत्वाऽपि यत्कंसो देवकीमेव न मारयामास तत्कंसस्यापि मूर्खत्वम् । (३)

पञ्चभि पाण्डवैर्महाबलभुजाशालिभिर्द्वादशवर्षाणि वनवासे स्थितम् । पुनः प्रतिज्ञां पूरयित्वा

गतैस्तैर्ग्रामपञ्चक दुर्योधनपार्श्वे मार्गितम् । ततः क्रमादेकं ग्रामं मार्गितम् । स च दुर्योधन' शूच्यमात्रां भुवं न तेभ्यो ददौ । पश्चाद्युद्धे जायमाने स्वमरणात्सर्वां भुवं तेभ्यो ददौ । यत्त-द्दुर्योधनस्य मूर्खत्वम् । (४)

शेषेण पूर्वं शातवाहनस्याग्रे तुष्टेन प्रोक्तं–त्वया मृन्मय सैन्य कारयित्वा गोदावर्यां मोच्य ततः सजीव तद्भविष्यति युद्ध च दृढ करिष्यति । ततो वैरिबल मृन्मयं सैन्यं कृत्वा जित तेन एवं बहुशो मनोरथस्तस्य पूर्ण । एकदा शातवाहनेन वरे दत्ते शेषेण मशय कृत ततस्तत्कार्यं न सिद्धम । इति शातवाहनस्यापि मूर्खत्वम् । (५)

इति रामरावणदुर्योधन–कंस–शातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्धः ॥२५५॥

[256] अथ तीर्थसेवाफले गिरिकुण्डसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे गिरिकुण्डभूपोऽनेकपापकृत् न मन्यते देवगुरुमातृपितॄन । परस्त्रीपरधनहरणपापर्धि-चौर्यादि करोति स्म । जीवान् घ्नतस्तस्य रोग उत्पन्न । एकदा यावत्परद्रोहपरस्त्रीहरण ध्यायति तावदेकः श्लोक व्योम्नि श्रुत —

धर्मादधिगतैश्वर्यो, धर्ममेव निहन्ति यः ।
कथं शुभायतिर्भावी, स स्वामिद्रोहपातकी ॥१॥

एतदर्थं ज्ञात्वाऽवबुद्ध. सन् अचिन्तयदिदम्–अहो मया बहूनि पापानि कृतानि, तेभ्य कथं छुट्टन मे भविष्यति । तत्पापच्छिदेऽद्रिजलपाताय ययौ । स यावद्बहिर्ययौ तावद् गा पश्यति स्म । सा च शृङ्गेण नॄन् घ्नन्ती तटान्युत्पाटयन्ती सम्मुखमायान्ती खड्गमुत्पाट्य तां हन्तु दधाव । ततो गौरपि तं हन्तुमधावत् । तत्राऽसिना भूपेन तस्या द्विधा कृतायां काचित् स्त्री निर्ययौ । सा च स्त्री भीषणाङ्गी कर्त्रिकां करे कुर्वती निष्ठुराक्षरेण भूपं प्रत्याह—

अरे त्वया पशुर्दीना, हता गौरस्त्रवर्जिता ।
यद्यस्ति काऽपि ते शक्तिः, तद्युध्यस्व मया सह ॥२॥

श्रुत्वैतत् राजा ता प्रत्यवग्—

भवता (ती) युवती काचित् कदलीदलकोमला ।
अहं तु क्षत्रियः शूरः, शास्त्रशस्त्रविशारदः ॥३॥

गौरवग्–यदि ते शक्तिः स्यात्तदा युद्ध कुरु । श्रुत्वैतत् भूप सासिस्तां जघान । ततो वत्सोऽपि शृङ्गेण तमहन् । अखण्डिताङ्गो गौर्जगौ ।

तावद्बलं महस्ताव–त्तावत्कीर्तिरखण्डिता ।
यावत्पुराकृतं पुण्यं, न म्लानिमधिगच्छति ॥४॥

पुण्यमेव प्रमाण स्या-दङ्गिनां शुभकर्मभि ।
क्षीणतेजा कियत्काल, तपत्यपि विभाकर ॥५॥

पुण्यैः समाप्यते सव, सुखदायि सदापतिः ।
तदेव हीनपुण्यस्य, विपदद् दु खदायकम् ॥६॥

तदा दध्यौ भूप—अहमनया गवा पशुनाऽपि जितो व्योम्नि उत्पाटितश्च तया एव ध्यायति स्म । स मया राज्य त्यक्त गोवधश्च कृत । एतदपि पाप जात मे दुर्गतिद, यत —

अनासादितपुण्यः मन्, जन्तुर्भर्वति दु खितः ।
विना नीवीं सुदक्षोऽपि, पुमान् सीदति दीनवत् ॥७॥

अधुना क्रियते पुण्य मया दुःखात्मना किमु ।
लग्ने प्रदीपने कूप, खन्यमान सुखाय न ॥८॥

एव ध्यायतस्तस्य देवाङ्गनागताऽवग—पूर्व मदीयेन राज्य त्यक्त पश्चाच्चिन्तित मूर्ति मुक्त्वा मे वध कृत । अधुना किं धर्म कर्तु शक्नोमि । राजा दध्यौ—केय मे वक्ति । तावद्देवी जगौ अह त्वद्गोत्रदेवी । त्वत्सत्त्वपरीक्षण कृत गोरूप कृत्वा । कोपो न क्रियते । धर्म कुरु । कथय मया कुत्र धर्म क्रियते ? देव्यवग—त्व गच्छ सर्वतीर्थेषु । अवसरे धर्मस्वरूप वक्ष्ये । सातिरोऽभूत् । राजा दध्यौ—मद्भाग्य विद्यते यतो देवी प्रसन्नाऽभूत् । ततोऽनेकेषु तीर्थेषु भ्रमतो गतकुत्पाव- कस्य कोङ्कणगिरिं गतस्य चित्त निर्मलमभूत् । इत कोऽपि सुर पूर्वभववैरी प्रत्यक्षोऽभूत् । गदापाणि कोपवान् जगौ । यत्त्वया मत्पत्नी हृता तत्पाप समेतमधुना तदा मौने कृते तेन समुत्पाट्याम्बरे पर्वतगुहायां नीत्वा विविधैर्घनादिभिस्ताडयामास । ताड्यमान स पुनस्तेन पर्वताग्रे आस्फाल्यते स्म । तदा स दध्यौ—

अहो प्रागुप्तपापद्रो, पल्लवोऽयमभू मम ।
पुष्पं फल पुनर्भावि, दुर्योनिनरकादिषु ॥९॥

ततस्त मुक्त्वा स तिरोदधे तस्य प्राग्भवभाग्यात् । ततो द्रपरिक्त पुण्यकृते भूमौ भ्रमन् गोदावरीतटे ययौ । तत्र सैव सुरी समेत्यावग—वत्स ! त्व गच्छ सिद्धाद्रौ । तत्र हत्यादिपाप गमिष्यति तत्तीर्थ सर्वपापहृत् । यत —

यदा शत्रुञ्जये तीर्थे, गत्वा विधीयते तप ।
तदा हत्यासमुद्भूतं, पातक छेद्यते ध्रुवम् ॥१०॥

पापिनाऽपि मनुष्येण, गत्वा शत्रुञ्जयाचले ।
कुर्वताचीं जिनेन्द्रस्या-नन्त पापं निकृत्यते ॥११॥

तत्र तीर्थे गत्वा सर्वं कर्म क्षिप । तत्र त्वं सेत्स्यति इति श्रुत्वा तीर्थमाहात्म्यं शत्रुञ्जयं प्रत्यचलत्। सप्तभिर्दिनैरनाहार स शत्रुञ्जय ददर्श । दृष्ट्वा तत्र तत्तीर्थं, नत्वा तत्रस्थं मुनिं धर्ममिति शुश्राव । यदि शीघ्रं मुक्ति गन्तास्ते तदा चारित्र गृहाण । शत्रुञ्जये गत्वा शुद्धं तप. कुरु यथा ते हृत्यादि पापं याति । ततो व्रतं गृहीत्वा शत्रुञ्जये ययौ । तत्र सुर एकोऽवग्—इद तीर्थं सर्वपापक्षयकर जगदुत्कृष्ट सीमन्धरजिनेन वर्ण्यमानं मया श्रुतम । तत्र गिरिकुण्ड तीर्थसेवया सर्वरोगरहितो दीक्षा लात्वा सिद्धः ।

इति तीर्थसेवाफले गिरिकुण्डसम्बन्धः ॥२५६॥

[257] अथ धर्मौपधविपये भूपपुत्रसम्बन्धः ।

क्षितिप्रतिष्ठिते पुरे जितशत्रोर्भूपस्य बहूपयाचितै पुत्रोऽभूत्। स च तस्य जीवितादतीवप्रिय । ततस्तेन राज्ञा ध्यातम। मम पुत्रस्य यथा रोगो न भवति तथा करोमि । ततो वैद्या आकारिता । भूपेन प्रोक्त च तेभ्य—तथा कुरुत यथा मम पुत्रस्य नीरोगता स्यात् । तैरुक्त-क्रियते । ततो राज्ञोक्त—कस्य कीदृशी चिकित्सा विद्यते । प्रथम प्राह—मदीयान्यौपधानि अग्रेतन पूर्वोत्पन्न रोग हृन्ति [घ्नन्ति]; यदि पूर्वं न स्याद्रोग तदौपधभक्षितार घ्नन्ति औपधानि सद्यः। ततो राज्ञोक्तमल तवौषधैः स्वहस्तोदरप्रमर्दनशूलव्यथातुल्यै' । (१)

द्वितीयोऽवग्—यद्यस्ति रोगस्ततस्तमुपशमयन्ति । अथ नास्ति ततः तानि प्रयुक्तानि प्राणिनो न दोप न गुण कुर्वन्ति । राज्ञोक्त-अलमेतैरपि भस्माहुतिकल्पैः । (२)

तृतीयोऽवग्—यदि रोगे सति प्रयुज्यन्ते तदा रोग निर्मूलकाप कपन्ति। अथ न विद्यते रोगस्तथापि त देहिन बलवर्णलावण्यवन्त कुर्वन्ति, पूर्वोत्पन्न रोग घ्नन्ति, उत्पद्यमान घ्नन्ति, भविष्यन्तमपि च । (३)

ततो राज्ञा तृतीयवैद्योक्तानि औपधानि पुत्र कारित [पुत्राय कारितानि] । ततो यावज्जीव नीरोगशरीरः स पुत्रोऽभूत् भावितभूतभविष्यद्रोगस्फेटनात् । अतस्तृतीयवैद्योक्तौपधतुल्यानि वन्दनप्रतिकर्मकृत्यानि । इति धर्मौपधविपये भूपपुत्रसम्बन्धः ॥२५७॥

[258] अथ मातापित्रोर्विपये पुत्रभक्त्यादिकथा ।

कमलपुरे श्रीदश्रेष्ठिनश्चत्वार' पुत्रा शिवापत्नीभवा बभूवुः । चत्वारोऽपि परिणायिताः बहुधनव्ययात् हर्षेण, कष्टेन भूरिधनमर्जित क्रमात्, स्नुषाभिः स्वस्वपतयो वशीकृताः पृथक्पृथग्जाताः । तत. पिता स्वयमेव लक्ष्म्यर्जनकृते रलति [अटति] ।

एकदा श्रेष्ठिन स्वय घृतमानयन्त वीक्ष्य विमल सुहृद प्राह-भो मित्र ! कथ त्व स्वमानयसि कणादि । श्रेष्ठी प्राह-वसतिं ग्रामे मुषितोऽस्मि । सुहृत्प्राह—केन मुषितः ? श्रेष्ठी जगौ-मम स्नुषाभि पुत्रा उद्दाल्य गृहीताः किं क्रियते । सुहृद् प्राहाह तव पुत्रान् वालयिष्यामि । ततो मित्रेण धर्मोपदेशेन द्वौ पुत्रौ स्वपत्नीभ्या वालयित्वा श्वशुरश्वश्रूभक्तौ कृतौ अन्यौ न । ततो मातापित्रोर्भक्तौ जातौ तौ इहपरलोकसुखिनौ जातौ नान्यौ [नान्यौ] ।

इति मातापित्रोर्विपये पुत्रभक्त्यादिकथा ॥२५८॥

[259] अथ अणक्षककुम्भकारकथा ।

पाटलपुत्रपुरे अणक्षक कुम्भकार कस्यापि मोटिमादिवयवलनवस्त्रपरिधानभूषणपरिधानोरुवजल्पनादि असहमानो नगराभिगत्यारण्ये तृणमये कुटीरके तस्थौ । पुरमध्ये नैति । तत्रैकदा नृप भ्रमभ्रमारूढो भूयो गत । तृषा लग्ना, तेन पानीय पायितो भूप सन्मानं दत्त्वा पुरीमध्ये आनीय सप्तग्रामदानपुरस्सर धवलगृह तस्य प्रासायादात् ।

इतो राजा तैलिकपुत्रीं अरण्ये बदरीफलानि चुण्टन्वीं सुरूपा वीक्ष्य परिणीतवान् । तयाः सप्तभूमिमय गृहमदात् । वयवेषधरा सखीपरिवृता सुखासनासीना कुम्भकारगृहोपान्ते गच्छन्वीं कचिन्नरं वरवेषं दृष्ट्वा नक मोटयामास । तां तथा कुर्वन्तीं दृष्ट्वा अणक्षकोऽवग्—

कल्ले बोरज वीणती, अज्ज न जाणइ एक्स ।
अट्ठवियं करिसि घर, न महु एह अणक्ख ॥१॥

पुनरपि कुम्भकार पुराद्बहिर्गत्वा पूर्ववत्तस्थौ । इति अणक्षककुम्भकारकथा ॥२५९॥

[260] दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्ध ।

अन्यायसंभवा श्री—रन्यायेनैव याति सा नियतम् ।
अर्जुनहानिक्लेश, केवलमवशिष्यते सुधिया ॥१॥

साकारोऽपि सविद्योऽपि, निर्द्रव्यः क्वापि नार्च्यते ।
व्यक्ताक्षरः सुवृत्तोऽपि, द्रम्मः कूटो विवर्ज्यते ॥२॥

हस्तिनागपुरे युधिष्ठिरस्याग्रे भीमेनोक्तम्—

मूर्खस्तपस्वी राजेन्द्र !, विद्वांश्च वृषलीपतिः ।
उभौ तौ तिष्ठतो द्वारे, कस्य दानं प्रदीयते ॥३॥

युधि०— सुखसेव्यं तपो भीम ! विद्याकष्टं दुराचरम् ।
विद्वांसं पूजयिष्यामि, तपोभिः किं प्रयोजनम् ॥४॥

भीमोऽवग्— श्वानचर्मगता गङ्गा क्षीरं मद्यघटे स्थितम् ।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर ॥५॥ इत्यादि ।

भय लोभस्तथा स्नेह—स्त्रयो दानस्य हेतवे ।
ये दातारस्त्रयं मुक्त्वा, धन्यास्ते मुक्तिगामिन ॥६॥

इति दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ॥२६०॥

वत्थाइं पसत्थाइं, कुडुंवनेत्थारणत्थमत्थं तु ।
एवं सत्तागार, कय नरिंदेण जिणधम्मे ॥४॥

पारणकदिने त्रिभुवनविहारस्नात्रागतैर्बहुभिः श्राद्धैः सम भुङ्क्ते स्म । भूपः भोजनावसरे प्रथमं गुरून् प्रतिलाभ्य दीनदुस्थादिभ्योऽन्न ददन् भुङ्क्ते च पटहवादनपूर्वं च गृहद्वारं उद्घाटं मोचयति, यत·—

नेवदारंपिहावेइ, भुजमाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिंदेहि, सड्ढाण न निवारिया ॥५॥

एव भूप दानं ददान दृष्ट्वा अन्ये वाहडमन्त्रिप्रमुखा लोका ददते दानम् ।

इति दाने कुमारपालमन्त्रि-अभयकुमारश्रेष्ठिकथा ॥३४८॥

[349] अथ साधर्मिकभक्तौ आम्बडदेवसम्बन्धः ।

एकदा वाहडदेवो विशिष्टनमारासनाश्ममय प्रासाद कारयितु लग्न । तत्रान्यदा यदा कुमारपालस्तं द्रष्टुमागात्तदा नेपालदेशस्वामिना सोमेन २१ अङ्गुलमय चन्द्रकान्तमणिमय श्रीपार्श्वबिम्ब प्राभृत चक्रे । तद्बिम्ब दृष्ट्वा राजा वाहडदेव प्रति प्राह—एप प्रासादो मह्य दीयता, यतोऽस्मिन् प्रासादे इद विम्ब स्थाप्यते । ततो वाहडदेवोऽभ्युत्थाय विनयपूर्वकृताञ्जलि प्राह—एष प्रासाद कुमारविहारनामा भवतु । प्रतिमा स्थाप्यता । तत २४ जिनालयप्रासादे अष्टापदतीर्थावतारशोभिते तद्बिम्बं महामहोत्सवपुरस्सरमतिष्ठपत् ।

कणयामलसारपहाहिं, पिंजरे जंमि मेरुसारिच्छे ।
रेहंति कोउदंडा, कणयमया कप्परुक्खुव्व ॥१॥

इति साधर्मिकभक्तौ आम्बडदेवसम्बन्धः ॥३४९॥

[350] अथ त्रिषष्ठिशलाका पुरुषोत्तमचरितसम्बन्धः ।

कुमारपालराजर्षिणा २१ ज्ञानकोशा कारापिता । त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्रं श्रोतुमिच्छता तच्चरित्र हस्तरूढ कारयित्वा महता महेन लक्षमितरैव्ययात् धर्मशालाया राजा प्राभृतीचकार । इति त्रिषष्टिशलाकापुरुषोत्तमचरितसम्बन्धः ॥३५०॥

[351] अथ पुस्तकाराधने श्रीताडागमने श्रीकुमारपालसम्बन्धः ।

एकदा ११ अङ्ग १२ उपाङ्गादिसिद्धान्तप्रतिर्लेखिता रैमयाक्षरै राज्ञा । २० वीतरागस्तवा, १२ योगशास्त्रप्रकाशा रैमयाक्षरैर्लेखिताः । तेषां बहु प्रति लेखयित्वा साधुभ्यो वाचनाय दत्त-

थान् । राजा देवपूजावसरे सिद्धान्तपुस्तकानि पूजयामास । राजा श्रीगुरुकृतान् ग्रन्थान् लेखयितुं दधिमहणामिग्रहं ललौ । ७०० लेखका लिखन्ति कागदेषु । ततोऽन्यदा गुरून् पप्रच्छ राजा । बहुकालं पुस्तकानि कथं तिष्ठन्ति, न विनश्यन्ति च । गुरुः प्राह—श्रीताडपत्रैर्लिखितानि पुस्तकानि बहुकालं तिष्ठन्ति न विनश्यन्ति च । ततो राजा श्रीताडपत्रैः पुस्तकानि लेखयितुं लग्नः । श्रीतं(ता)त्रुटिर्जाता । राजा दध्यौ यान् ग्रन्थान् सम्प्रति लेखयितुमहं न शक्तः । ततो राज्ञा श्रीताडानयनविषयेऽभिग्रहो लले । यदा श्रीताडा आगमिष्यन्ति तदा मया भोक्तव्यं । उपवासत्रये जाते शासनदेव्या खरताडा श्रीताडा कृता । प्रातरारामिकः श्रीताडान् दृष्ट्वा राजानं वर्धयामास प्राह च—तव साहसात्सर्व खरताडाः श्रीताडाः जाताः । ततो राजा गुरवोऽन्येऽपि मिथ्यात्विनोऽपि तद्दृष्ट्वा जिनधर्मं प्रशशंसु । ततो जिनशासनेऽतीवोन्नतिर्जाता ।

इति पुस्तकाराधने श्रीताडागमने श्रीकुमारपालसम्बन्धः ॥३५१॥

[352] अथ औचित्यदाने ।

सर्वजीवान् रक्षन्तं भूपं दृष्ट्वा एकः कविः प्राह—

पूर्वं वीरजिनेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः ।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्
लब्ध्वा यस्य वचःसुधां स परमश्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥१॥

तस्मै लक्षदानम् । इति औचित्यदाने ॥३५२॥

[353] अथ श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिद्ध्यप्राप्तिस्वरूपम् ।

एकदा स्वं संवत्सरं प्रवर्तयितुकामो भूपः श्रीहेमसूरिपार्श्वे स्वर्णसिद्धिं याचते स्म । गुरुणोक्तं—अस्मद्गुरवः श्रीदेवचन्द्रसूरयो जानन्ति । ततो गुरून् बहुविज्ञप्त्या तत्र समहोत्सवमाकारितवान् । श्रीहेमसूरि-कुमारपालभूपाभ्यां द्वादशावर्तवन्दनादिभिर्विनयः कृतः । गुरुभूपौ गुरोः पादयोर्लगित्वा स्वर्णसिद्धिं याचेते । गुरुषु तामदत्तवत्सु श्रीहेमसूरिः प्राह—भगवन् ! मम बाल्ये श्रीप्रभुपादैरेकस्य भारवाहकस्य काष्ठभारात् वल्ली स्फोटिता मम पार्श्वाद् ग्राहिता, तेन वल्लीरसेनाभ्यक्तं ताम्रखण्डं युष्मदुक्तविधिना वह्नियोगात्स्वर्णीबभूव तस्य । तस्या वल्ल्याश्च किं नामेत्याविश्यतां । ततः कोपादुक्तं गुरुणा—

अमे तव मुद्गरसमायस्तत्वविषया अजीर्णं जातं किमिमां विद्यां याचसे ? तव कालविशेषाय सा सेत्स्यति । अधुना तादृग् भाग्यं भवतोः न दृश्यते अतो न वक्तव्यं । ततो गुरूणामभिप्रायं ज्ञात्वा क्षमितं, ताभ्यां गुरुभूपाभ्याम् ।

इति श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिद्ध्यप्राप्तिस्वरूपम् ॥३५३॥

[354] अथ कर्मविपये दुःस्थसम्बन्धः ।

पद्मपुरे धीरभूपो गवाक्षस्थो राज्ञीं प्रति प्राह—पश्य, पत्नि ! मया प्रजा सुखिनी कृता, क्रियते, करिष्यते च । राज्ञी जगौ—यदि त्वद्दत्तेन धनेन प्रजा सुखिना स्यात् तदा एष दुःस्थो मस्तककृतेन्धनभारो नरः सुखी क्रियतां त्वया ।

राजा प्राह—पश्य पत्नि ! अमुमपि सुखिनं करोमि । राज्ञी-प्राक्कृतं शुभं कर्मास्य भविष्यति तदा तस्यालये श्रीः स्थास्यति, नो चेत्त्वया दत्ताऽपि यास्यति ।

ततो राजा कर्मपरीक्षार्थं वर्त्मनि यस्मिन् याति दुःस्थस्तस्मिन् सपादलक्षं हारं मुमोच ।

ततः स तत्रागतो यदा सर्पं वीक्ष्यान्येन मार्गेण गतः । द्वितीयदिने राज्ञा मुक्तं हारं सिन्दूरं पतितमग्रे स गतः । ततो राजा तमाकार्य पप्रच्छ । त्वं कल्ये मार्गं मुक्त्वाऽन्येन मार्गेण कथं गतः ? सोऽवग्—सर्पो दृष्टो मार्गे । अत्र न सिन्दूरं दृष्टं मया । ततो राजा जगौ—

मसिचिण माथामाहि आखर जे आगइ लिख्या ।
अधिक न उ ठाथाइं, चहुटा ते चाचिग भणः ॥१॥

एवं प्रोच्य तस्य वर्यं भोजनं दत्त्वा राजा विससर्ज ।

इति कर्मविपये दुःस्थसम्बन्धः ॥३५४॥

[355] अथ कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ।

एकस्य पण्डितस्य बहुकालादेकः क्षुल्लकः सम्पन्नः । स बहुभक्षकः [पण्डितस्त] पण्डितं दृष्ट्वा वर्णयति मम क्षुल्लकोऽतीववर्योऽस्ति, तदाऽन्येन साधुना हास्यादुक्तं—

घसि घोघर ढुंढणि ढलस खीच तेल नो काल ।
गुरुनइ चेलो सांपडिओ, चालंतो दुकाल ॥१॥

इति कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ॥३५५॥

[356] अथ कृत्तकर्णपुच्छशृगालसम्बन्धः ।

एकदा एकस्मिन् ग्राममध्ये शृगालः समागात् भिक्षार्थं [भक्ष्यार्थं] यदा तदा लोकानामग्रे निर्गन्तुं न शशाक । ततः स मायया जीवितुं वाञ्छन् उत्कटके मृतप्रायो भूत्वा पतितः । तदा लोका मिलिता मृतोऽयं मृतोऽयमिति जगुः । तदा एको वैद्यस्तत्रागात् प्राह च–अस्य शृगालस्य कर्णेन भक्षितेनातिसारो याति । अस्य पुच्छेन च शिरोऽर्त्तिर्याति । दन्तैर्ज्वरो याति । ततो लोकैः कर्णौ छिन्नौ, ततः पुच्छं छिन्नं, ततो यदा दन्तादिच्छेदं कर्तुमुत्थिता लोका. तदा स उत्थाय श्लोकमेकं जल्पन्नष्टः—

गतौ कर्णौ गत पुच्छ, दन्ताना विद्यते कथा ।
व्याधिना पीडितो लोको, य पला[य]ति स जीवति ॥१॥

एवं प्रोच्य गत स शृगालो जिजीव चिरमेव ये विनष्ट ग्राम दृष्ट्वा त्यजन्ति ते जीवन्ति।

इति कृतकर्णपुच्छशृगालसंबध ॥३५६॥

[357] अथ प्रभुपूजाया कार्पटिकासबध ।

श्रीपुरे भूपपत्नी चन्द्रवती एक कार्पटिक मस्तकन्यस्ते धनभार विक्रीणन्त वीक्ष्याकस्मात् प्राप्तजातिस्मरणा भूपे शृण्वति गाथामेका प्रोवाच—

अडवी पत्ती नई अजल तोइ न वूढा हत्थ ।
अज्ज एह कबाडीह टीमइ सा.ज अवत्थ ॥१॥

एतां गाथा श्रुत्वा सोऽपि कार्पटिक प्राप्तजातिस्मरणोऽश्रुप्रवाह मुञ्चन् बभूव।

इत भूप पप्रच्छ—पत्नि ! एषा गाथा कस्मा जल्पिता त्वया ? सा प्राह—वने अह कार्पटिकाऽभूव एष कार्पटिको मम पतिरभूत् । प्रभो पूजाफल यतिपार्श्वे श्रुत्वा अटवीस्थवृक्षपुष्पाणि लात्वा नद्या जल नीत्वा प्रभो पूजामकार्षम्, एष तु बहूक्तोऽपि प्रभो पूजा नाकार्षीत् । अह प्रभो पूजाफलाद्भवत्पत्नी अभूव । एष तु तदवस्थ एव । अतो मया गाथा प्रोक्तेय । ततो राजा सोऽपि कार्पटिकोऽन्येऽपि बहवो जना प्रभो पूजा चक्र ।

इति प्रभुपूजाया कार्पटिकासबंधः ॥३५७॥

[358] अथ योगिचेल्लकसम्बन्धः ।

एकदा योगिचेल्लकौ निर्गतौ । वर्त्मनि चेल्लकेनाकस्माद्धासनिका प्राप्ता कस्यचित् ।

ततोऽग्रे यदाऽचालीद्योगी, तदा चेल्लको जगौ । साम्प्रतमग्रासमग्रामे स्थीयते तदा योगिनोक्तमात्मनो निर्ग्रन्थस्य का भाति ? ततश्चेल्लको यदा न चलति तदा योगिना ज्ञातमस्य पार्श्वे किमपि धन विद्यते अतोऽस्य भीर्भवति । तत पश्चाद्वलित्वा योगिना चेल्लको विलोकित । धनं निर्गत । तत प्रोक्तमात्मनो धनमनर्थाय भवति, तदिद त्यज। ततस्तेन धन त्यक्त। ततश्चेल्लको जगौ-भय भाजने भवति सद्धन धन च गतमतःत्यक्ता । ततो निर्भयौ भूत्वा योगिचेल्लकौ चेलतु । इति भयभाजने योगिचेल्लकसम्बन्ध ॥३५८॥

[359] अथ वृद्ध वे वृद्धनरसबधः ।

एको वृद्धो मार्गे अधोमुखो याति, तदा [तं] तथा हिण्डमान दृष्ट्वा तरुण एक पुमान् प्राह—भो वृद्ध ! अधोमुख किं हिण्डयते ? वृद्धोऽवग्—रत्नमेक मार्गेऽस्मिन् पतित

तद्विलोकयन्नस्मि । युवा प्राह—किं रत्नं पतितं ? वृद्धो जगौ भवद्भिरपि जीवद्भिरत्र रत्नं हारयिष्यते, युवाऽवग्-किं रत्नं भवति तत् विलोक्यते । वृद्धोऽवग्-यौवनरत्न हारित पातित च तद्विना सर्वोऽपि पुत्रपत्नीप्रभृतिर्न मानयति । यतः—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा ! कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१॥

युवा प्राह—सत्यंवृद्धेनोक्तं--ततो वृद्धं क्षमयित्वा युवा गतः ।

इति वृद्धत्वे वृद्धनरसम्बन्धः ॥३५९॥

[360] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे धनिनं राजा दण्डयितुमिच्छति छलं चिन्तयति च, परमवसरं न लभते । दीपालिकावसरे राज्ञा ध्यातं—मम लक्ष्मीः पट्टराज्ञी वर्त्तते । एतद्भार्या तु प्रभाते वक्ष्यति—

'पइ सिलाछि निसरि अलछि'

इति वदन्ती बहिर्निर्यास्यति एवं प्रोक्तेऽहं धनिनं दण्डयिष्यामि । श्रेष्ठिना राजाभिप्रायज्ञेन पत्नीति शिक्षिता शूर्पकं त्यजन्ती प्रोवाचोच्चैः ।

'पाडोसीनि रीति रीति'

एवं श्रुत्वा भूपो न दण्डयितुं समर्थोऽभूत् ।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥ ३६० ॥

[361] अथ सामायिके निसढस[वि]सढकथा ।

असमंजसाइ जंपइ, गहिओ मामाई अपि जो सड्ढो ।
विसढो वि कुगइपत्तो, सो मो[सो] यड अप्पणो खलिअ ॥१॥

तथाहि—साकेते पुरे आसधर' श्रेष्ठी मृदुभाषी, तस्य वसुन्धरा पत्नी, विसढ पुत्रः प्रमदमदादिवान्, तस्य मित्र निसढः प्रकृत्या धर्मकर्मकृत् ।

अन्यदा धनं प्रधानमिति हृदये कृत्वा धनार्जनाय निर्गतौ स्वगृहात्तौ । मार्गे चलन्तौ साधुद्वयमुन्मार्गे समागच्छन्तं दृष्ट्वा च मिथश्चिन्तयतः । एतौ साधू ज्ञानिनौ लाभादि पृच्छयेते, तदा तत्रैत्य ज्येष्ठः साधुराचष्ट को मार्गोऽमुकग्रामस्य, ततस्तौ हसत स्म । हसनकारणे साधुना पृष्टे तौ वणिजौ जगदतुः—आवाभ्यां ज्ञातमेतौ साधू ज्ञानिनौ स्तः अतो लाभादि

प्रक्ष्येते, भवद्भ्यां मार्गोऽपि न ज्ञायते अतो हास्यमभूत् । साधू जगदतु—द्वौ मार्गौ स्त-द्रव्यभावरूपौ। वयं तु भावमार्गं जानीमः। द्रव्यमार्गोऽत्र गमनागमनरूपः पन्था, [तस्माद्भावमार्गात्तु इह लोको न स्यात् द्रव्यमार्गात्तु स्यात्] तस्मात् भावमार्गात्तु न द्रव्यमार्गादिहलोकः स्यात् । भावमार्गात्तु स्वर्गादिशिवान्तं सुखं स्यात्।भावमार्गः सामायिकं 'सामाइअंमि उ कए'।१। इत्यादि ।

ततो द्वावपि सामायिकाभिग्रहं ललतु । क्रमाद्विसढः प्रमादी मित्रेण वार्यमाणोऽपि सामायिकं हास्यकौतुकादिभिः खण्डयति, विकथां करोति स्म । अन्यदा कृतसामायिकं तं प्रति श्राद्धैरुक्तं—निरवद्यं सामायिकं सावद्यैर्वचोभिर्न खण्ड्यते । ततः स प्राह—मम प्रकृतिरियं, मत्प्रातिवेश्मिकः सान्त इवास्ति । यतः—

मह पाडिवेसओ जह, वारिज्जंतावि पुत्तनत्तूहिं ।
अइअ निट्ठुरभासी, होइ तहा अहमवि अहन्नो ॥२॥

तथाहि—अस्ति सान्तो नाम्ना धनी स च निष्ठुरमेव भाषते पुत्रादिभिः समं । तथाहि—

निट्ठुरभासी पुत्ताइ संतई दूमेइ ।
अह अक्खया पत्तो, वीवाहो तस्स गेहंमि ॥३॥

तणयदुहियाइ तत्तो, पत्ते वरिणज्जयस्स समयंमि ।
पुत्तेण पिया भणिओ, पजंपि[य]व्व न दुव्वयणं ॥४॥

अन्नोवि हु भासंतो, अमंगलं ताव वारिअव्वो अ ।
जम्हा आसन्नोच्चिअ, पवट्टए लग्गसमओत्ति ॥५॥

तो भणइ सिट्ठिसंतो, लग्गं वा इओ मरणं वा एउ ।
नाहं किंचिवि भणिमो, मुउव्व मुक्क व्व चिट्ठिस्स ॥६॥

तत्तो निसीहसमए, सयं समुट्ठे वि संत[ओ] सिट्ठि ।
अवलोइनिगहचक्कं, विणिच्छिय लग्गसमयं व ॥७॥

सो सहइ नियतणयं, रे रे छोहरय गोरकयंडोउ ।
उट्ठवसु जेण लग्गं, सो साहइजइमूओ नेव ॥८॥

तो भणियं तणएणं, मामा ताय एरिसं वयणं ।
भणसु सुभासियवयणं, जं चउरीए धूया चडिही ॥९॥

चडउ चउरीए सूलीए वावि ताहि न किंपि जंपिस्सं ।
जाव न एसा रंडा, मज्झ गिहाओ विणीहरिआ ॥१०॥

तो भणियं तणएणं, रंडा मा भणसु ताय पढमंमि ।
सो भणइ तुम्ह जणणी, सयावि रंडा मए भणिआ ॥११॥

तहवि न जाया रंडा, किं रे दुद्धाइ मंगलसएहिं ।
जो मंमि एवमाई, तब्भणिमाण नो संखा ॥१२॥

एवं स श्रेष्ठी दुष्टवचःपरो न निववर्त्ते । एव ममापि स्वभावेन सत्यपि सामायिके सावद्यवचोजल्पनं । विसढ सावद्यं सामायिकं करोति स्म । यदा कोऽपि वारयति तदा स वक्ति—यदा त्वं स्वर्गे गमिष्यसि तदाऽहं मार्दङ्गिको भविष्यामि । मम केलिस्वभावो न याति । कालेन निसढ सामायिकपरो मृत्वा महर्द्धिक सुरः स्वर्गे जातः । पिसढो मृत्वा स्वल्पर्द्धिको मार्दङ्गिको जातः । तेन प्राक्स्नेहात् गौरवेण दृश्यमानोऽपि तद्विभव दृष्ट्वा प्राग्भव स्मृत्वा झूरयति ।

सरिसो गिहिधम्मो, दोहिवि परिवालिओ तहवि जाओ ।
अज्झवसायवसेण, एमो सामी अह भिच्चो ॥१३॥

इत्यादि । ततो द्वावपि मुक्ति यास्यत ।

इति सामायिके निसढ[वि]सढकथा ॥ ३६१ ॥

[362] अथ सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ।

वज्रकर्णभूप सम्यक्त्वधारी नान्येषा देवाना मस्तक स्वं नामयति । ततो मुद्रिकास्थ जिन नमन् निजेशं सिहोदर न नमति । तस्य क्रमाद्रामलक्ष्मणौ धर्म्मोत्साहाय्यं चक्रतु. । उक्तं च—

अहं सात्विकमूर्धन्यो, वज्रकर्णमहीपतिः ।
सर्वनाशेऽपि योऽन्यस्मै, ननाम न जिनं विना ॥१॥

इति सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ॥३६२॥

[363] अथ रामलच्मणरावणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ।

रावणं जित्वा पश्चादयोध्यायामागच्छन् रामो लक्ष्मणेनोक्तः । तुङ्गगिरौ हनुम-[माता] न्मातुमिलयते । ततो रामप्रेषितोऽग्रे भूत्वा हनुमान् गत्वा मातर नत्वाऽवग्-राम आगच्छन्नस्ति, किमपि भव्य वाच्य । "आगच्छन्त्वत्र रामादय" इति तयोक्ते आगता रामादयस्तत्र । हनुमन्मात्रोक्त—भो राम ! मूर्खकुटुम्ब ! त्वया गम्यतां । रामोऽवग्—भो मातरहं कथ त्वया मूर्खः कृतः ? सा तूवाच—यत्त्व सौवर्णं मृग ज्ञात्वाऽपि तत्पृष्ठौ धावितः, मृगा रैमया न भवन्तीति न विचारित, अतस्त्वं मूर्ख । यतः—

न भूतपूर्व न कदापि सस्मृतं, हैम कुरङ्गो न कदापि वीक्षितः ।
तथापि तृष्णा रघुवंशजस्य, विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥१॥

लक्ष्मणेनोक्तमहं कथं मूर्खः ? सा प्राह—लोकोक्त्यैव प्रोच्यते—रामेण खरदूषणाभ्यां सह युद्धं कुर्वाणेन यथा सिंहनादरूपात्स्वरः कृतः तदा त्वं राम मरणान्तेऽप्याशास्वरमजल्पं तं ज्ञात्वाऽपि सीतां शून्यां मुक्त्वा तत्रागाः । अतस्त्वमपि मूर्खः ।२।

सीतयोक्तमहं कथं मूर्खा ?—यद्रामकर्षितरेखाया बहिः पदं न्यस्तवतीति तेन मूर्खा ।३।

हनुमता पृष्टं—कथमहं मूर्खः ? सा प्राह—ईदृग्बली भवान् लङ्कावने सीतापार्श्वे गतः सन् तामुत्पाट्य यन्नानीतवान् अतस्त्वमपि मूर्खः ।४।

सर्ववृद्धबालयोक्तं यथा सत्यं मानितं तथाऽन्यैरप्यधुना वृद्धप्रोक्तं माननीयम् ।

इति रामलक्ष्मणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ॥३६३॥

[364] अथ लोकाः भूपानामपि दुराराध्या भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ।

रामेण वने गच्छता भरतं प्रति शिक्षेति दत्ता—

आलस्योपहतः पादः, पादः पापण्डमाश्रितः ।
राजानं सेवते पादः, एकः पादः कृषीबलः ॥१॥

एकः पादं त्रयः पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्तव्यं, यथा पादो न सीदति ॥२॥

तदनु रामपादुकां सिंहासने उपवेश्य १२ वर्षाणि भरतो राज्यमकार्षीत्प्रजाः चाऽकरामकरोत् । रामागमे तलिका तोरणबन्धनाय प्रत्यहं एकैकसूत्रफालकमार्गणेन कैश्चिदर्पितं कैश्चिन्न केचित्तदा दूनास्तस्मिन्मार्गणे । द्वितीयदिने प्रजा रामं नन्तुं यदा गता सुखोक्तौ रामेण पृष्टायां दूने कैश्चिदुक्तं—भरतेन वयं पीडिताः । ततो रामेण भरतः पृष्टः स प्राह—मयाऽद्य यावत्सूत्रफालकं विना कोऽपि लोको न मार्गितः । ततो रामेणाचिन्ति प्रविश्यद्विवाहाय स्थापितमहिषीदोहनेच्छावत् बहुदिनेषु या न दुग्धा सा विशुष्का । अतः प्रजाऽप्येव । ततो रामेण एकः करः कृतः ततोऽष्टादशकरा जाताः ।

इति लोकाः भूपानामपि दुराराध्या भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ॥३६४॥

[365] अथ विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातसम्बन्धः ।

युगन्धरीदण्डिकोपविष्टां दुर्गां शब्दयन्तीं दृष्ट्वा शाकुनिकः पुमान् प्राह—यस्याः परिणेतहेतोः शकुना विलोक्यन्ते सा कन्या मासत्रयोत्पन्नगर्भा विद्यते तृतीयपर्वसमुत्पन्नकीटकत्वात् । तथैव दृष्ट्वा शकुनविद् प्रशंसितः । इति विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातसम्बन्धः ॥३६५॥

[366] अथ असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ।

एकस्य धनिनः पार्श्वे केनचित् प्राघूर्णकेनोक्तं—भवतः कियन्तः पुत्राः सन्ति ? धनिनोक्तं—नव । क्षणात्प्राघूर्णकोऽवग्—कियन्तो जीवन्तः ? श्रेष्ठ्यवग—पञ्च । पुनः पृष्टे—त्रयः । पुनः पृष्टेऽतिथिना श्रेष्ठी—एकमाह ।

अतिथिः प्राह—श्रेष्ठिन् ! कथमेवं त्वयोच्यते ? श्रेष्ठ्याह—

नव स्युः शयने पुत्राः, कलौ पञ्चादने त्रयः ।
सत्तायामेक एव स्यात, कार्येऽप्येको न मे सुतः ॥१॥

इति असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ॥३६६॥

[367] अथ प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ।

एकदा मुहुडासके पुरे केनचिद्राज्ञा पथि त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य गौर्वन्दिता तथा माणिक्यसूरिणा प्रदक्षिणीकृत्य खरः प्रणतः । तदनु राज्ञोक्तं—खरो भवता कथं नतः ? सूरिणोक्तं—पूजितत्वात, खरेण जातमात्रेण त्रयो देवा प्राकम्पिताः । राज्ञोक्तं—कथमेतद् ज्ञायते ?

ब्रह्मणा स्वशिरो दत्तं, ईश्वरेण विलेपनम् ।
विष्णुना भयभीतेन, गदाशंखौ समर्पितौ ॥१॥

ब्रह्मणा स्वपरीक्षाया पञ्चमं गर्दभमस्तकं कृतम् । भवेन विलेपन-स्वा विभूतिः रक्षा दत्ता कोटनाय । विष्णुना—गदा लिङ्गरूपा, शङ्खाकारः श्वेतमुखदानात् गदाशङ्खौ ।

इति प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ॥३६७॥

[368] अथ जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ।

जीर्णदुर्गे जितशत्रुर्मृगयाया गतोऽन्यदा जीवहिंसां कुर्वन् चारणश्रमणर्षिणा प्रोक्तं—

जीववधंता नरगगइ, अवधंतां गइ सग्गि ।
हउं जाणउं दोइयघडी, जिणि भावइ तिणि लग्ग ॥१॥

अनया गाथया राजा प्रबुद्धो जीवहिंसामत्याक्षीत् ।

इति जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ॥३६८॥

[369] संसारासारतायां कन्या हडि[हिडि]रेवेति कथा ।

कस्मिंश्चिद् ग्रामे एको मित्रं पाणिग्रहणोत्सुकं दृष्ट्वा प्राह—भवान् हिडौ क्षिप्यमाणोऽसि

तेनोक्तं का हिंडि ? यतिनोक्तं—यां कन्यां परिणेष्यसि त्वं सा हिंडि । सोऽवग—सा कथं क्लीविष्यते ।

यति प्राह—अस्यां हिंडौ प्रविष्टस्य दुःखं स्यात् । स च सुखम मन्यते । ततः स हिंडौ प्रविष्टः । कालान्तरे साधुनोक्तं—अस्ति सुखं ? सुहृत्प्राह—हिंडिप्रविष्टस्य क्व सुखं या की हिंडि प्रोक्ता सा सत्यैव, भोक्तुं न शक्यते लोकापवादात् । पुनः कालान्तरे साधुना पृष्टः सुखमस्ति ते । सोऽवग—कथं सुखं प्रथमं हिंडौ प्रविष्टोऽहमधुना पुत्रपत्न्यादि खिल्लिकाभिः दृढं जडितोऽस्मि ? आजीविकाया दुःखं । ततो यतिनोक्तमधुनापि मुञ्च । ततोऽवग्—प्रताद्बिभेमि । पश्चान्मृतः स नरके[क] गतः । यतिस्तु स्वर्गे सुरोऽभूत् । ततः स्वर्गादभ्येत्य नरके सुहृदग्रे प्रोक्तं—त्वं प्रताद्भीतोऽभूत् अधुनेदृशं दुःखं ते । ततोऽतीव सुरत्नभूत् अतः प्रथममेव चिन्त्यम् । इति संसारासारतायां कन्या हडिरेवति कथा ॥३६९॥

[370] अथ प्रमादिहाडिजल्पकस्त्रीसम्बन्धः ।

एका स्त्री गृहे उन्निद्रा सती स्वगृहकार्यं कुर्वाणा क्षणं विश्रामं न लाति । सा च श्रीहेम सूरिसभायां व्याख्यानं श्रोतुं गता भित्ताववष्टभ्य निद्रायति [निद्राति] बहूक्त्वाऽपि न जागर्ति, तदाकस्मात् क्षुल्लकस्य हस्तात् त्रिपुणके पतिते खाट्कारशब्दाज्जागरिता 'हाडि हाडि' इति जल्पन्ती उत्थिता तदा सर्वा सभा जहसत् [अहसत्] ।

इति प्रमादिहाडिजल्पनकस्त्रीसंबंधः ॥ ३७० ॥

[371] अथ नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्तासंबंधः ।

एकदा नाणावालराकाचार्यौ मिलितौ, मिथः कुशलपृच्छायां नाणावालाचार्याः प्रोचुः—'खरदूहवइ छइ' ।

राकाचार्यैरुक्तं—खरं किं प्रोच्यते ? नाणाचार्यैरुक्तं—स-खर', तर-त तया दूहवइ छइ अस्मन्मध्यनिर्गमनत्वात् ।

राकाचार्या जगुर्वयं—आत्रिनिर्गते जीवूं छु । नाणावाला जगुः—युष्माकं का आत्रि-निर्गता । राकाचार्याः प्रोचुः—आ-आंचलीया त्रि-त्रियोईआ आगमिका अस्मभ्यो निर्गता । अतो वयं आत्रिनिर्गते अपि जीवन्त' स्मः ।

नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्तासंबधः ॥३७१॥

[372] अथ भाग्ये जयसिंहकथा ।

कर्णाटकदेशीयकेशिराजः पुत्री मणयल्लदेवी स्वयंवरामायाता गूर्जरनृपो मूलराजः पत्तन-स्वामी अङ्गीचक्रे । परं तस्य दौर्भाग्यत्वात् नामापि न लाति ।

अन्यदा राजानं कस्याश्चिदधमयोषिति साभिलाषं ज्ञात्वा मूलराजमन्त्री मुञ्जिणीत्व-

धारिणीं मणयल्लदेवीमेव ऋतुस्नातां रहसि प्राहिणोत् । राजा डुम्बिनीबुद्धया तां बुभुजे । तस्या आधानं जातं । तदा संकेताय राज्ञा स्वनामाङ्का मुद्रिका दत्ता । तस्यै वार्त्ता कृता । स्वस्थाने गता राज्ञी । राज्ञा प्रातः डूम्बिनीं भुक्त्वा स्वयं स्मृत्वा पश्चात्तापपर काष्ठभिक्षा याचते मन्त्रिभ्य यदा राज्ञस्तप्तपुत्तलिकामालिङ्गनेन मरण कुर्वतो मन्त्रिणा मणयल्लदेव्या भोगसम्बन्ध' प्रोक्त । ततो राजा स्वस्थोऽभूत् । ततः सुलग्ने जातः पुत्र , कृते जन्मोत्सवे जयसिंहनामाऽभूत् । स त्रिवार्षिकः क्रीडया नृपसिंहासनमारूढो यदा तदा राज्ञा वयवेलां ज्ञात्वा राज्याभिषेकश्चक्रे तस्मै सूनवे । स्वयं तु आशापल्या वसन्ताह्वम् भिल्ल लक्षस्वामिन जित्वा कर्णावतीनगर निवेश्य तत्र राज्य चक्रे । ततः जयसिंहो महाराजोऽभूत । इति भाग्ये जयसिंहकथा ॥३७२॥

[373] अथ हेमसूरिनामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ।

जयसिंहो यदा धाराधीश यशोवर्मनृपं जित्वा पत्तने समागात्तदा श्रीहेमसूरिरेवमाशीर्वादं ददौ । तथाहि—

भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा !
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुम्भी भव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥१॥

राजा चमत्कृतः । ततो नृपो द्विजानाहु—श्वेताम्बराणामतीव वैदग्ध्यम् । ततो द्विजैरुक्तम्—अस्मच्छास्त्राण्यधीत्यैते विज्ञा बभूवुः । ततो हेमसूरिरवग्—मिथ्येदं श्रीवीरेणेन्द्राय यत्प्रणीत व्याकरण तदैन्द्र व्याकरण वय भणामोऽन्येषामपि व्याकरणानि विलोकयामः । विप्राः प्रोचु—अस्मदीयं व्याकरण मुक्त्वाऽन्यव्याकरण दर्शय । ततो नृपादेशान्नवीन जयहेमाख्यं व्याकरणं हेमसूरिश्चक्रे सपादलक्षप्रमाण । ततो राज्ञा पट्टहस्तिनमारूढं कृत्वा महोत्सवपूर्वं व्याकरणयुक्त राजमार्गं स्वस्थाने प्रेषीत् । व्याकरणप्रतय पण्डिताना सूरिणा ददिरे तदा प्रोक्त विप्रैर्भूपस्याग्रे—युष्मद्वंशो वर्णितो नात्र व्याकरणे । ततस्तत् ज्ञात्वा हेमसूरिणा ३२ श्लोकान् । चौलुक्यवंशवर्णनगर्भान् ३२ पादप्रान्ते देवतापार्श्वात् स्थापयामास । प्रात सर्वासु प्रतिषु दृष्ट्वा राजा चमत्कृत । विप्राः कृष्णास्या जाता ।

इति हेमसूरि[जयहेम]नामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ॥३७३॥

[374] अथ हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ।

एकदा चतुर भट्टं प्रति हेमसूरि' प्राह—किं ते हस्ते विद्यते ? भट्टोऽवग्—'हरडइ' । हेमः प्राह—किं 'हरडइ'-शब्दच्छलेन हकारो रडइ—रोदिति । चतुरो भट्टोऽवग्-हो मात्रिकायामन्त्यो-ऽस्याद्योऽभून्मात्राधिकश्च । तव[मम]नास्ति, जगद्वन्द्योऽस्ति[असि],साम्प्रतं ततो 'रडइ' श्रुत्वैतत्ततो गुरवो हृष्टा' । इति हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ॥३७४॥

[375] अथ सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ।

एकदा सोमदेवसूरिः पुरार्द्धाज्जयकेसरिसूरेर्मिलितः । मिथः प्रीतिवार्त्तायां श्रीसोमदेवसूरिराह तर्कं उच्यताम् । तदा जयकेसरिजगौ–अद्य सोमवारः पूर्णिमाऽस्ति । अतो यूयं बलिनः पूर्णिमा–सोमवारत्वात् । श्रीसोमदेवसूरिजगौ–वने तु केसरी अपि बलिष्ठः । ततो हृष्टः सूरिः ।

इति सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ॥

[376] अथ सोदरकथा ।

एकस्मिन् ग्रामे द्वौ सोदरौ कोल्‌–रामाभिधौ वसतः स्म । तयोर्भगिनी धनीकुले परिणीता ।

अन्यदा तौ भगिनीगृहे गतौ । तयोर्दरिद्रता दृष्ट्वा दध्यौ यदि लोका जानते इयमेतयोर्भगिनी ततस्तया भक्तिर्न कृता । प्रातिवेश्मिकैरुक्तम्–भवत्या इमौ सोदरौ कथं त्वया भक्तिर्न क्रियते ? ततस्तया प्रोक्तम्–गादहबूचौ इमौ । तच्छ्रुत्वा तौ दुःखितौ सोदरौ स्वगृहे गतौ पश्चात्क्रमाद्धनिनौ जातौ । ततोऽन्यदा अलवही महिषीं लात्वा भगिनीगृहे गतौ । ततस्तयोर्भक्तौ क्रियमाणायां तावेव प्रोचतुः–

गौरव कीजइ अलवही, न य को किया न उ राम ।
गरथ विहूणा माणसह, गादह बूची नाम ॥१॥

इति निर्धने गादहबूचौ स्वकीयौ इति सोदरकथा ॥३७६॥

[377] अथ गर्वे नारीसम्बन्धः ।

कापि स्त्री कस्या अपि गलश्रियं मागयित्वा स्वगले क्षिप्त्वा कस्यापि गृहे जेमनायागता । इतो गलश्रीस्वामिनी तत्रागता स्फारान् स्फारान् कवलांस्त्वरितं मुखे प्रक्षिपन्ती सखी दृष्ट्वोवाच कथयः लघवः कवला क्रियन्ताम् अतो मम गलश्रीस्त्रुटिष्यति । तयोक्तम्–यदि ते धनमस्ति तदा छोटव्यतां गलश्रीः । ततः सा लज्जिता । इति गर्वे नारीसम्बन्धः ॥३७७॥

[378] दण्डालासौवर्णकासम्बन्धः ।

एकस्य भूपस्याग्रे योगी ययौ । तदा राजा नोत्तस्थौ । ततो योगी जगौ–

तावा तुंबा दोही भूचा, राजा योगी दोही कुन्चा ।

ततो राज्ञा सिंहासने दत्ते योग्यवग्–

तावा तुंबा दोही भूचा, राजा पाहिं जोगी ऊचा ॥१॥

ततो योगिना कला स्वा दर्शिता अष्टोत्तरशततामभारमध्ये चूर्णं क्षिप्त्वा स्वर्णं योगी चक्रे । ततो हेमविद्या याचिता यदा तदा योगी नाऽदात् । ततो राज्ञा स्वखड्गे दर्शिते योगी जगौ–त्वादृशा मत्कुक्कुटेन बध्यन्ते । ततो योगिना नेत्रमेकमक्षितं ततोऽद्भुतस्योऽभूत् । द्वितीय–

नेत्रेऽक्षिते अदृश्योऽजनि । ततोऽन्ऽश्यरूपो योगी राज्ञो मुकुट जग्राह । ततो योग्यवदत्—यदि त्वां हत्वा राज्यं लामि तदा त्वया किं स्यात् । ततो विनयेन राज्ञोक्तं-त्वं कृपापरोऽसि यथा मन्नाम तिष्ठति तथा कुरु । ततः स्वर्णसिद्धिं कृत्वा राजयोगिभ्यां सौवर्णके राज्ञो रूपं योगिनो दण्ड आलेखितस्ततो "दण्डालासौवर्णिका' इति प्रसिद्धिर्जाता ।

इति दण्डालासौवर्णिकासम्बन्धः ॥३७८॥

[379] अथ बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ।

एकदा आमसभायां श्री बप्पभट्टिना धर्माशिषि दत्तायां भट्ट प्राह—

नो वापी नैव कूपी न च रसमरणी नैव तीर्थं न गङ्गा,
न(च)ब्रह्मा नैव विष्णुर्न च दिवसपतिर्नैव शम्भुर्न दुर्गा ।
विप्रेभ्यो नैव दानं न च जपनविधिर्नैव होमं हुताशो,
रे रे पाखण्डमुण्डाः ! कथयत भवतां कीदृशो धर्मलाभः ॥१॥

तदनु सूरयः प्राहुः—

दुर्वारा वारणेन्द्रा जितपवनजवा वाजिनः स्यन्दनौघाः,
लीलावत्यो युवत्यः प्रचलितचमरैर्भूषिता राज्यलक्ष्मीः ।
उच्चैः श्वेतातपत्रं चतुरुदधितटी संकटा मेदिनीयं,
प्राप्यन्ते यत्प्रसादात्त्रिभुवनविजयी सोऽस्तु वो धर्मलाभः ॥२॥

तत. सर्वे चमत्कृताः जनाः ।

इति बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ॥ ३७९ ॥

[380] अथ भोगविषये भोगसारकथा ।

अधअ अवंतरवर्षाकाल, स्त्री चरित्र अनइ रोतां बाल ।
ईह एता जे जाणइ भेअ, तेह धरि नीरवहइ महदेव ॥१॥

अस्या गाथाया रथकस्य लक्षदाने आम्रभूपसम्बन्धः ।

स्त्रीचरित्रे काम्पील्यपुरे भोगसारेभ्येन श्रीशान्तिनाथस्य प्रासाद कारितः । प्रभो कर्पूरागरुचन्दनकेसरादिभिर्भोगस्तथा क्रियते यथा शान्त्यधिष्ठाता सुरः प्रीणितः । कालान्तरे मृतायां पत्न्यामन्या प्रियामङ्गीचक्रे धनी । सा च पत्नी ग्रन्थि कुर्वन्ती स्वेच्छया भुङ्क्ते स्म । क्रमात्सर्वं धनं क्षीण । स्तोकमेव तिष्ठति । ततो ग्रामान्तरे श्रेष्ठी वासमकार्षीत् । सा च पत्नी प्रच्छन्न कृतं धन न दर्शयति स्म । धनाभावात् श्रेष्ठी कृषिकर्म विधत्ते स्म । सा स्त्री पक्वा-

भादि भक्षयन्ती भर्तुश्चवलादि कदन्नं दत्ते । श्रेष्ठी नाम्नैव भोगसारोऽभूत् । पत्नी तु भोगवती, जाता क्रमात्कुटिलाशया परनरेण सह भोगान् भुङ्क्ते स्म ।

एकदा शान्तिजिनस्याधिष्ठाता सुरो दध्यौ-प्रभो-कथमधुना भोगो न भवति ? ततोऽवधिना भोगसारदारिद्र्योत्पत्तिं तत्पत्न्या कुशीलत्वस्थापनिकाकरणादि जज्ञौ । अथ जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी चवलक्षेत्रं लुनानोऽभूत् । भार्या तु कुटिला पत्यभक्ता इति मया भोगसारस्य सान्निध्यं कार्यं ततो भोगसारभागिनेयरूपं कृत्वा मामकगृहे गत्वा च माम्या जोत्कारं कृतं पृष्टं च क्व मे मातुलोऽस्ति ? माम्योक्तं-क्षेत्रं ते मातुलः क्षेत्रं खेटयन्नस्ति । ततः क्षेत्रे गत्वा मातुलस्याङ्घ्री प्रणम्य स्थितो यदा तदा मामकोऽवग्—किमर्थमागा भागिनेय ? भागिनेयो जगौ-तव साहाय्यकृते । ततो मातुलोऽवग् गृहे भुङ्क्ष्व गत्वा पश्चात्त्वयाऽपि लात्यं क्षेत्रं । भागिनेयोऽवग्-आवाभ्यां सार्द्धमेव जिमिष्यते संप्रति मम वेला नास्ति क्षेत्रमलून विनङ्क्ष्यति । भागिनेयो जगौ क्षेत्रं लूनमेवज्ञेयमिति प्रोच्य दैवतशक्त्यैकत्र स्थापितं सवम् । मातुलोऽवग्—कथं चवलाः कथं गृहे लास्यन्ते । ततः सर्वं चवलक्षेत्रसत्कं चवलादि उत्पाट्य गृहं प्रति चचाल भागिनेयः ।

इतस्तया स्त्रिया स्वपतिभागिनेयावागच्छन्तौ ज्ञात्वा स्वपार्श्वस्थं जारं गोमाणिमध्ये छन्नं चक्रे । लप्पनश्यादि रसवती कोष्ठिकायां प्राक्षेपि तदा भागिनेयोऽभ्येत्य मामिकाया जोत्कारं कृत्वाऽऽह-मामकः समायातः आगतस्वागतादि क्रियताम् । ततः सद्यो गोमाणिकाया ऊर्ध्वं चवकभरं मुक्त्वा कणीकर्त्तुं चवलान् कुट्टयितुं लग्नो भागिनेयः तत्र जारो जर्जरीभूतः स्वं मृतप्राय मेने तदा भोगवती स्वस्योपपतिं मृतप्राय ज्ञात्वा प्राह-अधुना जिम्यतां । त्वं श्रान्तोऽभूः । ततो द्वावपि जेमितुमुपविष्टौ तदा चवलादि कदन्नं परिवेशयितुमारेभे तया । ततो भागिनेयो जगौ-अहं कदन्नं न भोक्ष्ये । तयोक्तं-वयमन्नं कुतो दीयते । भागिनेयोऽवग्-कोष्ठिकामध्यस्थां लपनश्रियं परिवेषय । ततस्तया परिवेषितां लपनश्रियं भुक्त्वा द्वावपि पल्यङ्के सुप्तौ यदा तदा छन्नः स जारः—परपुमान् बहिर्निष्कासितस्तया । स च गतो निजालये । सा तु तयोः पार्श्वे स्थिता दध्यौ-अहो अस्य डाकिनत्वं विद्यते नो चेल्लपनश्रियं कोष्ठिकास्थां कथं जानाति ।

इतो भागिनेयो मामकपार्श्वे प्राह-कथं तामलस्य सूनोर्विवाहो न क्रियते ? मातुलो जगौ धनं विना कथं पुत्रस्योद्वाहः क्रियते ? धनेनैव मनोरथाः पूर्यन्ते । ततो भागिनेयोऽवग—मामक ! त्वमुत्तिष्ठ अत्रस्थं धनं बहु गृहाण । ततो विवाहो विस्तरात्क्रियतां । तस्यां पश्यन्त्यां स्वं धनं श्रेष्ठी भूमेश्चकर्ष । ततो धनयोगाद् विवाहो मेलितो लग्नमपि गृहीतं, विवाहावसरे भोजन-दिने तया स्त्रियाऽध्यायि, तमुपपतिं विना किं सर्वजनजेमनेन ? ततो स्वस्या अभिष्टस्य प्रच्छन्नं निमन्त्रणं कृतमिति उक्तं च त्वया स्त्रीवेषधारिणा स्त्रीमध्ये भूत्वा गन्तव्यं भोजनाय । यदि त्वमागास्तदा मम सुखं स्यात्ततो विवाहदिने भोजनावसरे स्त्रीवेषभृत् स उपपतिर्जेमितुमागात् । ततः स्त्रीमध्ये जेमितुमुपविष्टः स भागिनेयो जगौ-मयाऽद्य परिवेषणं करिष्यते । मामकोऽवग् त्वमेव कुरु । ततो भागिनेये परिवेषयति सति सा स्त्री विलोकयति यदा भागिनेयः परिवेषयन् तस्य स्त्रीरूपधारिणो भाजने परिवेषयितुं याति तदा छन्नं वक्ति-त्वं गोमाणिमध्ये जर्जराङ्गोऽभूः । स उपपतिराचष्ट-नाहं स एवं द्वित्रिवारं प्रोक्ते भागिनेयो जगौ-एषा स्त्री सर्वस्य पक्वान्नादेर्निषेधं करोति, अहो पाकेनैव जिमसि तर्हि जेमनाय स्त्रीमध्ये कथमायासि । एवं प्रोच्य प्रोच्य यदा तस्याः किमपि न परिवेषितं तदा भोगवत्या उद्वाटोऽभूत् । ततो मिषं कृत्वा मोदकानानीय

क्रमुपपतेर्भोजने मोदकाः परिवेषितास्तया तदा तया स्त्रिया कियन्तो भक्षयित्वा चत्वारः कुक्षौ क्षिप्ताः । सर्वासु स्त्रीषु उत्थितासु भागिनेयोऽवग्-प्रत्येकं मम मातुलमण्डपमक्षतैर्वर्द्धाप्यता । सर्वाभिः स्त्रीभिः प्रत्येकं मंगलार्थं [सर्वाभिः स्त्रीभि]मण्डपे वर्द्धापिते यदा सा न वर्द्धापयति मण्डपं तदा भागिनेयो जगौ-मातः ! त्वं कथं न वर्द्धापयसि । पद्भुक्तौ भोक्तुमुपविष्टा, अधुना पद्भुक्ते कथं पृथग्भवसि । ततो यदा सा वर्द्धापयितुं लग्ना तदा कुक्षेर्मोदकाः पेतुः क्षितौ । मातुलेनोक्तं-मोदकाः कुत आयान्ति । भागिनेयो जगौ-नव पुत्रविवाहोत्सवे मण्डपो मोदकैर्वर्धयति साम्प्रतं । ततो मातुलो जगौ भागिनेय ! त्वं कथं ज्ञानी जातोऽसि । ततः स स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्याः स्त्रियाः पत्न्या आमूलचूलं देवः प्रोक्तवान्-अहं शान्तिनाथस्याधिष्ठाता सुरोऽनया भोगवत्या तव सर्वं धनं हृतं भूमिगतं चक्रे । त्वं दुःखी जातः, देवस्य भोगो न भवति अतो मयैतत्कृतं । ततो भोगवत्यो उक्तं तेन देवेन, यद्यतः परं त्वया भोगसारस्य प्रतिकूलत्वं करिष्यते तदा त्वामहं हनिष्यामि । तस्य जारस्याप्येवं प्रोक्तं । द्वावपि अकार्यकरणे नियमं ग्राहितौ । भोगसार ! त्वं पुण्यवान् स्वगृहे याहि, यदा तव धनेच्छा स्यात् तदा त्वया कायोत्सर्गः कार्यः । अहं तव चिन्तितमर्थं दास्ये । एवं प्रोच्य लक्षटङ्ककान् दत्त्वा देवस्तिरोदधे । ततो भोगसारो विशेषतः शान्तिनाथस्य पुरः कर्पूरागरुकस्तूर्यादिभिः सदा भोगं कुर्वन् वासुदेवचक्रवर्त्त्यादिमुक्तिप्रान्तां श्रियं क्रमात्प्राप ।

इति भोगविषये भोगसारकथा ॥३८०॥

[381] अथ वधूविषये कथा ।

चम्पायां पुर्यामरिमर्दनभूपस्य राज्यं कुर्वतः कमलेश्वरो व्यवहार्यभूत् । तस्य मदनसेना पत्नी । तयोश्चत्वारः पुत्रा-धीराज-मदनभूम-नागेश्वर-धनेश्वराह्वाः क्रीडां कुर्वन्ति गृहाङ्गणे । यतः—

दर्शं दर्शं सदा तेषां, क्रीडनं कुर्वतां मिथः ।
हर्षोत्कर्षं वितन्वाते, जननीजनकौ भृशम् ॥१॥

यतः— स्याच्छैशवे मातृमुखो, यौवने युवतीमुखः ।
वार्धके च पुत्रमुखो, मूढो नात्ममुखः क्वचित् ॥२॥

व्यवहारिणाऽपि पुत्रा बुधान्ते पठितुं मुक्ताः, क्रमात्ते विद्वांसो जाताः । तेऽपि पुत्रा बहुधनव्ययं कृत्वा महेभ्यपुत्रीः परिणायिताः । गृहभारः सर्वं पुत्रेष्वारोपितः । क्रमाद्वध्वः श्वशुरस्य कथितं न कुर्वन्ति । यतः—

हत्थी दम्मइ संवच्छरेण, मासेण दम्मइ तुरओ ।
महिलाए किर पुरिसो, दम्मइ एक्केण दिवसेण ॥३॥

क्रमात्ता वध्वः श्वशुरदूषणं स्वस्वपत्युः पुरः प्रोचुः । युष्मत्ताताऽपि अस्मान् दुःखे पातयत्येवं गालिप्रदानपूर्वं पानीयमानयते रक्षोत्था[च्छा]रणं कारयते अस्माभिः । पानीयं

गल्यते । खट्वा प्रस्तायते । पादा प्रक्षाल्यन्ते । छगणस्थापन क्रियते । खण्डन क्रियते । प्रेषण क्रियते । चुल्हीसधुक्षण क्रियते । नवमहवत् पीडाकारिणी श्वश्रू अदृग्यघायेऽपि दृग्धं, अभग्नेऽपि घटे भग्न घट वक्ति श्वश्रू । एव कथमस्माभिर्निर्वाहयिष्यते ? ननान्दाऽपि वक्ति नाम्या घटो भग्न अन्नघमपि धान्य नग्न । ततस्तेषां मायावशीभूतानां मातृपितृभगिनीष्वपि द्वेषोऽभूत् । यत --

रमणीं विहाय न भवति, विसगति स्निग्धबन्धुजनमनसाम् ।
यत्कुञ्चिका सुदृढमपि, तालकबन्ध द्विधा कुरुते ॥ ४ ॥

ततस्ताभिर्वधूभिरुक्त—यदि युष्माभि पृथग्भूयते तदा यूय सुखिना भविष्यथ आत्मनोऽपत्यानि परिणयनयोग्यानि जातानि । एतौ डोलाकरौ किं कुरुत आत्ममध्ये यतः—

माउगुरुगुणघेरडा, ब्रुहिं ऊ घढा भमति ।
हारत्त जुव्वणरयण, ते फिरिफिरि जोअति ॥५॥

ततस्ते पृथग्भूता । ततो मातापितरौ नीरे वनश्च यान्ति स्वयमानयत स्म । गामहिष्यादीना द्वेधोच्चारि स्वयमानयतश्च । एकदा कमलेश्वरस्य महिष्यान् पाययितु गच्छतोऽध्वनि सुहृद्वसन्तवतो मिलितो जगादेति स्वय कथ पानीयाद्यानायने । युष्माकं पुत्राश्चत्वारो विद्यन्ते । ये ते कथ गृहादिवाय न कुर्वन्ति ? ततोऽश्रुपातपूर्ण श्रेष्ठी जगौ--अहो मित्र ! त्वया न ज्ञातमस्मद्गृहस्वरूप । गत सर्व वस्तुसार । मित्र जगौ--किं गत ते । कमलेश्वरोऽवग्—खात्र पतित । कस्यचिद् घोटका यान्ति । कस्यचिद्बलीवर्दा कस्यचिद् धान्यं याति कस्यचिद्वस्त्र, कस्यचिद्धानन मम गृहे तु पुत्रा हृता । मित्रेणोक्त—केन हृता ? कमलेश्वरोऽवग्—

वधूचौरैरवलाभि कृतयो घटकैरिह ।
हृता मे सूनवो मित्र–स्तेनैर्धनिकैरिव ॥६॥

सुहृत्प्राहेति—

बाहरा न कृताः किं मास्तत्पृष्टो लघुसायुधैः ।
भटैर्वीर्योत्कटैर्बाढं साक मित्र त्वया तदा ॥७॥

विष मुञ्चन्ति सर्पोऽपि, गृहीत तस्करा अपि ।
कृतयो घटका एते, न मुञ्चन्ति कदाचन ॥८॥

अतोऽन्यद्वस्तु गत कदाचिद्वलते, पुनर्यद्वधूभिर्गृहीतं तत्प्राणान्तेऽपि न वलते ।

इति वधूविषये कथा ॥३८१॥

[382] अथ कुकूपुपरि रूतकोथलकथा ।

एकस्य कस्यचिद्वणिजो गृहे सदा वधू कलं कलयन्ती विश्राम न लभते । इतोऽन्यदा

पुराद्बहिर्गता रूतकोथलकान् बहून् दृष्ट्वा प्राह सख्यग्रे—'काहं करिसिइ' इति जल्पन्तीं ग्रथिलां ग्रहग्रस्तां ज्ञात्वा श्रेष्ठी ज्योतिषिककान् पृष्ट्वा पृष्ट्वा धनं भूरि व्ययितवान् । ततश्चैको बुद्धिमांस्तत्रागतः । कृत्रिमतृणसमूहं ज्वालयन् जगौ तां सुतां प्रति रूतकोथलका ज्वलन्तः सन्ति ज्वलिता वा । एतत् श्रुत्वा सा निर्ग्रथिला जाता हृष्टा च ।

इति बुध्युपरि रूतकोथलककथा ॥३८२॥

[383] अथ उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजराजः रात्रौ निर्वस्त्रो लघुनीतिहेतवे गृहाद्बहिर्निर्ययौ, तदा स्व निवस्त्रत्वं वीक्ष्य एकं समस्यापदं च करोति—'आजविगूता हंति'

ततो गृहमध्ये समेत्य सुप्तः । प्रातर्धनपालपण्डितपार्श्वे स्व समस्यापदं पप्रच्छ, तदा धनपालपण्डितः औत्पत्तिकबुद्धिमान् पदत्रयं प्राहेति—

लांबा तांणा नहि तणंति, आडी, आडी नली न भरंति ।
वणकर वेजा न वणंति, तो आजविगूता हंति ॥१॥

इति श्रुत्वा हृष्टो राजा धनपालाय लक्षत्रयं ददौ ।

इति उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ॥३८३॥

[384] अथ समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजो मार्गे गच्छन् एकां सुरूपां नारीं दृष्ट्वा हस्तस्थितं नागवल्लीबीटकं तस्याः पार्श्वे चिक्षेप तदा तया तद्बीटकं क्षिप्तं दूरतः, एतद् दृष्ट्वा राज्ञः समस्यापदं समुत्पन्नम्—

'किणि कारणि ए लखइं लंखइ'

एतत्समस्यापदं धनपालपण्डितस्याग्रे राज्ञा पृष्टं । ततः पण्डितेनैवं पूरिता समस्या पदत्रयकरणेन—

सकुलीणी नइ शीलवंती, रायदृष्टि पडी भमंती ।
अंगनयणप्रियकारणि राखइं, तिणि कारणि ए लंखइं लखइं ॥१॥

एतच्छ्रुत्वा राजा पुनर्लक्षत्रयं तस्मै ददौ ।

इति समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ॥३८४॥

[385] अथ भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ।

एकदा भोजराजः स्वधवलगृहस्योर्ध्वं स्थितः आसन्नगृहस्योपरि स्थितामेकां स्त्रियं, अम्बर

हस्तेन ऊर्ध्वीकृत्य आतपे शोषयन्तीं दृष्ट्वा समस्यापदं चकारेति—

[रगि] 'रग चगि उद्धगि अभिअंगुलि घज फिरहरः'

इमं समस्यापदं राजा धनपालपण्डितपार्श्वे पप्रच्छ, तदा धनपालः पदत्रयकरणात्पूरयामास पूर्णं समस्यामिति—

एण१ इंदु२ अरविंद३ करणि४ कलकंठि५ तु हेमपयकणि६ नयणि१ चयणि२परिमलि३ चलंति४,
सुसरसहि५ कंति६ जिणमठ१ पुन्न२ पुलिअ३ मयद४ अदट्ठु५ पंचदह६ घलि२।
अवरि१ सरि२ वणि३ सुहकारि४ अह मेरुपव्वय५ सुरण६ सरइ१ मेहिम२ गमइ३,
पावस४ कुसुमाइ५ लिखिरइ रायरगि चंगि उद्धगि अभिअगुलि घज फिरहरइ॥१॥

अत्रापि पूर्ववद्दानम्। इति भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ॥३८५॥

[386] अथ अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः।

पद्मपुराद्भूभूपः सिंहवैरिणं जेतुं गतः। तत्र महायुद्धं जातं। तदा एकस्य कस्यचित् पुरुषस्य मृतस्य पतितस्य शवं भक्षितुमेकः श्वानो गतो यदा तदा परो जगौ श्वानं—भो भ्रातः! श्रूयतां मम वचः पूर्वं ततो भक्षितव्यमिदं। ततः स आह—

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ,
चक्षुः साधुविलोकने न रमिकं पादौ न तीर्थाध्वगौ।
लुब्धालञ्जितद्रव्यपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो,
भ्रातः! कुक्कुर! मुञ्च मुञ्च सहसा निन्द्यस्य निन्द्यं वपुः॥१॥

एष पूर्वं बभूव। अनेन किमपि सुकृतं न कृतं। लोका दुःखिनः कृताः। अतोऽस्य पापिनः शरीरं त्यज। ततस्तावपि श्वानौ तत्त्यक्त्वाऽन्यत्र गतौ।

इति अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः ॥३८६॥

[387] अथ स्त्रीणामग्रे गुह्यं न वक्तव्यमितिविषयं नागपुण्डरिककथा।

एकदा तार्क्ष्याद्दुष्टाद् हननोद्यतान्नागपुण्डरिको नष्टः। भूतले समागतः दध्यौ च—कमप्याश्रयं कृत्वा स्थीयते। अतो विप्ररूपं कृत्वा एकां ब्राह्मणीं गृहिणीं चकार। ततः स नागो मनोवाञ्छितं पत्न्याः पूरयति। पत्न्या पृष्टश्च कुतः ईदृशीं श्रियमानयसि? स्त्रिया कदाग्रहे कृते स्वस्वरूपं पत्न्याः पुरः स जगौ। सा च पत्नी सदा पानीयमानेतुं सरोवरे याति। इतस्तार्क्ष्यः स्ववैरिणं हन्तुं निर्गतः। स्थाने विलोकयन् दध्यौ 'प्रायः पानीयहारिस्त्रीवृन्दके बह्वीः वार्त्ता भवन्ति।' ततः स तस्मिन् ग्रामे पानीयहारिवृन्दकेऽभ्येत्य तस्थौ

दैवयोगात् ।

इत. सा ब्राह्मणी स्वस्वभर्तृवर्णनं कुर्वाणाभ्य स्त्रीभ्य [प्रति] प्राह—मदीयो भर्त्ता नागपुण्डरिक स च यद्वाञ्छयते तत्तत्पूरयति । एतत् श्रुत्वा तार्क्ष्यस्तस्याः स्त्रिय पृष्ठौ गत्वा नागपुण्डरीकं धृतवान् प्राह च--रे दुष्ट ! कुत्र यास्यसि मम पार्श्वात् ? तदा स स्वस्त्रीप्रोक्त ज्ञात्वा नागपुण्डरीको जगौ--

स्त्रीणां गुह्यम् न वक्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
नीयते पक्षिराजेन, नागपुण्डरिको यथा ॥१॥

एतज्जल्पन् स स्वस्थाने नीत्वा तार्क्ष्येण निगृहीतः ।

इति स्त्रीणामग्रे गुह्यम् न वक्तव्यमिति विषये नागपुण्डरीककथासम्बन्धः ॥३८७॥

[388] अथ पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ।

कस्मिश्चित्पुरे सौवर्णिको दुर्बलो भूपेन दृष्ट पृष्टश्च तव दुर्बलत्व किं दृश्यते ? सौवर्णिको जगौ—हेम न दृश्यते । राजा जगौ—हेम दर्शयिष्यते तुभ्य, तदा त्वं मत्तो भविष्यसि । स जगौ—हेम दृष्ट यदि तदाऽहं मत्त एव ।

ततो राज्ञा हेममयी ५२ पलमयी स्थालिका दर्शिता । तत सौवर्णकारको यत्र सा स्थालो धाव्यते तत्र कर्कशां वालुका क्षिप्तवान छन्न । ततः स सुवर्णकारकः ता वालुका लात्वा गालयित्वा सुवर्णसकुल कृतवान्, मत्तोऽभूच्च ।

राज्ञा पृष्टमेतत्कुत प्राभृतीकृत । सोऽवग्—राजा तुष्टः। राजा प्राह—कथमहं तुभ्य तुष्ट ! तत स प्राह—स्वामिन् ! या ५२ पलहेमस्थाली विद्यते सा तोल्यता । ततो राज्ञा तोलापिता ४४ पलमयी जाता स्थाली । ततो पारितोपिकदान ददौ तस्मै ।

इति पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ॥३८८॥

[389] अथ दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ।

ईश्वरपार्वत्यौ पृथिवीचेष्टित विलोकयितु निर्गतौ । पार्वती जगौ-लोकाः सर्वे दानिनो विद्यन्ते। ईश्वरो जगौ-नैव। ततो लोकपरीक्षार्थं तापसरूप कृत्वा एकस्य कौटुम्बिकस्य गृहे गतौ। प्रात तदा तस्य पत्नी कछडक बन्धयित्वा जानुदघ्नकर्दमे भ्रमन्तीं, छगण क्षेपयन्तीं, गोरस सर्वबलेन विलोक[ड]यन्तीं, विश्रामसगृहाना दृष्ट्वा प्रोचतु—भिक्षा देहि । तदा कौटुम्बिका जगौ-किं सिक्ककाया वसितौ, यत प्रातरेव भिक्षायै आगतौ युवा, निष्कर्माणौ स्थ । अस्माकं कार्याणि विद्यन्ते अधुना, परिवारिता नास्मि ।

ईश्वरो जगौ-तव ईदृश गोमहिषीधन अष्टगुणं भवतु। इति जल्पित्वा ततोऽग्रे गच्छन्ने-

कस्य क्षत्रियस्य गृहे गतौ । तत्र भिक्षा याचिता । तेनोत्थाय भावतो भिक्षा ददे । ततो निर्गच्छन्नीश्वरोऽवग—अस्य गृह धक्ष्यतु । तत सोऽग्रे यत्रा चचाल तदा स क्षत्रिय पृष्टौ गत । पृष्ट भवतैव कथ जल्पितं ? ईश्वरोऽवग्–त पावतीं प्रति अग्रे कथयिष्यते तत स क्षत्रिय पश्चाद्वलित । स्व गृह दग्ध पुत्रपत्न्यौ च दग्धानि ज्ञात्वाऽकस्मा मृतः ।

इत ईश्वरपावत्यौ स्वग गतौ । पावत्या पृष्ट—येनावयोर्भिक्षा दत्ता सोऽत्र कथ सुख न भुङ्क्ते ! तत ईश्वर क्षत्रिय पुत्रपत्नीयुत देवसुख भुञ्जानो दर्शित । दानेन ईदृश सुख प्राप्त । मर्त्यलोके मनसा चिन्तित न सिध्यति । अत्र मनसा चिन्तित सर्व सम्पद्यते । पावती जगौ तर्हि सा कौटुम्बिका विलोक्यते । ततस्तत्रायातौ तत्र सा अष्टगुणे महिष्यादि धने जाते अष्टगुण रुदन्ती दर्शिता । ईश्वरेण प्रोक्तं च—अत्रैव रुलति परत्र च श्वभ्र गमिष्यति अतो मयोक्तमष्टगुण भवतु । पावती प्राह—सत्यमुक्त भवता, दानिनो भावतो ददाना स्तोका एव ।

इति दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिक ॥३८९॥

[390] अथ भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्ध ।

एकदा द्वौ पुरुषौ इभ्यनिर्धनपुत्रौ गुरुपार्श्वे श्लोकमेक शुश्रुवतुरिति—

सर्वत्र सुखिनां सौख्य, दुःखिनां दु खमेव तु ।
सर्वत्र वायसा कृष्णा, हसाः श्वेताश्च सर्वतः ॥१॥

इति श्रुत्वा इभ्यपुत्रेण निर्धनपुत्रस्य श्रीदत्ता प्रोक्त च-विदेश गच्छ लक्ष्मीमर्जय, यथेष्ट विलस । स च श्रिय लात्वा निर्ययौ लक्ष्मीकृते इभ्यपुत्रस्तु बाहुसखा निर्गत कस्मिन्पुरे गतस्तत्रोद्याने स्थित ।

इतो [कश्चिद्] राजा परलोक गत । मन्त्रिभिश्चिन्तित–राज्ञ पुत्री तिलकसुन्दरी विद्यते । यस्य पञ्चदिव्यं राज्य दत्तऽस्मै साऽपि दीयते । एव कृते तै पञ्चदिव्यैरिभ्यपुत्रस्य राज्य दत्त । तत सा कन्याऽपि तस्मै ददे ।

इत स राजा गवाक्षस्थ एकं कार्पटिक दृष्ट्वा स्वपार्श्वे नीतवान् । ततो राज्ञा स उपलक्षित । ततोऽधोमुखो निर्धन पुमानभूत्ततः इभ्यपुत्रो राजा जगौ—गुरूक्त सत्य जात । गुरव पृष्टाः । प्राग्भवसम्बन्ध प्राह–राजन् ! त्वया प्राग्भवे बह्वी श्रीधर्मे व्ययिता तेन तव राज्य जातम् । अनेन तु प्राग्भवेऽपि सत्यां श्रियि मनागपि धम न व्ययित अतोऽसौ दरिद्री । ततो राजा धम चकार विशेषात्सोऽपि निर्धनो निद्रव्यो धर्म चक्र । ततो द्वावपि अग्रेतने भवे स्वगतौ ।

इति भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्ध ॥३९०॥

[891] अथ परापवादग्रहणे लौकिकपरिव्राजिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे वेश्यापाटकासन्ने एका परिव्राजिका तिष्ठति । सा च स्नानादि कृत्वा भुङ्क्ते । तत सा आसन्नवेश्यागृहे भोगाय नटविटखण्डकमनुजानागच्छतो दृष्ट्वा ईर्ष्यापरा दध्यावेवं—वेश्या पापिनी यदा पापं बहु कुरुते, ततस्तया तत्रागच्छतां नराणां संख्यां कर्तुमेकं

भाजनं पृथु मण्डित । यस्मिन्दिने यावन्तो नरा आगच्छन्ति तस्मिन्दिने तावन्त कर्करास्तया भाजने क्षिप्यन्ते ।

अत्रान्तरे प्रव्राजिकाभ्राता समागत., भगिन्या भोजितः, सा च कार्याय बहिर्गता । इतोऽतिथिना भ्रात्रा भाजनमुद्घाटितं, कीटकभृत दृष्ट्वा भगिन्या अग्रे पृष्ट—भगिनि ! इद भाजन कीटकैः किं भृत ? साऽवग्—यावन्त पुरुषा अस्या वेश्याया गृहे भोगहेतवे समायान्ति तेषां संख्याकृते कर्करा मया क्षिप्ताः सन्ति । भ्राताऽवग्—त्व नु अस्यामीर्ष्यां दधाना अपवाद जल्पन्त्येवमकार्षीः तेन त्वया वेश्यापाप गृहीत पापिनः करणवारो न क्रियते, यदि पापिनः क्रियते तदा तस्य लगति । यतः—

अतिथिश्चापवादी च, द्वावेतौ मम बान्धवौ ॥
अपवादी हरेत्पाप—मतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥१॥

यत्त्वया तस्यां वेश्यायामीर्ष्या कृता अत कर्कराः कीटा जाता । ततस्तया तद्गृह त्यक्त्वाऽन्यत्रोपितं । परापवादो मुक्त. । सुखिनी जाता ।

इति परापवादग्रहणे लौकिकप्रव्राजिकासम्बन्धः ॥३९१॥

[392] अथ कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ।

एकदा घूको भुवं पातालं च जित्वा स्वर्गं गतः स्वर्गं जेतु । तत्र स्वर्गमुच्चालयितुम् घोरं शब्द कर्त्तुं लग्नः तदा शक्रस्तं तादृश शब्द श्रुत्वा पप्रच्छ देवान् । कोऽसौ एवंविधः स्वरः समागत । देवैः प्रोक्त—पाताल पृथ्वीं च जित्वा स्वर्गं जेतुं घूकोऽत्रायातोऽस्ति ।

इन्द्रोऽवग्—धीरां दत्त्वात्राकार्यताम् । तत्रेन्द्रपार्श्वे आनीतः स, इन्द्रेण पृष्टः—ईदृक्षा भूमण्डले कियन्तः सन्ति ? घूकोऽवग्—

अरघट्टो घरट्टश्च, लम्बकर्णोऽथ वायसः ।
कौशिको रासभश्चैव, षडेते मधुरस्वराः ॥१॥

इन्द्रोऽवग—

एकेनोद्वासितः स्वर्गः, किं पुनः पञ्चभिः सह ।
हा हा वज्रमयी पृथ्वी, या न याता रसातलम् ॥२॥

इत्युक्त्वा शक्रोऽवग्—गच्छ, अरघट्टघरट्टादिस्वमित्रपार्श्वे नो चेदनेन वज्रेण तव शीर्षं छेत्स्यते । तत. स नष्टः पुनर्भूमण्डले समागात् ।

इति कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ॥३९२॥

[393] अथ असमाव्यावक्तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे भीमो भूपो राज्यं करोति । तस्य चन्द्रो मन्त्री । एकदा मन्त्री अरण्यमध्ये जलाशये शिलां तरन्तीं दृष्ट्वा पश्चादागतो भूपस्याग्रे प्रोक्त-मया जले शिलां तरन्ती दृष्टा । राजा जगौ-असंभाव्यं न वक्तव्यं, प्रत्यक्षं यदि दृश्यते । एवं प्रोच्य राज्ञा स जल्पन्निषिद्धो दध्यौ मयोक्तं यद् भूपस्याग्रे तन्न वरं ततोऽन्यदा राजाऽश्वापहृतो महाटव्यां गतः तत्र वानरवानरीणां गीतानि शुश्राव । ततः पश्चादागतः मन्त्रीपुरः पदद्वयं प्राह—

यथा वानरगीतानां, तथा तरति सा शिला । यत् त्वया दृष्टा शिला जले सा सत्या । मया यतोऽद्य वानरगीतं श्रुतं तदपि कोऽपि कथितं न श्रद्धे कस्याप्यग्रे न प्रोच्यमानमस्ति ।

इत्यसमाव्यावक्तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ॥३९३॥

[394] अथ कुपत्नीदृष्टान्तः ।

एकस्मिन्ग्रामे श्रेष्ठिनः पत्नी अकथितकारिका विद्यते । इतस्तस्यापणे बहुकालादेकः प्राघूणकः समागतः । ततः आगतस्वागतादि मिथः कृतं । श्रेष्ठी गृहे गतः प्राह—पत्नि ! एकः सुहृद् बहुकालान्नागतोऽस्ति यदि त्वं माध्वरमार्गेण त्वं कार्याणि प्रोक्तानि कुरुषे तदा स आकार्यते जेमनाय । पत्नी प्राह—अग्रे तव कथितानि कारं कारं खिन्नास्मि तथापि कार्यसंख्यां यदि कथय तदा कुर्वे । ततः षष्टिः कार्यसंख्या कृता । प्राघूणको जेमितुमानीतः । तया आचमनादि प्रारभ्य कार्याणि गणितुं मण्डितानि तावद्यावत्तक्रपरिवेषणवेला समायाता । तक्रमेकशः परिवेषितं । श्रेष्ठिनोक्तं-पुनस्तक्रमानय । ततस्तया स तक्रचुल्लकः पत्युर्मस्तके आहतो भग्नः । श्रेष्ठी कृष्णमुखः उत्थाय हट्टे गतः । सुहृदा पृष्टं किं कृष्णमास्यं कृतं । ततः श्रेष्ठी गृहिणीस्वरूपं प्राह । ततः सुहृत्प्राह—

अनेकानि सहस्राणि, भग्नानि मम मस्तके ।
गुणवतीह ते भार्या, भाण्डमूल्यं न याचते ॥१॥

मम पत्नी तु भग्ने भाजने वस्त्राञ्चलं तदा मुञ्चते यदा भाण्डमूल्यं दीयते, एवं प्रोच्य सोऽपि स्थिरीकृतः । इति कुपत्नीदृष्टान्तः ॥३९४॥

[395] अथ दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये सम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्ग्रामे कौटुम्बिको वसति स्म । तस्य पत्नी अतीव दुर्ग्राह्या । पत्यु [पत्यै] कार्याणि आदिशति पत्युः पाश्चात्कारयति च । यदा कान्तः मनागुत्सूरे करोति तदा तथा कटाक्षाणि मुञ्चते यथा स त्वरितं कार्यं करोति । ततोऽन्यदा एकस्मिन् स्थाने घरट्टिकां शब्दं कुर्वाणां दृष्ट्वा प्राहाऽऽत्मस्थिरीकरणाय—

रे रे ! यन्त्रक ! मा रोदी, किं किं न भ्रमयंत्यमू ॥
कटाक्षोत्क्षेपमात्रेण, कराकृष्टस्य का कथा ॥१॥

एवं प्रोच्य स्वमात्मान स स्थिरीचकार ।

इति दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये संबंधः ॥३९५॥

[396] अथ बलीवर्दपातितसम्बन्धः

एकस्मिन् ग्रामे एक कौटुम्बिक प्रातरुत्थाय ग्रामाग्रस्थस्तम्भे विलगित्वोच्चैः रौति । राज्ञोक्त-भो कौटुम्बिक ! प्रातरमङ्गल न क्रियते रोदनात् । स प्राह—स्व चरित्र स्मारंस्मार रुद्यते मया । राजा जगौ—किं ते चरित्र ? कौटुम्बिकोऽवग्—गच्छ समुद्रमध्ये कमद्वीपे स्त्रीराज्ये । तत्र गत सन् मम चरित्र ज्ञास्यसि । तत स कौतुकी तत्र द्वीपे गत चतुपथे स्थित । एका स्त्री दिव्यरूपा तत्रागत्य भूप स्वस्वामिनीपार्श्वे निनाय । तत्र स पति कृत्वा स्थापित वर्यकर्पूरवासितपयसा स्नापित. । वर्यदिव्याहारैर्भोजितः । हिण्डोलाखट्वायां शायित. । देवसुखमनुभवति स्म । सा च कस्मिंश्चिद् द्वीपे यदा याति जल्पति स्म, त्वया एते २० उपवरका नोद्घाटनीया, सुखेन कर्पूरपानकस्तूरी-भोगसुखमनुभवनीयं । सन्ध्यायामायाति । तत सा भोगसुख दत्ते जल्पति च यदि यात्वाऽन्यत्र पुनरागमिष्यसि तदा हतो एव अत्र स्थितश्चिर मया सह सुख भोक्तव्यमेवं सुखेन तिष्ठन्नन्यदा तस्यां गतायामेक उपवरक उद्घाटितस्तस्मिन् घोटको वर्यो हेषारवं चकार । त घोटकमारुह्य वनादिद्वीपानि विलोक्य तत्कालं पश्चादागत्य स्वस्थाने स्थित. । प्रतिदिन नवीनवाहनारूढो द्वीपानि विलोकयति ।

एकदा वर्यं बलीवर्दं सुकुमालशरीरमारुह्य निर्गत स चाटव्यां लासयित्वा बलीवर्दपृष्टित पतित क्षितौ, बलीवर्दो गतोऽदृश्यतां, ततः क्षणादुत्थितो दध्यौ, तत्र गम्यते तदा सा मा हन्ति अतस्तत्रत्य सुख स्मरन् स्वपुरे समेत्य स्तम्भे लगित्वा रुदितु लग्नो यदा, तदा स कौटुम्बिकोऽभ्येत्य प्राह—'किं बलदिइं पाडया' । राजा प्राह—त्वमपि बलीवर्देन पातितः ततो द्वाभ्या मिथः स्वचरित्रे प्रोक्ते ततस्तत्रत्य सुख यावज्जीव तौ स्मरतः स्म ।

इति बलीवर्दपातितसम्बन्धः ॥३९६॥

[397] अथ वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ।

वीणाग्रामे श्रीजिनेन्द्रप्रासादे सदा प्रातरुत्थाय एका श्राविका भक्तिपूर्वं प्रभोः सद्मनि प्रभु प्रणम्य सर्वत्र देवगृह प्रमार्जयामास । एव प्रत्यह कुर्वतो प्रभुहस्ते एक विश्वलप्रिय ददर्श । सा तं ललौ यदा तदाऽधिष्ठायकसुर प्रभामुखोऽवतीर्यावक्—तव भक्त्याऽहं तुष्टोऽस्मि । त्वया प्रत्यहं देवगृह प्रमार्जनीयमेको विश्वलप्रियो ग्राह्य पर कस्याग्रे न वक्तव्यमेव सा प्रत्यह एकं विश्वलप्रिय गृह्णाना ऋद्धिवती जाता ।

एकदा रहसि सख्या पृष्ट—तव कस्तुष्टोऽस्ति, येनेदृशी ऋद्धिर्जाता तव सा चाकस्माद् रभसवृत्त्या प्रभुतुष्टिसम्बन्ध जगाद । ततोऽग्रेतने दिने देवगृह प्रमार्ज्यं यावद्विश्वलप्रियं गृह्णाति प्रभुस्तान्न विचटति । ततः सा विलक्षाऽभूत् । ततोऽधिष्ठायकोऽवग्—अद्यप्रभृति त्वया विश्वलप्रियेच्छा न कार्या ।

इति वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ॥३९७॥

[398] अथ व्यापारे सम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे चन्द्र श्रेष्ठी वसति स्म । स च व्यवसाय चकार । अन्यदा एक ग्रामकरणवारकालक महान्त दृष्ट्वा स श्रेष्ठी ग्रामकरणवारकोत्सुकोऽभून् । क्रमायेन राजकुले बहु धन पूरि० स च मागयामास पट्टयक्षपार्श्वे । पट्टयक्षो जगौ—अधुना पूरय तवाग्रे समर्पयिष्यते मुग्धलोभेन कियन्तो दिना पूरित पुनर्मार्गित यदा धन तदा पट्टयक्षो जगौ—अग्रे अर्पयिष्यते । राजकुले पूरपूर गृह धनरिक्तं ततो यदा खेद दधानो बभूव तदा मित्रेणोक्तं—

अह गिलइ गिलइ उदर, पच्चगिलीए गिलंति नयणाइ ।
केण य विहिवसेण, अहिणा छुछुन्दरी गहिआ ॥१॥

एव श्रुत्वा स दध्यौ—यद्दीयते तत्प्राप्तमेव दृश्यते साम्प्रतमर्प्यते तदपि गतमेव दृश्यते अतस्त व्यापार त्यक्त्वा श्रेष्ठी पूर्वरीत्या लक्ष्मीमजयन् सुखी बभूव ।

इति व्यापारे सम्बन्ध ॥३९८॥

[399] अथ 'बुद्धिर्यस्य बल तस्य' इति विषये शशकसम्बन्धः ।

यस्य बुद्धिर्बल तस्य, निर्बुद्धि[द्धे]स्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तो, शशकेन निपातित ॥१॥

कस्मिश्चित्प्रदेशे मन्दमतिनामा सिंहोऽजस्र मृगादिजीववधं करोति । अथ तद्वनजा सव ... समूय सविनय सिंह प्रोचु—देवास्माक मध्ये वारकेणैकैको भवता आहाराय स्वस्थान ...मेव समेष्यति । इति कृतव्यवस्थायां शशकस्य वारक समायात । तेन शशकेन बुद्धिमता कूपस्य कण्ठ समागत्य स्व रूप कूपे प्रतिबिम्बित कृत्वा सिंह प्रतोदमुक्त अस्य कूपमध्यस्थितस्य शशकस्याद्य वारकोऽस्ति तेन भवताऽस्य खादनीय' । तत सिंह कूपमध्ये झम्पामदाद् भक्षयितु पञ्चत्वं गतश्च । अतो 'यस्य बुद्धि '।

इति बुद्धिर्यस्य बल विषये शशकसम्बन्धः ॥३९९॥

[400] अव्यापा० वानरसम्बन्धः ।

अव्यापारेषु व्यापारं, यो नर कर्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति, कीलोत्पाटीव वानर ॥१॥

कस्यचित् पुरस्यासन्नोद्याने केनचिद्वणिजा प्रासाद कार्यते स्म । तत्र सूत्रधारा अर्धस्फाटितस्तम्भशिलाया अन्तराले ये खदिरकीलक दत्त्वा अशनाय ग्राम गता । अत्रान्तरे वानरयूथ परिभ्रमत्समायात । तस्य मध्यादेकेन वानरेणान्यवानरनिवारितेनापि

चापल्यादस्थाने कीलिकोत्पाटनमारब्ध । अर्धस्फाटितशिलान्तरालप्रविष्टस्य [शिश्नस्य] कीलके तस्य चलिते वानरस्य मरण जातमतो 'अव्यापा०' ।

इति अव्यापा०... ...इति वानरसम्बन्धः ॥४००॥

[401] अथ हितवचने व्याघ्रादिसम्बन्धः ।

व्याघ्रवानरसर्पाणां, यन्मया न कृत वचः ।
तेनाहं निर्विनीतेन, मानवेन निपातितः ॥१॥

कस्मिश्चिद् ग्रामे यज्ञदत्तो ब्राह्मणः । स अतीव दारिद्र्याभिभूतः । एकदा तेन देशान्तरे द्रव्यार्थं गच्छता अटव्या तृषाक्रान्तेन कूपो दृष्ट । तन्मध्याद्व्याघ्रवानरसर्पस्वर्णकाराः कर्षिता । त्रिभिरुपकारः कृतो भूषणफलदानराजपुत्रजीवने । पूर्वमारितराजपुत्रपार्श्वभूषणदर्शनेन व्याघ्रेणोपकार. कृत' । वने पतितस्य तस्याहाराभावाद् बुभुक्षितस्य फलदानेन वानरेणोपकारः कृत । सर्पेण च राजपुत्र जीवन्त कृत्वा बहुधनदापनेन तस्योपकार कृत । कलादेन राज्ञो गतसुवर्णसङ्कुलस्य कलङ्को दत्त तस्मै पुरुषाय च [अतः स आपदि पातित] मार्कुलव्यतिरेकेण राज्ञोऽग्रे पैशून्य विधायानर्थे पातित ।

अतो व्याघ्र० ...हितवचने व्याघ्रादिसंबंधः ॥४०१॥

[402] अथ विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ।

अकालचर्या विषया च गोष्ठी, कुमित्रसेवा न कदापि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं, धनुर्विनिर्मुक्तशरेण ताडितम् ॥१॥

कस्मिश्चित्सरसि हसस्य वसत उलूक प्राघूर्णक आगतः । हसेन पृष्ट—कुत स्थानात्समायात ? सोऽब्रवीत्—तव गुणान् स्मृत्वा अहं मैत्र्यर्थं समागतोऽस्मि । मैत्री जाता ।

अन्यदा उलूकेन पद्मवनात्स्वाश्रये गच्छतो हसो न्यमन्त्रि त्वया मदाश्रये आगन्तव्यमिति कथयित्वा उलूक स्वाश्रये गत. । हसोऽप्येकदा मित्रमिलनार्थमतिथिर्जात. । तौ परस्पर मिलितौ तेनोलूकेनैकदोक्त—दिवसेऽनवलोकनादिदोषग्रस्तोऽहं त्वया सह गोष्ठीं कर्तुं न शक्नोमि तेन रात्रौ गोष्ठी करिष्यते । अथ रात्रौ गोष्ठीं कुर्वतोरनयोस्तत्र वने सार्थः कोऽपि आयात ।

अत्रान्तरे उलूको महान्त विस्वर कृत्वा, नदीविवरमनुप्रविष्टो । हसस्तु तथैव स्थितः । तत केनचित् शब्दवेधिना विस्वरत्वाद्दुर्निमित्तं विज्ञाय शरेण विद्ध मृतश्च हस । अतो अकाल० ॥ ४ ॥

इति विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ॥४०२॥

[403] अथ अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्ध ।

नह्यविज्ञातशीलस्य, प्रदातव्य प्रतिश्रय ।
मत्कुणस्य च दोषेण, हता मन्दविसर्पिणी ॥१॥

कस्यचिद्राज्ञ सुप्तस्य शय्यायां यूका वसति । तस्याः प्राघूणक मत्कुण समायात । तस्य स्थान तया दत्त । मत्कुणस्तु राजस्पटक दत्त्वा नष्टो राजस्खलनेन यूका मृता । इति नह० । अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्ध ॥४०३॥

[404] अथ वृद्धवाक्याकरणदोषे हसयूथसंबध ।

श्रव्य वाक्य हि वृद्धाना, ते वृद्धा ये बहुश्रुता ।
हसयूथ वने बद्ध, वृद्धबुद्धया विमोचितम् ॥१॥

कस्मिंश्चिद्वने वटवृक्षस्तत्र हसकुल शतप्रमाण वसति । अथास्य वटस्याध कौशाम्बी नाम वल्ली प्रादुर्भूता दृष्ट्वा वृद्धहसेनोक्त—एषा अनर्थाय वर्धमाना भाविनी अत उन्मूल्यते, इत्युक्ते प्रमादान्नोन्मूलिता । कालेन या स्थिता, केनचिद् व्याधेन तेषु हसेषु आहाराय गतेषु पाशाः क्षिप्ता । पतितास्ते सर्वे पाशेषु । वृद्धेनोक्त—मया पूर्वमुक्तमियमनर्थाय भाविनी । भवद्भि प्रमादादुपेक्षिता वल्ली । इदानीमपि यदि मदीय वचन कुरुथ तदा बुद्धि भवद्भ्यो ददामि । तैरपि तथा प्रतिपन्न । तेन वृद्धहसेनोक्त—मृता इव यूय सर्वे तिष्ठत । अथ यदा व्याध युष्मान्मृतानवज्ञाय भूमौ क्षिपति तदैककाल सर्वैरुत्पतितव्य । कृते तथैव ते ९९ हसान् भूमौ चिक्षेप व्याध पुनश्चिन्तित पश्चादय वृद्ध क्षिप्यते इत्येव मत्वा स भूमौ क्षिप्त । तैर्हसै शतयत्त्वकान् [शतमलान्] मत्वोत्पतित नवनवतिभि । वृद्धः स्थित । व्याधस्त मारयितु लग्नो यावत्तावत्तेन बुद्धिमतोक्त—अहो व्याध ! मम विष्टया कुष्ट याति तेन कस्यापि भूपस्यार्पयित्वा [मम] स्व दारिद्र्य स्फेटय । ततस्तेन राज्ञोऽर्पितः । राज्ञा राज्ये च याचितश्च । राज्योक्त—पञ्जरे क्षिप्यतेऽय । मन्त्रिभिरुक्त वृद्धोऽयं मुत्कलो मुच्यतां कथ यास्यति अङ्गिशक्त्यभावात् । राज्ञा स्वकुष्ट तद्विष्टया स्फेटित । मुत्कलो मुक्तो हसो रयादुड्डीय भित्तावुपविश्येमं श्लोकमाह—

प्रथमे स्यामह मूर्खो, द्वितीये पाशबन्धक ।
तृतीये नृपतिर्मूर्ख,—श्चतुर्थे मन्त्रिमण्डलम् ॥१॥

इति वृद्धवाक्याकरणदोषे हसयूथसम्बन्धः ॥४०४॥

[405] अथ असहितदोषे भारण्डपक्षिसम्बन्ध ।

एकोदरा पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलकाङ्क्षिण ।
असहता विनश्यन्ति, भारण्डा इव पक्षिण ॥१॥

क्वापि सरसि भारण्डाः खगा वसन्ति । एषामुदरमेकं, ग्रीवे पृथग्भवतः । कस्यापि पक्षिणः स्वेच्छया विचरत एकस्या ग्रीवायाः क्वापि अमृतं प्राप्तं । द्वितीययोक्तं—मह्यमर्द्धं देहि । अथ तया न दत्तं । तदा द्वितीयया ग्रीवया कोपोत्पत्त्या विषे भक्षिते एकोदरत्वात्तस्य मृत्युरभूत् । अतो एको० ।

इति असंहितदोषे भारण्डपक्षिसंबंधः ॥४०५॥

[406] अथ लोभे शृगालसंबंधः ।

अतितृष्णा न कर्त्तव्या, तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य, शिखा भवति मस्तके ॥१॥

कोऽपि पुलिन्दः पापर्द्धिं कर्त्तुं प्रस्थितः । अथ तेन भ्रमता बाणेन शूकर आहतस्तेनापि दंष्ट्रेण पुलिन्दोदरं पाटितं, द्वावपि मृतौ । इतः कश्चिच्छृगालस्तत्रायातस्तेन द्वावपि मृतौ दृष्टौ । चिन्तितं तेन शृगालेन तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि भक्ष्यं भवति इति विचिन्त्य चापचटितकोटिं जीवां मुखमध्ये क्षिप्त्वा स्नायुर्भक्षितुमारब्धः । ततस्त्रुटितपाशे भालदेशं विदार्य चापकोटिमस्तकमध्येन तस्य शृगालमस्तके शिखा निष्क्रान्ताऽसावपि मृतः । अतो अतितृष्णा० ।

लोभे शृगालसम्बन्धः ॥ ४०६ ॥

[407] अथ बुद्धौ धूर्त्तरक्षितच्छागसंबंधः ।

बहुबुद्धिसमायुक्ता, सुविज्ञानबलोत्कटा ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता, छागकं ब्राह्मणादिव ॥१॥

कोऽपि ब्राह्मणो भ्रमन् यजमानाच्छागं प्राप्य यागार्थं गृहे आगच्छति । छागो मन्दगतिस्तेन ब्राह्मणेन समर्थत्वात् स्कन्धे कृतः । अत्रान्तरे त्रयो धूर्त्ता मार्गे भिन्नाः संमुखा बभूवुः । तैश्च मिथ उक्तं—अहो अस्य पशोश्छागस्य कया बुद्ध्या रक्षा विधीयते इति विचिन्त्य एकेन मार्गं परिवर्त्य अग्रे भूत्वोक्तं—भो ब्राह्मण ! किमिदं विरुद्धमनुष्ठीयते—यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धारूढः कृतः । तेनोक्तं—किमन्धोऽसि त्वं पान्थ ? यच्छागस्य सारमेयत्वं वक्षि । सोऽवक्—भो ! मा कुरु कोपं, मार्गे गच्छ ।

अथ द्वितीयेनाग्रे भूत्वोक्तमिदं—भो ! यद्यपि वल्लभोऽस्य मृतवत्सः तदपि स्कन्धे कर्त्तुं न युक्तं । अथासौ ब्राह्मणः सकोपमाह—किमन्धोऽस्ति भवान् यत्पशोर्वत्सत्वं वदसि । भगवन् ! मा कुरु कोपं मार्गे गच्छ ।

पुनस्तृतीयेनाप्यग्रे भूत्वोक्तमिदं—भो रासभं स्कन्धारूढं कथं नयसि ? अथ ब्राह्मणेन चिन्तितं—पशुरूपेण राक्षसोऽयं मम यजमानेन दत्तो यत एनं पृथक्पृथग्रूपं लोकाः पश्यन्ति,

यन्तं पाठय । तस्य च प्रणयकलहेन जाया रुष्टा । प्रत्याह—भद्र ! येन प्रकारेण त्वं तुष्यसि तं वद । तयोक्तं—यदि त्वं शिरो मुण्डयित्वा मेऽङ्घ्रौ पतिष्यसि तदाऽहं तुष्यामि । तथा कृतं वररुचिना । प्रसन्नाऽसौ ।

अथ नन्दस्य भार्या तथैव रुष्टा तेनाप्युक्तं—प्रिये ! प्रसीद । उपायं नः कथय । साऽवग्—अहं तव पृष्ठेऽधिरुह्य त्वां धावयामि, धावितश्चेदश्ववत् हेषसे तदा प्रसीदामि नान्यथा । तथैव कृतं तेनापि राज्ञा ।

अथ प्रभातसमये वररुचिरायातः तं मुण्डितशिरसं दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—भो वररुच ! किमयमपर्वणि मुण्डितं शिरस्ते । सोऽवक्—न किं कुर्यां ?

इति स्त्रीवश्यतायां नंदभूपवररुचिमन्त्रिसम्बन्धः ॥४१२॥

[413] अथ यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ।

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे नरे ।
तेन वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृता ॥१॥

क्वाप्यरण्ये वृक्षशाखायां कृतनीडा सुगृही वसति । एकदा माघे मासि अकालवृष्टौ जातायां कम्पितवपुः कश्चिद्वानरस्तमेव वृक्षमाजगाम । तं तथाविधं कम्पितशरीरं दृष्ट्वा सानुकम्पया सुगृह्या प्रोक्तं—

हस्तपादसमायुक्तो, दृश्यसे पुरुषाकृतिः ।
शीतवातपरिभ्रष्टो, गृहं किं न करिष्यसि ? ॥२॥

तां प्रत्याह वानरः—

सूचिमुखि ! दुराचारे ! रण्डे पण्डितमानिनि !
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने ॥३॥

इत्युक्त्वा उत्पत्य नीडं तस्याः खण्डशः कृत्वा गतः । अतः उपदेशो० ।

इति यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ॥४१३॥

[414] अथ सबलनिर्बलसम्बन्धः ।

उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्तिं पराक्रमैः ॥१॥

क्वापि वने चतुरको नाम शृगालः । तेनारण्ये स्वयं मृतो गजो दृष्टः । कठिनत्वाच्च भेत्तुं न शक्नोति । इतश्च सिंह आगतः सविनयं प्राह—स्वामिन् ! त्वत्कृते गजं रक्षामि वदेन

भक्षयतु स्वामी । सिंह आह—नाहं परहतं भक्षयामि । तवैव प्रसादीकृतः । सिंहे गते व्याघ्र आगतः तस्य संमुखं गत्वाह—मामक मातुल ! कथमत्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येनैष सिंहेन हतः । स मां रक्षपालं मुक्त्वा स्नानार्थं नद्यां गतः । मया निर्व्याघ्रं वनं कार्यमित्युक्तमपि तेन सिंहेन एतद्वचश्श्रुत्वा भयाद्व्याघ्रो नष्टः ।

इतश्च चित्रक आयातस्तस्यापि तदेवोक्तम्—अह सिंहेन तद्रक्षार्थं मुक्तोऽस्मि तथापि त्व किंचि[भ]द्भक्षयित्वा शीघ्र गच्छान्यथा तवप्राण सशयः इत्युक्ते सति चित्रकोऽपि भयभीतः पलायिष्ट।

अथ शृगाल आगतः तस्मात्तुल्यं दृष्ट्वा युद्धेन निराकृत । अत उत्तम प्रणि० ।

इति सबलनिर्बलसम्बन्धः ॥४१४॥

[415] अथ अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं० इति विषये नकुलसंबंध ।

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं, कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद्भवति संतापो, ब्राह्मण्यां नकुलं [ब्राह्मण्या नकुले] यथा ॥१॥

कस्मिंश्चिन्नगरे देवशर्मा विप्रस्तस्य भार्या रूपिणी दारकद्वयं प्रसूता । एकदारकमपर नकुलं च । दारकवन्नकुलमपि स्तन्यादिना पालयति । अथ तदा कदाचिद्ब्राह्मणायादिष्ट त्वया गृहं रक्षणीयमहं जलार्थं यामि इत्युक्त्वा बाल शय्यायां, शाययित्वा जलाय गता ।

अत्रान्तरे स विप्रः कणादानार्थं ग्राममध्ये गतः । अथ यत्रास्ति बालकस्तत्र सर्प्पमायान्त दृष्ट्वा नकुलेन चिन्तितमहो अयं सर्पो मदीयमनुज भक्षयिष्यति ततश्चैनं निवारयामि इति विचिन्त्य तेन सह युद्धं विधाय सर्पं मारयित्वा हर्षितो रुधिरप्लावितमुखो जननीं निवेदयितुं संमुखश्चलितः । ततस्तया तं तादृश दृष्ट्वा पुत्रमारकोऽयमिति विचिन्त्य तया स नकुलो हत । पश्चाद्गृहमागतया त पुत्र जीवमानं तत्र च सर्प्पं मारितं दृष्ट्वा पश्चाच्छोकाकुला बभूव । अतः 'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यम्०' इति सम्बन्धे—नकुलसंबंधः ॥४१५॥

[416] अथ बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसम्बन्धः ।

वरं बुद्धिर्न सा विद्या, विद्यातो बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः ॥१॥

चत्वारः पुरुषा मार्गे चलिताः । अटवीं गताश्च ते चत्वार. परस्पर वि[वादं]कुर्वन्ति स्मेत्थम्-एक प्राह—विद्याधिका, अपरः प्राह—बुद्धिरधिका विद्यातः । त्रयः शास्त्रज्ञाः । एको मूर्खः परं बुद्धिमान् । तैर्मृतप्रायसिंहो दृष्ट. । शास्त्रज्ञा. कथयन्ति स्म-अयं मांसादिना सज्जीक्रियते । बुद्धिमता उक्त-अस्मिन् सज्जीकृतऽनर्थो भविष्यति तेन बुद्धिमता बहुशो वारितैरपि त्रिभिर-स्थिमांसादिना सिंहः सज्जीकृतः, तेन च त्रयोऽपि मारिताः बुद्धिमान् पूर्वमेव नष्ट्वा गत. । अतो वरं बुद्धिर्न० । इति बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसंबंधः ॥४१६॥

इति विधाय तेन छागस्त्यक्तः । अतो-बहुबुद्धि० ।

बुद्धौ धूर्तरक्षितच्छागसम्बन्धः ॥४०७॥

[408] अथ बहवो न विरोद्धव्याः पिपीलिकासर्पसंबंधः ।

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जयो हि महाजनः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं, भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥१॥

क्वापि वनमध्ये वल्मीके कृष्णसर्पः । कदाचित्स बिलानुसारमार्गमुत्सृज्यान्येन बिलद्वारेण विषमेण निर्गच्छन् देहे व्रणितः । अथ गच्छन्नागच्छता सर्पेण विराधिताभिः कीटिकाभिर्व्रण-शोणितगन्धेन ज्ञात्वा व्रणमवसरं च प्राप्य सर्पो वृतः । कति तं घ्नन्ति । कति ताडयन्ति, कति चालिनीवत् शरीरं सच्छिद्रं कुर्वन्ति । पश्चात्ताभिः कृतबहुव्रणः पञ्चत्वं गतः । अतो बहवो० । इति बहवो न विरोद्धव्या —पिपीलिका सर्पसम्बन्धः ॥४०८॥

[409] अथ लोभोपरि० पश्चात्तापे द्विजसंबंधः ।

चितां पश्यसि पुत्रस्य, पुच्छच्छेदं स्मराम्यहम् ।
आवयोस्तु कुतः प्रीतिः—र्नागन्तव्यं त्वया द्विज ! ॥१॥

क्वापि ग्रामे द्विजस्य तस्य कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलकालोऽतिवर्त्तते धान्यनिष्पत्तेर-भावात् । अथ ब्राह्मणेन क्षेत्रान्तर्वल्मीके कृष्णः सर्पो दृष्टोऽचिन्ति क्षेत्राधिष्ठाताऽयं सर्पः, एतस्य शक्तिं विना कथं धान्यस्य निष्पत्तिर्भवति । अथ शरावं दुग्धभृतं वल्मीके मुक्तं । प्रभाते शरावे दीनारो दृष्टः । एवं प्रत्यहं क्षीरं दत्त्वा दीनारमादत्ते च । अथ पुत्रं समादिश्य विप्रो ग्रामं गतः । पुत्रेण क्षेत्रलोभाल्लकुटघातो मुक्तः । सर्पेण दष्टश्च ग्रामागतेन ब्राह्मणेन ज्ञात्वा स सर्पः प्रसादितः सर्पेणोक्तं— चितां पश्यसि० ।

इति लोभोपरि पश्चात्तापे द्विजाहिसम्बन्धः ॥४०९॥

[410] अथ मिथो विवदन्तः शत्रवो विनश्यन्ति—चौरराक्षसाविव ।

शत्रवोऽपि हिताय स्यु—र्विवदतः परस्परम् ।
चौरेण जीवितं दत्तं, राक्षसेन तु गोयुगम् ॥१॥

क्वापि ग्रामेऽतिदरिद्रो विप्रो वसति । तस्य [स्मै] केनापि दयया वृषभयुगलं दत्तं । तेन च घृततैलयवसादिना महोक्तं । तद्दृष्ट्वा कश्चिच्चौरो रात्रौ बन्धनपाशं गृहीत्वा हर्तुं यावदायाति तावदर्धमार्गे विकरालमूर्त्ती राक्षसो दृष्टः । ततः स्तेनेन पृष्टः—को भवानि-

स्युक्ते सत्यवचनोऽहं राक्षसः । भवानपि आत्मानं वदतु । तस्याग्रहे अर्धरात्रौ चौरेणोक्त प्राग्मम हन्तुं देहि । राक्षसोऽप्याहेत्थं प्राग्मम भक्षयितु देहि । ततश्चोरेणोक्त-प्रतिशब्देन यदि कश्चित बुध्यति तदा महान अनर्थो भविष्यति, आरम्भोऽप्यावयोर्निष्फलो भविष्यति । इत्थ तयो[विवदतोः]विप्रः प्रतिबुद्धः । चौरोऽप्याह--भो ! त्वामयं भक्षयितुमिच्छति राक्षसः । राक्षस आह--चौरोऽय गोयुग ते हर्तुमिच्छति । एव श्रुत्वा शय्या मुक्त्वा विप्रोऽवहितो भूत्वा मन्त्र स्मरन् स्थितः । द्वावपि विफलौ गतौ । अत शत्रवोऽपि० ।

इति विवदन्तः शत्रवो मिथो विनङ्क्ष्यन्ति--चौरराक्षसाविव ॥४१०॥

[411] अथ परमर्मदोषे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बन्धः ।

परस्परस्य मर्माणि, ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधन यान्ति, वल्मीकोदरसर्पवत् ॥१॥

क्षोणीमण्डने नगरे देवशक्तिनामा राजा । तस्य पुत्रो जठरस्थवल्मीकाश्रयेण प्रतिदिनं क्षीयते । अथासौ निर्वेदाद्देशान्तरं गतः क्वापि नगरे भिक्षया काल यापयति ।

अथ तत्र नगरे बलिराजस्य द्वे पुत्र्यौ यौवनस्थे स्तः । राज्ञा पृष्ट-कस्य भाग्येन सौख्य ? वृद्धयोक्तं--तव । लघ्व्योक्त--स्वकर्मणा । राज्ञा रुष्टेन तस्य राजपुत्रस्य दत्ता, सा त लात्वा देशान्तरे निर्गता क्वापि सरःसमीपे तं मुक्त्वा भोजनाय ग्रामे गता । लात्वाऽन्नं यावदायाति तावद्भर्तुः प्रसुप्तस्य मुखात्सर्पो वातपानार्थं निर्गतः । तत्रैव वल्मीकेऽपरसर्पो निष्क्रम्य तथैवासीत् । वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्त--भो दुरात्मन् ! कथ सर्वाङ्गसुन्दर राजपुत्र कदर्थयसि । मुखस्थोऽब्रवीत्--भो दुरात्मन् ! कथमिद हाटकपूर्णकलशयुगल वल्मीकमध्ये क्षिप्त्वा स्थित इत्येवं परस्परं मर्माण्युद्घाटितवन्तौ तौ । पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्--भो । किं कोऽपि भेप-जमिद न जानाति जिह्वयाञ्जिकोपायेन भवानपि विनाशमुपयाति । अथोदरस्थोऽब्रवीत्-तवापि तप्ततैलप्रयोगेण मरण भवति । सा राजकन्या वृक्षान्तरिता तयोरुक्तीः श्रुत्वा तथैवानुष्ठित-वती स्वपतिं नीरोगं विधाय निधिं च लात्वा पितृपुरे गता । पित्रार्चिता च स्वभाग्यात्सुखिताऽभूत् । अतः परस्प० ।

इति परमर्मदोपे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बंधः ॥४११॥

[412] अथ स्त्रीवश्यतायां नन्दभूपवररुचिमन्त्रिसंबंधः ।

न किं कुर्यान्न किं दद्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।
अनश्वा यत्र हेषन्ते, शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥१॥

नन्दो नाम राजा । तस्य सचिवो वररुचि । तयो पत्न्योर्मिथ प्रीति । संमुखगवाक्षस्थया मन्त्रिपत्न्योक्त--अह प्रधाना एकपत्नीत्वात् । राजपत्न्योक्तं--एव चेत् त्व पतिमश्ववत् हेष-

यन्त चाळथ । तस्य च प्रणयकलहेन जाया रुष्टा । मत्रोह्—भद्र ! येन प्रकारेण त्वं तुष्यसि त वद । तयोक्तं—यदि त्वं शिरो मुण्डयित्वा मेऽङ्घ्री पतिष्यसि तदाऽहं तुष्यामि । तथा कृत वररुचिना । प्रसन्नाऽसौ ।

अथ नन्दस्य भार्या तथैव रुष्टा तेनाप्युक्त—प्रिये ! प्रसीद । उपायं न कथय । साऽवग्—अहं तव पृष्ठेऽधिरुह्य त्वां धावयामि, धावितश्चेदश्ववत् हेषसे तदा प्रसीदामि नान्यथा । तथैव कृत तेनापि राज्ञा ।

अथ प्रभातसमये वररुचिरायातः तं मुण्डितशिरसं दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—भो वररुचे ! किमयमपर्वणि मुण्डित शिरस्ते । सोऽवक्—त्वं किं कुर्या ?

इति स्त्रीवश्यतायां नंदभूपवररुचिर्मंत्रिसबंधः ॥४१२॥

[413] अथ यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ।

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे नरे ।
तेन वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृता ॥१॥

काप्यरण्ये वृक्षशाखायां कृतनीडा सुगृही वसति । एकदा माघे मासि अकालवृष्टौ जातायां कम्पि वतनु कश्चिद्वानरस्तमेव वृक्षमाजगाम । त तथाविध कम्पितशरीर दृष्ट्वा सानुकम्पया सुगृह्या प्रोक्त—

हस्तपादसमायुक्तो, दृश्यसे पुरुषाकृतिः ।
शीतवातपरिभ्रष्टो, गृह किं न करिष्यसि ? ॥२॥

तां प्रत्याह वानरः—

सूचिमुखि ! दुराचारे ! रण्डे पण्डितमानिनि ।
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने ॥३॥

इत्युक्त्वा उत्पत्य नीडं तस्या खण्डशः कृत्वा गत । अत उपदेशो० ।

इति यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ॥४१३॥

[414] अथ सबलनिर्बलसबध ।

उत्तम प्रणिपातेन, शूर भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्ति पराक्रमैः ॥१॥

क्वापि वने चतुरको नाम शृगालः । तेनारण्ये स्वयं मृतो गजो दृष्टः । कठिनत्वाच्च भेत्तुं न शक्नोति । इतश्च सिंह आगत सविनय प्राह—स्वामिन् ! त्वत्कृते गज रक्षामि तदेन

भक्षयतु स्वामी । सिंह आह—नाहं परहतं भक्षयामि । तवैव प्रसादीकृतः । सिंहे गते व्याघ्र आगतः तस्य समुखं गत्वाह—मामक मातुल ! कथमत्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येनैष सिंहेन हतः । स मां रक्षपालं मुक्त्वा स्नानार्थं नद्यां गतः । मया निर्व्याघ्रं वनं कार्यमित्युक्तमपि तेन सिंहेन एतद्वच्छ्रुत्वा भयाद्व्याघ्रो नष्टः ।

इतश्च चित्रक आयातस्तस्यापि तदेवोक्तम्—अहं सिंहेन तद्रक्षार्थं मुक्तोऽस्मि तथापि त्वं किंचि[भ]द्भक्षयित्वा शीघ्रं गच्छान्यथा तवप्राण संशयः इत्युक्ते सति चित्रकोऽपि भयभीतः पलायिष्ट।

अथ शृगाल आगतः तस्मात्तुल्यं दृष्ट्वा युद्धेन निराकृत. । अत उत्तमं प्रणि० ।

इति सबलनिर्बलसम्बन्धः ॥४१४॥

[415] अथ अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं० इति विषये नकुलसंबंधः ।

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं, कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद्भवति संतापो, ब्राह्मण्यां नकुलं [ब्राह्मण्या नकुले] यथा ॥१॥

कस्मिंश्चिन्नगरे देवशर्मा विप्रस्तस्य भार्या रूपिणी दारकद्वयं प्रसूता । एकदारकमपरं नकुलं च । दारकवन्नकुलमपि स्तन्यादिना पालयति । अथ तदा कदाचिद्ब्राह्मणयादिष्टं त्वया गृहं रक्षणीयमहं जलार्थं यामि इत्युक्त्वा बालं शय्यायां, शाययित्वा जलाय गता ।

अत्रान्तरे स विप्रः कणादानार्थं ग्राममध्ये गतः । अथ यत्रास्ति बालकस्तत्र सर्प्पमायान्तं दृष्ट्वा नकुलेन चिन्तितमहो अयं सर्पो मदीयमनुजं भक्षयिष्यति ततश्चैनं निवारयामि इति विचिन्त्य तेन सह युद्धं विधाय सर्पं मारयित्वा हर्षितो रुधिरप्लावितमुखो जननीं निवेदयितुं समुखश्चलितः । ततस्तया तं तादृशं दृष्ट्वा पुत्रमारकोऽयमिति विचिन्त्य तया स नकुलो हत' । पश्चाद्गृहमागतया तं पुत्रं जीवमानं तत्र च सर्प्पं मारितं दृष्ट्वा पश्चाच्छोकाकुला बभूव । अतः 'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यम्०' इति सम्बन्धे—नकुलसंबंधः ॥४१५॥

[416] अथ बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसम्बन्धः ।

वरं बुद्धिर्न सा विद्या, विद्यातो बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः ॥१॥

चत्वारः पुरुषा मार्गे चलिताः । अटवीं गताश्च ते चत्वारः परस्परं वि[वादं]कुर्वन्ति स्मेत्थम्-एक प्राह—विद्याधिका, अपरः प्राह—बुद्धिरधिका विद्यातः । त्रयः शास्त्रज्ञाः । एको मूर्खः परं बुद्धिमान् । तैर्मृतप्रायसिंहो दृष्ट' । शास्त्रज्ञा कथयन्ति स्म-अयं मांसादिना सज्जीक्रियते । बुद्धिमता उक्त-अस्मिन् सज्जीकृतऽनर्थो भविष्यति तेन बुद्धिमता बहुशो वारितैरपि त्रिभिरस्थिमांसादिना सिंहः सज्जीकृतः, तेन च त्रयोऽपि मारिताः बुद्धिमान् पूर्वमेव नष्ट्वा गत. । अतो वरं बुद्धिर्न० । इति बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसंबंधः ॥४१६॥

[417] अथ मित्रवचनाकरणदोषे कौलिकसम्बन्धः ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एव निधनं याति, यथा मन्थरकौलिकः ॥१॥

मग्नतुर्यादिषु वस्त्रवानोपकरणार्थं वृक्षारूढस्य मन्थरकौलिकस्य छेत्तुं प्रवृत्तस्य स्वस्थानकभञ्जनभयात् तस्य सत्त्वात् वृक्षस्थव्यन्तरस्तुष्टोऽवग् वरं मार्गय' इत्युक्ते तस्य तेनोक्तं भार्यामापृच्छय याचिष्ये । मार्गं गच्छतो मित्रं मिलितं तेनोक्तं—राज्यं याचस्व । तथाप्ययं तेनोक्तं भार्यामनापृच्छय न याचिष्ये गृहे गतं तत्स्वरूपं भार्यायै कथितं । तयोक्तं—द्विगुणाङ्गनङ्गकिं याचस्व याचितायां च व्यन्तरेण द्विशिराश्चतुर्भुजः पुरुषः कृतः । लोकैस्तादृशमसमञ्जसं दृष्ट्वा विचिन्त्य च स मारितः । अतो यस्य० ।

इति मित्रवचनाकरणदोषे कौलिकसम्बन्धः ॥४१७॥

[418] अथ अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो, लोभमेव परित्यजेत् ।
अतिलोभाच्छुङ्गदत्तो, वधूभिश्चिक्षिपेऽर्णवे ॥१॥

रोहणपुरे नगरे शृङ्गदत्तो वणिक्कृपणः द्वात्रिंशत्कोटिद्रव्यभर्त्ता । चतुःपुत्र । तद्वधूनामानि लक्ष्मी १ गौरी २ अप्सरा ३ रति ४ तापसीमन्त्रप्रयोगेण न्यग्रोधेन स्वर्णद्वीपे गत्वा नाटकावलोकनं रात्रौ कृत्वा गृहे आगच्छन्ति ।

एकदा कर्मकरो वटकोटरस्थस्तत्र गतः स्वर्णद्वीपे गतेन नाटकादि सर्वमवलोकितं । स्वर्णकोटियुगं तत्र दाने लब्धं तेन कर्मकरेण पश्चादागतः स्वर्णकोटियुगं श्रेष्ठिनोऽर्पितं कथितं तत्स्वरूपं । श्रेष्ठी लोभात्तेन सह वटकोटरे स्थितः । अन्यदा ताभिर्मार्गे गच्छन्तीभिरतिभारत्वात् वृक्षोऽम्बुधौ क्षिप्तः । श्रेष्ठी पञ्चत्वमाप लोभात् । अतोऽतिलोभो ॥

इति अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥४१८॥

[419] अथ एकबुद्ध्यादीनां मत्स्यानां सम्बन्धः ।

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥१॥

कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिरेकबुद्धिश्च मत्स्याः सन्ति । स भार्या तत्पार्श्वे गच्छद्भिर्लुब्धकैरुक्तं—अत्र बहवो मत्स्याः सन्ति प्रातरागन्तव्यम् ।

एकबुद्धिः शतबुद्धिं सहस्रबुद्धिं प्राह—भो दूरे गम्यतेऽत्र भयमस्ति । ताभ्यामुक्तं—आवां छलेन तदा यास्यावः । शतबुद्धिसहस्रबुद्धी बुद्धिमन्तौ [वयं ततः] एकबुद्धिस्तदीयं वचनमनादृत्य

स्वपरिवारं लात्वा परस्मिन् जलाशये गतः । ततः प्रातर्लुब्धका आगत्य सर्वं तत्सर आलोड्य सर्वं मत्स्या गृहीता. । ततस्तावपि छल कुर्वाणौ बुद्धया, धृत्वा मारयित्वा च शतबुद्धिं शिरसि कृत्य सहस्रबुद्धिं प्रलम्बयन् लुब्धको वलितो यत्र एकबुद्धिरस्ति तत्रागत', तं तथा विगच्छमानं [दृष्ट्वा] एकबुद्धिः प्रिया प्रत्याह—हे प्रिये ! विलोकय—

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥

इति एकबुद्धि-शतबुद्धि-सहस्रबुद्धिमत्स्यसम्बन्धो मत्स्यानाम् ॥४१९॥

[420] अथ भवितव्यतायां रावणसम्बन्धः ।

रामरावणयोर्महायुद्धं बभूव । लक्ष्मणेन रावणो हत' । ततो मुहूर्त्तान्तरे अतिबलः केवली षट्पञ्चाशत्सहस्रसाधुपरिवृतो लङ्कापुर्यां समागत । यदि स ऋषीश्वरो रावणे जीवति समागमिष्यत्तदा रामरावणयोर्मिथ. प्रीतिरभवत् परं भवितव्यतायोगात्स नागात् । उक्तं च—

अह तस्स दिणस्संते, साहू नामेण अमियबलो ।
छप्पनसहस्सजुओ, मुणीण लंकापुरी पत्तो ॥१॥

जइ सो मुणी महप्पा, पत्तो लंकाहिवम्मि जीवंते ।
तो लक्खणस्स पीई, होंती सहरक्खसिंदेण ॥२॥

इति भवितव्यतायां रावणसंबंधः ॥४२०॥

[421] अथ न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ।

श्रीदशरथराजेन रामस्य वनवासादेशो दत्त. तदा श्रीरामस्तातपादौ प्रणम्य वनवासाय हृष्टश्चचाल । यतः—

आहूतस्याभिषेकाय, प्रस्थितस्य वनाय च ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य, मुखरंगं समं जनाः ॥१॥

भरतः श्रीरामपृष्टौ गत्वा पदयोर्लगित्वा विज्ञपयामास ।

यत्पापं ब्रह्महत्यायां यत्पापं कपिला वधे ।
तत्पापमेव मे याता, यद्यार्योऽनुमतेर्मम ॥२॥

लक्ष्मणं राज्यरक्षायै, प्रहिणु पृथिवीपते !
मया प्रेष्येण गन्तव्यं, त्वया सह वनं ध्रुवम् ॥३॥

श्रीरामोऽवग्— तद्यथा न भवति, यन्मयोक्त तथैव तत् ।
हीनप्रतिज्ञः पुरुषो, वर्जनीय श्मशानवत् ॥४॥

तत श्रीरामो लक्ष्मण प्रति राज्यरक्षार्थं यदाऽवग—तदा लक्ष्मणो जगौ—

प्रपतेद् द्यौ सनक्षत्रा, पृथिवी शकलीभवेद् ।
शैत्यमग्निरियान्नेह, त्यजेय रघुनन्दनम् ॥५॥

ततो भरतोऽवग्—अह पादुके राज्ये न्यस्य सेवकीभूतो राज्यं रक्षयिष्यामि, शिक्षा मह्य दातव्या । श्रीराम प्राह—

आलस्योपहृत पाद, पाद पाषण्डमाश्रित ।
राजान सेवते पाद, एक पाद कृषीबल ॥१॥

एक पाद अथ पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्त्तव्य, यथा पादो न सीदति ॥२॥

अथ शिक्षां लात्वा भरत पश्चात्समागतो राज्य न्यायाध्वना पपाल ।

इति न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ॥४२१॥

[422] अथ सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ।

यदा सीता रावणेनापहृता तदा रामविलापाश्चैवम्—अशोकवृक्ष प्रति प्राह—

रक्तस्त्व नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै—
स्त्वामायान्ति शिलीमुखा स्मरधनुर्मुक्ता सखे ! मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुद सत्य ममाप्यावयोः,
सव तुल्यमशोक ! केवलमह धात्रा सशोक कृतः ॥१॥

रात्रौ चन्द्र दृष्ट्वा राम प्राह—

ससहर खीणो काइ, रोहिणी पासि बइठी अछ ।
अम्ह दुक्खमयाइं रमणी रावण लेउ गउ ॥२॥

पश्चाल्लक्ष्मणो राम प्रति प्राहेति—

काइ झूरइ तू राम सीता गई वलि आविसि ।
सोनइ न लागइ मावि, माणिकि मइल बइसइ नहीं ॥३॥

इत्यादि सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ॥४२२॥

[423] अथ शक्तिहते लक्ष्मणे रामविलापसम्बन्धः।

लक्ष्मणे शक्तिहते सदुःखं रामः प्राह—

भुङ्क्ते स्म भोजनपरे स्वपिति स्म सुप्ते,
जन्मापि मामनु भवानतनोत् किमेतत्।
त्यक्त्वा क्रमं यदकरोत् सुरलोकयात्रां,
सापत्न्यजः प्रकटितः किमयं विकारः ॥१॥

स्थाने स्थाने कलत्राणि, मित्राणि च पदे पदे।
तं देशं नैव पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः ॥२॥

न मे दुःखं हृता सीता, न दुःखं लक्ष्मणे हतः।
एतदेव महादुःख, यन्न राज्यं विभीषणे ॥३॥

इति शक्तिहते लक्ष्मणे रामविलापसम्बन्धः ॥४२३॥

[424] अथ विनये हनुमद्वचःसम्बन्धः।

देवाज्ञापय किं करोमि किमहं लङ्कामिहैवानये,
जंबूद्वीपमितो नये किमथवा वारां निधिं शोषये।
हेलोत्पाटितवन्ध्यमन्दरहिमस्वर्णत्रिकूटाचलः,
क्षेपक्षोभविवर्धमानसलिलं वध्नामि वारां निधिम् ॥१॥

पातालतः किमु सुधारसमानयामि, निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुतानयामि।
उद्यन्तमुष्णकिरण किमु वारयामि, कीनाशमाशु कणशः किमु चूर्णयामि ॥२॥

इति विनये हनुमद्वचःसम्बन्धः ॥४२४॥

[425] अथ संसारासारतायां महेश्वरदत्तमहिषादिसम्बन्धः।

ताम्रलिप्त्यां पुर्यां समुद्रो वणिक्। बहुला प्रिया। महेश्वरदत्त पुत्रः, तस्य गङ्गिला भार्याऽभूत्।' समुद्रो महारम्भपरो मृत्वा तत्रैव पुरे महिषोऽजनि क्रमाद्बहुला मृत्वा तत्रैव गृहे शुनी बभूव। गङ्गिला स्वच्छन्दचारिणी कुशीला। अन्यदा रात्रौ तां भुक्त्वा कश्चिद्विटो गच्छन् महेश्वरदत्तेन हत' स च मृत्वा गङ्गिलायाः पुत्रोऽभूत्, जातो वार्षिक.।

अन्यदा पितुः सांवत्सरिकादिने महेश्वरदत्तेन पितृप्रीत्यै पितृजीवो महिषो विनाशितः।

स च पितुः प्रकल्प्य भोजनायोपविष्टः । स उत्सङ्गे सुतं स्थापितः । शुनी तद्गृहं न मुञ्चती गृहद्वारे एव तिष्ठति स्म । ततोऽकस्मात्कोऽपि ज्ञानी साधुस्तत्र गृहे भिक्षार्थमागतो महेश्वरदत्तगृहस्वरूपं दृष्ट्वा पश्चाद्वलते । महेश्वरदत्तश्चकितः पृष्टो गत्वाऽवग्—भो साधो ! भिक्षां गृहाण । स साधुः प्राह—तव गृहे असमञ्जसं दृश्यमानमस्ति । श्रेष्ठी प्राह—किमसमञ्जसम् ? ततस्तस्य बोधिं ज्ञात्वा साधुः प्राह—पितुर्मांसं त्वया तु भक्ष्यते । माता शुनी पतिमांसं भक्षयन्त्यस्ति गेहे । तव उत्सङ्गे तु त्वया वैरी उपवेशितोऽस्ति । वणिक् प्राह—कथमेव ज्ञायते ? ज्ञानी प्राह—यो महिषो मारितः स ते पिता । या शुनी सा ते माता । यस्ते सुतः स तव पत्न्या उपपतिस्त्वयैव हतो मृत्वा सुतोऽयमभूत्तव । एवं संसारस्वरूपं ज्ञात्वा दीक्षां लात्वा स वणिग् स्वर्गं गतः । इति संसारासारतायां महेश्वरदत्तमहिषादिसम्बन्धः ॥४२५॥

[426] अथ चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ।

वसन्तपुरे देवप्रियः श्रेष्ठी । यौवने भार्या मृता । पुत्रेणाष्टवार्षिकेण समं प्रव्रजितः । स क्षुल्लकः परिषहमसहमानो वक्ति—तात ! न शक्नोमि उपानहौ विना हिण्डितुं । मोहेन पिता पुत्रस्योपानहौ कारयामास । ततोऽवग्—पुत्र—आतपे शीर्षं तपति तेन हिण्डितुं न शक्यते मया ततः पिता छत्रिकामातपवारणायानुजानाति स्म । ततः क्षुल्लकोऽवग्—तात ! भिक्षाटनं कर्तुं न शक्नोमि । ततः पिता समानीय भिक्षां सूनवे दत्ते । एवं भूमौ संस्तारयितुमसक्ते पुत्रे काष्ठफलकं पिताऽनुजानाति स्म । एवं लोचस्थाने क्षौरं कारयति । अङ्गप्रक्षालनाऽशक्ते पुत्रे प्रासुकपयोऽनुजानाति स्म । पुनर्वक्ति स तात ! ब्रह्मव्रतं पालयितुं न शक्नोमि । एतत् श्रुत्वा पित्रा व्याख्यातमयमयोग्यः । एतानि मया मोहात् कारितानि परमेव कारयन् पुत्रेण सममहमपि नरकेऽपतिष्य। संसारे जीवानामसंख्याः पुत्रा जाताः । अत्र को मोहः ततो निष्कासितो गणात् मृत्वा स सुतो महिषोऽभूत् । पिता तु स्वर्गे देवोऽजनि । अवधिज्ञानेन पुत्रं जातं ज्ञात्वा सार्थवाहरूपं विधाय तमेव महिषं पानीयानयनाय लाति । तस्य महिषस्य पृष्ठे बहु नीरं स्थापयित्वा चालयन् सार्थवाहो जल्पति—तात ! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभवोक्तानि वचांसि । ततस्तानि वचांसि शृण्वन् महिषः प्राप जातिस्मृतिं पश्चाद्भवं स्मृत्वा पुनः पुनरश्रुप्रवाहं मुञ्चन् दध्यौ मया तु पित्रोक्तं चारित्रं न पालितं तेन मृत्वाऽहं महिषो जातः । ततो देवेनोक्तं—अहं तव पिता त्वां पश्चाद्भवं स्मारयितुमागां यद्यग्रे शुभगतिस्पृहाऽस्ति तदाऽनशनं लाहि । ततो महिषोऽनशनं गृहीत्वा वैमानिको देवो बभूव । अतः शुद्धं व्रतं पालनीयम् । इति चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ॥४२६॥

इति श्रीतपागच्छेश श्रीरत्नशेखरसूरि—पट्टालङ्करण—श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य

प० शुभशीलविहित—पञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे

द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः ।

॥ अथ तृतीयोऽधिकारः ॥

[427] अथ पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ।

जङ्घाबलक्षीणा आचार्या एकस्मिन् पुरे तिष्ठन्ति स्म । नवकल्पविहारं कर्तुमशक्ताः धर्ममूर्त्तयः शालामध्ये नव स्थानानि विभज्य मासे गते द्वितीयस्थाने मासमुपविशन्ति स्म । ऋतुकाले अष्टमासैरष्टस्थानेषु स्थित्वा नवमस्थाने चातुर्मासीं तिष्ठन्ति स्म । पुष्पचूला साध्वी भिक्षां शुद्धामानीय तेभ्यो दत्ते ।

एकदा मेघे वर्षति उत्पन्नकेवलज्ञाना भिक्षा लात्वा गुरुपार्श्वे समागमत्साध्वी । ततो गुरुभिः प्रोक्तं—पुण्यवति ! त्वया वर्षति मेघे आहारः किमानीतः सदोषत्वात् । साध्वी प्राह—मया अचित्तप्रदेशे स्थित्वा अत्रागतं तेन दोषो न लग्नः । गुरुणोक्तं—त्वमचित्तप्रदेश कथं वेत्सि ? साऽवग्—गुरुप्रसादात् । गुरु प्राह—किं ज्ञानं प्रतिपात्यप्रतिपाति वा तवोत्पन्नं ततस्तयोक्तमप्रतिपाति ? एव ज्ञात्वा आचार्या जगुस्तव केवलज्ञानं जातं मम केवलज्ञानं कुत्र भविष्यति । केवली प्राह—गङ्गामुत्तरतां भवतां केवलज्ञान भविष्यति । ततस्ते सूरयो गङ्गायां गताः नावमारूढा यस्मिन्पार्श्वे गुरव उपविशन्ति तस्मिन्पार्श्वं नौर्निमज्जति ततो नौवाहकेन आचार्या गङ्गामध्ये क्षिप्ता. । जलजीवानुकम्पाध्यानात्केवलज्ञानमुत्पन्नं, आयुरपि प्राप्तमन्त अन्तकृत्केवली जात । ततोदेवै केवलिमह कृत. । ततो गङ्गातीर्थं जात पुष्पचूलाऽपि भव्यान्प्रबोध्य मुक्ति गता ।

इति क्षीणजङ्घाऽन्निकापुत्रसूरि—पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ॥४२७॥

[428] अथ वैराग्ये मोहे च वसुदत्तसंबंधः ।

काञ्चनपुरे वसुदत्त सार्थवाहो वसति स्म । ज्ञानी समागात्तत्र । सार्थपो वन्दित्वा गुरु पप्रच्छ शुको मम गृहेऽभूत्, स च मार्जार्या मारितो भक्षितः, स शुको ममातीव वल्लभोऽभूत्, तस्मिन्मृते ममातीवोच्चाटो विद्यते ।

ज्ञानी प्राह—तव वसुमती पत्नी बभूव । वरुण पुत्रश्च. स च तव त्वत्पत्न्या अतीव वल्लभोऽभूत् । अन्यदा वरुणो देशान्तरे गत्वा धनमर्जयित्वा मार्गे पश्चादागच्छन् शूलरोगान्मृतस्तत्राटव्यां शुकोऽजनि, तद्धन ते कियच्चटित कियद्गतं, पुत्रमृतिस्मृते तव पत्नी, वरुणमाता मृता वसुमती, तव गृहे मार्जारी जाता ।

अन्यदा त्वं देशान्तरे गतस्तत्राटव्यां पुत्रजीवशुकं धृत्वा स्वगेहेऽनैषीः, पञ्जरेऽक्षिपव् ।

वर्षाहारैस्त्वया स पोषितः स्नेहेन लालितः पालितः पाठितश्च ।

अन्यदोद्घाटिते पञ्जरे शुकं मार्जारी हत्वा भक्षितवती । सा च वसुमती माता, स शुकं पुत्रमाह । एतच्छ्रुत्वा प्राप्तवैराग्यो व्रतं लात्वा कर्म क्षिप्त्वा मुक्तिं ययौ ।

इति वैराग्ये मोहे च वसुदत्तप्रबन्धः ॥४२८॥

[429] अथ कुटुम्ब विघटनादौ जिनदत्तकथा ।

श्रीपुरे जिनदत्त श्राद्धः । पत्नी जिनदत्ता । पुत्राश्चत्वारः परिणायिताः । पत्नी जिनदत्ता मृता । श्रेष्ठिनो मित्रं विमलः ।

एकदा जिनदत्तेन मित्रवारितेनापि पुत्रेभ्यः सर्वं श्रीदत्तम् । क्रमाद्वध्वः श्वशुरस्य शुश्रूषां न कुर्वते । श्रेष्ठी दुःखी जातः । पुत्राणामग्रे स्नुषाः श्रेष्ठी प्राह । पुत्रैः स्वपत्नीनां प्रोक्तम्—युष्माभिः अस्मत् पितुः शुश्रूषा किं न क्रियते ? तदा ताभिः अभिहितम्—असौ न वयं मन्यते, तेनास्माभिर्गृहेऽपि स्थातुं न शक्यते यदि असौ वाटके तिष्ठति तत्रस्थस्यास्मा-भिर्भुक्तिः करिष्यते तदा वयं स्थास्यामो नोचेत् पितृगृहे यास्यामः । ततस्तैः पुत्रैः पिता वाटककुटीरके स्थापितः । ताः सूरे यदन्नं ददते । दुःखी जातः । मित्रमाहूतं तत्कथितं न प्रोक्तं [कृतं] तेन दुःखी जातोऽसि त्वं लक्ष्मीरेव [मान्यते] न पितृमात्रादि । ततः सुहृत्तस्य [स्मै] कृत्रिमान् स्वर्णिकान् दत्त्वावग्—इयं वासनिका खट्वाया पादस्याधः स्थाप्या, यदा वृद्धा वधूरायाति तदा शुल्बमस्याः छोटयित्वा स्वर्णिकान् हस्ते गृहीत्वा त्वरितं मध्ये क्षिप्त्वा वासनिका बन्धनीया यदा वध्वः पृच्छन्ति तात ! किमस्ति ते पार्श्वे तदा वाच्यं वृद्धं वर्द्धनाय सौवर्णिका रक्षिता ? अहं दुःखी जातः तेन एते न्यस्ते । वधूः प्राह अहं तव भक्तिं करिष्यामि । ततस्तया भक्तौ क्रियमाणायां श्रेष्ठी जगौ—यदाऽहं म्रिये तदा त्वया ग्राह्या, [एवं तिसृणां पुरो वक्तव्यम्] । ततो विमलमित्रोक्ते विहिते श्रेष्ठी पत्नीभिः स्वस्वगृहमध्ये आनीतः । वारकेण सर्वा वध्वो भक्तिं कुर्वते । श्रेष्ठिनि मृते वृद्धा वधूरपि कथं वासनिकां यावद् गृह्णाति तावदन्या अनुमतार्पिता श्वशुरेण । एवं विवादं कुर्वतीनां त्रुटिता वासनिका । ठीकरीद्वयं पश्चादुक्तं ताभिर्यादृशी भक्तिरात्मना कृता तादृशी श्वशुरेणापि ।

इति कुटुम्बविघटनादौ जिनदत्तकथा ॥४२९॥

[430] अथ पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसम्बन्धः ।

कुसुमपुरे धनसुन्दरौ गृहस्थौ वसतः स्म । सरलौ दानिनौ दयापरौ । एकदा तौ साधुमुपसर्ग्यमाणं भिल्लैर्मोचयामासतुः, तेन पुण्येन वीरपुरे वज्रसिंहभूपस्य रतिमत्याः पट्टराज्ञ्याः कुक्षौ अवतीर्णौ । तस्याः रुधिरपूर्णकुण्डस्नानदोहदो जातः । अलक्तरसपूरितवाप्यां दोहदः पूरितः । अलक्तरसाक्तसर्वशरीरा सा भारण्डपक्षिणा मांसबुद्ध्याऽकस्मादुत्पाटिता व्योम्नि

अरण्ये नीता, तत्र तापसोटजे तया पुत्रयुग्मं जनितं, सिंहसिन्धुरौ नाम्ना कृतौ क्रमात् प्रौढौ जातौ हस्तिव्याघ्रादिभिः समं क्रीडतः स्म ।

अन्यदा वशीकृतश्वेतगजस्कन्धारूढौ पल्लीपतिनाऽवरुद्धं सार्थवाह विमोच्य पल्लीशं हत्वा तत्र राजानौ जातौ मातुःसेवां कुर्वाते स्म । अन्यदा वज्रसिंहभूपस्तयोः पार्श्वे त गजं श्रुत्वा दूतं प्रेष्य याचते स्म । तौ श्वेतं गजं नार्प्पयत स्म । वज्रसिंह. संनह्य तत्र गतः । तत्र युद्धं मण्डितं ताभ्यां । क्रमाज्जीवसहार ज्ञात्वा स्व पतिं च रुक्मिणीमाता पुत्रौ प्रति जगौ युवयो. एषः पिता । सर्वं दोहदस्वरूप कथितवती च, ततस्तु तौ पितुः पार्श्वे गत्वा प्रणेमतु । रुक्मिण्यपि तत्रागता । ज्ञापितः पुत्रसम्बन्ध. पत्यु । ततो हृष्टस्तयो राज्य दत्त्वा दीक्षा जग्राह तावेकछत्रं राज्य प्रपाल्य क्रमात्प्राप्तव्रतौ सिद्धौ ।

इति पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसंबंधः ॥४३०॥

[431] अथ नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बन्धः ।

काकन्द्यां पुर्यां सोमशर्मा विप्र । तस्य पुत्रः कदम्बः अतिशौचवादी छायामात्रान्यस्पर्शः सचेलस्नान करोति, पानीयपिशाच इति प्रसिद्धोऽभूत् । वस्त्राञ्चलस्थगितवदननासिकः सर्वत्र हुहुं कुर्वन् भ्रमति, यदा कस्यापि वस्त्राञ्चलो लगति तदा तस्मिन्द्वेप चकार । ततो गलत्कुष्ट-प्रभृतिरोगैर्ग्रस्तः । ततस्तस्य कोऽपि स्पर्शं न करोति । वैद्योऽपि नाडिं न विलोकते संक्रमणभयात् । यत.—

ज्वरो भगन्दरः कुष्टं, क्षय चैव चतुर्थकः ।
एते संस्पर्शतो रोगा, संक्रमन्ति नरान्नरम् ॥१॥

ततो नष्टशौचपादोऽजनि शरीरे वेदना जाता । अन्यदा यतिपार्श्वे गत । यतिना धर्मोपदेशो ददे । तत पृष्ट तेन युष्माभि स्नानं न क्रियते, कुतः शुद्धिर्भवति । यतिना प्रोक्तं— शरीरमिदमशुचि विद्यते । तस्य स्नानेन किम् भवति । मन.शुद्धिरेव वीक्ष्यते । यत'—

रसासृग्मांसमेदोस्थि—मज्जशुक्रान्तवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥२॥
नवः श्रोतः श्रवद्विस्र—रसानिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥३॥

श्रुत्वैतद्दध्यौ द्विजः-अह मुधा शुचिवाद करोमि, अहो एते एव शुचय ब्रह्मचारी सदाशुचिः यदि ममापि रोगापशान्तिर्भवति तदाहमपीदृशो भवामि । साधुभिरुक्तं-सर्वमौषधं मुक्त्वा एक नमस्कार गणय, षण्मासीं यावदपर ध्यानं न कार्यं । ततस्तस्य नमस्कारान्गणयन्कुष्ट गतं सुश्रावको जातः । सर्वधन व्ययित्वा चारित्र गृहीत्वा स्वर्गं गत कदम्ब ।

इति नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बंधः ॥४३१॥

पयोहारैस्त्वया स पोषितः स्नेहेन लालितः पालितः पाठितश्च ।

अन्यदोद्घटिते पञ्जरे शुकं मार्जारी हत्वा भक्षितवती । सा च वसुमती माता, स शुकः पुत्रमाह । एतच्छ्रुत्वा प्राप्तवैराग्यो व्रतं लात्वा कर्म क्षिप्त्वा मुक्तिं ययौ ।

इति वैराग्ये मोहे च वसुदत्तप्रबंधः ॥४२८॥

[429] अथ कुटुम्ब विघटनादौ जिनदत्तकथा ।

श्रीपुरे जिनदत्त श्राद्धः । पत्नी जिनदत्ता । पुत्राश्चत्वारः परिणायिताः । पत्नी जिनदत्ता मृता । श्रेष्ठिनो मित्रं विमलः ।

एकदा जिनदत्तेन मित्रवारितेनापि पुत्रेभ्यः सर्वा श्रीर्दत्ता । क्रमाद्वध्वः श्वशुरस्य शुश्रूषां न कुर्वते । श्रेष्ठी दुःखी जातः । पुत्राणामग्रे स्वदुःखं श्रेष्ठी प्राह । पुत्रैः स्वपत्नीनां प्रोक्तम्—युष्माभिरस्मत् पितुः शुश्रूषा किं न क्रियते ? तदा ताभिरुक्तम्—असौ न वयं मन्यते, तेनास्माभिर्गृहेऽपि स्थातुं न शक्यते यदि असौ वाटके तिष्ठति तत्रस्थस्यास्माभिर्भुक्तिः करिष्यते तदा वयं स्थास्यामो नोचेत् पितृगृहे यास्यामः । ततस्तैः पुत्रैः पिता वाटककुटीरके स्थापितः । कदन्नं दत्ते । दुःखी जातः । मित्रेणाकृतमत्कथितं न प्रोक्तं [कृतं] तेन दुःखी जातोऽसि त्वं लक्ष्मीरेव [मान्यते] न पितृमात्रादि । ततः सुहृत्तस्य [समी] कृत्रिमान् स्वर्णिकान् दत्त्वावग्—इयं वासनिका खट्वाया पादस्याधः स्थाप्या यदा वृद्धा वधूरायाति तदा मुखमस्या छोटयित्वा स्वर्णिकान् हस्ते गृहीत्वा त्वरितं मध्ये क्षिप्त्वा वासनिका बन्धनीया, यदा वधूर्वदति तात ! किमस्ति ते पार्श्वे तदा वाच्यं वृद्धवयसे सौवर्णिका रक्षिताः ? अहं दुःखी जातः तेन एते न्यस्यन्ते । वधूः प्राहाहं तव भक्तिं करिष्यामि । ततस्तया भक्तौ क्रियमाणायां श्रेष्ठी जगौ—यदाऽहं म्रिये तदा त्वया ग्राह्या, [एवं तिसृणां पुरो वक्तव्यं] । ततो विमलमित्रोक्ते विहिते श्रेष्ठी परनोऽश्वना गृहमध्ये आनीतः । चतसृभिः सर्वाभिर्वधूभिर्भक्तिः कुर्वते । श्रेष्ठिनि मृते वृद्धा वधूभिः क्रान्ता वासनिका यावद् गृह्णाति तावद् सा अनुर्मर्मार्पिता श्वशुरेण । एवं विवादं कुर्वतीनां त्रुटिता वासनिका । ठीकरीदृष्टा पश्चादुक्तं ताभिर्यादृशी भक्तिरात्मना कृता तादृशी श्वशुरेणापि ।

इति कुटुम्बविघटनादौ जिनदत्तकथा ॥४२९॥

[430] अथ पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसम्बन्धः ।

कुसुमपुरे धनसुलक्षो गृहस्थो वसति स्म । सरलौ दानिनौ दयापरौ । एकदा तौ साधुमुपद्रूयमाणं भिल्लैर्मोचयामासतुः, तेन पुण्येन वीरपुरे वज्रसिंहभूपस्य रुक्मिण्या पट्टराज्ञ्याः कुक्षौ अवतीर्णौ । तस्या रुधिरपूर्णकुण्डस्नानदोहदो जातः । अलक्तरसपूरितवाप्यां दोहदः पूरितः । अलक्तरसाक्लिन्नवस्त्रशरीरा सा भारण्डपक्षिणा मांसबुद्ध्याऽकस्मादुत्पाटिता न्योम्नि

अरण्ये नीता, तत्र तापसोटजे तया पुत्रयुग्मं जनितं, सिंहसिन्धुरौ नाम्ना कृतौ क्रमात् प्रौढौ जातौ हस्तिव्याघ्रादिभिः समं क्रीडतः स्म ।

अन्यदा वशीकृतश्वेतगजस्कन्धारूढौ पल्लीपतिनाऽवरुद्धं सार्थवाहं विमोच्य पल्लीशं हत्वा तत्र राजानौ जातौ मातुःसेवां कुर्वाते स्म । अन्यदा वज्रसिंहभूपस्तयो. पार्श्वे तं गजं श्रुत्वा दूत प्रेष्य याचते स्म । तौ श्वेत गजं नार्प्पयत स्म । वज्रसिंह संनह्य तत्र गतः । तत्र युद्धं मण्डितं ताभ्यां । क्रमाज्जीवसंहार ज्ञात्वा स्व पति च रुक्मिणीमाता पुत्रौ प्रति जगौ युवयोः एपः पिता । सर्वं दोहदस्वरूप कथितवती च, ततस्तु तौ पितुः पार्श्वे गत्वा प्रणेमतु । रुक्मिण्यपि तत्रागता । ज्ञापितः पुत्रसम्बन्ध. पत्यु । ततो हृष्टस्तयो राज्यं दत्त्वा दीक्षा जग्राह तावेकछत्रं राज्य प्रपाल्य क्रमात्प्राप्तव्रतौ सिद्धौ ।

इति पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसंबंधः ॥४३०॥

[431] अथ नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बन्धः ।

काकन्द्यां पुर्यां सोमशर्मा विप्र' । तस्य पुत्रः कदम्ब. अतिशौचवादी छायामात्रान्यस्पर्शः सचेलस्नान करोत, पानीयपिशाच इति प्रसिद्धोऽभूत् । वस्त्राञ्चलस्थगितवदननासिकः सर्वत्र हु हुं कुर्वन् भ्रमति, यदा कस्यापि वस्त्राञ्चलो लगति तदा तस्मिन्क्षेप चकार । ततो गलत्कुष्ट-प्रभृतिरोगैर्ग्रस्तः । ततस्तस्य कोऽपि स्पर्शं न करोति । वैद्योऽपि नाडिं न विलोकते संक्रमणभयात् । यत.—

ज्वरो भगन्दरः कुष्टं, क्षय चैव चतुर्थकः ।
एते संस्पर्शतो रोगा, संक्रमन्ति नरान्नरम् ॥१॥

ततो नष्टशौचपादोऽजनि शरीरे वेदना जाता । अन्यदा यतिपार्श्वे गत । यतिना धर्मोपदेशो ददे । तत पृष्ट तेन युष्माभि स्नानं न क्रियते, कुतः शुद्धिर्भवति । यतिना प्रोक्त—शरीरमिदमशुचि विद्यते । तस्य स्नानेन किम् भवति । मन.शुद्धिरेव वीक्ष्यते । यत —

रसासृग्मांसमेदोस्थि—मज्जशुक्रान्तवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥२॥
नवः श्रोतः श्रवद्विस्र—रसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥३॥

श्रुत्वैतद्दध्यौ द्विज.-अहं मुधा शुचिवाद करोमि, अहो एते एव शुचय ब्रह्मचारी सदाशुचिः यदि ममापि रोगापशान्तिर्भवति तदाहमपीदृशो भवामि । साधुभिरुक्तं-सर्वमौषधं मुक्त्वा एकं नमस्कार गणय, षण्मासीं यावदपरं ध्यानं न कार्यं । ततस्तस्य नमस्कारान्गणयन्कुष्ट गतं सुश्रावको जातः । सर्वधन व्ययित्वा चारित्रं गृहीत्वा स्वर्गं गत कदम्ब ।

इति नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बंधः ॥४३१॥

[432] अथ क्षमायां कीर्त्तिधर–सुकोशलमुनिसंबंध ।

अयोध्यायां कीर्तिधरो राजा । सहदेवीपत्नीयुक्तो राज्यं चक्रे । सुकोशले पुत्रे जाते दीक्षां राजा लली । सुकोशलो राज्यं चक्रे । अन्यदा कीर्त्तिधरमुनिमध्याह्ने भिक्षार्थमयोध्यानगरमध्ये प्रविशन् सहदेव्या दृष्टो दध्यौ च सा–यदि कदाचित्कीर्त्तिधरं पितरं सुकोशलो द्रक्ष्यति तदा दीक्षां ग्रहीष्यत्येव, एवं ध्यात्वा सा तं सेवकपार्श्वात्पुराद्बहिर्निष्काशयामास । सुकोशलधात्री रोदिति । सुकोशलोऽवादीत्–मातः ! किं रुद्यते त्वया ? साऽवग्–तव पिता मुनिस्तव मात्रा पुराद्बहिः कर्षितः । ततः पिता प्रतिलाभितः धर्मं श्रुत्वा सुकोशलो व्रतं लली, सहदेवी पुत्रवियोगपतिद्वेषाभ्यां मृता वने व्याघ्री जाता । कीर्त्तिधरसुकोशलमुनी तत्रागतौ चतुर्मासीं तपश्च–क्रतुः । पारणकदिने यातौ तौ व्याघ्रया दृष्टौ । प्रथमं सुकोशले पतिता, मुनी प्राणान्तमुपसर्गं ज्ञात्वा कायोत्सर्गं चक्रतुः । सुकोशलऋषिर्व्याघ्रया भक्ष्यमाणः क्षपकश्रेणिरूढः केवलज्ञानमवाप्य मुक्तिं सद्यो ययौ कीर्त्तिधरं ऋषिं भक्ष्यमाणा व्याघ्री तन्मुखे स्वर्णमण्डितदन्तान् दृष्ट्वा प्राप्त–जातिस्मृतिः स्वपतिं विज्ञाय प्राप्तपश्चात्तापा समादायानशनं सहस्रारं स्वर्गं गता ।

इति क्षमायां कीर्त्तिधर–सुकोशलमुनिसम्बन्धः ॥४३२॥

[433] अथ अहङ्कारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ।

नन्दिपुरे रत्नसारराजस्य रत्नवत्याद्याः पत्न्योऽभूवन् । अपत्यानि न जीवन्ति यदा तदापयावैरन्यदा पुत्रो जातः सोऽपि मृत इति कृत्वा उत्करटिकायामुज्झितः, दैववशाज्जीवितः, पुनः पश्चाद्गृहीतः, तस्य उज्झितकुमार इति नाम दत्तं । यौवनं प्राप्तः परमत्यन्ताहङ्कारवान् जगत्तृणं मन्यते, स्तम्भ इव मातापित्रोरपि न नमति स्म ।

अन्यदा लेखशालायां पठन् गुरुं प्रत्यवग्–रे ! त्वं उच्चासने उपविष्टः, अहं नीचासने उपविशामीति हुम्कयन् चपेटयाहत्य गुरुमपि भूमौ पातयामास । ततः कुपुत्र इति कृत्वा राज्ञा निष्काशितो देशात्तापसाश्रमेगतः । पर्यस्तिकां बध्वा मुनीनामग्र आसीनः तापसैरुक्त–महानुभाग ! विनयं कुरु ! ततो रुष्टो निर्गतो मुनीननत्वैव । मार्गे सिंहं सम्मुखमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि दर्पान्न ननाश सन्मुख एव गतः सिंहेन भक्षितः खरो जातः तत्र करभः, ततः पुनरपि नन्दिपुरे पुरोहितस्यैव सुतोऽभूत् । शैशवेऽपि १४ विद्यापारगः महाहङ्कारवशान्मृत्वा तत्रैव पुरे गायनोडुम्बो जातः पुरोधसस्तं दृष्ट्वा महास्नेहः ।

इतश्च केवलज्ञानी तत्रागात् केवली पृष्टः पुरोधसा ममायं डुम्बः अतीववल्लभः कथं ? केवलिनोक्त–एष डुम्बजीवः तवेतो नवमेभवे भ्राताऽभूत् । अतस्तव स्नेहोऽनेन समं इति श्रुत्वा संसारासारतां मत्वा द्वावपि धर्मं कृत्वा स्वर्गं गतौ ततो मुक्तिं यास्यतः क्रमात् ।

इति अहंकारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ॥४३३॥

[344] अथ जीवरक्षणारक्षणयोर्बलभद्रकृष्णसंबंधः ।

धान्यसचयपुरे द्वौ सोदरौ वनात्काष्टभृतं शकटं कृत्वा स्वगृहं प्रति चलितौ । लघुः शकटं खेटयामास । वृद्धोऽग्रेसरोऽभूत् । मार्गे चुक्कलण्डां दृष्ट्वा वृद्ध उवाच शकटं टालय । अग्रे चुक्कलण्डा मार्गे स्थिता मरिष्यति । एतत् श्रुत्वा चुक्कलण्डा सा [तत्रैव स्थिता], तेनापि ईर्ष्यया तदुपरि शकटं खेटितं चुक्कलण्डा मृता वसन्तपुरे धनश्रेष्ठिसुता जाता, यौवने परिणीता । अन्यदा ज्येष्ठबन्धुर्मृत्वा तस्याश्चुक्कलण्डाजीवस्य सुतो जातः, ललिताङ्ग इति नाम ।

कालान्तरे द्वितीयोऽपि सुतो दुष्टशातनपाननौषधैः पात्यमानोऽपि [जातवान्] बभूव । [तदा] तया मात्रा दासहस्तेन बहिरुज्झितः । पिता स्वपुत्रं मात्रोज्झितं ज्ञात्वाऽन्यत्र रहः स्थापयामास । गंगदत्त इति नामाभवत् । अन्यदोत्सवाहनि भोजनवेलायां पिता द्वौ पुत्रौ स्वोत्संगे निवेशयामास । गंगदत्तस्तु पृष्ठौ रहः स्थापितः । तस्यापि [तस्मै अपि] छन्नं पक्वान्नादि दत्ते । तदा सा तं दृष्ट्वोत्पन्नरुट् सचारकं चिक्षेप पितृपुत्रौ तमशुचे कर्पयित्वा वारिणा प्रक्षाल्य वनान्तर्ज्ञानिनोऽन्ते गतौ । ज्ञानी पृष्टः अस्य माता हन्तुमिच्छति । ततो ज्ञानी जगौ—यदा इयं चुक्कलण्डाऽभूत् तदा अनेन लघुभ्रात्रा चुक्कलण्डा हता । अतो हन्तुमिच्छत्यस्य माता । अनेन सूनुना वर्यं वचः प्रोक्तं । अतोऽस्मिन् हृष्टाऽभूत् ततस्त्रयाऽपि व्रतं लत्तुः, जनकः सिद्धः । गंगदत्तः सर्वस्य वल्लभो भूयासमिति निदानं कृत्वा । ललिताङ्गस्तु तपः कृत्वा, महाशुक्रे स्वर्गे सुरौ जातौ ततश्च्युतौ बलभद्रकृष्णौ जातौ ।

इति जीवरक्षणारक्षणयोर्बलभद्रकृष्णसम्बन्धः ॥४३४॥

[435] अथ अतिमुक्तर्षिसम्बन्धः ।

पोलासपुरे विजयो राजा । श्री पत्नी । अतिमुक्तकः पुत्रोऽजनि अष्टवार्षिकोऽभूत् । पुरमार्गे कनककन्दुकेन बालकैः समं रमते स्म । इतः श्रीवीरः तत्र समवसरत् । गौतमः षष्ठपारणके भिक्षार्थं पुरमध्ये भ्रमति । गौतमं दृष्ट्वा सोऽतिमुक्तको हृष्टोऽभाणीत्—के यूयं, किमर्थमटत । गौतमो जगौ—वयं साधवो भिक्षार्थमटामः । स प्राह—तर्हि मम गृहे आगच्छत, भिक्षां दास्यामि तुभ्यं । ततोऽग्रे भूत्वा गौतमं स स्वगृहेऽनैषीत् शुद्धान्नपानाद्यैर्गौतमस्तेन प्रतिलाभितः । साऽतिमुक्तकोऽवग्—यूयं क्व यास्यथ ? गौतमोऽवग्—अस्माकं धर्मगुरुर्वीरो विद्यते तस्य पार्श्वे, अतिमुक्तकोऽपि तत्र गतः वीरपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रबुद्धः । ततो गृहागतः—

“जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामीति”

यन्मरणं भावि जानामि तदपि न जानामि कदा भविष्यतीत्यादि प्रोच्य मातापितरौ प्रबोध्य प्रवव्राज । अन्यदा वर्षासु जलप्रवाहे वहति तनुगमनिकाया गतो स्वां टुपरिकां जले मुक्त्वा क्रीडया तारयति । मम बेडो तरति, स्थविरैर्वारितः । ततः स्थविरा वीरं पप्रच्छुः—

अतिमुक्तो बालर्षिराराधकोऽथवाऽनाराधकोऽस्ति । श्रीवीरः प्राह—अत्रैव भवे गुणरत्नतपसा केवलीभूत्वा सेत्स्यति । ततो हृष्टाः स्थविरास्तं पालयन्ति श्लाघयन्ति च । क्रमाद् वृद्धो भूत्वा १२ गुणरत्नवर्षं कृत्वा सिद्धः । तच्चेदं तपः १ उपवासपारणं—२ उपवासपारणं, एवं शत-उपवासपारणं पारणे तु आचाम्लम् । इति अतिमुक्तर्षिसम्बन्धः ॥४३५॥

[द्वितीयस्तु अतिमुक्तकः कंसभ्राता [कंस लघु भ्राता] श्री नेमिनाथवारके केवली बभूव । तृतीयस्तु मेघे वर्षति जलविराधनं कृत्वा गुरुणा वारितः सन् समवसरणके समेत्य ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामन् दगमट्टी रहसि पुनः पुनः भणन् [भणित्वा] शुक्लध्यानारूढः केवलज्ञानं प्राप क्रमाजिह्म क्रमाज्जिह्म] ॥४३५]

[436] अथ वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधिसम्बन्धः ।

एकदा धवलक्कपुरे श्रीहेमप्रभसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । तत्र व्याख्यायां ठक्कुरश्री आभूमन्त्रिनन्दिनी कुमारदेवी नाम्ना सहायाति । परं सा कुमारदेवी विधवा । आसराजोऽपि व्याख्यायामागतः । व्याख्यानप्रान्ते सर्वेषु साधुषु स्वस्वगृहे गतेषु गुरुं पप्रच्छ—भगवन् ! युष्माकं दृष्टिर्नीरागाऽपि कुमारदेव्यां कथं पुनः पुनर्गता ? गुरवो जगुः—कुमारदेव्याः कुक्षौ एकादशरत्नानि सन्ति ४ पुत्राः सप्त पुत्र्यः सन्ति । तेषु पुत्रत्रयं लोकोत्तरं श्रुत्वेति आसराजः आभूमन्त्रिसेवां करोति स्म । तत्र गृहलेखं करोति स्म । क्रमेण कुमारदेव्या सह प्रीतिर्जाता । गुरूक्तं कथितं ततस्तस्याः मातुरपि प्रोच्य छन्नं वाहनिकायामुपवेश्य कुमारदेवीं आसराजो मण्डलीनगर्यां गतः । तत्र वसतस्तस्य लूणिग१–मल्लदेव२–वस्तुपाल३–तेजपालाख्या४ श्चत्वारः पुत्रा बभूवुः । साकु१–माकु२–भाकु३–धनदेवी४–सोहग५–तेजुका६–वइज७ काख्याः सप्त पुत्र्यो ऽभूवन् । मल्लदेवलूणिगौ अल्पायुषौ जातौ ।

एकदा आसराजो धवलक्कके वासं चकार । वस्तुपालस्य ललितादेवी पत्न्यभूत् । द्वितीया सोखुका[सोखुका] ललितादेवीपुत्रो जयन्तसिंहस्तस्य पत्नी सूहवदे । तेजःपालस्य तु अनुपमादेवी पत्न्यभूत् । आसराजसुतौ व्यवसायं चक्रतुः । इतो व्याघ्रपल्लीयो राणक आनाको भीमेन भूपेनापमानितोऽन्यत्र गतः । परिग्रहेणाऽऽकारितोऽपि नायात् । ज्ञापितं च राज्यं विनष्टं च किमागम्यते मया ? परं पदातिमात्रः सन् ओलगां करिष्यामीत्युक्त्वा पत्तने समागात् । तत्सुतो लूणसानामा अक्षकधरोऽस्ति तस्य वीरधवलपुत्रोऽभूत् । स च राज्ञा भीमेन प्रधानः कृतः । राणिमा दत्ता तस्मै राज्यचिन्ता चक्रे च भीमभूपोविकलोऽभूत् ।

अथ लवणप्रसादेन राज्यमात्मायत्तं [आत्मीयं] कृतं भीमे मृते स एव लवणप्रसादो राजाऽभूत् वीरधवलस्य कुमारभक्तो धवलक्ककं दत्तं लवणप्रसादो धन धवलक्कके वीरधवलस्नेहेन तस्थौ । पत्तने अमात्याश्चिन्तां कुर्वन्ति यथा क्रमात्तस्य वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ जातौ तथा मन्त्र्यान्तराद् ज्ञेयौ । क्रमाद्वस्तुपालमन्त्री ब्राह्मणैर्वेष्टितोऽनन्तं बबन्ध हस्ते, मिथ्यात्वे पतितः ।

अत्रान्तरे कुलगुरवः श्रीविजयसेनसूरयो वन्दापयितुमागतास्तत्र कुमारदेव्या नमस्कृताः ।

उक्त च गुरुभि —मन्त्री वस्तुपालो नायाति । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! गृहे पादावधारयिष्व वन्दापनार्थं गुरवो प्राप्ता । मन्त्री तूपरि गृहस्य तस्थौ । तदा गुरवो गृहस्योर्ध्वभूमौगताः । वस्तुपालस्तु विप्रैर्वेष्टितः सन्मुखं न पश्यति गुरो । ततो गुरवः पश्चाद्वलिताः । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! त्वरित कथ पश्चाद्वलिताः ? गुरुभिरुक्त—अवसरो नास्ति । कुमारदेवी प्राह—भगवन ! क्षण प्रतीक्षध्व, मन्त्री आगमिष्यति । ततः कुमारदेवी पुत्रपार्श्वे गत्वाऽवग्— पुत्र ! गुरव आगता अपि त्वया न नता । आत्मन कुले ये गुरवः सन्ति ते तु मान्यन्त एव । वस्तुपालो मातुर्वचसा विप्रान् विमर्ज्य गुरुपार्श्वे समागान् । गुरवो वन्दिता, पृष्ट च—भगवन् ! कथं पश्चात्त्वरित वलिताः ? गुरुभिः प्रोक्त—त्व सुश्राद्धमन्त्रिआसराजकुलचूडामणिरसि । आत्मनः कुलाचार मा मुञ्च । पुन पुनरुपदेश ददानैर्गुरुभिरुक्तं—या देव पूज्यते स जिमद्भिर्हृदनं कुर्वद्भिर्न विराध्यते । [आभछिस्त्यादिना] अयमनन्तो देवः स च जिमद्भिः कथं बाध्यते इत्यादि प्रोच्य छोटापितः ? ये गृहकार्यं कुर्वन्ति भार्यामङ्गीकुर्वन्ति ते तु न धर्मगुरवः किन्तु कर्मगुरव. । एव ज्ञात्वा त्वया विज्ञेन परीक्ष्य धर्मगुरवोऽङ्गीकार्या इति श्रुत्वा गुरुपार्श्वे वस्तुपालः सकुटुम्बः सम्यक्त्व लात्वा जैन धर्मं चक्रे ।

इति वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधसम्बन्धः ॥४३६॥

[437] अथ वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ।

एकदा द्वौ वस्तुपाल-तेजपालौ गुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतु गतौ । गुरुभि प्रोक्तं—

धनदो धनमिच्छूना कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥१॥

कोशं विकासय सदा श्रय धर्मसार्यं, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ति ।
दोषोदये निबिडराजकरप्रताप-ध्वान्ते ममेष्यति पुनस्तव कः समीपम् ॥२॥

तदनु स्वगृहे समायातौ विमृशत स्मेति तौ गुरुभिर्हितोपदेशो ददे । उत्तरकालस्तु न ज्ञायते कीदृशो भविष्यति । अतोऽधुना धन धर्मस्थाने व्ययते ततस्तौ स्थले स्थले प्रासादान् धर्मशालाः सत्रागारान् मण्डयामासतुः । प्रतिदिन उभयकालं प्रतिक्रान्तिमेकवार देवार्चां प्रतिवर्षं महती संघार्चाः साधर्मिकवात्सल्यत्रय च १५०० तपोधनविहारणम् ।

इति वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ॥४३७॥

[438] अथ वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीवस्तुपालो गुरुपार्श्वे श्रीशत्रुञ्जयतीर्थयात्राफल शुश्रावेति—

पल्योपमसहस्रं तु, ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ।
दुःकर्म क्षीयते मार्गे, सागरोपमसञ्चितम् ॥१॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जय तीर्थ, नत्वा रैवतक गिरिम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥

कृत्वा यूपसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
इद तीर्थं समाराध्य, तिर्यचाऽपि दिव गता ॥३॥

इत्यादि तीर्थमाहात्म्य श्रुत्वा कुङ्कुमपत्रिका बहुषु देशेषु प्रेष्य बहु श्रीसघमाकारयामास मन्त्री, जगौ च—

वाहनोपधपाथेयं, सहायश्रपमादिकम् ।
यद्यस्य नास्ति तत्तस्मै, सर्वं देयं मया मुदा ॥४॥

अस्य तावसरे कवि प्राह—वस्तुपालो मन्त्री भरतचक्रीव यात्रामधुना कुर्वाणोऽस्ति । प्रथम देवगृहे स्नात्र विस्तरान्मन्त्री चक्र पश्चात्सघार्चा । ततो मन्त्रपूर्व देवालयानां रथे स्थापन । तत्र चामरान्धिरणढालनादि अविधवास्त्रीतिलककरणगीतगानानि कुर्वाणा घघरसा-लाबन्धन । कौसुम्भकाया वृषशृङ्गेषु धारण । प्रथमयात्राया विस्तर ४००० सेजवाला ७० सुखासनानि १४० शकय २०२ सूरयः, २ यतय ११०० क्षपणका ३३० भट्टा ६४ देवालया १८० इसनदितवादित्र ४५० जैनयाचका ४००० तुरगमा, ७००००० मनुष्या, मार्ग समकरणाय ५०० कुद्दालिका ५० महिषा पानीयानयनाय ५०० कुद्दाली एवमपरमपि स्वय होय प्रति दन १ मनुष्या जिमन्ति मन्त्रिगृहे । एवंविधेन श्रीसघेन सह वस्तुपालमन्त्री द्वयोस्तीर्थयोर्यात्रां चकार ।

इति वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्ध ॥४३८॥

[439] अथ यात्रायामाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्ध ।

अन्यदा बहुश्रीसघ मेलयित्वा वस्तुपालो मन्त्री श्रीशत्रुञ्जयदेवनमनार्थं चलितो हडाला-ग्रामे गत । तत्र द्वाभ्या भ्रातृभ्यां गृहसत्कलक्ष्मीविलोकिता लेखके लक्षत्रय जात । ततः प्रोक्त मन्त्रिणा स्वाष्ट्रासु [अथास्वाम्य] अस्वस्थ विद्यते । तेन लक्षमेकमत्रावनौ क्षिप्यते । लक्षद्वय धर्म व्ययनार्थ साथ नीयते । एव विमृश्य यावल्लक्षस्य धनस्याधःक्षेपाय भूमिं खनयति मन्त्री तावत्तत्र भूमौ कस्यापि धनिन पूर्वस्थापित वज्रकनकपूर्ण शौल्ककलशो निर्ययौ । ततो मन्त्री अनुपमादेवीं पप्रच्छ—क्वैतन्निधीयते धनं ? तयोक्त तीर्थे व्ययते स्थाप्यते । ततो मन्त्री तद्धन सार्थे नीत्वा शत्रुञ्जयगिरिनारतीर्थयोर्व्ययत् । कृत्वा यात्रां सघ परिधाप्य गुरूश्च सोत्सव धवलक्कके समागात् मन्त्री ।

इति यात्रायामाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्ध ॥४३९॥

[440] अथ वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ गौर्जरी[त्रा]अधिष्ठायिका सुरी धवलक्कपुरे वीरधवलभूपस्य पुरोऽभ्येत्यावग्— इयं गूर्जरा बहुभिर्भूपैर्भुक्ता । अधुना त्वमवतीर्णो भोक्तु यदि तव राज्यवर्धनेच्छा विद्यते तदा वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रिणौ कुरु । एवं प्रोच्य देवी विद्युदिव तिरोदधे । राज्ञा दध्यौ— कोऽपि दिव्योपदेश, कर्त्तव्य एव । यत —

दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति,
नीत्या समुन्नयति मन्त्रिजनः पुनस्ताम् ।
रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किन्तु,
संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥ १ ॥

इतो रात्रौ देवी सैव लवणप्रसादस्याग्रेऽप्यवदत् वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ कार्यौ, पितापुत्रौ एकत्र मिलित्वा मिथः स्वस्व रात्रिवृत्तान्त जजल्पतुः । ततस्ताभ्यां वीरधवललवणप्रसादाभ्यां सोमेश्वरदेवगुरोरग्रे प्रोक्त । गुरुर्द्विजः प्राह—युवा भाग्येन देव्या ज्ञापितमेतत् । ममकल्ये वस्तुपालतेजपालौ मिलितौ । साक्षात्पुरुषोत्तमप्रायौ विज्ञौ, सदाकारौ, विनीतौ, सर्वकलाकुशलौ, धीमन्तौ, शूरौ, दानिनौ, धर्मवन्तौ । तदा मया ध्यात यद्येतौ मन्त्रिणौ भवतस्तदा राज्यवृद्धिर्भवति । ततस्तौ सोदरौ राज्ञा तत्राकारितौ, आसनदानादिना सन्मानितौ । ततो भूपो जगौ युवयोर्मन्त्रीश्वरपद दातुकामोऽस्मि उक्त च—

आवयोश्च पितृपुत्रयो–र्महानाहितः क्षितिभरः परद्रुहा ।
तद्युवां सचिवपुङ्गवावहं, योक्तुमत्र युगपत्समुत्सहे ॥१॥

अथ वस्तुपालो जगौ—

देव ! सेवकजनः स गण्यते, पुण्यवत्सु गुणवत्सु चाग्रणीः ।
यः प्रसन्नवदनाम्बुजन्मना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥२॥

नास्ति तीर्थमिह पार्थिवात्पर, यन्मुखाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातकं, सम्पदेति च समीहिता मताम् ॥३॥

किन्तु किमपि विज्ञाप्यते स्वामी,
आवाभ्यां सागता शुभमयी जगत्त्रयी ।
देव ! संप्रति यु [गः] कलिः पुनः सेवकेषु,
न कृतं [ता] कृतज्ञता नापि भूपतिषु यत्र दृश्यते ॥४॥

दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां समोभि[1] लोभस्तु सर्वेषां विद्यते[2] राजानस्तु आत्मीया न भवन्ति केषामपि, तेनास्य मनो मन्त्रीश्वरपदग्रहणे दोलायते । यदा श्रीभवति तदा तु धर्मस्थानादौ व्ययितुमिच्छा भवति । तदा राज्ञो दृष्टिर्यदाक्रूरा भवति । तदा सर्वं राजा गृह्णाति । राजाऽवग्—यत्र भवतो[तेः] रोचते तत्र तत्र श्रीव्ययनीया । मन्त्री जगौ—अस्मद् गृहे साम्प्रत लक्षत्रयी द्रव्यस्य विद्यते कदाचित् पिशुनप्रवेशाद्राज्ञो मनश्चलति । तदा लक्षत्रय मोचनीयमधिक ग्राह्य[3] । राजा जगौ—अह यदि भवतो श्रिय गृह्णामि । तदा मम भवतोरीश्वरोऽन्तरा क्रियमाणोऽस्ति । ततो राज्ञा दत्ता मुद्रा द्वाभ्यां भ्रातृभ्यां गृहीता । तत स्तम्भतीर्थदेश व्यापारो दत्तस्तेजःपालस्य धवलक्ककदेशव्यापारो वस्तुपालमन्त्रिणा दत्ते भूपेन मतस्ताभ्यां तथा कृत यथाऽनेके देशा साधिता[4] । दिने दिने राज्ञ कोशो ववृधे मन्त्रीश्वरगृहमपि श्रिया भृत राजा हृष्ट सन्मान दत्ते तयो ।

इति वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्ध ॥ ४४ ॥

[441] अथाऽनित्यतास्मरणे वस्तुपालसंबन्ध ।

अन्यदा श्रीवस्तुपालो मन्त्री मस्तकादागतमेक पलितं दृष्ट्वा पपाठ ।

अधीता न कला काचिन्, न च किञ्चित्कृत तप ।
दत्तं न किञ्चित्पात्रेभ्यो, गत च मधुर वय ॥१॥

आयुर्यौवनवित्तेषु, स्मृतशेषेषु या मति ।
सैव चेज्जायते पूर्व, न दूरे परम पदम् ॥२॥

आरोहन्ती शिरःस्वान्ता-दौस्थ्य तनुते जरा ।
शिरसः स्वान्तमायान्ती, दिश्यते[दिशति] नीचतां पुन ॥३॥

लोकः पृच्छति मे वार्ता, शरीरे कुशल तव ।
कुत कुशलमस्माक-मायुर्याति दिनेदिने ॥४॥

एव ध्यात्वा विशेषतोऽनेके प्रसादान् साधर्मिकवात्सल्यगुरुपरिधापनशुद्धभक्तप्रदाना-दिधर्मकृत्यानि च मन्त्री चकार ।

इति अनित्यतास्मरणे वस्तुपालसम्बन्ध ॥४४१॥

---

(१) नष्ट सत्व सात्विकानां । (२) लोभो जात सबलोमिनां सम्प्रति शरवमाहात्म्यविद्याविकलेषु लोभस्तु सर्वेषां विद्यते । (३) अरमभ्यां [आवाभ्यां] धर्मे सप्तक्षेत्र्यां स्वदशने शिवदर्शने श्रोयेयिष्यते यदिस्वामि प्रसन्न एव धीयते । (४) वैरीगणोपद्रवः श्रीमद्गणमोचने स्वामिन आज्ञा प्राप्ति ।

[प्रतौ एतदधिकमुपलभ्यते]

[442] अथ वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ।

अन्येद्युर्वस्तुपालो ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय दध्यौ, यदि विस्तरेण तीर्थयात्रा क्रियते तदा वरं । यतः—

वञ्चयित्वा जनानेतान्; सुकृतं गृह्यते श्रिया ।
तत्ततो गृह्यते येन, स तु धूर्त्तधुरन्धरः ॥१॥

नृपव्यापारपापेभ्यः, सुकृतं स्वीकृतं न यैः ।
तान्धूलिधावकेभ्योऽपि, मन्ये मूढतरान्नरान् ॥२॥

एवं स्मृत्वा श्रीमलधारि श्रीनरचन्द्रसूरिपादाः पृष्ठा—भगवन्! या मे चिन्ताऽधुना सा निःप्रत्यूहं सेत्स्यति न वा? प्रभुभिः प्रोक्तं—या चिन्ता तव विद्यते सा सेत्स्यत्येव । वस्तुपालः प्राह—तर्हि देवालये वासक्षेपः क्रियतां । ततः शुभमुहूर्त्ते गुरुभिर्देवालये वासक्षेपः कृतः । साधर्मिकवात्सल्यं च । ततः श्रीसंघः स्थाने स्थाने मार्गे देवालये स्नात्रमहोत्सवं कुर्वाणः श्रीशत्रुंजये गतः । तत्र स्नात्रपूजाध्वजारात्रिकमङ्गलदीपकादीनि प्रभोः पुरश्चक्रे । ततः उत्तीर्णो वस्तुपालो गिरिनारतीर्थे गत्वा नेमिं प्रणम्य मार्गे श्रीसंघं मिष्टाहारादिभिः प्रप्रीण्य परिधाप्य गुरून् प्रतिलाभयामास सूत्सवं स्वपुरमागात् ।

इति वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ॥४४२॥

[443] अथ समुद्रवीक्षानिर्गतमरुस्थलीपुरुषसम्बन्धः ।

एकदा कोऽपि रत्नाकरोपान्तवासी पुमान् मरुस्थल्यां गतः । एकस्मिन् ग्रामे तत्रत्यालये ग्राम्याः स्थूलबहुललोमशा कम्बलपरिधाना मलक्लिन्नगात्रा अनन्तरमागतं वीक्ष्य मिथः प्रोचुः । नवीनः द्रुतगामी बक इव श्वेतवस्त्रधारी क एकः[एष] कु[कुतः]त्रागात्? ततस्तैराकारितः पृष्टः च—कस्त्वं कुतः किमर्थमत्रागाः । तेनोक्तमहं दूरात्समुद्रतटादागां । तैः पृष्टं—समुद्रः कीदृशोऽस्ति पान्थः प्राह—महान् । तैः पृष्टं—केन खनितः? सोऽवग्—स्वयमुवा । तैः प्रोक्तं—स कियान् । सोऽवग्—तस्य पारो न प्राप्यते, तैरुक्तं—तत्र किं प्राप्यते? सोऽवग्—

ग्रावाणो मणयो हरिर्जलचराः लक्ष्मीः पयो मानुषी,
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिकाः सेवालमन्तः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहः किमपरं नाम्नाऽपि रत्नाकरो,
... ... ॥

एवं पदत्रयं व्याख्याय सोऽग्रतो गतः । ततस्तेषु ग्रामेषु एकः कौतुकी ततो निर्गतः समुद्रवीक्षार्थं । ततः क्रमाद् पृच्छन् समुद्रतटं गतः दृष्टः समुद्रः, कल्लोलमालाभिः पूरितस्तेन । ततो

प्याल-पर्योऽय देश यत्र बहुनीर विद्यते । अस्मद्देशे तु *अगाधाम्बु तदपि स्तोक । अतोऽधुना तृषितोऽहं जल पिबामि । तत पय पातु लग्न । यावज्जल पीत तावन्मुख क्षारमभूत् । कोष्ठो दग्ध ततोऽपाठीत् —

चिरिविचियराजलपिहिं जल, पियइ घुट्टघुट्ट चुल्लुएहिं ।
मायर अत्थि बहुत जल विकारा किं तेण ? ॥१॥

तत समुन्तटे उपविष्टो रत्नानि विलोकयति तत्र [illegible] । यान्ति च न रत्नानि । वृक्षा विलोकिता य ते क्षारा पर [illegible] भाग एव मुख पतित । ततो नष्टो निर्वेदेन समागात् समुद्रस्वरूप प्रोच्य [illegible] लोकाना पुर अ मान एव देशो वय ।

इति समुद्रतीरनिर्गतमरुस्थलकसम्बन्ध ॥४४३॥

[444] अथ लूणिगमन्त्रिधर्मवाञ्छासम्बन्धः ।

पूर्व धवलक्कके लूणिगदेव-मालदेव-वस्तुपाल-तेजःपालसोदरा निर्धना वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थायां पुण्ये मानिते लक्षत्रयप्रमाणे । लूणिग प्राह—ममार्थमर्बुदगिरौ विमलवसतिकायां प्रासादा देवकुलिका वा कार्या । ततो वस्तुपालेनोक्त—करिष्यते यथा पुण्य श्रद्धय त पुण्य श्रद्धानो लूणिग स्वर्गं गत ।

इति लूणिगमन्त्रिधर्मवाञ्छासम्बन्ध ॥ ४४४ ॥

[44५] अथार्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्ध ।

एकदा वस्तुपालमन्त्री अर्बुदतीर्थे गत । तत्र विमलमन्त्रिवसहिकायां श्रीऋषभदेव प्रासादस्य कोरणिकां वर्यां वीक्ष्य दध्यौ—वय चत्वारो भ्रातरो जाता पर मालदेव प्रासादा कारिता । अत्र लूणिगभ्रातृनाम्ना लूणिगाह्वां वसतिं कारयामि । ततस्तेजःपाल सन् वसतिकरणेऽनुमति ददौ ।

ततश्च चन्द्रावत्यां पुरा गत्वा धारावर्षभूपस्य विज्ञप्ति तस्यात्र [illegible] अर्बुदशृङ्गे प्रासाद कारयितुमिच्छामि तेनोक्त—यद्विलोक्यते [यत्पश्यसे] तत् करिष्ये । तत सुमुहूर्ते सूत्रधारानाकार्य भूमिर्दर्शिता यदा तत्र तत्र या पश्यन्ति [illegible] । ततो धर्मनिमित्त स्वद्रम्मैस्तीरयित्वा भूमिगृहीता चतुःस्पर्धकस्योपरि पञ्चक स्पर्धक मण्डित च वस्तुपालमन्त्री स्पर्धकैर्भूमि तोलयित्वा गृहीत [illegible] । ततो पनोयानकोऽस्त असौ मन्त्री सर्व गिरिं ग्रहीष्यति तदा मेळे मेळ]न [illegible] । ततो मन्त्री निर्विण्णो । ततो मन्त्री आरासणत पाषाणाना[मानाय्य] [illegible] । अर्ध द्विक्रोशे ग्रामा वासिता आरासणमार्गे तत्र सूत्रधारा मुख्य शोभन सूत्रधार । अपरेषां स [illegible]नि सूत्रधाराणां

* सद्गु ।

बहु द्रव्य प्रतिदीयते । सप्तसहस्र मनुष्याः अर्बुदगिरिआराणादिग्रामेषु देवगृहार्थं मुक्ताः कर्म कर्त्तुम् ।

एकदा वस्तुपाल सकुटुम्बस्तत्रागात । तदा स्तोक कर्वाटक [कार्यं] निष्पद्यमानं दृष्ट्वा मन्त्री शोभन प्रति प्राह—स्तोक कर्वाटक चलति एव कथ प्रासादो निष्पत्स्यते ? शोभनोऽवग्—अत्र गिरौ शीते पतति तेन प्रातर्घटन न भवति । मध्याह्ने जेमितु गम्यते रात्रौ तु विश्रामो गृह्यते । ततोऽनुपमा श्रुत्वैतत दिवसघटका सूत्रधारका एके कृता । रात्रिकर्म[स्थाप्य]कारकाः पृथक् स्थापयामास, मन्त्रिपार्श्वात यत—कालस्य विश्वासो न क्रियते—

श्रियो वा स्वस्य वा नाशो, येनावश्यं विनश्यति ।
श्रीसम्बन्धे बुधः स्थैर्य—बुद्धिं बघ्नाति तत्र किम् ? ॥१॥

वृद्धानाराधयन्तोऽपि, तर्प्पयन्तोऽपि पूर्वजान् ।
पश्यन्तोऽपि गतश्रीकान्, अहो मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

तत्र स्तोकैरेव वर्षैं प्रासादो निष्पन्नः । तत्र बिम्बस्थापना कृता प्रतिष्ठा कारिता १२ कोटि साधिका लग्ना "यत्र यत्र बुद्धिर्नोत्पद्यते तत्र तत्र बुद्धिमनुपमादेवी दत्ते ।" यतः—
स्त्री सती यद्वक्ति तत्प्रायस्तथा भवति शीलमाहात्म्यात्—

गृहचिन्ताभरणहरणं, मतिवितरणमखिलपात्रसत्करणम् ।
किं किं न फलति कृतिनां, गृहिणी गृहकल्पवल्लीव ? ॥३॥

सम्वत् १२८३ प्रासादप्रारम्भ । १२९२ प्रासाद सम्पूर्णोऽजनि । १२ कोडि ५३ लक्षद्रव्याणि तत्र प्रासादे लूणिगवसत्याह्वे लग्नानि ।

इति अर्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्धः ॥४४५॥

[446] अथ भक्तिदाने अनुपमादेवीसंबंधः ।

अन्यदा वस्तुपालमन्त्रिणा अनुपमादेव्या पुरः प्रोक्त—त्वया साधवो विहार्या साधिका साधर्मिक्यो भोजयितव्याः । तत प्रतिदिनमनुपमादेवी हृष्टा, यथेष्ट अन्नपानघृतादिसाधुभ्यो दत्त्वा साधिकान् साधर्मिकाश्च यथायोग्य भोजयित्वा गुरोः पदोर्वन्दनकानि दत्त्वा देवं प्रपूज्य जिमति सदा एव गच्छति समये । अन्यदा साधुभ्योऽन्नपान दत्त्वा घृतकटाहकेन बहु घृत ददानायास्तस्याः क्षौमाण्यभ्यक्तानि घृतेन । तत्र महत् घृतकटाहक साक्षाद्दृष्ट्वा एकेन प्रतीहारेण भग्न ततस्तया स निष्काशित । अन्यस्तत्र स्थापित । अत्रान्तरे स प्रतीहारो वस्तुपालमन्त्रीशस्य पुरो जगौ । अनुपमादेवी बहु घृत साधुभ्यो दत्ते । यदा तदा साटिका घृतेनाभ्यक्ता भवति मलिनाम्बरा स्त्री तु न शोभते । ततो मन्त्रिणा साऽनुपमादेवी निषिद्धा । तदा अनुपमादेवी मन्त्रीशस्य पुरः प्राह—अनेकेषु भवेषु तैलिकपत्नी अभूव, कान्दुविकपत्नी च, तत्र

बहुशोघृतेन शाटिकाऽव्यक्ताऽभूत्, परमधुना धर्महेतो साधुभ्यो घृत ददानाया मम शाटिका घृताभ्यक्ता, भवति मम भाग्य भवे भवे कथमीदृशो योग तव सदृशो ज्येष्ठ धनी धर्मी दयावान् इत्यादि गुणवान् ईदृक्षी देवगुरुसामग्री मनुष्ययोग वासना च पापदानानि भूरिशो दत्तानि धर्मदानानि साम्प्रतमेव लब्धानि सन्ति । एव तयोक्ते वस्तुपालमन्त्री हृष्टस्तां प्रशसयामास । तत प्राह च—अद्यप्रभृति त्वया विचारो न कार्य । यथारुचि त्वया दान दातव्यम् । इति भक्तिदाने अनुपमादेवीसम्बन्ध ॥४४६॥

[447] अथ वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसम्बध ।

सम्वत् १२९८ (वर्षे) अङ्कवालीयाग्रामे वस्तुपालमन्त्री स्वर्गं गत । तत्र सर, प्रभुप्रासादो, धर्मशाला, सत्रागाराश्च तेजपालेन कारिता १८ वर्ष व्यापार, तेजपालो मन्त्री १३०२ चन्द्रोमाणाग्रामे स्वर्ग गतः । तत्रापि सर प्रासादसत्रागाराश्च जयतसिंहेन कारिता । अनुपमादेवी अनशन कृत्वा स्वर्गं गता । सुललितादेव्यपि ।

इतश्चैकदा वर्द्धमानसूरय आचाम्लवर्द्धमानतप कर्तु लग्ना अभिग्रह कलुश्च । यदा तप—पूर्णं भविष्यति तदा मया शङ्खेश्वरपार्श्वं वन्दित्वैव पारणक कार्यं, सम्पूर्णे तपसि देव मनसि कृत्वा सूरयो दध्युरथवा वस्तुपालादीनां गति प्रभो पार्श्वस्य पुरः प्रष्टव्या एवं ध्यात्वा मार्गे चेलु । तत्र मार्गे एकस्य तरोस्तलेऽनशनं लात्वा प्रभोर्ध्यानात् मृतः, [स च] शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्याधिष्ठायकोऽभूत्, ज्ञानेन मन्त्रिणो गतिं ज्ञातु महाविदेहक्षेत्रे श्रीसीम धरजिन नन्तु गत । प्रभु नत्वा स पप्रच्छ—भगवन् ! वस्तुपालमन्त्री महापुण्यकारक क्व गतो मृत्वा ? स्वाम्याह—विदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरिकिण्यां पुर्यां कुरुचन्द्रो नृपोऽभूत् वस्तुपालजीव स च तृतीयभवे सेत्स्यति । अनुपमादेवीजीवस्तु अत्र विनये श्रेष्ठिसुता जाताऽस्ति दीक्षां लात्वा सेत्स्यत्यस्मिन्नेव भवे । तत स देव श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथमुखेऽवतीर्य स्वसम्बन्धकथनपूर्वं वस्तुपालानुपमादेव्योर्गतिं प्रकाशयामास लोकाग्रे । इति श्रीवस्तुपालानुपमादेवीगति । तेजपालस्तु धरापुरे भूपपुत्रोभूत्तत्रैव ललितादेव्यपि सोमभूपपत्नी जाताऽस्ति एते सर्वे स्तोकैर्भवैर्मुक्ति यास्यन्ति ।

इति वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसम्बध ॥४४७॥

[448] अथ द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्ध ।

पत्तने श्रीमालज्ञातीयनागश्रेष्ठिसुन्दरीपत्नीभव-आभडो वणिग्बभूव । तस्मिन् दशवार्षिके मातापितरौ मृतौ श्रीनष्टा । आभडस्तु व्यवसाय चक्रे । वृद्धत्वे परिणीत मणिकारकलां शिक्षितवान् दिन प्रति पञ्च लोष्टिकानुपार्जयति । तत्रैक धर्मे व्ययति, द्वौ कुटुम्बकार्ये, द्वौ सञ्चये । चतुर्दशेऽब्दे पुत्रो जात । पत्न्या स्तन्यं न तेन पुत्र सीदति स्म । तत पुत्रस्य दुग्धाय छागीं लातुमाभडो ग्रामबहिर्गत । तत्र प्रवाहे छागयूथ पानीय पातुमागात् । प्रवाहे छाग्य सर्वा पानीय पातुं लग्ना यदा तदाऽऽभडो नीलं पयो ददर्श । ततश्चिन्तितं तेन कस्या अपि गले रत्न

विद्यते। ततश्छागीषु पय पीत्वा वलितासु एकस्या गले कण्डक दृष्ट तस्यां निवृत्ताया पयोधवलं जात ततश्छागीयपार्श्वेऽभ्येत्यावग्—मम पुत्रस्यार्थे दुग्ध विलोक्यते तेनैका छागीं देहि मूल्यं मार्गय। तेनोक्त—विलोकय या ते रोचते सा गृह्यतां तत आभडोऽवग्—इय सकण्डका देहि तेनोक्तं—गृहाण ततो मार्गित मूल्य वितीर्य छागीं स्वगृहेऽनैपीत्स तस्या दुग्धेन पुत्र जीवयति, कण्डकरत्न समार्ज्य लक्षेण विचिक्राय अतो व्यवहारी जातः। तत आभडेन वहिकास्तिस्त्र कृता। एका रोक्यवहिका, द्वितीया विलम्बवहिका, तृतीया परलोकवहिका, को भावोऽत्र? धरण बन्धन याचना न कस्यापि करोति उद्धाराद्यनर्पणात कृपाम्भोधि क्रमाद्धने वर्द्धिते ३६ वेलातटे धनर्द्धि पूगहट्टिका निजसदन श्रीहेमसूरिपौषधशालाश्च मापपिष्टेष्टकचिताः कारितास्तेन। क्रमाच्छ्रीकुमारपाले राज्योपविष्टे महाव्यापारोऽभूत्। श्रीहेमसूरिपार्श्वे साधर्मिकरोपणफल मुक्तिरिति श्रुत्वा त्रुटितधनान् श्राद्धान् दीनारसहस्रदानादुद्दधार राजाऽपि सहस्र सहस्र दीनाराणा भग्नसाधर्मिकेभ्यो दापयति आभडपार्श्वात्, वर्षान्ते एका कोटिर्धर्मे जाता।

आभडोऽवग् भूपोपान्ते—राज्ञो द्विधा कोशः स्थावरो हेमादि॰ जङ्गमो वणिज यन्मम धन तत्तवैव श्रुत्वा राजा हृष्टः आभड प्रशशस आभडः प्रभुप्रासादान् भूरिश कारयामास धर्मशालाश्च शत्रुञ्जयादिषु तीर्थेषु यात्राः साधर्मिकवात्सल्यानि पुस्तकभाण्डागारभरण चकार च।

इति द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्ध॰ ॥४४८॥

[449] अथ मूमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम्।

अन्येद्युः सुरत्राणमोजदीनमाता हजयात्रार्थिनी स्तम्भ[न]पुरमागता, नौवित्तगृहेऽतिथित्वेन स्थिता। सा चागता मन्त्रिणा ज्ञाता। सेवकाना प्रोक्त यदेय जलपथे याति तदा ज्ञाप्या मे।

अन्यदा तै. सा चलनावसरे मन्त्रिणो ज्ञापिता। ततो वर्यान्नपानाम्बरप्रदानात् पूर्वमतीव गौरविता। ततोऽब्धिमार्गे तस्याश्चलन्त्या मन्त्रिणा निजकोलिकसेवकान् प्रेष्य धनं सर्वं लुण्टयित्वा समानायित, सुष्ठु स्थाने रक्षितं च। तदा नोवित्ते ज्ञापित मन्त्रिणोऽग्रे तस्या लुण्टनस्वरूप। मन्त्री प्राह—कोऽस्ति एव वर्त्मभङ्ग करोति? आदेशो दत्त स्वसेवकाना पूर्वं छन्न शिक्षयित्वा गच्छत। यूय यान पूरयित्वा यत्र येन ग्रहीत तत आनेय, ततस्ते सप्ताष्ट दिनानि भ्रान्त्वाऽऽगता प्रोक्त च तै—अमुकैर्गृहीत। ततो बलात्तत आनायित कूटं प्रकृत कृत्वा तस्यास्तत्सर्वं दत्त। मातर्यदन्यद्विलोक्यते तद्ग्राह्य मम पार्श्वात्, जेमिता वराहारै। ततो लक्षत्रयद्रव्यनिष्पन्न आरासणाश्ममय तोरण रुतेन वेष्टितं कृत्वा ददौ, मन्त्री प्राह च—इद हजे बन्धनीय। ततो याने स्थापित ततश्चलन्त्याः तस्या प्रोक्त मन्त्रिणा त्वया पश्चादत्रागन्तव्य। तत सा हजे तीर्थे गता। तत्र हजे तोरणं बद्ध्वा हजसेवा कृत्वा पश्चात्स्तम्भतीर्थे समागता। वस्तुपालेन मानिता भोजनवस्त्रादिदानात्। ततस्तयोक्तं—मम पुत्रद्वय-एकस्त्वं अपरो मोजदीनसुरत्राण, यत्तव विलोक्यते तन्मार्गय। मन्त्री प्राह—त्वत्पुत्रदेशे मूमाणीपाषाणखानिरस्ति। तत प्रौढप्रस्तरपञ्चक मम विलोक्यते तयोक्तमेतत्सुकर-

मेवास्ति । अहं तत्र गता सती द्वितीयवारं यदा जिमिष्यामि, यदा प्रस्तरपञ्चक भवदुक्त ततश्चालयिष्यामि । एव प्रोच्य यदा चचाल सा तदा वस्तुपालो बहुवर्त्मनि सम्प्रेषयितुं गत । सा च स्वपुरे गता सूनोर्मिलिता पुत्रस्याग्रे प्रोक्त यात्रासम्बन्ध सर्व । प्रोक्तमेकस्त्व पुत्र अपरा गूर्जरमन्त्री वस्तुपाल । तस्य मूमाणीप्रस्तरपञ्चक यदा प्रेषयिष्यते तदा मया द्विवार भोक्तव्य । ततो राज्ञा प्रस्तरपञ्चक प्रेषित । तत एकेन शत्रुञ्जये श्रीऋषभप्रतिमा कारिता, द्वितीयेन पुण्डरिकप्रतिमा तृतीयेन कपर्दिकयक्षप्रतिमा चतुर्थेन चक्रेश्वर्या प्रतिमा, पञ्चमेन तेजलपुरे पार्श्वनाथप्रतिमा । केचित् वृद्धा कथयन्ति—गौमेत मठादग्रतो वामपार्श्वे चतुष्किका वर्तते तद्भूमिगृहे वस्तुपालमन्त्रिणा एवं आदिष्टं—इमं पञ्चक स्थापितमस्ति । इति मूमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम् ॥४४९॥

[4 0] अथ रत्नश्राद्धसम्बन्ध ।

काश्मीरदेशभूषणनवहुल्लकपुरात् रत्नश्रावको निर्गत । श्रीरैवतगिरौ नेमिनमस्करणाय, वर्त्मनि स्थाने स्थाने देवतया विघ्न कृत पुनन चचाल । तीर्थमारूढ रत्न श्रीसंघयुक्त प्रभो स्नात्र कर्तु लग्न श्रीपञ्चपाण्डवकारित लेप्यमय बिम्बं गलित श्रीसंघयुग्रत्नोऽतीव खिन्नोऽजनि अचिन्तयच्च धिग्मां यन्मम स्नात्र कुर्वत प्रभोर्बिम्ब गलित मया तदा भोक्तव्य यदा श्रीअम्बिकादेवी नेमिप्रतिमां दास्यति । अम्बिकादेव्या पुर उपविष्टो ध्यानेन षष्ठ्यानोपवासान्ते अम्बिका प्रत्यक्षीभूयावग्—त्वत्साहसेनाह तुष्टास्मि । तत सा काञ्चनबलानकेतमनैषीत् । तत्र च तस्मै द्वासप्ततिर्बिम्बान्यदीदृशत् । तेषु १८ हैमानि, १८ रात्नानि १८ राजतानि १८ वज्रमयानि एव ७२ । स विमृश्यावग्– वज्ररत्नमय बिम्बमप्पय मह्य । ततो देवी ककच[कच्च] सूत्रत तुभियद्ध्वा तस्य पृष्ठे मुमोच, पश्चान्न विलोक्य । यत्र त्व पश्चाद्विलोकयिष्यसि तत्रैव स्थास्यति । ततो बिम्ब स्कन्धे कृत्वा निर्गत । स तदा द्वारि समागात् तदा [स्ते] ध्यात तेन भारस्तु न ज्ञायते । कस्माचिद् देव्या वाहितोऽहमेव कपटेन एवं ध्यात्वा यावत् पश्चाद्विलोकित तावद्बिम्ब तत्रैवाम्बरे स्थित । ततस्तस्य बिम्बस्य तत्र पूजा कृता द्वार प्रासादस्य ततोऽस्तमनाभिमुख कृत, स्तुतिरेवं कृता—

न खानिमध्यादुदखानि, यन्त्रैर्नात्रुटि टङ्कैरुडितजिनेश ।
अघोति न घोतमकैर्न बाह्यैरवाहि, यो मन्त्रि न सिद्धमन्त्रै ॥१॥

अनादिरव्यक्ततनूरमेघ प्रभामयोऽनन्तबल स्वसिद्ध ।
तरीस्तरीतुं भविना भवाब्धि, स नेमिनाथ कृपयाविरासीत् ॥२॥

इति रत्नश्राद्धसम्बन्ध ॥४५०॥

[451] अथ मुद्रौ हरिदत्तदूतसंबन्ध ।

कच्छदेशेशश्रग्र समायामुपविष्टो यदा तदा प्रातरेको वैदेशिकः समागात् । स च

पृष्ट त्व कुत आगात् ? किमाश्चर्यं दृष्ट त्वया ? तेनोक्त—वेन्नातटपुरे भीमसेनराजेन सभा चर्या कारिताऽस्ति, यादृशी अन्यत्र न दृश्यते । राज्ञोक्तं हरिदत्तस्य दूतस्याग्रे । गच्छ तत्र पुरे सभा विलोक्यागच्छ । यादृशी तत्र सभाऽस्ति तादृशी कार्यते । तत' स दूतः किञ्चित प्रीतिप्राभृतहस्तश्चचाल राज्ञो मिलित. स, प्रोक्त च—अह चित्रसभा द्रष्टु चन्द्रण भूपेन प्रेषिताऽस्मि । भीमसेनोऽवग्—कल्ये प्रातर्दर्शयिष्यते । ततो द्वितीयदिने प्रातदूत आकारित'। तत्र गतः चित्रशालां विचित्ररत्नग्रचितां जलस्थलभ्रान्तिकारिणीं दृष्ट्वा प्रथम निश्चेतुमक्षम स कथ प्रविष्ट. ? तत बुद्धिमान् मुद्रामग्रे मात्र मोच जलस्थले ज्ञात्वा मध्ये प्रविष्टः । ततः स चन्द्रभूपानुगः पश्चादेत्य यदा भीमसेनभूपसभावर्णन चकार ।

इति बुद्धौ हरिदत्तदूतसम्बन्धः ॥४५१॥

[452] अथ बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीडणीसम्बन्धः ।

सूरडग्रामे सूरपाल क्षत्रियः पत्नी नीडणी । सा च पतिपार्श्वे नित्य पट्टसूत्रज कञ्चुक याचते । स च न दत्ते वक्ति च तां प्रति नाह-पट्टकूलवणिग् कार्पासवणिग् वाऽभव । ततो मम पार्श्वे पट्टसूत्रज कञ्चुक नास्ति । तयोक्त—द्रव्येन किं न भवति ? स वक्ति—द्रव्यं कस्य पार्श्वे समस्ति ? सा वक्ति—अहिफीणादि समानयति कुतो निःसरति । एवं प्रोक्ते पत्न्या सदा नोत्तर दत्ते ।

ततोऽन्यदा यदा सूरपाल सभायामुपाविशत् । तदा दासी तया शिक्षयित्वा प्रेषिता जगौ—त्वरित गृहे आगम्यतां त्वया नीडण्या ज्ञापितमस्ति इति "रब्बा" उत्तरिताऽस्ति शीता भविष्यति । तत सभाजनैरुक्त किं तव गृहे धन नास्ति [यद्] रब्बा पीयते ? तत स लज्जितो गृहे आगतः प्राह—पत्नि ! अह कथमेव विगोपितो रब्बाजल्पनेन ? सावग्—यदि पट्टसूत्र-कञ्चुक नार्पयिष्यसि तदैव भविष्यति । स प्राह—पट्टसूत्रकञ्चुकं गृहाण । अथ कलङ्को यथोत्तरति तथा कुरु । ततस्तयोक्तं—सेतिकाद्वयं गोधूमानां प्रेषय, घृत गुड इत्यादिकं वितर । यदा तदा तव कलङ्क उत्तरति । ततः प्रियामागिल दत्त्वा सभायां गतः । प्रिया तु वर्यां रसवतीं निष्पाद्य सभायामागता गृहे आगच्छ रसवती निष्पन्नाऽस्ति । तन. सर्वपरिषज्जन-सहितः गृहे आगात्, पत्न्या रसवत्या सर्वपरिषत्सहित जेमयितः प्रीणितो वर्यरसवतीदानात् । ततः सर्वपरिषत्प्राह—अय धनी पुण्यवान्, एतस्य पत्नी धन्या, एतयोः सयोगो वर्योऽस्ति ।

एवं बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीडणीसम्बन्धः ॥४५२॥

[453] अथ बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे कुबुद्धिसुबुद्धिमित्रद्वय विद्यते स्म । सुबुद्धि देशान्तरं गत । कुबुद्धिस्तस्य प्रियायां रक्तोऽभूत् । सुबुद्धिर्धनमुपार्ज्य आगात् । कुबुद्धिस्तु कृत्रिम स्नेहवचो जल्पति सुबुद्धिस्तदजानन् मानयति त, कुबुद्धिः सुबुद्धिं प्रति उवाच । भवता कापि कौतुकं दृष्ट, सुबुद्धिः

प्राह—सरस्वती नदी कमलहृदोपान्तस्थे कूपमध्ये अकालजमाम्रफलं दृष्टं । कुबुद्धिः प्राह—कूटं किं प्रोच्यते ? सुबुद्धिः—सत्यमेवतत् । ततः कुबुद्धिः तस्य पत्नीमगीचिकी [तचिकी] प्राह—यदि तत्राम्र भवति तदा मम गृहस्थाऽपि भोस्तव, यदि न भवति तदाहं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां यद्गृह्णामि तन्मामकं । एवं पणबन्धं कृत्वा कुबुद्धिस्तत्फलमानीतवान् छन्नं स्वगृहे, प्रातर्द्वावपि गतौ फलमदृष्ट्वा कुबुद्धिरुवाच चल चेद्गृहे यद् द्वाभ्यां हस्ताभ्यामहं गृह्णामि । तन्मे भवतु । एवं जल्पन्तं कुबुद्धिं सुबुद्धिः भार्यां गृहीतकामं ज्ञातवान् । ततोऽवग्—कल्ये त्वयाऽऽगम्य द्वाभ्यां हस्ताभ्यां वस्तु ग्राह्यं । ततो द्वितीयदिने सर्वं वय वस्तु पत्नीयुतं मालकस्योपरि मुमोच । कुबुद्धिरागात् स्व लहन ममाग सुबुद्धिर्निःश्रेणी तत्र मुक्त्वा प्राह गृहाण वस्तु । ततः स यावन्मालकस्योपरि चटितुं निःसरणीं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां जग्राह । तदा सुबुद्धिः प्राह—इमां निःसरणीं लात्वा गच्छ । अद्य प्रभृति मम गृहे त्वया नाऽऽगम्यं तव मनो ज्ञातं । ततः पत्न्यपि हक्किता सन्मार्गे स्थापिता ।

एवं बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ॥४५३॥

[454] अथ बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्धः ।

उन्देलिक ग्रामे राजसिंहः क्षत्रियः तद्भार्या कलहप्रिया रुष्टा यदा पुत्रद्वयं नीत्वा निःससार पितृगृहं प्रति गता मलयपर्वते चन्दनद्रुमादिवृक्षसंकुले एकं व्याघ्रं सम्मुखमागच्छन्तं दृष्ट्वा दध्यौ, कथमस्माच्छुटिष्यते ? ततः तत्पन्नधीः पुत्रौ चपेटया आहत्य प्राह—कथं युवां व्याघ्रं भक्षितुं कलहं कुरुथः ? भवद्भिस्तु अग्रे बहवो भक्षिताः अहं तु बुभुक्षिताऽस्मि वयं त्रयः असौ तु एकः कथमात्मन उदरपुष्टिमविष्यति । एवं जल्पन्तीं श्रुत्वा व्याघ्रो दध्यौ एषा व्याघ्रमारी नारी, अहं मुधा धावितोऽत्रैनाहन्तुं । एते सर्वे व्याघ्रभक्षकाः एवं ध्यात्वा व्याघ्रो नष्टः सा चोद्वलिता तस्माद्भयात् ।

इति बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्धः ॥४५४॥

[455] अथ बुद्धौ शकटालमन्त्रिसंबंधः ।

पाटलीपुरपत्तने नन्दो राजा तस्य शकटालो मन्त्री मन्त्रिधिया सर्वे भूपाला अपि करदायका जाताः उक्तं च—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात्सानुरागेण कः,
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ?
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुचिता येषां गुणा भूतये,
भृत्यौ धात्रुपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ॥१॥

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य, किं करिष्यन्ति संहिता ?
हस्तोपधृतच्छत्रस्य, वारिधारा इवारयः ॥२॥

स च चर्मनाणक कारयन् निर्द्रव्यां भुवं कुर्वाणो निषिद्धो मन्त्रिणा। ततः स भूपो रुष्टो मन्त्रिण सपुत्रमवटे चिक्षेप। तत्रस्थो रहः अपुष्यत स्वजनैः। ततो महामात्यै. शकटालो मृतो मृत इति घोषितं। ततो बङ्गालनाथस्तत् परीक्षार्थं घोटिकाद्वयं प्रेषयामास सेवकपार्श्वा· दुपदादम्भात् स च तत्र गत्वा प्राह अनयोर्मध्ये का माता का पुत्री इति, भूपेन पृष्टमपि तदा न केनापि विज्ञेनापि द्वयोः सम्यग्निर्णय कृतः। ततो नन्दो दध्यौ—यदि शकटालः कूपे नाक्षेपिष्यत तदा स निर्णयं कुर्यात्। राज्यमहत्वं यास्यति यत—

भूमेश्च देशस्य गुणान्वितस्य, भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशे।
भृत्यप्रणाशे मरणं नृपाणां, नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥३.।

ततो दण्डपाशकं भूपोऽप्राक्षीत् शकटालकुले कोऽप्यस्ति योऽनयोर्घोटिकयोर्मातृसुतयो- र्विभागं करोति, तेनोक्तं विलोक्य कथयिष्यते। ततः स भूपः पृच्छन् कूपान्तस्थं शकटाल ज्ञातवान्। तत. कूपात् कर्षितः, उक्त च तेन--

मेदिनीशेन मान्यस्त्वं, गुरुः स्वामी नियोजिकः।
आश्रयश्च तथा दाता, कि किं न त्वं सदा न च ? ॥४॥

स्वामी दुर्णयवारण व्यतिकरे शास्त्रोपदेशे गुरु—
विंष्टम्भे हृदयं नियोगसमये दासो भये चाश्रयः।
दाता सप्तसमुद्रसीमरसनादामांतिकायां क्षितौ,
सर्वाकारमभूत्स्वयंवरसुहृत् को वान वर्ण्यो मम ॥५॥

मन्त्री प्राह--किं विधेयं ? राज्ञोक्त--अनयोर्वडवयोर्मातापुत्रिकयोर्निणय कुरु ? ततो मन्त्रिणा वडवायुग सपर्याण कारयित्वा बाह्याल्यामतिबाह्य पर्याणरहित विधाय श्रान्त सम्मोचित। यया जिह्वया ऽन्यालीढा सा माता, पुत्री तु या मातुरधोमुखं चकार। ततो राजा हृष्टो मन्त्रिण मानयामास।

इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥ ४५५ ॥

[456] अथ बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्ध।

एकदा कोऽपि भूपो विचक्षणो नन्दपार्श्वं यष्टिकां पदकवृत्तां विचणीमया सर्वत्र समा प्रपर्यामास ज्ञापयामास च। अस्या यष्टिकायां वज्रखचितायां आदि अन्तं ज्ञात्वा ज्ञापनीय यदा केनापि न ज्ञातमादि अन्त च। ततो राज्ञा शकटालस्याग्रे प्रोक्त—त्वां विना न कोऽप्य- नयोर्निणयं करोति। ततो मन्त्री यष्टिकां जलेऽमुञ्चत् यतो मूल तत् ईषज्जले मग्न भारात्। ततो राजा हृष्टस्तं मानयामास। इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥४५६॥

[457] अथ बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसबंध ।

इलावत्यां पुरि धम्मिलो राजा वरममात्य नवीन सुशील चकार । केनचिदुक्त । अय मन्त्रीकृतोऽस्ति पर न ज्ञायतेऽस्य कीदृशी बुद्धिरस्ति । ततो राज्ञा मुद्रया मुद्रितं प्राभृतं भस्मच्छन्न मन्त्रिणो ददे प्रोक्त च—इद प्रीतिप्राभृत शत्रुमदनभूपाय देहि । तत स तत्प्राभृत लात्वा विदिशायां पुरि जगाम । राज्ञोऽग्रे प्राभृत मुक्त राजा तु उत्खिल्य भस्म दृष्ट्वा कालमुखो भूत्वा रुष्ट प्राह—रे मन्त्रिन् ! तव स्वामी ममेदृक्प्राभृत प्रेषयति ? तव शिक्षा दास्यते । मन्त्री प्राह—स्वामिन् ! मम स्वामिनाऽश्वमेधो यज्ञ कारितो मङ्गलहेतु, तद्भस्म सर्वेषां सज्जनानां अभीष्टानां नृपाणामपि प्रेषयामास । तत एतद्भस्म मुद्रितं कृत्वा स्वामिन प्रेषित उक्त च—

गजा सन्ति हया सन्ति, विचित्राः सन्ति सम्पद ।
तवाप्यस्ति ममाप्यस्ति, दुर्लभ भस्म यज्ञजम् ॥१॥

तत स राजा तुष्टस्त मन्त्रिण तोषयामास राज्ञा सम प्रीतिं चक्रे च ।

इति बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसम्बन्ध ॥४५७॥

[458] अथ बुद्धौ धूर्तद्विजसम्बन्ध ।

एकस्मिन् ग्रामे द्विज श्रीधर । तत्र चन्दनाह्वश्चर्मकारस्तस्य पार्श्वे श्रीधर उपानद्युगं कारयामास । चर्मकारोऽनिशं मूल्य याचते । सदा विप्रो वदति त्वां हृष्ट करिष्यामि एवं वदति तस्मिन् बहुः कालो गत । स विप्रोऽन्यदा धनार्थं चर्मकृता धृत धनं विना न मुञ्चति सः ।

ततोऽन्यदा तत्रैव ग्रामपते सुतो जात ततस्त द्विजो भूपपार्श्वेऽनैषीत् प्राह च—मया पूर्वमुपानद्ग्रहणावसरे प्रोक्तं त्वां हृष्ट करिष्यामि । अद्य राज्ञ सुतो जातोऽस्ति त्वं 'कलीयाइत अथवा न' एतच्छ्रुत्वा चर्मकृद्दध्यौ यदि ब्रवे अहं न हृष्टोऽस्मि तदा राजा रुष्टो मां दण्डयति तत उक्त 'कलीयाइत हुं हुओ' किं जल्प्यते अधिक ? यदा हृष्ट ततोऽधिकजल्पने कोऽपि लाभो न ततश्चर्मकृत्स्वगृहे गत ।

इति बुद्धौ धूर्तद्विजसम्बन्ध ॥४५८॥

[459] अथ बुद्धौ भूपसम्बन्ध ।

विशालापुर्यां वणिग्भीम तस्य पत्नीद्वय तत्र वयं दृष्ट्वा एको धूर्तो देवीमाराध्य भीमरूपधरो भीमे ग्रामान्तरगते समेत्य तद्गृहमधिष्ठाय चावग् पत्न्यादीनां पुर । अद्य मम स्वप्ने देवी प्राह—त्वं यदि जीवितमिच्छसि चिरं तर्हि धनं वितर । एवं प्रोच्य प्रथमं द्वयोः पत्न्योर्भूषणादिवस्त्रादि ददौ । तत परिजनो वस्त्रादिदानाद्धोरवित, सर्वोऽपि परिच्छदो हृष्टः । इतो भीमो गृहे आगच्छन् शुश्राव, "भीमो दानी जात सर्वं धन धर्मादौ व्ययन् धनद इव

ख्यातोऽजनि सत्यभीमो दध्यौ केनचिदहं वञ्चितो मम रूपकरणात् । ततो यदा हट्टे आगतस्तदा तेन हक्कितो रे दुष्ट धूर्त्त ! अत्र यद्यागमिष्यसि तदा हत एव, गृहे प्रवेष्टुं न लभते । ततो दुःखी रुदन् वक्ति । अहं मुषितोऽस्मि । अनेन लोकास्तु सर्वे तेन भक्तितता धूर्त्तस्य पार्श्वे जाता । ततो द्वावपि विवदमानौ भूपपार्श्वे गत्वा स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचतु । द्वावपि सदृशौ सदृशजल्पकौ तेन यदा केनापि निर्णीतिर्न कृता तदा राजा दध्यौ, शिष्टपरिपालनं दुष्टनिग्रह इति राज्ञो धर्म । यत.—

प्रजापीडनसन्तापात्, समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान्, नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥१॥

एवं ध्यात्वा भूपस्तस्य पत्नीद्वयमेकत्र स्थापयित्वा पप्रच्छ, किं युवयो. पाणिग्रहे भर्त्रा किं जल्पित ? किं दत्तं प्रथमं सगमे च । कस्मिन् स्थाने किं भुक्तं ? ततो राज्ञा द्वावपि पृष्टौ । यस्य प्रोक्तं विघटितं स गृहस्वामी जात ।

एवं बुद्धौ भूपसम्बन्धः ॥ ४५९ ॥

[460] अथ आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्धः ।

पद्मिनीखण्डपुरे वरदत्तेन वैरोट्या नाम्नी पुत्री पद्मयशसः पद्मपुत्राय दत्ता । वरदत्तो व्यवसायार्थं देशान्तरे गच्छन् दवेन दग्ध । ततो वैरोट्या श्वश्रूरपमानयति पितृमरणात् । यतः—

रूपं रहो धनं तेजः, सौभाग्यं प्रभविष्णुता ।
प्रभावात्पैतृकादेव, नारीणां जायते ध्रुवम् ॥१॥

वैरोट्या चिन्तयति—स्व कर्मणा एव फलं भवति । यतः—

सव्वो पुव्वकयाण, कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु अ, निमित्तं (च) परो होइ ॥२॥

वैरोट्याऽन्यदा योगीन्द्रस्वप्नसूचितं गर्भं बभार, पायसदोहदो जात । श्वश्रूर्वक्ति सुता भविष्यति । वैरोट्या श्रीआर्यरक्षित सूरिं वन्दितु गता । सहविरोध. प्रोक्तः, गुरुणोक्तं पूर्वभवकर्मणा पायसदोहदात्पुत्रो भावी, श्वश्रा पुण्डरीकतप कृत । तस्योद्यापने पायसं कृत, वध्वै न दत्त, वधूस्तु अन्यत्र पायस निष्पाद्य घटे क्षिप्त्वा कुम्भ मुक्त्वा जलाशये गता ।

अत्रान्तरे अलिञ्जरनागः स्वपत्नीदोहदपूरणाय क्षीरान्नं लात्वा गत । इतो वैरोट्या तत्रागता क्षीरान्नमदृष्ट्वा न चुकोप बभाषे च—येनेदं भक्षितं मे भक्ष्य तस्य मनोरथा. पूर्यन्ता एतद्वचोऽलिञ्जरपत्न्या ज्ञात । ततो हृष्टाऽवग्—अस्या मनोरथ पूर्यन्ते तदा वर, ततस्तस्या

दोहद पूर्णीचक्रे प्रातिवेश्मिकस्य श्रीपार्श्वात् । वैरोट्यानागपत्नीभ्यां पुत्रो जनित । जन्मोत्सवोऽभूत् वैरोट्यापुत्रस्य नागदत्त इति नामाभूत् । वैरोट्यासुतस्य रक्षार्थं अलिञ्जरनागपत्नी सपा सुभोच वैरोट्यायाः सदा सांनिध्य चक्रे । अद्यप्रभृति यो वैरोट्यास्तुतिं करिष्यति तस्य कोऽपि सर्पादिजातिन दङ्क्ष्यति । ततो वैरोट्यास्तव जानन् पद्म प्रियापुत्रसहितो व्रत जग्राह वैरोट्या मृता धरणेन्द्रपत्नी जाता । तत्रापि वैरोट्या नाम । तत स्वस्मरण[पूर्वक]पार्श्वनाथभक्तस्य रक्षां चकार । नागदत्तस्य आर्यनन्दिलनामाभूत् सूरिश्च इति ।

इति आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्ध ॥४६०॥

[461] अथ वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ।

जीवदेवसूरयो विहार कुर्वाणा वायडपुरे समायाता । इत पूर्व वायडपुरे लल्लश्रेष्ठी मिथ्यात्वी यज्ञ मण्डयामास । तत्र लक्षप्रमाण व्ययितु कल्पितमस्ति तेन ।

एकदा तस्मिन् यज्ञे कुण्डपार्श्वे महान्सर्प पपात । द्विजा प्रोचुरनेनापि आहुतिः क्रियते । स सर्पो नश्यन्नपि तैयष्टयोत्पाट्याग्निकुण्डे क्षिप्त ज्वलितश्च, तदा लल्लेन ध्यात दया चास्मिन् धर्मे नास्ति । ततो दयाधर्मं विलोकयन् तत्रागत श्रीजीवदेवसूरिपार्श्वे ययौ, गुरु वन्दित्वा धर्मोपदेश शुश्राव—

राग़ी देवो दोसी देवो मासमुक्कपि [पाणिसद्दन्नपि] देवो,
मसे धम्मो मज्जे धम्मो जीवहिंसाय धम्मो ।
रत्ता मत्ता कता सत्ता जे गुरू तेवि पुज्जा,
हा हा कट्ठ मुट्ठो [पत्तो] लोओ अट्ठ कुणतो ॥१॥

ततो विप्रान् गुरूंस्त्यक्त्वा जीवदेवसूरिगुरोश्चारित्र शुद्ध वीक्ष्य च हृष्टोऽमूल्लल्ल सम्यक्त्वमूल धर्म च जग्राह—भगवन् ! मया यज्ञ अर्धलक्षं व्ययित अर्धलक्ष तिष्ठति तत् क्व व्ययिष्यते ? गुरुभिजिनप्रासाद कार्यते । ततो निर्लोभता गुरोर्दृष्ट्वा स प्राह— क्व प्रासाद कार्यते ? गुरुभि प्रोक्त अद्य द्वौ कूपौ प्रामृते आगमिष्यतस्तव तौ तु स्वच्छया मुच्येतां यत्र तिष्ठतः तत्र प्रासाद कार्य । तत्र भूमौ गुरुभिर्विलोक्याक्त अत्राधो भूरिधन विद्यते । ततस्तत्र भूमौ कान्यकुब्जभूपसुताया मृताया बहुधन निर्गत । ततस्तत्र महान् जिनप्रासादो द्वासप्ततिदेवकुलिकायुत कारित । द्विष्टैर्द्विजैर्येगुमुमूपुर्गौश्चैत्ये प्रभो पुर गर्भागारे रात्रौ क्षिप्ता सा च मृता, श्राद्धै सद्या गुरोरग्र विज्ञप्त, गुरुभि परकायप्रवेशविद्यया गौब्रह्मभवन क्षिप्ता । यत्परस्य चिन्त्यते तत्स्वस्यायाति ब्राह्मणैर्जीवदेवसूरिचेष्टित ज्ञात । तत सूरिपार्श्व विज्ञप्त गौयद्रि ढढे कथ्यते तस्त्रोत्साहो भवति । तत श्रीप्रभुभिस्तथा कार्य यथा बहिर्निगच्छति । गुरुभि प्रोक्त—यदतो लल्लचैत्ये अस्मत्साधु श्राद्धेषु भक्ति श्रावकैरिव क्रियते । सदा वो ध्वज क्रियते । सूरिपदप्रस्तावे हेमयज्ञोपवीत यद् दत्थ सूरेश्च वस्तुवासन च यद्दथ तदा गौ कृष्यते । ततस्तैस्तथा मानिते गौ कर्षिता ।

ततो वायडब्राह्मणा श्राद्धा इव गुरौ भक्ता अभूवन् तत्सन्तानेऽपि च।

इति वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ॥४६१॥

[462] अथ चमत्कारे जीवदेवसूरिसम्बन्धः ।

एकदा धर्मदेशनायां जीवदेवस्य सूरेर्दुष्टो योगी समागत्य स्वजिह्वया पर्यस्तिकां बध्वोपविष्ट. सभ्यलोको भीत । प्रभुभिः मः कीलितस्तथा यथाऽतीव वेदनाऽभूत् । तत स वक्तुमशक्तस्तेन खटिकया भूमौ लिखित—

उवयारहउवयारडो, सव्वो लोअ करेः ।
अवगुण किद्धइ गुणकरइ, विरलओ जणणि जणेइ ॥१॥

अह तव छलनायागा त्वयाऽहं ज्ञात स्तम्भितश्च प्रसीद मयि, मां मुञ्च बन्धनात् । ततो गुरुभि कृपया मुक्त स च पुराद्बहिः मढि कृत्वा योगी स्थितो दुष्ट । ततो गुरुभिरुक्त साधुसाध्वीना पुर., यस्मिन् दिग्भागे योग्यस्ति तस्मिन्न गम्य । तस्मिन् दिग्भागे कदाचित् साधवो गता तेन छलिता. । ततो गुरुभिर्निविड स्तम्भितस्तत्रस्थो यथा स्थानाच्चलितु न शेके साधव स्वस्थिता' कृता, योगिनो दिनाष्टक तत्र जात बुभुक्षातृट्पीडितो गुरून् ज्ञापयामास मयातः पर भवदीयशिष्याणा श्राद्धाना किमपि अवयं न कार्य, मां मुञ्च दृढवच कृत्वा मुक्तः पादयोर्गुरो पपात गुरूणां नवः शिष्य इवाभवत् ।

इति चमत्कारे जीवदेवसूरिसंबंध. ॥४६२॥

[634] अथ प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसंबंधः ।

विक्रमादित्येन पृथ्वीमनृणां कुर्वता निम्बश्रेष्ठी गूर्जरधरित्र्यां प्रेषितः, स च ग्रामे पुरे लोकाननृणीकुर्वन् धनदानाद्वायडग्रामे समागात् । श्रीजीवदेवसूरयो वन्दिताः उपदेश. श्रुतः, स च लल्लश्रेष्ठिकारित महान्त प्रासाद दृष्ट्वा दध्यौ—असौ श्रेष्ठी धन्यो येनाय प्रासादः कारितः एवं ध्यात्वा तेन वायडे श्रीजिनप्रासादो महान् कारितः । तत्र श्रीवीरप्रतिमायाः प्रतिष्ठां श्रीजीवसूरयश्चक्रु ।

इत' स निम्ब स्व पुण्य श्लाघमानः स्वपुरे ययौ ।

इति प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसम्बन्ध ॥४६३॥

[464] अथ श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसंबधः ।

आर्यखपटाचार्यशिष्यो महेन्द्र. वादे वृद्धकर बौद्ध जिगाय । सर्वलोकैरपहसितो [बौद्धः] मृत्वा गुडशस्त्रपुरे यक्ष उत्पन्न, तेन प्रासादः कारितः, स्वप्रतिमा स्थापिता च । स च यक्ष

प्राग्वैरात् जैनानुपद्रवति व्याधिवधनभयेन धनहरणादिप्रकारै । ततः श्राद्धैर्गुरवो विज्ञप्ता, यक्ष श्रीसंघस्य पीडां करोति गुरवो यक्षायतने गता । यक्षस्य कर्णयोरुपानहौ बबन्धु । यक्षांसि पादौ ददु लोका मिलिता राजाप्यागात् राज्ञोक्त—श्वेतवस्त्र[1] उत्तिष्ठ यक्षस्याशातना न क्रियते स्तुतिरेव क्रियते भस्मीकरिष्यति त्वां गुरुयस्तु शरीरमाच्छाद्य सुप्ता राजा यत्र यत्रोद्घाटयति तत्र स्फुलिङ्गा निस्सरन्ति । ततो घातान दापयति । यष्टा तदान्तःपुरेषु लगन्ति पत्नीनां । ततोऽन्तःपुरे कोलाहलो जात मृता वयमिति काऽप्यदृश्यो मारयति । ततो राजा सूरीणां पदा पतित्वाऽवदत्—प्रसन्नो भव ममापराध क्षम्यतां कृपां कुरु लोकेषु । ततोऽन्तःपुरेषु वेदना गता । गुरुभि प्रोक्त—यक्ष अत्रागच्छ । ततो यक्ष उत्थित गुरुपादौ ननाम पादसंवाहनां करोति च जगौ—मयि कीटकोपरि क कटकारम्भ ? गुरुभि प्रोक्त—अद्यप्रभृति जैनेषु द्वेषो न कार्य । यक्ष प्राह—यथा हनूमति रक्षति शाकिन्य पात्राणि न पराभवन्ति तथा त्वयि रक्षति जैन क पराभवति । तव भृत्योऽहं मुञ्च मां राजादयश्चमत्कृता सूरिभक्ता जाता सूरय प्रासादान्निर्गता यक्षोऽपि पाषाणमूर्ति गुरुपृष्ठौ चचाल द्वे दधिकुण्डिके सार्धं चलिते सूक्ष्मपदान्युल्लङ्घ्य नगरद्वारे सर्वे विसर्जिता यक्षादय स्वस्थाने ययु जिनधर्मप्रभावनाख्यात्यर्थं कुण्डिके पुरद्वारे पतिते [स्थापिते] अधुनापि यथास्थिते स्त ।

इति श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसम्बन्ध ॥४६४॥

465 अथ श्रीजिनशासनोन्नतौ आर्यखपटाचार्यसम्बन्ध ।

एकदा गुडशस्त्रपुरात् श्रीसूरयो यावच्चेलुस्तावत्तत्र साधुद्वय भृगुकच्छादागत गुरवो वन्दिता । साधुद्वय प्राह—भगवन्! श्रीपूज्यैर्युष्माभिर्भृगुपुराच्चलद्भिया कपरिका मुक्ताऽभूत् सा च क्षुल्लकेन छोटयित्वा वाचिता आकृष्टिलब्धिस्तेन शिक्षिता स च तया विद्यया इभ्यानां गृहात्सारां रसवतीमानीय भुङ्क्ते तथापुनः श्रीसंघेन गच्छेन वारितोऽपि न तस्थौ रसनेन्द्रियलोलुपो जात । श्रीसंघेन वन हरिकृता बौद्धानां मिलित । स च दुष्ट बौद्धानां पात्राणि मठात् खेन इभ्यानां श्राद्धानां गृहेषु प्रपयति तानि भक्तभरितानि खे न आनयति । बौद्धान् भोजयामास सुखेन, तेन क्षुल्लक अतीव-मानितो गौरव वहन्ति बौद्धास्तस्मिन् । तस्य शिक्षा यदि दायते तदा वर । ततो गुरवो भृगुपुरं जग्मु प्रच्छन्न स्थिता यदा बौद्धानां पात्राणि अन्नपूर्णानि आगच्छन्ति शिलाकर्कराक्षेपात् आघाय बभञ्ज, तदा झोलिमण्डकादि[द्रव्य] राजमार्गादौ पतन्ति । तदा लोका कलकल कुर्वन्ति बौद्धा बुभुक्षापीडिता जगु काऽस्मदीयानि पात्राणि भनक्ति । तत क्षुल्लको गुर्वागमनं ज्ञात्वा भीतो नष्ट सन्नन्यदा गुरुगुणैरावर्जित स क्षुल्लकोऽभ्येत्य गुरून् वन्दित्वा क्षमयामास आचष्ट चाद्य प्रभृति मया गुरूणां वचो माननीय सूरय ससंघा बौद्धानां प्रासादमागमन् बुद्धस्य उपलमूर्ति समुखमुपस्थिता जयजय महर्षिकुलशेखर" इत्यादि स्तुतिं चक्र गुरा । ततो बौद्धा अपि प्रबुद्धाः ।

इति जिनशासनोन्नतौ आर्यखपटाचार्यसम्बन्धः ॥४६५॥

[466] अथ जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ।

पाटलीपुरपत्तने दाहडो भूपो विप्रभक्तो यतीनाकार्याचष्ट विप्रान्नमत । यतयः प्रोचुः—एते तु गृहस्थाः वयं तु निर्ग्रन्था तेनास्माभिर्गृहस्था न वन्द्यन्ते । राज्ञोक्त—यदि न नमस्यन्ते विप्राः तदा मद्देशे न स्थेयं । यदि स्थास्यते तदा शिरासि च छेत्स्यन्ते । ततो जैनयतिभिः सप्तदिना याचिता अत्रान्तरे तत्र श्रीआर्यखपटसूरिशिष्यः उपाध्यायो महेन्द्रनामा भृगुपुरादायर्यौ । स च यतिभिर्वन्दित स्व दुःख प्रकाशित यतिभि, उपाध्यायेन सधीरिताः,

प्रात. श्रीउपाध्यायो दाहडराजस्य सभाया गत । राज्ञोक्त—प्रणमत ब्राह्मणानां नो चेद्भवता शिर्षाणि छेत्स्यन्ते । उपाध्यायोऽवग्-राजन् ! एते गृहस्था सपरिग्रहा वय निष्परिग्रहा. अत एव न प्रोच्यते जिह्वा त्रुटति । तदा राज्ञोक्त—भो सेवकाः ! अस्य निग्रह कार्यते । तत उपाध्यायो हस्ते रक्तकणवीरकंबा लात्वोन्चं कृत्वा सभायां फेरिता प्रोक्त च केषा नमस्कार करिष्यते ? ततो राजान विना सर्वेषां विप्रादीना मस्तकानि भूमौ पेतु उपाध्यायेनोक्त—यदेतेषा कृतं तत्तवापि करोमि नवा ? ततो राजोत्थायोपाध्यायपादयो. पतित्वा भीतः प्राह—भगवन् ! प्रसन्नो भवतु परमेवमपराधं न करिष्यामि । ततो महेन्द्र उवाच—

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरमटाभारं स्पृशत्यङ्घ्रिणा,
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं काङ्क्षति ।
कः सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसं श्रिये,
य. श्वेताम्बरशासनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम् ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजाऽवग्—अहमतस्ते सेवकोऽस्मि मम चैतेषा जीवित देहि । एते विप्रादय. सर्वे भवन्त नमस्यन्ति । ततो महेन्द्रोपाध्यायेन धवलकणवीरकम्वा तेषामुपरि वाहिता, सर्वे समस्तका उत्थिता ततो राज्ञोक्ता विप्रादयः सर्वे [सर्वान्] यतीन्नमन्ति स्म राजा श्राद्धोऽभूत् ।

इति जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ॥४६६॥

[467] अथ अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसंबंधः ।

गुरुदत्तविद्यया प्राप्तसूरिपदः पादलिप्तसूरिर्दशवर्षीय शत्रुञ्जयोज्जयन्तार्बुदतीर्थसमेतशिखराष्टापदतीर्थेषु देवान्नत्वा जिमति स्म ।

एकदा सूरिः पाटलिपुरे गत. । तत्र गरुडो (मरुंडो) नाम राजा षण्मासीं यावच्छिरोर्त्या पीडित. । ततः प्राणांस्त्यक्तुमिच्छति एकैर्मन्त्रतन्त्रयन्त्रैरनेकै. पुरुषैः कृतेऽप्युपचारे न निवर्त्तिता शिरोर्त्तिः । ततो मन्त्रिणः प्रेष्य सूरीनागतान् श्रुत्वाऽकारयामास [ततः सूरीन् आह्वनाय राजामन्त्रिणं प्रेष्य, आगतांश्च तान् श्रुत्वाप्रवेश कारयामास] राजा प्राह—भगवन् ! प्रसन्नीभूय दुःसाध्या शिरोर्त्ति निवर्त्तयता, कीर्त्ति-धर्मौ संचयेता । तत. सूरि कृपासागर शिरोर्त्ति भूपस्येत्यपाचकारा—

जह जह पएसिउ जाणुअंमि[सि], पालित्तउ भमाडेइ ।
तह तह से सिरवेअणा, पणस्सइ मरुण्डरायस्स ॥१॥

प्रीतो राजा स वृत्तोत्सवः पादलिप्तसूरिं गुरुं चक्रे ।

इति अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४६७॥

[468] अथ विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ।

एकदा श्रीगुरुभिः प्रोक्तं विनीताः साधवो यदुच्यते तत्कुर्वन्त्येव राजा प्राह—राजकुले हि विनयो विद्यते । ततः सूरयो जगुः—यस्तव परमभक्तोऽस्ति स आकार्यताम् । इदं च तस्मै कथ्यतां गत्वा विलोकय 'गङ्गा किं पूर्ववाहिनी पश्चिमवाहिनी वा ?' ततो राज्ञा भक्तो राजपुरुषो गङ्गाप्रवाहवहनदिग्विलोकनाय प्रेषितः । स च यत्र तत्र भ्रमित्वा पश्चादागतः भूपेनोक्तः गङ्गा पूर्ववाहिनी वा पश्चिमवाहिनी वा स प्राह—आबालगोपाला जानन्ति गङ्गा पूर्ववाहिनी । गुरुभिः प्रोक्तं—राजन् ! राजकुले ईदृग्विनयो विद्यते गुरुप्रेषिताः साधवः गङ्गातटे गत्वा काष्ठप्रान्ते ध्वजं बन्धयित्वा सम्यग्गङ्गाप्रवाहवहनं विलोकयामासुः । ततः पश्चादागताः साधवः प्रोचुः—भगवन् ! अस्माभिर्गङ्गायां गत्वा प्रवाहो विलोकितः पूर्ववाहिनी गङ्गा ज्ञाता । ततो राजोत्थाय साधून्नत्वा प्राह—धन्य भवत्येवेदृशा गुरुभक्ताः साधवो भवन्ति उक्तं च—

निवपुच्छीएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओ मुही वहइ ।
संपाइय च सीसो जह, तह सव्वत्थ कायव्वं ॥१॥

इति विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ॥४६८॥

[469] अथ उचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा गुरौ अन्यत्र गते लघ्ववस्थायां पादलिप्तसूरिः साधुषु गोचरचर्यायां गतेषु बालैः सह क्रीडति द्रुतं श्राद्धानागतान्ज्ञात्वा आकारं संवृत्योपविष्टः उपदेशो दत्तः । ततस्तेषु श्राद्धेषु गतेषु पुनर्बालकमध्ये खेलति यावता तावता केऽपि वादिनो विज्ञं ज्ञात्वा वादं कर्तुं समाययुः तैर्विजनं मत्त्वा "कुक्कुकुक्कू" इति शब्दः कृतः सूरिणा तु वादिनश्चागतान् ज्ञात्वा 'म्याऊं म्याऊं' बिडालशब्दः कृतः । ततस्तैर्वादिभिस्तस्य विद्वत्त्वं ज्ञात्वाऽवसरज्ञत्वं च, पदयोस्तस्य पेतुः प्रोचुश्च चिरंजीव बालभारति ! ततो गोष्ठी मण्डिता तैः—

पालित्तय ! कहसु फुडं सयलं महलं भमंतेण ।
दिट्ठं सुयं च कत्थय ! चंदणरससीयलो अग्गी ॥१॥

प्रभुणोक्तं— अयमाभियोगसंदूमियस्स पुग्मिस्स मुद्धहिअस्स ।
होइ वहंतस्स दुहं, चंदणग्ममीयलो अग्गी ॥२॥

ततस्ते प्रोचुः त्व साक्षादेवामरगुरुः त्राह्मी ।

इत्युचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसंबंधः ॥४६९॥

[470] अथ प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा श्रीपादलिप्तसूरयः कुर्चालमरस्वत्यादिविरुदधारिण. प्रतिष्ठानपुर्यां महोत्सवपूर्वं समागच्छन्ति ।

इतः सर्वैः पण्डितैः सम्भूयैकत्र स्त्यानघृतभृतं कचोलकमाचार्याणां सन्मुखं प्रेषित आचार्यैस्तु घृतमध्ये सूचिका क्षिप्ता तथैव पश्चात्प्रेषित । तत राज्ञोक्तं गुरुभिरिदं कृतं, को भाव., पडितैरुक्तं—गुरुभिर्ज्ञापित पण्डितैर्भृत पुरं विद्यते तथापि यथा सूचिर्घृतमध्ये प्रविष्टा तथाहमपि प्रवेक्ष्यामि पुर्यां । ततो राजादयो विप्राश्च समुखं गताः सूत्सवे जायमाने गुरवो धर्मशालायामागता उपदेशो दत्त श्रीपादलिप्ताचार्यैर्निर्वाणकलिकप्रश्नप्रकाशादिशास्त्राणि निर्मितानि राजा रञ्जित । इति प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४७०॥

[471] अथ वृद्धवादिसूरिपदसम्बन्धः ।

स्कन्दिलाचार्योपान्ते वृद्धत्वेऽपि चारित्र जग्राह मुकुन्दद्विज , स च गुरुभिः सह भृगुपुरे गत उच्चैः स्वरं ढढस्वर [दृढनरस्वरेण] भणति राज्ञा साधुभिश्चोक्त—किं मुशलं पुष्पयिष्यति स चावग्—यदि विद्या. समेष्यन्ति तदा [पुष्पयिष्यते] पुष्पते । ततः खिन्नो विद्यार्थी ब्राह्मीदेव्या अग्रे एकविंशतिमुपवासांश्चक्रे सा प्रसन्ना प्राह—सर्वविद्यासिद्धो भव तपसाऽहं तुष्टा तुभ्य, सर्वविद्यापारग स राजादीना पुरा जगौ–यन्ममोपहास कृत 'मुशल पुष्पयिष्यसी'[ती]त्यादिना। ततो राजादिबहुपु लोकेपु मिलितेपु मुशलमानाय्य चतुष्पथे स्थित्वा विद्यया मुशल पुष्पयामास । तस्य पृष्टौ स्थित्वा प्रोवाचेति—

[प्र[तप्त]कम्पो [पत्तमवलंबिअ] मुद्गो भृङ्गं शक्रयष्टिप्रमाण ।]

अप्रतिमल्लोवादीह लो लंपइ फुल्लमुसलमिह ।
तमह निराकरित्ता फुल्लइ, मुसलं ति ठावेमि ॥२॥

तथा च— शीतो वह्निर्मारुतो निष्प्रकम्पो, मुद्गो शृङ्गं शक्रमुष्टि[यष्टि]प्रमाणम् ।
यस्मै यद्वा रोचते तन्न किंचित्, वृद्धो वादी भाषते कः किमाह ? ॥३॥

अप्रतिमल्लो वादी जातो मुकुन्दमुनि । तत सूरिभि स्वपद दत्तं वृद्धवादीति नाम जातम । इति वृद्धवादिसूरिसम्बन्ध ॥४७१॥

[472] अथ सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्ध ।

एकदा देवर्षिद्विजपुत्रो देविकामातृभव सिद्धसेनो विप्रो महाविद्यापारगो विजितानेकवादी वृद्धवादिसूरिस्फुर्ति श्रुत्वा सुखासनारूढोऽनेकच्छात्रपरिवृतो गुरु जेतु भृगुपुरं प्रति चचाल मार्गे गुरवो मिलिताः परस्परमालाप सिद्धसेनोऽवग्—त्व वाद देहि सूरिः प्राह—ददामि शीघ्रं परमत्र के सभ्या वादे जिताजितादिविषये को निर्णय करिष्यति ? सिद्धसेनोऽवग्—एते गोपाः सभ्या वृद्धवादिनोक्त—तर्हि ब्रूहि । तत सिद्धसेन संस्कृततर्कच्छ दोलङ्कारादि जल्पितु लग्न यदा अल्प अल्प स्थितस्तदा गोपैरुक्तमस्य प्रोक्त किमपि न ज्ञायते । तेनासौ किमपि न वेत्ति उच्चैर्जल्पता कर्णा स्फोटिता । ततो वृद्धवादी कच्छटक बन्धयित्वा चर्चरीच्छन्दसा कोऽवति ? तथाहि—

नवि मारीइ नवि चोरीइ परदारह गमण निवारीइ ।
थोवा थोवउ दाईइ झुगझुगि सरगिहिं जाईइ ॥१॥

पुनरपि प्रोच्यैव नृत्यति पठति च—

[तु]कालु कंबल अनइनीवडु छासिहिं भरीओ दुईओ निप्पडु ।
अइवडपडिओ नीकलइ[सा]डाडि, अवरकिसर[सग]गह सिंगनिलाडि ॥२॥

ततो गोपा प्रोचुः—अय वय सवज्ञ अहो कीदृक्कर्णसुखकारि वच । तत सिद्धसेन स्व हारित मत्वा प्राह—भगवन् ! प्रव्राजय मां तव शिष्योऽहं त्वया अवसरो ज्ञातो मया तु न । अथ वादी आह—भृगुपुरे गम्यते तत्र भूपाग्रे वाद करिष्यते । तत्र ज्ञास्यते को विज्ञ इति ततस्तत्र गतौ । तत्रापि सूरिणा जित सिद्धसेनो दीक्षां जग्राह—यत्र वादो जात तत्र तालरसग्रामो राज्ञा वासित सिद्धसेनस्य कुमुदचन्द्र इति गुरुभिर्नाम ददे दत्त सूरिपदं क्रमात् सिद्धसेनदिवाकर इत्यपि नाम जातम् ।

इति सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्ध ॥४७२॥

[473] अथ प्राप्तसर्षपविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्ध ।

एकदा सिद्धसेनसूरिश्चित्रकूटे प्राप्त । तत्र चिरन्तनचैत्ये स्तम्भमेक महान्त दृष्ट्वा कंचित् पुरुष प्रपच्छ कोऽय स्तम्भो महान् किमत्रास्ति ? तेनोक्त—पूर्वाचार्यैरस्य स्तम्भस्य मध्ये पुस्तकानि न्यस्तानि सन्ति स्तम्भस्तु तदन्नौषधमयो जलादिभिरभेद्योऽस्ति । ततः सूरिस्तस्य स्तम्भस्य गन्ध गृहीत्वा प्रत्यौषधरसै स्तम्भमाच्छोटयामास । तत प्रातरम्बुजवद्विकसित मध्ये पुस्तका[नि] दृष्टा[नि] । तत्रैक छोटयित्वा वाचयताद्ये पत्रे द्वे विद्ये दृष्टे एका सर्षपविद्या यया अभिमन्त्रिताः

सर्षपा यावन्तो जले क्षिप्यन्ते तावन्तो अश्ववारावर्यपल्ययन[मल]कवि, कजरहगुडि[ह्रांग]र-क्षिकाटोपखड्गासिपुत्रीप्रमुखद्विचत्वारिंशदुपकरणसहिता निस्सरन्ति । ततः परबलं जेष्यते सुभटाः सिद्धे कार्ये अदृश्यीभवन्ति । द्वितीया हेमविद्या यया क्लेशं विना शुद्धहेमकोटी निष्पाद्यते येन तेन धातुना ततस्ते द्वे विद्ये गृहीते सूरिणा ततो यावदग्रे पाचयति तावत्स्तंभो मिलितः खे वागभूत् पुस्तकमपि मध्ये स्थितं "अयोग्योऽसि ईदृशीना विद्यानां प्रयास. पुनर्न कार्यः" तत सिद्धसेनसूरिर्विद्याद्वयं प्राप्य सन्तोषं चकार ।

इति प्राप्तसर्षपविद्याहेमविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्धः ॥४७३॥

[474] अथ नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भो सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ।

एकदा कुर्मारपुरे श्रीसिद्धसेनसूरिर्ययौ । तत्र देवपालराजो गुरु वन्दितुमाययौ धर्मोपदेशं शुश्राव । तत्र परस्पर गोष्ठी सदा गुरुभूपयो प्रवर्त्तते ।

एकदा गुरुर्विज्ञप्तो रहसि राज्ञा—भगवन् ! वयं संकटे पतिताःस्म । गुरु पप्रच्छ किं सकटं तवास्ति ? राजा जगौ सीमालभूपा मम राज्य जिघृक्षया आगच्छन्त. अतः, श्रीप्रभुपार्श्वे विद्या श्रूयते यदि यूयं कृपा मयि कुरुथ ? तदा राज्यं तिष्ठते। सूरिराचष्ट-चिन्ता न कार्या, तव यद्यह गुरुरभूवं, राजा हृष्टः क्रमात्परचक्रं समायातं। विद्यया प्रथमया सेना रचिता, द्वतीयया हेम च, ततो युद्धे जायमाने वैरिवल भग्न। ततो जयजयारावोऽजनि। ततो राजा भक्तोऽभूत् ततो गुरुणा जैनः कृत. ततस्तेन राज्ञाऽनेके जिनागाराः कारिता. ।

इति नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भो सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ॥४७४॥

[475] अथ प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ।

क्रमात्सिद्धसेनसूरि सयमशिथिलोऽजनि, वेलाया प्रतिक्रमणादिक्रिया न करोति, अनेके राजानः एवायान्ति श्रावका श्राविका धर्मशालायां प्रवेशमपि न लभन्ते वेषमात्रधारी जात । यत —

दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जंतिं गिहत्थकिच्चाइं ।
अजया पडिसेवंती, जइ वेसविडबगा नवरं ॥१॥

तत. सिद्धसेनसूरिः सुखासनारूढश्चलति । इतो गुरुणा सिद्धसेनप्रमादस्वरूपं ज्ञात। ततो गुरुर्वेषान्तर कृत्वा सिद्धसेनसुखासन स्कन्धे चकार वर्त्मनि सिद्धसेनो बभाषे—

"भूरिभारभराक्रान्तः, स्कन्धः किं तव बाधति !"

वृद्धवादी जगौ—

"न तथा बाधते स्कन्धो, यथा बाधति बाधते" ॥२॥

ततो ज्ञातं तेन मम गुरु विना ममोक्तौ कोऽपि कूटं न कर्षति। एवं ध्यात्वा आसना-दुत्तीर्य गुरुमुखमुपलक्ष्य पादौ पपात क्षमयामासापराध । ततो गुरुभि प्रोक्तं—

चउदसपुव्वी आहारगा, विमलनाणी विअरागावि ।
हुंति पमायपरवसा, तयणतरमेव चउगईआ ॥३॥

प्रमाद परमद्वेषी, प्रमाद परम विषम् ।
प्रमादो मुक्तिपूर्दस्यु, प्रमादो नरकायनम् ॥४॥

ततः प्रमादं मुक्त्वा गुरुपार्श्वे आलोचनां कृत्वा शुद्धचारित्रपालनपरोऽभूत् ।

इति प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्ध ॥४७५॥

[476] अथ अवन्तिसुकुमालस्वरूपम् ।

अवन्त्यां भद्रश्रेष्ठी भद्रापत्नीभवोऽवन्तीसुकुमाल पुत्रो द्वात्रिंशदिभ्यपुत्रीः परिणिन्ये महासौख्यात् शालिभद्रावतार । एकदा तत्र आर्यसुहस्तिसूरिर्दशपूर्वधरः आगत्य भद्रश्रेष्ठिगृहे स्थित । अनेकश्राद्धा धर्मं श्रुत्वा पुण्य कुर्वन्ति स्म । रात्रौ मधुरस्वरं नलिनीगुल्मविमानाध्ययनमध्ययन गुरुभिर्गण्यमान श्रुत्वोहापोहपर प्राप्तजातिस्मृतिरवन्तिसुकुमालो दध्यौ । तत्र विमाने यत्सुख विद्यते । ततोऽत्र कोटिभागेऽपि नास्ति ततस्तत्र गम्यते तदा वर । ततो गुरुपार्श्वे गतः पृष्ट भगवन् ! किं यूय नलिनीगुल्मविमानादत्रायाता यतस्तत्स्वरूपमुच्यमानमस्ति । गुरुः प्राह–सिद्धान्ते गण्यमानमस्ति । स प्राह–तत्र त्वरित कथं गम्यते ? गुरुणोक्तं–चारित्रात् ! स प्राह–चारित्र प्राह्य । गुरुः प्राह–तव मात्राद्यनुमत्या दीक्षा भवति । तत स्वय चारित्र गृहीत्वा श्मशानभूमौ कायोत्सर्गे स्थित । तदा पश्चाद्भवसम्बन्धिपत्नीशिवाया उपसर्ग सहमानो मृत्वा तत्र विमाने देवोऽभूत्, मातभार्याः पुत्रस्वरूप ज्ञात्वा दुःखिनो जाताः । ततो गुरुभिर्नलिनीगुल्मविमानस्वरूपं प्रोक्त । ततस्तस्य मृत्युस्थाने महाकालाभिध श्रीपार्श्वनाथप्रासाद कारितः प्रभो प्रतिमा स्थापिता । इति अवन्तीसुकुमालस्वरूपम् ॥४७६॥

इति श्रीतपागच्छाधीश *श्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य–श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य* प० *शुभशीलगणि*विरचितपञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे–

॥ तृतीयोऽधिकार समाप्त ॥

चतुर्थोऽधिकारः

[477] अथ ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ।

अन्येद्यु सिद्धसेनदिवाकरः ॐकारनगरप्राप्तः गुरुभिर्धर्मोपदेशो ददे श्राद्धानां। श्राद्धैर्विज्ञप्त— भगवन् ! भरटका राजप्रासादमदमत्ता जैन प्रासाद कारयितु न ददते, तथा क्रियताम् यथात्र जैनप्रासादो भवति । तत श्रीसिद्धसेनो हस्तन्यस्तचतुःश्लोको विक्रमादित्यभूपगृहस्य प्रतोल्यां गतः । ततो द्वारपालो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह—

भिक्षुर्दिदृक्षुरायात–स्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ? ॥१॥

ततो राज्ञा प्रतिश्लोक. प्रेपितश्चमत्कृतेन—

दीयता दशलक्षाणि, शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ॥२॥

ततो मध्ये गत सूरि श्लोकचतुष्टय यदा चतुर्पु दिक्षु पपाठ । तदा राजा तुष्ट' ते चैते श्लोकाः—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः ।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगन्तरम् ॥३॥

सरस्वती स्थिता चक्रे [वक्त्रे] लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्त्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरे गता ? ॥४॥

कीर्त्तिस्ते जातजाड्येव, चतुरम्भोधिमज्जनात् ।
आतपाय धरानाथ, गता मार्त्तण्डमण्डलम् ॥५॥

सर्वदा सर्वदोऽसीति, मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्टं, न वक्षः परयोषितः ॥६॥

श्रुत्वा राजा तुष्टो जगौ—चतुर्दिग्राज्य गृहाण । गुरुः प्राह—अस्माक निर्ग्रन्थानां राज्येन किं कार्यं ? ततो भूपोऽवग्—यदन्यद्विलोक्यते तन्मार्गय । गरु प्राह—

"ॐकारनगरे चतुर्द्वारं जिनप्रासादं शिवप्रासादाद्द्युच्चं कारय, तत्र पार्श्वप्रतिमां प्रतिष्ठापय" ततो राजा सिद्धसेनप्रोक्तमचीकरत् ।

इति ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥ ४७७ ॥

[478] अथ नवीनसंवत्सरप्रवर्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनदिवाकरः श्रीविक्रमादित्यभूपस्याग्रे दानधर्मोपदेशं ददावेवं—

श्रीनाभेयजिनेश्वरो धनभवे श्रेयःश्रियामाश्रयः,
श्रेयांसः स च मूलदेवनृपतिः सा नन्दना चन्दना ।
धन्योऽयं कृतपुण्यकः शुभमनाः श्रीशालिभद्रादयः,
सर्वेऽप्युत्तमदानदानविधिना जाता जगद्विश्रुताः ॥१॥

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥२॥

न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छलं ।
हिययंमि वीयरायो, न धारिओ हारिओ जम्मो ॥३॥

तीर्थङ्करा पृथिवीमनृणीं कृत्वा दीक्षां गृह्णन्ति यथाहि—

एगा हिरण्णकोडि, अट्ठेव य अणूणगा सयसहस्सा ।
सूरोदयमाईअं, दिज्जइ जापाउरासाओ ॥ ४ ॥

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीअं च हुंति कोडीओ ।
असीइं सयसहस्सा, एयं, संवच्छरे दिन्नं ॥५॥

अधः क्षिपन्ति कृपणा, वित्तं तत्र यियासयः ।
सन्तस्तु गुरुचैत्यादौ, तदुच्चैः फलकाङ्क्षिणः ॥६॥

इत्यादि व्याख्यानं श्रुत्वा विक्रमादित्यराजा जगौ—भगवन् । मम गृहे स्वर्णपुरुषद्वयं विद्यते । ततो दिनं दिनं प्रति हेम लभ्यते । तेन मम पृथिवीमनृणीकर्तुमिच्छाऽस्ति । गुरुभिः प्रोक्तं—न भाग्यं विना धर्म कस्य मनोरथो भवति सम्पूर्णो भवति च । यतः—

भवन्ति भूरिभिर्भाग्यै-र्धर्मकर्ममनोरथाः ।
यत्पुनस्ते फलन्त्येव तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥७॥

श्रुत्वेति राजा ग्रामे पुरे स्वसेवकान् प्रेष्य गुप्तमार्गितं धनं दायं दायं पृथिवीमनृणीं चकार । ततस्तस्य संवत्सरो टिप्पणके शास्त्रेषु लिखितो बुधैः ।

इति नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ॥४७८॥

[479] अथ शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसम्बन्धः ।

खेटपुरे देवादित्यद्विजस्य सुभगा पुत्री विधवाऽभूत् कस्मादपि गुरो सौर मन्त्रं प्राप तदा सौरो मन्त्रो ध्यातः । ततः सूर्योऽभेत्य भुक्तवान्, सगर्भाऽभूत् तां तादृशीं दृष्ट्वा मातृपितृभिर्ह विकृता । सा च सूर्यागमनं प्राह—तथापि मात्रादिभिर्न मानिता कोपिता । सा च वलभीं पुरीं गता काले तया पुत्रपुत्र्यौ जनिते, क्रमाद्वर्धते लेखशालिकैरपुत्रक इति प्रोक्ते मातरं स पप्रच्छ मम कः पिता माताऽवग्—सूर्यस्ते पिता ध्यातस्तेन सोऽभेत्य तस्मै पुत्राय कर्करं ददौ प्राह च यस्ते पराभवं करोति सोऽनेन कर्करेण हतो मर्त्ता, स च कर्करं पश्चात्तवान्तिकं समेष्यति । ततः स पराभवकर्त्तारं तेन हन्ति । ततः स बालवधकारकः श्रुतो वलभीशेन । ततः स भूपेन पराभूतः । ततस्तं स हत्वा राजाऽभूत् तस्य शिलादित्यनामाऽभूत् । ततः शिलादित्यः स्वां भगिनीं भृगुपुरे भूपाय ददौ, तया च सुतोऽसावि सुदिने इतः शिलादित्यो बौद्धैः स्वधर्मं ग्राहितः, श्रीशत्रुंजयतीर्थं बौद्धा आत्मीयं चक्रे । इतः शिलादित्यभगिनी भर्त्तरि मृते सपुत्रा सुहस्तिसूरिपार्श्वे चारित्रं जग्राह । स च बालकोऽष्टवर्षीयः सामाचारी कुशलो विनीतोऽभूत् प्राज्ञश्चाभवत् । एकदा मातरं पप्रच्छ अल्पः श्रीसंघः कथं ? माताऽवग्—श्वेताम्बरा देशान्निष्कासिता शिलादित्यभूपो वलभीपुरीस्वामी बौद्धः कृतः शत्रुंजयतीर्थमपि गृहीतं तैः, पूर्वं सघा बहुरभूत् स च शिलादित्यभूपस्तव मातुलोऽस्ति इति श्रुत्वा बालः कुपितोऽस्वादेवीमाराध्य बहुविद्यावान् मल्लगिरौ तपश्चक्रे कतिपयदिनैः शासनदेवी प्रसन्नाऽभूत् प्राह च कं मिष्टा, सोऽवग् मम वल्लाः ततस्तया ध्यातमय तपस्वी नीरसाहार याचनात् । ततः पुस्तकं दत्त्वा देव्याचे अमुं पुस्तकं वाचय सर्वान्वैरिणो जेष्यसि । ततो मल्लवादीति त्वं नाम्नाऽस्याः । ततः स प्राप्तविद्यो वलभ्यां समेत्य बौद्धान् विजित्य शिलादित्यं भूपं प्रबोध्य श्रीशत्रुंजयतीर्थं वालयामास बौद्धा देशान्निष्काशिताः । ततो गुरुभिः सूरिपदं ददे तस्य [तस्मै] । इति शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसंबंधः ॥४७९॥

[480] अथ हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

चित्रकूटे हरिभद्रो विप्रश्चतुर्दशविद्याविशारदः सर्वशास्त्रार्थं विन्दते । ततः प्रतिज्ञां चक्रे—यस्योक्तस्यार्थं न जाने तस्याहं शिष्यो भवामि । एकदा स रात्रौ पुरमध्ये व्रजन् साध्व्युपाश्रयान्ते गतः । तदा साध्वी श्रीआवश्यकगाथां जगौ—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसिअचक्की अ ॥१॥

"ॐकारनगरे चतुर्द्वारं जिनप्रासादं शिवप्रासादाद्युच्चं कारय, तत्र पार्श्वप्रतिमां प्रतिष्ठापय" ततो राजा सिद्धसेनप्रोक्तमङ्गीकरोत् ।

इति ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥ ४७७ ॥

[478] अथ नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनदिवाकरः श्रीविक्रमादित्यभूपस्याग्रे दानधर्मोपदेशं ददावेवं—

श्रीनाभेयजिनेश्वरो धनभवे श्रेयःश्रियामाश्रयः,
श्रेयांसः स च मूलदेवनृपतिः सा नन्दना चन्दना ।
धन्योऽयं कृतपुण्यकः शुभमना श्रीशालिभद्रादयः,
सर्वेऽप्युत्तमदानदानविधिना जाता जगद्विश्रुताः ॥१॥

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥२॥

न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छलं ।
हिययंमि वीयरायो न धारिओ हारिओ जम्मो ॥३॥

तीर्थङ्करा पृथिवीमनृणीं कृत्वा दीक्षां गृह्णन्ति तथाहि—

एगा हिरण्णकोडि, अट्ठेवय अणूणगा सयसहसा ।
सूरोदयमाईअं, दिज्जइ जापाउरासाओ ॥ ४ ॥

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीअं च हुंति कोडीओ ।
असीइं सयसहस्सा, एयं, संवच्छरे दिन्नं ॥५॥

अध क्षिपन्ति कृपणा, वित्तं तत्र यियासवः ।
स तरतु गुरुचैत्यादौ, तदुच्चैः फलकाङ्क्षिणः ॥६॥

इत्यादि व्याख्यानं श्रुत्वा विक्रमादित्यराजा जगौ—भगवन् । मम गृहे स्वर्णपुरुषद्वयं विद्यते । ततो नित्यं दिनं प्रति बहु हेम लभ्यते । तेन मम पृथिवीमनृणीकर्तुमिच्छाऽस्ति । गुरुभिः प्रोक्त—न भाग्यं विना धर्मं कर्त्तुं मनोरथो भवति सम्पूर्णो भवति च । यतः—

भवन्ति भूरिभिर्भाग्यैर्-धर्मकर्ममनोरथाः ।
यत्पुनस्ते फलन्त्येव, तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥७॥

श्रुत्वेति राजा ग्रामे पुरे स्वसेवकान् प्रेष्य मुखमार्गितं धनं दायं दायं पृथिवीमनृणीं चकार । ततस्तस्य संवत्सरो टिप्पणके शास्त्रेषु लिखितो बुधैः ।

इति नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ॥४७८॥

[479] अथ शत्रुंजयतीर्थवालने मल्लवादिसम्बन्धः ।

खेटपुरे देवादित्यद्विजस्य सुभगा पुत्री विधवाऽभूत् कस्मादपि गुरो सौरं मन्त्रं प्राप तदा सौरो मन्त्रो ध्यातः । ततः सूर्योऽभेत्य भुक्तवान्, सगर्भाऽभूत् तां तादृशीं दृष्ट्वा मातृपितृभिर्हक्किता । सा च सूर्यागमनं प्राह—तथापि मात्रादिभिर्न मानितं कपिता । सा च वलभीं पुरीं गता काले तया पुत्रपुत्र्यौ जनिते, क्रमाद्धवधते लेखशालिकैर्पुत्रक इति प्रोक्ते मातरं स पप्रच्छ मम कः पिता माताऽवग्—सूर्यस्ते पिता ध्यातस्तेन सोऽभेत्य तस्मै पुत्राय कर्करं ददौ प्राह च यस्ते पराभवं करोति सोऽनेन कर्करेण हतो मर्त्ता, स च कर्करः पश्चात्त्वान्तिकं समेष्यति । ततः स पराभवकर्त्तारं तेन हन्ति । ततः स बालवधकारकः श्रुतो वलभीशेन । ततः स भूपेन पराभूतः । ततस्तं स हत्वा राजाऽभूत् तस्य शिलादित्यनामाऽभूत् । ततः शिलादित्यः स्वां भगिनीं भृगुपुरे भूपाय ददौ, तया च सुतोऽसावि सुदिने इतः शिलादित्यो बौद्धैः स्वधर्मः ग्राहितः, श्रीशत्रुंजयं तीर्थं बौद्धा आत्मीयं चक्रे । इतः शिलादित्यभगिनी भर्त्तरि मृते सपुत्रा सुहस्तिसूरिपार्श्वे चारित्रं जग्राह । स च बालकोऽष्टवर्षीयः सामाचारी कुशलो विनीतोऽभूत् प्राज्ञश्चाभवत् । एकदा मातरं पप्रच्छ अल्पः श्रीसघः कथं ? माताऽवग्—श्वेताम्बरा देशात्कपिता शिलादित्यभूपो वलभीपुरीस्वामी बौद्धः कृतः शत्रुंजयतीर्थमपि गृहीतं तैः, पूर्वं सघा बहुरभूत् स च शिलादित्यभूपस्तव मातुलोऽस्ति इति श्रुत्वा बालः कुपितोऽम्बादेवीमाराध्य बहुविद्यावान् मल्लगिरौ तपश्चक्रे कतिपयदिनैः शासनदेवी प्रसन्नाऽभूत् प्राह च के मिष्टाः, सोऽवग् मम वल्लाः ततस्तया ध्यातमयं तपस्वी नीरसाहारपाचनात् । ततः पुस्तकं दत्त्वा देव्याचे अमुं पुस्तकं वाचय सर्वान्वैरिणो जेष्यसि । ततो मल्लवादीति त्वं नाम्नाऽस्याः । ततः स प्राप्तविद्यो वल्लभ्यां समेत्य बौद्धान् विजित्य शिलादित्यं भूपं प्रबोध्य श्रीशत्रुंजयं तीर्थं वालयामास बौद्धा देशान्निष्काशिताः । ततो गुरुभिः सूरिपदं ददे तस्य [तस्मै] । इति शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसबंधः ॥४७९॥

[480] अथ हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

चित्रकूटे हरिभद्रो विप्रश्चतुर्दशविद्याविशारदः सर्वशास्त्रार्थं विन्दते । ततः प्रतिज्ञां चक्रे—यस्योक्तस्यार्थं न जाने तस्याहं शिष्यो भवामि । एकदा स रात्रौ पुरमध्ये व्रजन् साध्व्युपाश्रयान्ते गतः । तदा साध्वी श्रीआवश्यकगाथां जगौ—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसिअचक्की अ ॥१॥

अस्या अर्थमजानन् विप्रः प्राह—महासति ! 'चक्कि-चक्कि' इति किं प्रोच्यते ? तयोक्तं नवीन लिप्तं चिक्कचिक्कायते ततो व्यात तेनाहमनया जित गाथार्थाज्ञानादस्या शिष्योऽस्मि । तत पृष्टे कोऽर्थोऽस्या साऽवग्—अस्माकं गृहस्थस्याग्रे रात्रावर्थो न प्रोच्यते गुरव कथयिष्यन्ति तेनोक्त क्व सन्ति ? गुरव तयोक्त उपाश्रये सन्ति जिनागारोपान्ते । ततो देवगृहे गत देव दृष्ट्वा नमस्कारान् प्राह—

वपुरेव तवाचष्टे, भगवन् ! वीतरागताम् ।
नहि कोटरसस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाद्वल ॥१॥

स दिट्ठि करुणातरंगिय पुडा एयस्स सोम मुह,
आयारो पसमायरो परियरो सतो पसन्नातणू ।
[त मन्ने] त नूण जरजम्ममच्चुहरणो देवाहिदेवो [जिणो] इमो,
देवाण अवराण दीसइ जओ नेय सरूव इम ॥२॥

ततो देवान्नमस्कृत्य सूरिपार्श्वे गत गुरुं नत्वा गाथाया अर्थं पप्रच्छ। गुरुणा गाथार्थो व्याख्यात इति—

अस्यां चतुर्विंशतौ प्रथमं भरतसगरौ जातौ चक्रिद्वयं२ । हरिपणग—तिविट्ठू१ द्विविट्ठू२ सयंभु३ पुरुषोत्तम४ पुरुषसिंह ५। पणग चक्कीण—मघवा१ सनत्कुमार२ शान्तिनाथ३ कुन्थुनाथ४ अरनाथ५ । केशवा—पुरुषपुण्डरीक१ । चक्की—*सुभौमः१ । केसव दत्त१ । चक्की—महापद्म१ । केसव—नारायण लक्ष्मणाह्व१ । दुचक्की—हरिषेण १ जय२ । केसव—कृष्णः१ । चक्की—ब्रह्मदत्त । एव १२ चक्रिण ९ वासुदेवा उक्ता अनुक्रमेण । उक्तं च—

उसभे भरहो अजिए सगरो मघव सणक्कुमारो अ ।
धम्मस्स संतिस्स य, जिणतरे चक्कवट्टिदुगं ॥३॥

संती कुंथू अ अरो, अरहंता चेव चक्कवट्टी अ ।
अरमल्लीअंतरे पुण, हवइ सुभूमो अ कोरव्वो ॥४॥

मुणिसुव्वए नमिम्मि अ, हुति दुवे पउमनाहहरिसेणा ।
नमिनेमिसु जयनामा, अरिट्ठपासंतरे बंभो ॥५॥

पंच अरहते वदते केसवा पंच आणुपुव्वीए ।
सिज्जंस तिविट्ठाइ, धम्मपुरिसमीहपेरंता ॥६॥

अरमल्लिअंतरे दुन्नि, केसवा पुरिसपुण्डरिअदत्ता ।
मुणिसुव्वय नमिअंतरि नारायणकण्हनेमिम्मि ॥७॥

---

* सुभूम ।

ततः पूर्वप्रतिज्ञाबद्ध उत्पन्नवैराग्यो दीक्षां ललौ । ततो जैनग्रन्थात् सिद्धान्त. तेन पठितः निर्विशेषतोऽतीवविज्ञोऽभूत् गुरुभि सूरिपदं ददे ।

इति हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ॥४८०॥

[418] अथ हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ।

श्रीहरिभद्रस्य हंसपरमहंसौ क्षुल्लौ प्रज्ञालौ गुरुभिः पाठितौ। तत एकदा प्रोचतु —भगवन् ! बौद्धशास्त्रमर्म गृहीत्वा बौद्धा जेष्यन्ते तत्रावा स्याव । गुरुभि प्रोक्त—ते निर्दया यदि युवां जैनौ ज्ञास्यन्ति तदा हनिष्यन्ति। ततस्तौ गुरुं पर्यवसाय्य वेपान्तर ग्राह्य बौद्धाचार्योपान्ते गत्वा छात्रमध्ये शास्त्राणि पठत तेषां शास्त्राणां मर्म पृथग्लिखित. [लिखन्तौ स्त]।

एकदा पत्रदत्तखटया बौद्धाचार्येण जैनछात्रपठन ज्ञात, परमुपलक्षति न। ततो जैनछात्र-ज्ञानाय द्वितीयभूमौ पाठयितुमुपविष्ट छात्रेषु पठत्सु निश्रेण्या जिनप्रतिमा मण्डिता, यदा छात्रा विसर्जितास्तदा सर्वे प्रभोः प्रतिमाया उपरि पादौ दत्त्वात्तीर्ण्णा, हंसपरमहंसौ प्रतिमायाः कण्ठे रेखां कृत्वोत्तीर्णौ। ततस्तौ शङ्कितौ पुस्तकं लात्वा नष्टौ। तता बुद्धाचार्येण राज्ञः शिबिरं तत्पृष्टौ प्रेषितं तयोर्हननाय, हंसेन युद्धकृत वहुसैन्य हत, ततो वहुसैन्य समागत, ततो हंसो हतः, ततो वहु शिबिर समागत परमहंसोऽपि हतः। क्रमाद्गुरुभि शिष्यहननसम्बन्धो ज्ञातः। ततो रुष्टैस्तप्ततैलकटाहं मण्डित मन्त्रबलेन १४४० [१४४४] बौद्धाः[बौद्धान्] कटाहेषु जुह्वन्[जुह्वन्] वारितो हरिभद्रो, न पापान्निवृत्तस्तदा एकः श्राद्धोऽभ्येत्य जगौ—

जइ जलइ जलओ लोए, कुसत्थपवणाहओ कसायग्गी ।
तं चुज्ज जं जिणवयणा, वारिमित्तो वि पज्जलई ॥१॥

इत्यादि श्रुत्वा हरिभद्रसूरिः पापान्निवृत्त पश्चादालोचनां लात्वा १४४० [१४४४] प्रकरणानि चक्रे ।

इति हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ॥४८१॥

[482] अथ बप्पभट्टीदीक्षासम्बन्धः

पांचालदेशे डूबाउधिग्रामे बप्पक्षत्रियस्य भट्टि पत्नी, सूरपालः पुत्रोऽभूत् । तस्य क्षत्रियस्य वहवो रिपवः तान् हन्तु स पुत्र. पित्रा निषिद्धः स्थित. । कस्मिंश्चिदपमाने सूरपालो निर्ययौ सिद्धसेनसूरेर्मोढेरग्रामे मिलितः गुरवः प्रोचुः कस्त्वं कुत आगाः। ततस्तेन स्वमातापित्रादिसम्बन्ध. प्रोक्त.। गुरुणोक्त—वत्स ! अस्मत्पार्श्वे तिष्ठ सुखी भवसि पाठयित्वा विलोकितो गुरुणा स च दिनं प्रति सहस्र श्लोकानां पठति तीक्ष्णबुद्धिः। ततो गुरवो जगुश्चारित्र गृहाण त्वमस्मत्तुल्यो भविष्यसि। तेनोक्तं—अहं दीक्षा जिघृक्षुरस्मि। ततो गुरवस्तं चारित्रग्रहणे दृढं कृत्वा डूंबाउधीग्रामे गताः। तस्य शिशोर्मातापितरावालापितौ उक्तं च पुत्रा भवन्ति भूयांसः किन्तैर्यैः ससारसागरात्

मातापितरौ अप्रिय से न । यदसौ दीक्षां गृह्णाति तदा वर । माता प्राह—यदि मम नाम दीयते पुत्रस्य तदा दीयतां दीक्षा । ततो गुरुभिर्दीक्षित बप्पभट्टिर्नाम दत्ते तस्य, स्तोकैरेव दिनैर्बहूनि शास्त्राणि पपाठ । इति बप्पभट्टिदीक्षासम्बंध ॥४८२॥

[483] अथ आमराज्यप्राप्तिसंबंध ।

गोपालनगरे यशोधमनृपतेर्यशोदेवी पत्नी पुत्रआम । स च यदा पित्रा हक्कितो निर्ययौ गृहात् भ्रमन्स मोढेरकग्रामे बहिर्देवकुले समागात् । इतश्च बप्पभट्टिसाधुस्तत्र गुरुणा सार्द्धं समागात् । स च आमस्तत्र देवकुले काव्यानि बप्पभट्टिपार्श्वाद्वाचयामास । ततो गुरुणा सह स शिशुरुपाश्रये आगत गुरुणा पृष्ट कुतस्त्व पुरादिहागा स चात्मनो मातापितृगुरादिसम्बंध जगौ गुरुणोक्त–किं तव नाम ? ततस्तेन बालेन खटिकया लिखित्वा ज्ञापित स्व नाम आम इति । ततो गुरुणा ज्ञात—महानेष ततो गुरुणा ध्यात च य पुरा रामसैन्यग्रामे राज्ञा निष्कासिता स्त्री समागता । तया च पिचुवृक्षे वस्त्रान्दोलके मुक्तो बालक । तस्य वृक्षस्य छाया न नमिता स एव बालक एष महान् भूपो भविष्यति । ततो गुरुणा श्राद्धानां भलायित श्राद्धा वयं भोजनं ददन्ते बप्पभट्टिना समं आमः पठति बहुशास्त्राणि पपाठ लक्षणाविसर्वशास्त्रादिवेत्ताऽभूत् । बप्पभट्टिरामेन गुरु कृत, महा प्रेम तयोरभूत् । एक एकेन विना न तिष्ठति । यत —

आपातगुर्वी[1] क्षयिणी क्रमेण, ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥१॥

इतस्तत्रस्थ पुत्र ज्ञात्वा पिता स्वपार्श्वे नेतु जनमप्रेषयत् । तत आम प्राह—अह पित्राऽकारितस्तत्र गच्छन्नस्मि कदाचिद्राज्य भविष्यति तदा त्वमेव गुरु बप्पभट्टिश्चापि । ततो यशोधमभूपतेः पितुर्मिलित पित्रा राज्य दत्त, राजा तु आराधनां कृत्वा स्वर्गं [स्वग] गत आम पितु परलोककार्य कृत्वा गोपगिरिपुरे राज्य प्राप्तमपि पलालपूलप्राय मन्यते । तत आमेन बप्पभट्टिस्तत्राकारित आसन मण्डित, यदा बप्पभट्टिनगो–आसने तु गुरव एवोपविशन्ति । तत आमेन गुरुपार्श्वात् बप्पभट्टे सूरिपद दापितम् ।

इति आमराज्यप्राप्तिसम्बन्ध ॥४८३॥

[484] अथ गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्ध ।

एकदा श्रीबप्पभट्टिसूरिभि प्रासादकारणपुण्ये उपदेशो दत्तः ।

प्रासादप्रतिमा यात्रा–प्रतिष्ठादिप्रभावना ।
अमारिमुद्दापणादीनि महापुण्यानि गेहिना ॥१॥

काष्ठादीनां जिनागारे, यावन्त परमाणव ।
तावन्ति पल्यलक्षाणि, तत्कर्ता स्वर्गभाग्भवेत् ॥२॥

---

१ आरम्भगुर्वी ।

इत्याद्युपदेशं श्रुत्वा एकोत्तरहस्तशतप्रमाणः प्रासादः कारयामास । भूपो गोपगिरौ तत्राष्टादशभारप्रमाणा श्रीवीरप्रतिमां न्यवीविशत् श्रीवप्पभट्टिभिः प्रतिष्ठिता । तत्र चैत्ये मूलमण्डपः सपादलक्षसौवर्णटङ्कैर्निष्पन्न इति वृद्धा प्राहुः । सदा भूपो गजारूढो देवं वन्दितु याति देवगृहे सदा नृत्यनादपूजामहापुष्प पूजादि महोत्सव राजा कारयति । दिनं प्रति देवगृहे मूढकद्वयमक्षता आयान्ति, गोणीद्वय पूगीफलानि, अपरवस्तूनां सख्या न ज्ञायते । उभयकालमारात्रिकमहोत्सवो भवति । विशेषतः कार्त्तिकपूजा कार्त्तिकमासे दीपशतसहस्रं कार्यते नृपेण । इति गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्धः ॥४८४॥

[485] अथ श्रीवप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ।

एकदाऽन्तःपुरे वल्लभा प्रम्लानमुखीं दृष्ट्वा श्रीवप्पभट्टिपार्श्वे गाथार्द्धं राजाऽवग्—

"अज्जवि सा परितप्पइ, कमलमुही अत्तणोपमाएणं" ।

गुरुः प्राह—

"पढमविबुद्धेण तए, जीसे पच्छाईअं अंगं" ॥१॥

राजा दध्यावयं सर्वज्ञ एव ।

अन्यदा राजा पत्नीं पदे पदे मन्द मन्द सचरन्तीं दृष्ट्वा गाथार्द्धं प्राह—

"बाला चक्कमंती पए पए, कीस कुणइ मुहभंगं" ।

सूरि प्राह—

"नूणं रमणपएसे मेहलया छिप्पए नहपंती" ॥१॥

इद श्रुत्वा राजा दध्यौ—एष सूरिरन्तःपुरे किं प्रविष्टः ? अहो विद्यागुणोऽपि दोषाय गतः । राज्ञो मनो ज्ञात्वा श्रीसूरि सघमनापृच्छ्य पुरद्वारे काव्य लिखितवानेव—

यामः स्वस्ति तवास्तु [1]रोहणगिरौ मत्तः स्थितिप्रच्युता,
वर्त्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैव कृथाः ।
[2]श्रीमांस्ते मणयो वयं यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा,
ते शृङ्गारपरायणाः क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति नः ॥१॥

अस्मान विचित्रवपुषश्चिरपृष्ठलग्नान्, कि वा विमुञ्चसि विभो ? यदि वा विमुञ्च !
हा हन्त केकिवर हानिरियं तवैव, [3]भूपालमौलिषु पुनर्भविता स्थितिर्नः ॥२॥

एव लिखित्वा गुरवोर्लक्षणवत्या पुर्यां धर्मराजपालितायां गता सूत्सवं । तत्र नित्यं धर्मराजा गुरुं वन्दते उपदेश शृणोति ।

इति श्रीवप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ॥४८५॥

१ रोहणगिरे । २. श्रीमस्ते । ३. भूपालमूर्धनि ।

[486] अथ लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्ध ।

आमभूप' श्रीबप्पभट्टिगुरु याम स्वस्तीति ' काव्यवाचनात् ज्ञातवान् । मम मनो ज्ञात्वा गुरवो गता । गुरवो ज्ञानिन मया मुधा दुःखिन्वितं राजा बप्पभट्टिं स्मारं स्मारं दु'ख्यभूत्। अन्यदा बहिर्गतेन राज्ञा सर्पं मुखे धृत्वा वाससाछाद्य गृहमानीतवान् सभायां कवीनां पुर श्लोकार्द्धं प्राह—

"शस्त्र शास्त्र कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति" ।

यदा न केनापि पदद्वयमग्रेतन पूरित । तदा राजा जगौ—य समस्यां पूरयति तस्मै हेमटङ्कलक्ष दास्ये बहुषु दिनेषु गतेषु एक' पुरुष समस्यां पूर्णां चकार—

"सुगृहीत च कर्त्तव्य, कृष्णसर्प्पमुख यथा" ॥१॥

ततो राज्ञोक्त—भो पुरुष ' सत्य ब्रूहि मया मानितं तुभ्य दास्यते, केनेय समस्या पूरिता । ततस्तेनोक्त लक्षणावत्यां गतस्तत्र मया श्रीबप्पभट्टिपार्श्वे समस्यार्द्धं पृष्ट गुरुणाऽग्रतः पदद्वय प्रोक्त । ततो राजा दध्यौ स गुरु' कथमत्रायास्यति । एकदा आम पुराद्बहि' न्यग्रोध-शाखे पान्थ मृत ददर्श । तस्य तरो शाखायां-करपत्रक गलद्भिर्बुद्बुदै लम्बमान च दृष्ट्वा गाथार्थं प्रावर्णिलिखित दृष्टवानिति—

"तईया महनिग्गमणे पियाइ घोर सुएहिं ज रुण्ण ।"

यदपि गाथार्द्ध सूरि कवीनां पुर प्रोक्त ततो न केनापि पूरितं । जन प्रेष्य सूरिपार्श्वात् समस्यां पूर्णां ज्ञातवान्—

करधत्तयबिंदुय निवडणेण त मज्झ संभरियं ॥२॥

एव श्रुत्वा राजा नित्य सूरीन् सस्मार ।

इति लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्ध ॥४८६॥

[487] अथ आमभूपलक्षणापुरीगमनधर्मभूपमिलनसम्बन्ध ।

एकदा श्रीआमराजेन गुरुमाकारयितु मन्त्रिण प्रेषिता । गुरवो यदा चलितु लग्नास्तदा धर्मराजावदत्—यदा आमभूप भगवत आकारयितुमायात्यत्र तदा गन्तव्य ममापि तस्य नृपतेर्दर्श नेच्छा विद्यते । ततो गुरुणोक्त—राजा नायास्यति अत्र, तथापि ज्ञापयिष्यते । ततो मन्त्रिण आकार्य रह' प्रोक्त—आमकेन स्थगीरूपधृता प्रात' सभायामागम्यते मन्त्रिण' पश्चाद्गत्वा आमस्य बप्पभट्टेरनागमनादिकारण प्रोचु । ततोऽन्यदा प्रभाते श्रीधर्मभूपादिभाद्रसकुलायां सभायां स्थगीरूपधर आमा मूरिनरैयुक्त आगच्छन् दृष्टो यदा तदा गुरुणोक्त—पुनरामनरा आगच्छन्त' सन्ति मदाकारणाय, यदा सभायामागतस्तदा । गुरुभि प्रोक्त—"आम ' आवओ"

तस्मिन्नुपविष्टे अपरनरपार्श्वे पृष्टं स्वर्णोऽहमस्ते किं वीणारा ? ततो धर्मभूपेन पृष्ट—राजा कथं कथयात्र नागादाकारयितुं गुरुं ? ततस्तेनोक्त—आगत एवाञ्चय राज्ञा पृष्टः कीदृशः आमास्ति गुरुणोक्त—स्वर्णामदृशोऽस्ति। ततो धर्मेण नृप [उक्तं] पश्चाद्यान राजान अत्र प्रेषयत ततस्ते सर्वे गुरून् वन्दित्वा जगु—भगवन् ! भवद्भिः शीघ्रं गोपगिरौ आगम्यते । गुरुभिः प्रोक्त—'वर्तमानयोगेऽह" । ततस्ते गता घटिकायाञ्जनाष्ट्रीमारूढो राजा स्वपुरं प्रति चचाल ।

इतो गुरवो धर्मभूपतेः पुरः प्रोचु—वयं चलिता गोपगिरिं प्रति राजाऽवग्—यथाम-भूपागमनं विना गमिष्यन्ते तदा प्रतिज्ञाभङ्गा भविष्यन्ति । गुरुणोक्तं—य स्वर्णाकृतिरभूत् । स आगतः सयोक्त—'आयद' एकेन नरेण प्रोक्तं मयापि च वीणाग स्वर्णानुरूप प्रोक्त । ततो धर्मः प्राह—अहं वादिनो वचश्छलेन—आमो विद्वान् गुरुवा विज्ञाः अहं मुग्धः । गुरुणोक्त—आमो दर्शितो भवतः । ततस्तं भूपं मुत्कलाप्य बप्पभट्टिगुरु सूरयस्तत गोपगिरौ गत ।

इति आमभूपलक्षणापुरीगमन धर्मभूपमिलनसम्बन्धः । ४८७॥

[488] अथ आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा राजसभायामागत्य गायकवृन्दं समायात तच्च गातुं मधुरध्वनिप्रवृत्तं आमभूप-तिरेको बालिकां मृगाक्षमुखीं स्वर्णगौररूपां गायन्तीं दृष्ट्वा मदनज्वरपीडितोऽभूत् । ततो राजा पद्यद्वयमपाठीत्—

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते [1]पारिजातद्रुमः ।
वाणी कामदुघा कटाक्षलहरी सा कालकूटच्छटा,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरमन्थि दुग्धोदधिः ॥१॥

जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो,
दूरे शोभा वपुषि निहिता पङ्कशङ्का तनोति ।
विश्वप्रार्थ्यः सकलसुरभिद्रव्यदर्पापहारी,
नो जानीमः परिमलगुणः कस्तु कस्तूरिकायाः ॥२॥

सूरिभिर्ध्यातं महतामपि मनःपरिवृत्तिर्भवति । यतः—

अक्खाण रसणी कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंते ॥१॥

चलिता सा सभा, राज्ञा चर्या सभा त्रिभिर्दिनैः कारापिता गृहरू ।मा।
वत्स्यामीति ध्यायन्ति स्म—

1. पारिजातद्रुमाः ।

इङ्गिताकारज्ञाः श्रीबप्पभट्टिसूरयो राज्ञो मनो ज्ञात्वा दध्यौ—असौ भूपः कुमार्गसेवनान्नरके यास्यति। अतस्तथा कुर्वे यथा राजा कुमार्गं न सेवते। ततस्तस्मिन्नेव चित्रशालाभारपट्टे सूक्तिपद्यानि लिखितवानिति—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव भवतु स्वाभाविकी स्वच्छता,
किं ब्रूमः शुचितां [1]भवन्ति शुचयस्त्वत्सङ्गतोऽन्ये यतः ?
[2]किं वातः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं देहिनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ? ॥१॥

सद्वृत्तसद्गुणमहार्हमनर्घ्यमूल्य–श्लाघनस्तनतटोचितचारुमूर्ते,
आ पामरीकठिनकण्ठविलग्नभग्न–हा हार हारितमहो भवता गुणित्वम् ॥२॥

जीअं जलबिंदुसमं, संपत्तीओ तरंगलोलाओ।
सुमिणय समं च पिम्मं, जं जाणसि तं करिज्जासि ॥३॥

लज्जिज्जइ जेण जणो, मइलिज्जइ निअकुलक्कमो[3] जेण।
कंठठिएवि जीए तं, न कुलीणेहिं कायव्वं ॥४॥

यावदमूनि पद्यानि दृष्ट्वाऽऽमभूपोऽक्षराण्युपलक्षयामास दध्यौ च अहो गुरूणां मयि कृपा-श्रुता मया मातङ्गीसङ्गश्चिन्तितः तस्मात्पापात्कथं छुटिष्यामि क्व यामि कथं ? गुरोर्मुखं दर्शयिष्ये किं च तपः करोमि वह्नौ प्रविशामि भूमिमध्ये वा भृगुपातं करोमि वा। ततो राज्ञा चितां रचयित्वा यावदग्नौ प्रविशति तावद्गुरुणा हस्ते धृत्वोक्तं—त्वया मनसा पापं बद्धं मनसा च मुक्तं। यतः—

मनसा मानसं कर्म, वचसा वाचिकं तथा।
कायेन कायिकं कर्म, निस्तरन्ति मनीषिणः ॥१॥

ततो राजा गुरुवचसा निवृत्तो गृहे समागतः आलोचनां लात्वा तत्तपश्चक्रे च।

इति आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ॥४८८॥

[489] अथ आमसमस्यासम्बन्धः।

अन्येद्युरामो राजपथे गच्छन् हालिकप्रियां एरंडबृहत्पत्रसंवृतस्तनविस्तरां एरण्डपत्राणि विचिन्वानां गृहपाश्चात्यभागे दृष्ट्वा गाथार्द्धं प्रबन्धं वक्ति—

१ व्रजन्त्यशुचयः स्पर्शाचवैवापरे। २. किंवातः। ३ क्कमो।

"वइविवरनिग्गयदलो एरंडो साहइव्व तरुणाणं"

सूरिपार्श्वे पृष्टं, सूरिणा चापूरि—

इत्थ घरे हालिअवहू इद्दहमित्तत्थणी वसइ ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजा चमत्कृतः। अन्यदा प्रोषितभर्तृकां वासगृहं यान्तीं वक्रग्रीवां दीपकरां ददर्श गाथार्द्धं चक्रे नृपः—

"दिज्जइ [1]वंकगीवइ [2]दीवउ पहिअजायाए"।

सूर्यग्रेऽपाठीत्, सूरिणापूरि—

पियसंभरणपलुट्टन्त अंसुधारानिवायभीयाए ॥१॥

राजा चमत्कृतः। अन्यदा सौधोपरिस्थेनामेन एकस्मिन् गृहे प्रविष्टो यतिर्दृष्टः तद्गृहस्था स्त्री कामार्त्ता यतिरिरमयिषुः कपाटं ददौ मुनिस्ता न वाञ्छति। ततस्तया मुनिः पदतलेनाहत. तस्या नेपुरं मुनिचरणे प्रविष्टं काकतालीयन्यायाद्राजा समस्या चकार—

"कवाडमासज्ज वरंगणाए, अब्भत्थिओ जुव्वणगव्वियाए"।

सूरिः प्राह—

"न मन्निअ तेण जिइंदिएण, मनेउरो पव्वइअस्स पाओ" ॥१॥

अन्यदा प्रोषितभर्तृकाया गृहे भिक्षुर्भिक्षार्थी प्रविष्ट तया भिक्षुवशीकरणाय वरान्नमानीतं उपरि कौकैर्भक्षित मुनिर्दृष्टिस्तदा तस्या नाभौ पपात तस्या दृष्टिर्मुनेर्मुखे। आम एतद्दृष्ट्वा समस्या चकार—

"भिक्खायरो पिच्छइ नाभिमडल, सा पिच्छइ तस्स य आणण वुअ"।

सूरि प्राह—

"आणाय भिक्खोपरि काकघातया, विट्टालिय तेहिं न जाणिअ तु" ॥१॥

राजा रञ्जितः ततो राज्ञा धन दत्त गुरुणा न गृहीतं। ततस्तेन द्रव्येण लेप्यमया प्रतिमा एका मथुरायाम्१। एका मोढेरकवसहिकायाम्२। एका अणहिल्लपुरस्थितायाम्३। एका गोपगिरौ४। एका [3]सामारकपुरे५ कारिता प्रतिष्ठा प्रभावनादिरपि कारिता।

इति आमसमस्यासम्बन्धः ॥४८९॥

[490] अथ आमाभिग्रहसम्बन्धः।

एकदा आमभूपस्य पुरः सूरिरुपदेशं ददौ—

---

१. ग्गीवाइ। २. दीवओ। ३. सातारकपुरे।

लावण्यामृतसारसारणिसमा सा [1]भोजभूः स्नेहला,
सा लक्ष्मी स नवोद्गमस्तरुणिमा सा द्वारिका तद्बलम् ।
ते गोविन्दशिवासमुद्रविजयप्राया [2]स्त्रियाः प्रेरका,
या जीवेषु कृपानिधिर्व्यधित नोद्वाह स नेमिः श्रिये ॥१॥

मग्नैः कुटुम्बजम्बाले यैर्महाकामजर्जरैः ।
नोज्झ्यन्ते नतो नेमि–स्ते जीवन्तो मृताः स्मृताः ॥२॥

अथैतन्नाजा जगौ रैवतके नेमिं नत्वैव भोक्तव्यं गुरुभिः प्रोक्त—रैवतका दूरे मृदवो भवादृशाः । राजाऽवग्—मम प्रतिज्ञा मेरुचूलेव ज्ञेया । तत शीघ्रं रैवतकं प्रति सारपरिवारश्चचाल राजा स्तम्भतीर्थोपान्ते समागात् । राजा खिन्नः प्राणान्तदेशं प्राप परमभिग्रहं न मुञ्चते तत सूरिणा ध्याता कूष्मांडी देवी समागता । तदाग्रे प्रोक्तं तथा कुरु यथा राजा पारणकं करोति । ततस्तया देव्या रैवतशिखरस्थमेकं बिम्बं नेमिनाथस्य तत्रानीतं प्रोक्तं चेद् श्रीनेमिबिम्बं तव साहसेन सम्मुखमागतं यं दृष्ट्वा पारणकं कुरु । तत सूर्यादिभिरपि तथा प्रोक्तं । ततस्तद्बिम्बं वन्दित्वा राजा पारणकं चकार । अद्यापि तद्बिम्बं स्तम्भतीर्थे पूज्यमानमस्ति तत । शत्रुञ्जयगिरिनारयो र्देवान् वन्दित्वा स्वपुरमागात् ।

इति आमाभिग्रहसम्बन्ध ॥४९०॥

[491] अथ श्रीगिरिनारतीर्थवालनसम्बन्धः ।

एकदा ससंघ श्रीआम शत्रुञ्जये वृषभं नत्वा रैवतकं गत । तदा तत्रार्थं दिगम्बरैः रुद्धः, श्वेताम्बरसंघश्चटितु न शक्नोति आमो यदा युद्धं कर्तु लग्न । तदा दिगम्बरभक्ता ११ राजानः समागतास्तेऽपि युद्धाय सज्जा अभूवन् । ततो बप्पभट्टिनोक्त—ह्यारम्भे युद्धे मनुष्यसंहारो भवति । इदं तीर्थं यस्याम्बिका वक्ति तस्यैव ज्ञेयं । ततोऽम्बिका द्वाभ्यां सङ्घेशाभ्यामाराधिता सती व्योम्नि समेत्य प्राहेति गाथा—

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खानाण निसिहिया जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥१॥

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥२॥

तत श्वेताम्बरैर्जितं दिगम्बरैर्हारितं श्रोणां मुक्तस्यमावजल्पनात् ।

इति गिरिनारतीर्थवालनसम्बन्ध ॥४९१॥

---

१ सा भोजभूः २. प्रिया प्रेरकः ।

[492] अथ श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्धः ।

वटपद्रपुरे श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राणकः क्षत्रियो जिनधर्मं प्रपेदे । एकदा जिनधर्मं कुर्वन् चरिक्षेत्राणि द्रष्टुं गतो राणः तावता तृणानि ज्वालयन्ति भृत्याः. तेषु एका सगर्भा दन्दह्यमाना तडफडायमाना सिमिसिमायमाना राणोऽद्राक्षीत । ततो दध्यौ अहो एकस्योदरस्य हेतवे सर्पिणी कियत्पापं क्रियते, धिग्गृहवासं यत्र सदा पापमेव, धन्याः साधवः यैः संसारसुखं त्यक्तं । ततोऽहं सर्वसंगत्यागं करिष्ये । ततः श्राद्धाः पृष्टाः. प्रातः श्रीदत्तसूरयः क्व सन्ति ? श्राद्धैरुक्तं डींडूआणकग्रामे सन्ति । ततः सपरिवारस्तत्र गतो राणः । गुरवो वन्दिताः स्वं पापं प्रकाशयामास व्रतं विना तस्माच्छुद्धिर्न दृश्यते । तेन दीक्षां देहि । गुरुभिर्मानिते लक्षमूल्यहारेण डींडूआणके प्रभोर्महान्प्रासादः कारितो । राणकेन पुत्रस्य गृहभारं दत्त्वा राणको दीक्षां जग्राह । यावज्जीवं विकृतिस्त्यक्त्वा एकान्तरोपवासान् चक्रे । तं विद्यां पठन्तं धर्मिष्ठं गीतार्थं विनीतं मत्त्वा सूरिपदं गुरुभिर्ददे [सूरिपदं गुरवस्तस्मै ददौ] 'यशोभद्रसूरि"रिति नाम तस्याभूत् । [1]तत्पट्टे गुणसेनसूरिरभवत् तत्पट्टे देवचन्द्रसूरिः स्थानाङ्गवृत्तिकर्त्ता । देवचन्द्रसूरयो धुधुक्कक पुरं प्राप्ताः । एकदा गुरवो देवगृहे गताः । यदा मोढज्ञातीयचाचिगपत्नी पाहिणीगर्भजातश्चंगदेव सुतः बाल्यत्वात् गुरूणामासने उपविष्टः, तदा गुरुः प्राह—महाभागे पाहिणि ! तवायं पुत्रो यदि दीक्षां गृह्णाति तदा महाविद्यापारगः सूरिर्भवति । मात्रा प्रोक्तं—यद्ययं वर्धमानो दीक्षां मानयिष्यति तदा न मया वारयितव्यः । ततो वर्द्धमानश्चंगदेवो मातृपित्रनुज्ञातो दीक्षां ललौ । गुरुदत्तविद्याः पपाठ विद्वानभूत् । स च प्राप्तविद्यो हेमसूरिर्नामाऽभूत् ।

इति श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्धः ॥४९२॥

[493] अथ श्रीहेमसूरिनामसम्बन्धः ।

स च हेमसूरिः क्षुल्लकावस्थायामेकस्मिन्ग्रामे गतः । स च वृद्धसाधुना सह प्रातराशं विहरणाय श्राद्धस्य गृहे गतः । तस्य गृहे बालका रब्बां पिबन्ति, वृद्धसाधोरग्रे चेल्लकः प्राह—गणीश ! अस्य श्रेष्ठिनो गेहे ! एवंविधा भूतिर्दृश्यते बाला रब्बां कथं पिबन्ति ? वृद्धः साधुः प्राह मौनं कुरु ? तदा गृहस्वामी क्षुल्लकवचः श्रुत्वोत्थाय पप्रच्छ—अयं क्षुल्लकः किं वक्ति ? साधुः प्राह—न किंचित् । ततो बलात्पृष्टे विभूतिसम्बन्धं क्षुल्लकः प्राह गृहमध्ये सौवर्णिकराशिर्दृश्यते । ततः श्रेष्ठी जगौ अस्माकं हेमनिधिः [2][थिराहलिको] खिराहिलिको जातः । तेनायं मध्ये क्षिप्तोऽस्ति यदा क्षुल्लकेन तस्योपरि हस्तो वाहितः । तदा हेममयो जातः तदा क्षुल्लकस्य हेमक्षुल्लकनाम जातं । ततः श्रेष्ठिना ततो हेमविहारः कारितः पुनर्महेभ्यो जातः ।

इति हेमसूरिनामसम्बन्धः ॥४९३॥

[494] अथ जीवदयाया कुमारपालसम्बन्धः ।

श्रीहेमसूरिपार्श्वे जैनं धर्मं ज्ञात्वा सर्वत्रामारिं कारयित्वा कुमारपालभूपो राज्यं चक्रे ।

१. तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकारः । २. कोलसा ।

अन्यदा आश्विनमासे समागते अघोटिकाः [आच्छोटिका] पत्तीआनका अभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्रोचु —पत्र समायाता महिषिकाद्यं । तत्र सप्तम्यां सप्तशती महिषाणां हन्यते अष्टम्यां अष्टशती, नवम्यां नवशता । ततो दीव ना देवीभ्यो मारयन्ते । ततो राजोत्थाय गुरुपार्श्व गत कथिता सा वार्ता गुरुभि प्रोक्त—कथयिष्यते युक्ति । ततो ऽपतने दिने प्रोक्त गुरुभि — "यस्मिन् दिने यावन्तो हन्यन्ते तावन्तो देवाना पुरत स्थाप्या ' प्रोक्त च भो देवि ! तव बलि कृतोऽस्ति व भक्षयि वा त्वमा भक्ष । गुरूक्त राज्ञा कृत देवीभिरेकोऽपि न भक्षित । दशमीदिने पत्तीआनकेभ्यो भूरि धन दत्त्वा । राज्ञा प्रोक्त—अद्यप्रभृति यद्भवतो विलोक्यते तन्मार्गणीय न जीवा हिंस्य । ते तु पशवा देवा[सत्का] कृत्वा स्वेच्छया चरितु मुक्ता ।

इति जीवदयाया कुमारपालसम्बन्ध ॥४९४॥

[495] अथ धर्मदृढताया कुमारपालसम्बन्ध ।

एकदा कण्टेश्वरी देवी रात्रावभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्राह—अह तव कुलदेवी त्वया अस्मदर्थ किमपि न कृत ? राजा जगौ मया नीरहिंसाविषये नियमो गृहीत जीवमह पिपीलिकामपि न हन्मि पञ्चेन्द्रियाणां का कथा । ततो रुष्टा त्रिशूलेन भूप ह त्वा गता राजा कुष्ठी जात । ततो भूप उदयिन मन्त्रिणमाकार्य प्राह देव्योक्त स्व वपुर्दर्शयामास च । म त्री प्राह स्व-स्थीभूय त गुरव पृच्छयन्ते प्रात यदि लोका पश्यन्ति भवद्वपुस्तदोड्डाहो भविष्यति जिनमतावहीलना च । ततो मन्त्रिणा गत्वा भूपस्वरूप श्रीहेमसूरिपार्श्व प्रोक्त गुरुभि सद्यो जलमभिमन्त्र्य दत्त प्रोक्त अनेन भूपदेहमाच्छोट्य सिञ्चनेन । ततो मन्त्रिणा तेन जलेन भूपवपुराच्छोटित राजा दोगुन्दकदेवशरीरोऽभूत् प्रातर्गुरु वन्दितु ययौ गुरुभि प्रोक्त—

शूरा सन्ति सहस्रश प्रतिपद विद्याविदोऽनकश,
सन्ति श्रीपतयो निरस्तधनदास्तेऽपि क्षितौ लक्षशः[१] ।
किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य वाऽन्यमनुज दुःखार्दित यन्मन-
[२]स्तादूप्य प्रतिपद्यते जगति ते सत्पूरुषा पञ्चषा ॥१॥

ततो राजा विशेषतो जिनधर्मे दृढता दधार ।

इति धर्मदृढतायां कुमारपालसम्बन्ध ॥४९५॥

[496] अथ कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीहेमसूरि प्राह—भो कुमारपाल ! शृणु-पुरा भरतचक्री शकटलक्षमनुष्यकोटि-भूपशतसहस्रयुत स्थाने स्थाने उत्सव कुर्वन् शत्रुञ्जये श्रीऋषभं ननाम तथाऽन्येऽपि आदित्यादयो भूपा कोटिश सघपतयो जाता, सघपतिसम पद न स्यात् । यतोऽन्यत्सर्व पापनिबन्धं

१ भूरिश । २ तद्रूप ।

संघेशपदं तु मुक्तिदायि निगद्यते, शत्रुंजययात्राफलं श्रुत्वा राजा भूरिसंघयुतः प्रौढदेवालयारूढजिनप्रतिमापूर्वं शत्रुञ्जययात्रायै चचाल चतुर्विंशतिप्रासादान् कारयन् मन्त्रिपुत्रनागभट्टमन्त्रिनागश्रेष्ठिपुत्र आभड षड्भाषाचक्रवर्तिश्रीपालसिद्धपालानेकप्रह्लादनपुरस्वामिभूपालादयोऽपि चेलुर्यात्रायै। श्रीहेमसूरिदेवसूरिप्रभृतयोऽनेके सूरयः साधवश्च । महादानानि दीयन्ते, ग्रामे पुरे जिनेन्द्रपूजा क्रियते, श्रीशत्रुञ्जये सघः प्राप्त, मरुदेव्या दर्शने नालिकेरादिस्फोटनपूजाकरण । नत्र ददति धन कुमारपाले मार्गणेभ्यः, कवयश्च प्रोचुः—

क्षिप्त्वा वारिनिधिस्तले मणिगणं [1]रत्नाकरारोहणो-
रेण्वावृत्य सुवर्णमात्मनि दृढं बद्ध्वा सुवर्णाचलः ।
क्ष्मामध्ये च धनं निधाय धनदो विभ्यत्परेभ्यः स्थितः,
किं स्यात्तैः कृपणैः [2]स सोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददन् ॥१॥

"श्रीवीरे परमेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः ।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधान्
[3]यस्यासौ सुवचः सुधां स परम. श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥२॥

लक्षदानं सर्वत्र देवगृहेषु चैत्यपरिपाटीं कुर्वाणो भूपो देवपूजास्नात्रमहोत्सवारार्त्रिकमंगलप्रदीपादि चक्रे तत स्थाने स्थाने स्नात्रमह कुर्वन् देवपत्तने चन्द्रप्रभस्वामिनं प्रपूज्य गिरिनारे श्रीनेमिं पूजयामास । तत उत्तीर्णो मार्गे मार्गे श्रीसघ जेमयित्वा दिव्यवस्त्रैः परिधापयन् गुरून् परिधापयामास । ततः संघ विसर्ज्य सोत्सवं राजा पत्तने समागात् ।

इति कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ॥४९६॥

[497] अथ भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः ।

एकदा शाकम्भरीपतिभूप आनाक कुमारपालभगिनीपतिर्द्यूत रममाणः पत्न्या सह हास्येन प्राह–हेमसूर्यादिमुण्डकान्मारय। तदा पत्न्योक्तमेवं न प्रोच्यते, ते तु मम भ्रातुर्गुरवो जीवदयापालकाः। यदा पुन. पुनरेव वक्ति तदा पत्न्योक्त–जिह्वा सभालय । तदा रुष्ट आनाक' पत्नीं पार्ष्णिना हतवान् पत्न्योक्तं–विलोकय तव जिह्वा मम भ्राता अवटो कर्षयिष्यति। ततः सा रुष्टा पत्तने गता पतिस्वरूप प्राह । ततो राज्ञा आश्वासिता भगिनी, प्रथमं तत्र स्वमन्त्रिन तस्य स्वरूप ज्ञातुं प्रेषित । स च तत्र गतो दास्या लुब्धोऽन्यदा दासी उत्सूरेण समागात् तदा तेनोत्सूरागमने हक्किता प्राह–"अद्य मयाऽधुना (आनो) राजा मन्त्रिणा विचार्य कुमारपालं हन्तुं जन प्रेष्यमाणोऽस्ति तस्याग्रे प्रोक्तं–त्रिभुवनविहारमध्ये त्वया रविवारे स्थेय, तत्र यदा याति तदा त्वया हननीयो राजा । ततो मन्त्री सद्यस्तत्क्षण आकर्ण्य राजसूत्रितं कुमारपालाय

१ रत्नोत्कर रोहणो । २ समोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददत् । ३. यस्यास्वाद्य वचः सुधां ।

ज्ञापयामास । राजा तस्मिन् सावधानीभूय देवगृहे प्रविष्टस्तं धृतवान् कफलोहपञ्च्यपि दृष्टा ततो राजा संनह्य शाकम्भरीं गतः युद्धं सज्जितं स्वभगिन्याः प्रतिज्ञापूरणाय महती सेनां दृष्ट्वा आनाको धनं दत्वा कुमारपालसैन्यं बिभेद । यदा सङ्ग्रामे जायमाने सर्वे स्वसेवका न युध्यन्ति तदा हस्तिपकं प्रति राजाऽवग्—किं न युध्यति सैन्यं सोऽवग्—तव सैन्यं धनदानाद्वशीकृतं चानाकेन राजाऽवग्—त्वं कीदृशोऽसि ? स प्राहाहं हस्ती च तवैव स्तः ततः सचिन्तो राजा युद्धं कर्तुमुत्थितः, तदा चारणः प्राह—

कुमारपाल नवि चिंत करि चिंतिउ किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्ज समप्पिउ, चिंत करेसिइ सोइ ॥१॥

ततो युध्यता कुमारपालेन आनाको हस्तिनः स्कन्धे चटित्वा गले (आनाको) धृतः प्राक्तं च—भगिनीप्रतिज्ञां पूरयामि ततो भगिन्याभ्येत्य पतिभिक्षा मार्गिता पादशीर्षिकाच्छीत्कारयित्वा पुनरानकस्य राज्यं दत्त्वा स्वाज्ञां धारयित्वा पत्तने समागात् ये ये विघटिताः सेवकास्तेषां शिक्षा दत्ता इति सर्वत्र ततो मारिरित्यक्षरेण न कोऽपि जल्पति स्म ।

इति भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः ॥४९७।

[498] अथ वृद्धो शातवाहनभूपसम्बन्धः ।

उज्जयिन्यामेको विप्रश्चत्वारः पुत्रास्तेषां शिक्षां (दातुं) वृद्धत्वे मरणावस्थश्चतुरः पुत्रानाकार्य प्राह—वत्साः ! अहं परलोकं प्रति प्रस्थितोऽस्मि । मयि मृते मदीयायाः शय्यायाश्चतुर्णां पादानामधः चत्वारो वर्याः कुम्भाः सन्ति, ते तु वस्तुभिर्भृताः सन्ति ततः कर्षणीया भवद्भिर्यथाजेष्ठं भाग्या वस्त्वनुसारतः भवतां निर्वाहस्तैर्भविष्यति विवादो न कार्यः ततः पिता मृतः तस्यौर्ध्वदेहिकं कृत्वा त्रयोदशे दिने चत्वारः कलशाः कर्षिताः यावदुद्घाटयन्ति तावत्प्रथमे कुम्भे कनकम्१ । द्वितीये मृत्स्ना२ । तृतीये३ बुसं । चतुर्थेऽस्थीनि४ दृष्टानि ते, ज्यायसा साकं सर्वे विवदन्तस्ततः कनकलोभात् । ते भूपस्याग्रे गताः स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचुः, केनापि विवादो न भग्नः । ततस्ते ग्रामे पुरे पृच्छन्तः प्रतिष्ठानपुरे गताः । तत्रापि यदा भूपादिभिर्न केनापि तेषां विवादो भग्नः । तदा बाल्यावस्थायां शातवाहनबालकस्तेषां विवादं बभञ्जेति—यस्मै पित्रा कनककलशो ददे । स कनकस्वामी भवतु ।१। यस्मै मृत्स्नाकलशो ददे पित्रा, स क्षेत्रकेदारान् गृह्णातु ।२। यस्मै बुसं स कणस्वामी ।३। यस्मै अस्थीनि स पशून् गृह्णातु ।४। ततः सर्वे स्वपुरे गताः पितृदत्तविभवेन सुखिनो जाताः ।

इति वृद्धो शातवाहनभूपसम्बन्धः ॥४९८॥

[499] अथ भोजजन्मपत्रिकासम्बन्धः ।

सिन्धुलभूपस्य यदा पुत्रोऽभूत् तदा जन्मपत्री वर्णिता, एवं—

पञ्चशतपंचवर्षाणि मासंसप्तादिनत्रयम् ।
भोजराजेन भोक्तव्यं, सगौडं दक्षिणापथम् ॥१॥

तदा मुञ्जो भोजजन्मपत्रिकोक्त श्रुत्वा दध्यौ । मम सन्ताने राज्यं न भविष्यति किन्तु भोजस्य राज्य भविष्यति । एवं ध्यात्वा वर्षाष्टप्रमाण भोज मारयितु वने स्वसेवकाभ्यां प्रेषयामास रहः । ताभ्या प्रोक्तं स्मर दैवतं त्व तु मुञ्जेन मारयितुमत्र प्रेषितोऽसि । भोजो जगौ युवयो किं दूषण मम कर्मग ? एवं तथापि प्रथम एक पलाशपत्रमत्रानयत ताभ्यामानीत । ततः स्वजघा विदार्य तद्रुधिरेण काव्य भोजो लिलेख—

मान्धाता स महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो [१]यावद्भवान् भूपते !,
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति ॥२॥

एतत्साहस दृष्ट्वा ताभ्या छन्न गृहे नीत्वा कृपया भूमिगृहे स्थापितः लेखोमुञ्जहस्तेऽर्पितः मुञ्जेन लेखो वाचित । ततो वज्राहत इवाभूत् प्राह च—मया मुधा एवविधो विनीतो भक्तो भोजो मारित । ततो राजा मर्तु समुत्सुकोऽभूत् । प्राह च-यदा भोजोऽत्र जीवन्नेति तदाह जीवयामि नो चेन्मृत एव । ततस्ताभ्या भोज प्रकटीकृतः राजा हृष्टो भोज मानयामास । ततो भोजस्यानिच्छतोऽपि युवराजपदवी दत्ता ।

इति भोजजन्मपत्रिकासम्बन्धः ॥४९९॥

[500] अथ मुंजमरणस्वरूपे भोजराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ।

तिलंगेशेन तैलपदेवराज्ञा वैर जात ततो राजा मुजस्त जेतु यदा विचलिषुरभूत्तदा भोजेनोक्तमह यामि तं जेतु ।

मुजोऽवग् त्व लघुरहं यास्यामि, ततो वारितो राज्ञा पुरोधसा भोजेन न तस्थौ । तत प्रोक्तं भोजेन स्वामिन् ? गोदावर्यास्तटार्वागेव युद्ध कार्य ततस्तद्वचोऽङ्गीकृत्य मुञ्जश्चचाल । दैवयोगाद्, गोदावरी परतटे गत युद्ध मण्डितम् । तैलपदेवेन जित मुञ्जोपि धृत गुप्तिगृहे क्षिप्त सर्व हस्त्यादि सैन्य गृहीत तत्र विधवा मृणालवती दासीभवा भूपभगिनी जेमनादानाद् भक्ति चक्रे मुञ्जस्य । इतो भोजेन स्वभ्रातृकर्षणाय तस्य यस्मिन् स्थाने मुञ्जस्तिष्ठति तत्र यावत् पुराद्बाह्यतः सुरगा दापिता अतरांतरा वाहनिका स्थापिता । मृणालवत्या मुञ्जस्य प्रीतिर्जाता, मुञ्जनृपो मृणालवत्या पुरो गाथां प्राह—

मुञ्जभणइ मृणालवइ के मा कांइं रोअंति ।
लद्धपसायपयोहरां बंधनमणी रोअंति ॥१॥

१ याता दिव भूपते ।

पभणइ मुञ्ज मृणालवइ जुव्वण गयू मझूरिजइ ।
जइ सकरसयखंडि [वातोह] कियतोइ जि मिट्ठीमूरि [चूरि] ॥२॥

एवं प्रोक्ते मुज चलन तया ज्ञात तया च भ्रातु पार्श्वे प्रोक्त । तैलपदेवस्ततो रुष्टो मुज शूलायां क्षेपयित्तु पुरमध्ये भ्रामयामास गृहे गृहे भिक्षा याचते मुज कौटुम्बिकगृहे नीतः । कौटुम्बिक प्रियया प्रोक्तं भिक्षाऽधुना कुतो दीयते । ततो मुंजः प्राह—

घणवती मम गव्वकरि [परकरिय रुआइ] पिक्ख विपद् दुरुआइ ।
चउदसइं छहुत्तारा मुञ्जह गयागयाइ ॥ ३ ॥

तयोक्त—

च्यारि घइल्ला घेनु दोइ मिठाबोली नारि ।
काहु मुञ्ज कुटुम्बीह, गयवर बाऊइ बारि ॥४॥

ततो मुजो[ऽ]वग्—

गयगयरहगयतुरयगय [भिय] पायकडानि भिच ।
सग्गट्ठियकरि [1]भामणउ महता रुद्दा इव ॥५॥

यतो रुद्रादित्येन वारितोऽहं तैलप जेतु चलित । तत्कथितमपि न कृत । ततो मुजः प्राह स्त्रियां विश्वासो न कार्य ।

सउ चित्तह सट्ठी मणह पचासडाहि आइ ।
[2]अम्मीतेन रटहसीजे वीससी आती असती आह ॥६॥

झोली त्रुटिवि किं न मूउ कि नवि [हणउ ठार] हूउ वारह पुंज ।
घरि घरि मुञ्ज ममाडीइ जिम-मकडा-तिम-मुञ्ज ॥७॥

शूलाक्षिपावसरे प्राह—

लक्ष्मीर्यास्यति गोविंद वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे [3]निराधारा सरस्वती ॥८॥

इतरजनवाक्यानि—

छडिवि पिम्म गहिल्लपिअ जे दास हि रच्चति ।
ते मुंजाल नरिंद जिम परभव घणा सहंति ॥९॥

चित्त विसाय न आणीइ रयणायर गुणपुञ्ज ।
जिम जिम वायइ [चपडइ] विधिहि पडह तिम तिम [निमचिइ] नचइ मुञ्ज ॥१०॥

---

१ भतणओ । २. अम्हे वे नरडावसीये, वीससिया जियाह । ३ निराछम्वा ।

मुञ्जः प्राह—

अट्ठोत्तर सुबुद्धिडी रावण तणइ कपालि ।
एकबुद्धि न सांपडी लंका भंजणकालि ॥११॥

इत्यादि पराभवपूर्वं मुञ्जः शूलायां क्षिप्त. । ततो भोजो मुञ्जं मारितं श्रुत्वा अतीव दुःखी जात' । ततो मंत्रिभिः शोक उत्तारित' । ततो राज्ये नोपविशति भोज. । ततो मंत्रिभिर्बलात्मुञ्जपदे भोज उपवेशित. ।

इति मुञ्जमरणस्वरूपभोजराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५००॥

[501] अथ पद्यद्वयपठन भोजसम्बन्धः ।

एकदा एको विप्रः पुराद्बहिर्देहवि[चिं]तार्थे, गतः । तदा एको घूपः शंडो वृक्ष स्कन्धेत्त घर्षयति । पुनः कर्णौ उत्पाट्य विलोकयति च तदा विप्रेणोक्तम् घसइ घसावइ किं रे मारिसि, कान टह्री टह्री जोइं छइं किं नासिसिरे । एतच्छ्रुत्वा शंडो नष्ट । तत स विप्र स्वकृत पद-द्वयं भूपाग्रे प्राह शंडागमनं च । ततो राज्ञा सहस्र द्रम्माणां दत्वा तस्मै तस्मात् पदद्वय गृहीतं अत्रान्तरे वैरिणा भूपेन नापितः कलावान् सुकुमालहस्तोऽगमर्दनकुशलो भोजमारणाय प्रहितः स च भूपस्य मिलितः वर्यं तं मत्वा भूपेन रक्षितः भूपस्य शरीरे संवाहना करोति । एकदा राजा सुप्तस्तदा स मुहूर्त्तमेकं राज्ञ. पदयो. संवाहनां कृत्वा भूपं हन्तुं क्षुरकं तेजयति पुनर्भूपस्य समुखो भूत्वा कर्णौ दत्वा विलोकयति सचिन्तः । राजा त तथाविध कर्मकुर्वाणं दृष्ट्वा प्राह—

"घसइ घसावइ किं मारिसि रे कान, टहरी टहरी जोइ छइ किं नासिसिरे ?"—एतदुक्त भूपस्य श्रुत्वा स नापितश्चकित आत्मकृत्य ज्ञात विदन् भूपस्य पदोः पतित्वा प्राह-अहमभाग्यवान् यस्य हन्तु वाछितो मया, राज्ञोक्त किं त्वया हन्तु वांछितः अभय दत्त ? तत. स नापितः प्राह अह चन्द्रभूपेन, त्वा हन्तु प्रेपित त्वयाह ज्ञातः । ततो राजा त विसर्ज्य त वैरिण जिगाय ।

इति पद्यद्वयपठनभोजसम्बन्धः ॥५०१॥

[502] अथ स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेषणसम्बन्धः ।

भोजस्य भूपस्य शतपत्नीपु एका पत्नी भोजाभीष्टापि गात्रिदविप्रे लुब्धाऽभूत् । राज्ञान्यदा रात्रौ नक्तचर्यायां भ्रमता सा पत्नी अन्यपुरुषपार्श्व सुप्ता दृष्टा । तदा अभिज्ञापनाय पडितस्य विप्रस्य वेणी छिन्ना :शनैः, यतो अवध्यः । उन्निद्रः पण्डितो वेणीं छिन्ना वीक्ष्याचिन्तयत् राज्ञाहं ज्ञातः परमभिज्ञानायेद कृतं । ततः स तत्क्षणादुत्थाय सर्वपा पण्डितानां वेणीं छिन्नवान् प्रातर्भूभुज' सभायां सर्वं पण्डितान्छिन्नवेणीकाः स्थगितशीर्षा राज्ञः पार्श्वेऽभ्येत्याशीर्वाद ददुः । राजा तु सर्वेषां वेणींच्छिन्नां वीक्ष्य सम्यग् निश्चयं न चक्रे । ततः कौतुकीनृपः सर्वान् पण्डितान् न्यमन्त्रयत्

सर्वे जेमितुमुपविष्टाः । राज्ञीं प्रति प्राह मोदकान् परिवेषय पञ्च पञ्च । ततः सा मोदकान् परिवेषयन्ती स्वामीष्टं पण्डितभाजने दश मोदकान् मुमोच । ततो बुधोऽवग्—

पञ्च पञ्च प्रदीयन्ते किमत्र दश मोदकाः ।
भोजराजो न जानासि स्त्रीचरित्रे न विश्वसेत् ॥१॥

ततो राजा तां पत्नीं तत्याज, पण्डितस्त्ववध्यो निजदेशात् कर्षितः ।

इति स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेषणसम्बन्धः ॥५०२॥

[503] अथ मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ।

मरुस्थल्यां एकस्मिन् ग्रामे उद्वाहे चतुरिकास्थाने कर्पासमहघ्याय कृतकोत्पलकचतुष्कं मण्डापितं द्विजेन । वरकन्ये तत्रायाते यदा तयोः परिणायितुं द्विजः उपविष्टः गूर्जरस्तदान्यस्तत्रागतः । कौतुकं तादृक्षं दृष्ट्वा प्रोवाच आश्चर्यं दृष्टं [दृष्ट्वा] कर्पासेनेदं" तदा तत्रस्थो द्विजो जगौ— मौनं कर्तव्यं अर्द्धं अर्द्धं स्वाहा' एवं प्रोच्य [प्रोक्त्वा] तयोर्वरकन्ययोः पाणिग्रहणं कारितं । ततो द्वाभ्यां रूतं विभज्य गृहीतं ।

इति मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ॥५०३॥

[504] अथ मालतीकुसुमं भातीत्यादि अर्धपदद्वयकरणसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा सपरिच्छदो बहिरुद्याने गतः । रसतं मालतीपुष्पस्थितं शिलीमुखं वीक्ष्य भोजः प्राह—

[१]मालतीकुसुमं भाति मञ्जुगुंजन्मधुव्रतम् ।

भूपोक्तं श्रुत्वा एको वृक्षान्तरस्थः पुमान् विप्रः प्राह—

[२]पृथिव्यां पञ्च बाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥१॥

प्रत्युत्तरपदद्वयं श्रुत्वा राजा चमत्कृतः मेदिनीशः स्वावासं समागतः । प्रभाते श्लोके सभायां कथिते सति पण्डितैः सर्वं व्याख्यातः । ततः सीता पण्डिता जगौ अप्रेक्षणपदद्वयमनेन कृतं । राजा प्राह-हे पंडिते ! त्वयैव कथं ज्ञायते ? सा प्राह-शङ्खस्य पूरणं वक्त्राज्जायते गुंजारवस्तु पक्षिभ्यो जायते, द्विरेफाणां विप्रलम्भको नरः एव न वेत्ति यत् ततस्तत्र गत्वा तस्य विप्रस्या-न्धस्य पार्श्वे प्राह राजा, 'त्वया कृतं पदद्वयं दूषितं विद्यते' [विप्रः प्राह] मत्कृतं काव्यं रंडया विना कोऽपि न दूषयति । ततो विशेषतो राजा चमत्कृतो द्वयोरपि भूरिधनं ददौ ।

इति मालतीकुसुमं भातीत्यादि अर्धपदद्वयकरणसम्बन्धः ॥५०४॥

---

१ मालतीमुकुले भाति । २ प्रयाणे ।

[505] अथ दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादि सम्बन्धः ।

भोजभूप श्रियाश्चचलत्व वीक्ष्य यदा बहुदानं ददन्नभूत् तदा रोहितो मन्त्री दध्यौ । राजा कोशं धनरिक्त स्तोकदिनैः करिष्यति अत उपायेन वार्यते । ततश्चित्रशाला भारपट्टे रहः पद लिलेख—

"आपदर्थे धन रक्षेत्"—प्रभाते भूपः पद दृष्ट्वा मन्त्रिलिखित ज्ञात्वा तत्रैव लिलि[ले]ख— "भाग्यभाज क्व आपदा[द.]" राज्ञा द्वितीय पद लिखितं ज्ञात्वा तृतीयपद तत्रैव पुनर्मन्त्रिणालिखित—"दैवं हि कुप्यति क्वापि"—राजा तत्पदमपसार्य लिलेख—"सचितोऽपि विनश्यति" ।

ततो राज्ञो मनो दाने ससक्त ज्ञात्वा मन्त्री क्षमयामास [उक्त च] त्व भाग्यवानसि यत एवं विधं दाने मनस्तव । ततो राजा[हृ]रुष्टो दानं दत्ते ।

इति दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादिसम्बन्धः ॥५०५॥

[506] अथ नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमिति सम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपसभाया. समीपस्थवटशाखायामुपविश्य शुक प्राह—"नष्टं नष्ट नष्ट नष्ट" अस्य पदस्यार्थः सर्वेषां पण्डिताना पार्श्वे भूपेन पृष्ट. केनापि न ज्ञातो विलोकितोऽपि भृश । तत्र विद्वत् कुटुंबेनार्थः प्रोक्त इति । प्रथम द्विज. प्राह "(१) कुभोजनात् दिनं नष्ट" । पत्नी प्राह "(२) भार्या नष्टा कुशीलिनी" । पुत्र प्राह "(३) कुपुत्रेण कुलं नष्टं" । पुत्रपत्नी प्राह "(४) तन्नष्ट यन्न दीयते ।" ततो राजा विद्वद् कुटुम्बाय लक्ष ददौ ।

इति नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमितिसम्बन्धः ॥५०५॥

[507] अथ भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ।

दानेन सर्वं वशीभवति इति-ज्ञापनाय भोजनरेन्द्रोऽन्यदा आर्याचतुष्क रचयामास।

इदमंतरमुपकृतये, प्रकृतिचला यावदस्ति संपदियं ।
विपदि [१]नियतोदितायां, पुनरुपकर्तुं कुतोऽवसरः ॥१॥

निजकरनिकरसमृद्ध्या धवलय भुवनानि पार्वणशशाङ्क ।
सुचिरं हंत न सहते हतविधिरिह सुस्थितं कमपि ॥२॥

अयमवसरः सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिनामनिश ।
इदमपि सुलभमंभो भवति पुरा जलधराभ्युदये ॥३॥

१ नियतोदयायां ।

कतिपयदिवसस्थायी पूरो दूरोन्नतोऽपि भविता ते ।
[1]तटिनी तटद्रुपातिनी-पातकमेव चिरस्थायि ॥४॥

इति आर्याचतुष्टयं कङ्कणे लेखयित्वा सर्वं पण्डितानां हस्ते बन्धयामास ।

यदनस्तमिते सूर्ये न दत्तं धनमर्थिनाम् ।
[ते] तद्धनं नैव जानामि, प्रातः कस्य भविष्यति ॥५॥

इति भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ॥५०७॥

[508] अथ जानुदघ्न श्रुतिदानसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा राजपाटिकायां बहिः क्रीडां कृत्वा नदी तीरे समागतः । उत्तीर्ण नदीजलं विप्रं मस्तकदत्त काष्ठभारं वीक्ष्य प्राहेति—

—कियन्मात्रं जलं ? विप्र !

द्विजः प्राह प्रत्युत्तरं—जानुदघ्नं नराधिप ।

राजाऽवग्—ईदृशी किमवस्था ते ? [कथं सेयमवस्था ते ?]

द्विजः प्राह—न सर्वत्र भवादृशाः ।

तस्य चातुर्यं अवस्थां च दृष्ट्वा चमत्कृतो भूपो तस्मै धनं दापयामास ।

लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं, मत्ताश्च दश दन्तिनः ।
दत्त [श्री भोजराजेन] भोजेन तुष्टेन, जानुदघ्नप्रभाषिणे ॥२॥

इति जानुदघ्न श्रुतिदानसम्बन्धः ॥५०८॥

[509] अथ 'यदेतत् चन्द्रान्तर' इति काव्यसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ भोजराजा चन्द्रं दृष्ट्वा पपाठ—

यदेतत् चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते ।
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ॥१॥

तदा भूपगेहे [अधोभूमौ] खनीखाला स्थितश्चोरो विप्रो भूपकृतपदद्वयं । श्रुत्वा प्राह—

अहन्त्विन्दुं मन्ये, त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी—
कटाक्षोल्कापातव्रणशतकलङ्काङ्किततनुम् ? ॥२॥

श्रुत्वैवद् राजा चमत्कृतस्तस्य स्तेनं श्रुत्वा चाभयदानं दत्त्वा पप्रच्छ । कोऽसि त्वं किं स्तैन्यं कर्तुमायातः ? ततः स स्तेनो जगौ—अस्मिन् पुरे कृपणविप्रपुत्रोऽहं चन्द्राह्वः पित्रा सर्वाणि शास्त्राणि पाठितः परं गेहे किमपि नास्ति यत् भुज्यते । ततः सर्वं कुटुम्बं दुःखितं जातं ।

---

१ तटद्रुम पातन पातकमेकं ।

पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि ! क्षुधार्तस्य न संशयः ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं मदनश्चापि पञ्चमः ॥३॥

तेन मयोदरपूर्तिहेतोश्चौर्यं कर्तुमारब्धं । राज्ञोक्तं त्वयात पर स्तैन्य न कार्यं नरकहेतुम । सोऽवग्—कुटुम्ब मरिष्यति मम । ततो नृपस्तस्मै दान दापयामासेति ।

अमुष्मै चोराय प्रतिनिहितवृत्यै [१]प्रतिभिये,
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दशदशनकोटिक्षतगिरीन ,
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन् मधुलिहः ॥४॥

ततस्तेन स्तेनेन चोर्यकरणं नियमो गृहीतः । ततो राजा दानगर्वं दधान ज्ञात्वा विक्रमार्कदानवहिका दर्शयामास—

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते,
बाहुः काकुत्स्थवीर्यः स्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः [२]क्वचिदपि भवतो नैव मुञ्चंत्यजस्रं[३] ,
[४]स्वच्छान्तर्मानसं ते कथमवनिपते काम्बुपानाभिलापः ॥५॥

एतत् काव्यं कविपार्श्वे श्रुत्वा दान ददौ तस्मै ।

श्रुत्वेतद् विक्रमादित्यस्तस्मै पंडितमौलये ।
माघायाष्टौ सुवर्णानां कोटिर्दापितवान मुदा ॥६॥

एतत् दृष्ट्वा राजा गर्वं तत्याज ।

इति यदेतच्चंद्रांतरितिकाव्यदानसम्बन्धः ॥५०९॥

[510] अथ पुनर्हेमलक्षदानं शीतोद्धुपितदानसम्बन्धः ।

अन्यदा राजा रात्रौ शीतकपितं नरं दृष्ट्वा प्रपच्छ किं कपो विधीयते, स चाह—

शीतेनोद्धुषितस्य मापफलवच्चिंतार्णवे मज्जतः ।
[५]शीतोग्निः [६]स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम ॥

[१] मृत्युप्रतिभये । [२] क्षणमपि । [३]. अभीक्ष्णं । [४] स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते तेम्बुपानाभिलाष. । [५] शान्तोऽग्नि । [६] स्फुरिताधरस्य ।

निद्रा श्लाघ्यपमानितेव दयिता सतज्य दूरं गता,
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला न[1] चीयते शर्वरी ॥१॥

श्रुत्वैतत्तस्मै हेमकोटीदश दापयामास राजा स च प्राह—

धारयित्वा त्वयात्मानमहो त्यागधनाऽधुना ।
मोचिता *बलिकर्णाद्याः* सच्चेतो गुप्तिवेश्मन ॥२॥

पुनर्हेमलक्षदान शीतोद्धुपितदानसम्बन्धः ॥५१०॥

[511] अथ लक्षदान रीर सम्बन्ध ।

राजा राजमार्गे रीर कणान् विचिन्वन्त वीक्ष्य भोजस्त प्रति प्राह—

नियउअर पूरणमि असमत्था किंपि तेहिं जाएहिं ।
[रीरोऽवग्—] सुसमत्था विहु, जे नय उवयारिणो तेहिं विन किंपि ॥१॥

भोजोऽवग्—

पर[प]त्थणा पवण्ण मा जणणि जणेसु एरिस पुरिस [पुत्त] ।
[रीर प्राह-] मा ऊअरेसु धरिज्जसु[व] पत्थिअर्ण मगो कओ जेहिं ॥२॥

[तत प्रसन्नीभूतेन भोजेन तस्मै लक्षदान ददौ ।]

इति लक्षदाने रीरसम्बन्धः ॥५११॥

[512] अथ अत्ता तुष्यति श्लोकसम्बन्ध ।

एकदा नृप एकस्य गृहे कुटुम्ब कलह कुर्वाण दृष्ट्वा पप्रच्छ-किमेष कलिः क्रियते । तदा स प्राह—

अत्ता तुष्यति न मया न स्नुषया साऽपि नायया न मया ।
अहमपि न तया न तया वद राजन् कस्य दोषोऽयं ॥१॥

ततो राज्ञा कलिस्वरूप पृष्ट, सोऽवग्—भीमो विप्रः भीमा पत्नी तयोरह कमल पुत्र । मम पत्नी पद्मा पर गृहे दारिद्र तेन धनाभावात् सदा कलहो भवति अतो मया न तुष्यति अहं न मात्रा इत्यादि । ततो राज्ञा "अत्ता तुष्यति" श्लोककथकाय लक्षदान [ददौ] ।

इति अत्ता तुष्यति श्लोकसम्बन्ध ॥५१२॥

---
१ नो ।

[513] अथ माणुसडां दस दस हवइ सम्बन्धः ।

एकदा राजा एकां स्त्रियं दुःखिनीं दुःस्थौ दृष्ट्वा प्राह—किमीदृशी अवस्था ? लक्ष्मीर्न ते ? सा प्राह—

१माणुसडां दस दस हवइ देवेहिं निम्मिवी [दी] आइं ।
मज्झकं तेह एकहि दसा, नव चोरे हरी आइं ॥१॥

ततो राजा बीजपूरमध्ये लक्ष्यमूल्यरत्नद्वयं क्षिप्त्वा तस्यै दापयामास । तया ध्यातमनेन भक्षितेन किं, विक्रीय धान्यमानीयते । ततो वणिजे ददे, तेन च सार्थवाहाय, सोऽपि प्राभृतीचकार भूपाय । भूपो बीजपूरमुपलक्ष्य प्राह—

हेला महल्ल कल्लोल पिल्लिअं जइवि गिरिनई पत्तं ।
अणुसरइ मग्गलग्गं पुणोवि रयणायरे लग्गं ॥२॥

ततो राजा तां स्त्रियमाकार्य रत्नव्यतिकरं कथयित्वा प्राह—
यच्च त्वयोक्तं 'मम भर्तुरेकैव दशा' सत्या बीजपूरमध्ये रत्नादर्शनात् । ततो राज्ञा बहुधनं कृपया दापितं ।

इति माणुसडां दस दस हवइ इति संबंधः ॥५१३॥

[514] अथ क्रीडाचंद्रछान्दसब्राह्मणागमनसम्बन्धः ।

एकदा परदेशात् क्रीडाचन्द्रकविर्भोजस्य मिलनायागात् । राजा सभायामुपविष्टः । पण्डिताः सर्वे मिलिताः । क्रीडाचन्द्रकविस्तत्रागतः । आशीर्वादं ददौ—

बल्यरिक्रत्वरी पातां सांबु व्यम्बु घनोपमौ ।
सदृशौ काकपकाभ्यां तवैहतु तवैह तु ॥१॥

बलेः अरिः कृष्णः इति बल्यरि' । क्रतोः अरिः इति क्रत्वरिं (शकरः) । बल्यरिश्च क्रत्वरिश्च इति बल्यरिक्रत्वरी (कृष्णशकरौ) अम्बुना सहितः सदृशो वा इति साम्बुः । विगतं अम्बुः इति व्यम्बुः । सांबुव्यम्बुश्चासौ घनश्च इति साम्बुव्यम्बुघन., तदिव उपमा ययोस्तौ तवैहतु (तवेप्सितं) ।

ततो मुख्यपण्डितोऽवग् वर्षाकालो वर्ण्यताम्—

वर्षाकाले प्रणाले खलह [ख] लमुदकं याति खाले विशाले ।
चिक्खिल्ले लिप्सयित्वा खडहडपडीओ लंब२ गुड्डो मणुस्सो ॥
चुल्लीं गेहस्स३ मज्झे खर खर खनते कुक्कुरो घुघुरंतो ।
सुन्नागारस्स मज्झे टहरित करणो रासभो रारटीति ॥२॥

---

१ माणुसडां दस दस दसा सुणियइ, लोयपसिद्ध, मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहि लिद्ध।
२ लघगुड्डो मनुष्य । ३ गेहस्य मध्ये ।

ततस्तैः पण्डितैरुक्तं सीता पण्डिता वर्ण्यतां, ततः क्रीडाचन्द्रेण वर्णितेति। सीता पण्डिता—

सीता सुरूपा तरुणी–रुणी–रुणी,
मुखं च चंद्र–प्रतिम–तिम–तिमं।
स्तनौ च पीनौ कठिनौ–ठिनौ–ठिनौ,
कटिर्विशाला–रभसा–भसा–भसा ॥३॥

ततो हसितं सर्वैरहो कवित्वमस्य। ततः पुनः क्रीडाचन्द्रस्तेषां मदोत्तारणाय प्राह आशीर्वादं।

च्युता चान्द्री लेखा रतिकलहभग्नं च वलयं,
द्वयं चन्द्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा,
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥४॥

ततो नृपेण दत्तं सिंहासने क्रीडाचन्द्रोपवेशाय पण्डिताः प्रोचुरस्य भूमिरेव दीयतामुपवेशाय। ततः क्रीडाचन्द्रोऽवग्—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा–
मिह [हि निहितभारा] निवसति लोकं सागराः सप्त चैते,
इदमतुलमनन्तं भूतलं भूरि भूभृत्।
भर भरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥५॥

ततः सर्वे चमत्कृताः। ततः पुनरपि वर्षावर्णनं दत्तं स चाह—

नृत्यद्बर्हिषि दुर्दरारवपुषि प्रक्षीणपाथायुषि,
चंचद्विद्युषि [द्योतद्विद्युषि] च द्रुमाद्युषि सखे हसद्विपि प्रावृषि।
मा मा मुंच कुचाग्रसन्ततपतद् बाष्पाकुला[1] [विगलद्बाष्पाकुलां] व लिकां,
काले कालकरालनीलजलदव्यालुप्तसूर्यत्विषि मास्थाविषि] ॥६॥

तदा पण्डितैस्तत्तराद्ध दूषितं। ततस्तेनार्थः सम्यग् व्याख्यातः। पुनः वर्षा वर्णिता—

दिशो हाराकारा शमितशमभारा [प्रशमिनां] इव मुने,—
रशुचौ सचारा कृतमदविकाराश्च शिखिना।

1 विगलद्बाष्पाकुलां। 2 मास्थाविषि।

हृताध्वन्यापारास्तुहिनकर्णसारा विरहिणी,

मनः कीर्णांगाराः किरति जलधारा जलधरः ॥७॥

ततः क्रीडाचन्द्रः सर्वाणि काव्यानि व्याख्यायामास। राजा चमत्कृतः भूरि दानं ददौ। क्रीडाचन्द्रं कवि मान्यमानं दृष्ट्वा वेदविदो विप्रा ईर्ष्यापराः क्रीडाचन्द्र जेतुं राजद्वारे समागताः। यतः—

ब्राह्मणा गणका वेश्याः, सारमेयास्तपोधनाः।

परस्परं विरुद्धयन्ति, न जाने तत्र कारणं ॥८॥

ततः प्रतीहारो द्विजानामागमनं भूपपार्श्वे प्राहेति—

राजमापनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।

तिष्ठन्ति द्वारि राजेन्द्र छांदसा श्लोकशत्रवः ॥९॥

राज्ञाकारिताः सभामध्ये समागताः। भूपोऽवग्—वर्ण्यतां चन्द्रोदयः। ते जगुश्चिरं विमृश्येति—

चन्द्रोदयस्य माहात्म्यं, वर्ण्यते किमतः परं।

श्रोत्रियोऽपि दिवा भ्रांत्या, मूत्रयत्युत्तरामुखं ॥१०॥

ततो द्वितीयेन्दुर्वर्णितुमर्पित. ततस्ते चिरं परस्परं कर्णयोर्लगित्वा लगित्वा प्रोचुः—

अयं चंदो वट्टुलउ मंडकाकारसुन्दरः।

सोहेइ मणं मोहइ अम्हं तुम्हं न संदेहो ॥११॥

सभा हसिता। ततो राजाऽवग् यूयं मुधा विज्ञानामुपरि गर्वं तनुतां, भवतां वेदभणनेऽधिकार., ततः कृपया दानं दत्तं तदा क्रीडाचन्द्रो भूपोक्तमश्वं वर्णयामास।

पादाः कन्दुकवत् स्थितिश्च गिरिवत्, संस्फालनं सिंहवत्।

नेत्रे नीरजवत्, जवः पवनवत्, हेषारवो मेघवत् ॥

विन्यासस्तटवत् मुखं कुलवधूवक्त्रेंदुवत् वाजिनः।

क्षोणीशस्य वशत्वमेव नृपते, साम्राज्यमुर्वीपतेः ॥१२॥

इति क्रीडाचंद्रछांदस ब्राह्मणागमनसम्बन्धः ॥५१४॥

[516] अथ विद्वत्कुटुम्बसम्बन्धः।

विद्वत्कुटुम्बकं स्वस्थानात् भोजपार्श्वं गन्तु मार्गे चचाल यदा तदैको बुध. प्राह मिथ.।

विद्वन् वद क्व चलितोऽसि समग्रविद्या
पारगमं कलयितु किल भोजराज ।
वेस्यक्षराणि न हि वाचयितु स राजा,
मह्य ललाटलिखितादधिक ददौ य ॥

ततो हृष्ट अवन्तीसमीपे गतं । तत्र कुटुब मुक्त्वा पुरीमध्ये ग तु विद्वान् चचाल । रजकं वस्त्र क्षालयन्त प्रति प्राह स —अस्मिन् पुरे का का वार्ता कीदृक् पुर विद्यते, स रजको जगौ ।

अश्वा वहन्ति भवनानि सतोरणानि गावश्चरन्ति कमलानि मकेसराणि ।
पीत[१] दधिर्नास्ति तिलेषु तैल प्रासादशृङ्गेषु[२] मृगाश्चरन्ति ॥१॥

विद्वान् दध्यौ रजकोऽपि विज्ञ ततोऽग्रे पुरद्वारे बालिका पृष्टा तेन, त्व कस्य पुत्री ? साऽवक्—

मृतका यत्र जीवंति निःश्वसति गतायुषः ।
स्वगोत्रे कलहो यत्र तस्याह कुलबालिका ॥२॥

(लोहकार-पुत्री)

ततो दक्षिणद्वारे बालिका मिलिता पृष्टा तेन, त्व कस्य पुत्री सा प्राह—

पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः ।
चलते वायुवेगेन तस्याह कुलबालिका ॥३॥

(कुम्भकार-पुत्री)

स चमत्कृतः पश्चिमद्वारे पूर्ववद् बालिका पृष्टाऽवग्—

सस्नेहा यत्र निस्नेहा भ्रमति भ्रमवर्जिता ।
स एव स्नेहदा लोके तस्याह कुलबालिका ॥४॥

(चाक्रिकस्य—रथकारस्य पुत्री)

उत्तरदिक् बालिका पृष्टा घटे किमस्ति—

मदः प्रमादः कलहोऽतिनिद्रा, विवेकविज्ञानकलाक्षयश्च ।
महत्त्वकीर्तिव्रतिरर्थनाशो, ऽसत्य दोषगणो घटेऽस्मिन् ॥५॥

(मदिरा[३])

---

१ पीत च यत्र दधि (२) प्रासादवारशिखरेषु ।

३ विहिता त्रिविधा नाना देवा शक्तिविवर्जिता । शुभाशुभकायविहीनाऽत्र तस्याह कुलबालिका । (मसि-पुत्री) ग्रीवा नास्ति, शिरो नास्ति हस्ती कार्यविवर्जितौ । स जीवो मानुष खादेत् तस्याहं कुलबालिका (किपाक-फलम्) इत्यपि क्वचित् ।

एवं स्थाने स्थाने बुधान जनान वीक्ष्य साय बुधः स्वकुटुम्बपार्श्वे समागात्, रात्रौ वाटिकायां स्थितो, वाटिकां पल्लविता दृष्ट्वा मालिको हृष्टो भूपपार्श्वे विद्वत कुटुम्बागमन प्राह। ततो राज्ञा स्व पडित विद्वत्कुटुम्बपरीक्षार्थे प्रेपयामास। स च भिक्षुर्भूत्वा तत्र गत्वा प्राह—

भिक्षां मे पथिकाय देहि सुभगे [पुत्रपत्नी प्राह] हा हा गिरो निष्फलाः।
[भिक्षुः प्राह] कस्माद् ब्रूहि सखे [विप्रपत्नी प्राह] प्रसूतकमभूत् [भिक्षुःजगौ] कालः कियान् वर्तते॥
[पुत्रोऽवग्] मासः, [भिक्षुः प्राह] शुद्धिरभूत् [पत्न्योक्त] न शुद्धयति विभो प्रोद्भूतमृत्यु विना।
[भिक्षुः प्राह] को जातो [तयोक्त] मम सर्ववित्तहरणो दारिद्रनामा सुतः ॥६॥

भिक्षुश्चमत्कृतोऽवग् भो पण्डित! तव कुटुम्ब विद्वत्, शेपाः परपरिग्रहा' गोशतादपि गौक्षीरं, मान मूढशतादपि मन्दिरे मचकस्थान शेपा [पण]।

तत' स भूपपंडित' प्रकटीभूय प्रशशस। अह युष्माकं परीक्षा कर्तुमागां ततो विद्वत्कुटुंबं भूपतेर्मेलितं भूपतिस्तेषां वचनाद् हृष्ट प्राह अस्य वासाय गृह दाप्यतां। तत. स भूपभृत्यो विद्वत् कुटुम्बवसनाय प्रथम लुब्धकगृहे गत्वा लुब्धकपत्न्या अग्रे प्राह—यूयमन्यत्र वसथ, अत्र विद्वत् कुटुम्बं स्थास्यति। लुब्धकपत्नी-एतदेव विद्वत् कुटुव विद्यते? अहमपि वक्तु जानामि। ततः सा मासपिण्ड हस्ते लात्वा भूपपार्श्वं गता। प्रत्युत्तररूप काव्यं जिजल्पिपुरवादीत्—

देव! त्वं जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमास्ते[1] पलं।
क्षामं किं सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यस्ति ते कौतुकं॥
गायंति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनी–तीरेषु सिद्धांगना।
गीतान्धा न चरंति भोजहरिणास्तेनामिष दुर्बलं ॥७॥

ततस्तंतुवायगृहदापित तंतुवायोऽपि—

काव्यं करोमि न च चारुतरं करोमि,
यत्नत्करोमि न च[2] शुध्यति किं करोमि,।
भूपालमौलिमणि[3]चुम्बितपादपीठ,
[4]श्रीभोजराज कवयामि वयामि यामि ॥८॥

ततो राज्ञोक्तमन्यद् गृह दीयतां पण्डितोऽवग् पुरमध्ये सर्वे विद्वास एव विद्यन्ते। अत्रान्तरे एको विप्रः प्राह—एतद् विद्वत्कुटुम्बक न वेत्ति किमपि, यतः—

१. किमेतद्। २ सिध्यति, ३ लालित, ४ श्री साहसाङ्क,

ब्राह्मणजातिरनीर्ष्यालुर्वणिग्जातिरवञ्चक ।
प्रियाजातिरनीर्ष्यालु शरीरी च निरामय ॥९॥

तत "स्त्रीपु वश" प्रभवतीत्यादिअल्पकदेवताधिष्ठित गृह शून्य तस्य वासाय दत्त । यदा स तत्र गत्वा रात्रौ स्थितो बुध तावत्त यक्ष प्रत्युत्तरप्रदानाय काव्यस्य आद्य प्राह—

स्त्री पु वश ! प्रभवति यदा [1]तस्य ग० विनष्ट ।
वृद्धो यूना ! सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभि ॥
सर्वस्य द्वे ! सुमतिकुमती[2] पूर्वकमानुचीर्णे ।
एको गोत्रे ! स भवतु पुमान् य कुटुम्ब बिभर्ति ॥१०॥

चतुर्षु प्रहरेषु काव्य निष्पन्न । यक्षो हृष्टस्तद्गृह तत्याज । विद्वत्कुटुम्ब तत्रोवास ।

इत्यादि विद्वत्कुटुम्बसम्बन्ध ॥५१५॥

[516] अथ नवीनधारा स्थापनसम्बन्ध ।

एकदा भोजो नवीन पुर स्थापयितु वथा भूमि ज्ञातु पटह वादयामास । एका धारावेश्या पटह स्पृष्ट्वा यानमारुह्य लंकायां गत्वा लंकास्थिति विलोक्य पश्चादागत्य प्राह—यदि मनाम दीयते तदाह शुभां भूमिं दर्शयामि । ततो राज्ञा मानिते तया भूमि दर्शिता । तत्र वेश्या नाम्ना नवीन धारा स्थापिता वासिता भूपेन । इति नवीनधारास्थापनसम्बन्ध ॥५१६॥

[517] अथ एकेन बूडतीति सम्बन्ध ।

एकदा भोजसभायां एक पुमान् आयात । स पृष्ट किं त्वयाश्चर्य दृष्टं ? स प्राह कांतीपुर्यां एकेन महेभ्येन महत्सर कारित, वारिणा भृत एक मस्तकं जलाभिगच्छति वक्ति च एकेन बूडति । ततो राज्ञा पृष्टा पण्डिताः अर्थं न जानन्ति । ततो दूरे भ्रमन्नेक पण्डितो महत्स्थल्यां गत । तत्रैकस्मिन् ग्रामे वृद्ध पु(सो)मिलितस्तस्याग्रे वार्ता कथिता । स प्राह एष श्वानो गृह्यतां तव लक्षद्रम्मान् दापयामि । तव स द्विजोऽनिशं स्नानकारी स श्वान स्कंधे वहति तत्र पुरे समायात । ततो भूपेन स (पण्डित) पृष्ट वृद्ध प्राह—लोभेनैकेन बूडति । राज्ञोक्त कथ सोऽयम् धनलोभेनानीत श्वान स्कन्धे व्यूढ । ततो मस्तक गत राज्ञ समीपात् लक्ष दापित वृद्धेन तस्मै । इति एकेन ब्रूडतीत सम्बन्ध ॥५१७॥

[518] अथ माघसम्बन्ध ।

श्रीमालपुरे मुकुन्दपण्डितस्य पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सव कृत्वा वर्षशतमायुर्ज्ञात्वा षट्त्रिंशति सहस्राणि दिनानि ज्ञात्वा तावत्सङ्ख्यानि नाणकहारकानि पुत्रस्यार्थे कृतानि दिनं प्रत्येक हारं

1 तदि 2 सपदा पत्तिहेतु ।

व्ययिष्यति । ततः पितरि मृते स सशिखं हारं न्ययन् वृद्धत्वे दरिद्रथभूत् स माघपण्डितः एकं काव्यं भोजराजपार्श्वेऽप्रैषीत्—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदंभोजखण्डं, त्यजति [1]मदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं, हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥६॥

अस्य काव्यश्रुतेर्भोजो नवनवतिलक्षान् ददौ । तदपि माघऔदार्यत्वाद् ददौ ।

इति माघसम्बन्धः ॥५१८॥

[519] अथ धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ।

अवन्त्यां लक्ष्मीधरविप्रस्य द्वौ पुत्रौ जातौ । एको धनपालो द्वितीयः शोभनः । एकदा तस्य गृहे न्यस्तो निधिर्बहुविलोकितो न लभते, तदा गुरुपार्श्वे निध्यप्राप्तिस्वरूप कथितं लक्ष्मीधरेण । यदि मे निधिर्लभ्यते तदाहमेकस्य पुत्रस्य दीक्षां दापयामि । ततो गुरुणा दर्शितो निधिः । ततः शोभनस्य दीक्षा दापिता । शोभनो विद्वान् जातः क्रमात् पितरि मृते धनपालः पचशतपंडित-मध्ये मुख्योऽजनि । स्व भ्रातरं गुरुणा दीक्षित श्रुत्वा मिथ्यात्वग्रसितः साधून् पराभवति । ततः साधवस्तत्र अवंत्यां पुरि न यान्ति ।

इतः एकस्मिन् पुरे गुरवः प्राप्तास्तदा गुरवः साधून् तीर्थं च स्मारयन्ति । अवती नाम न गृह्णन्ति । तदा शोभनोऽवग् अवन्त्या. कथ नागतं ? गुरुभि. प्रोक्तं–तव भ्राता दुष्टः साधूनां पराभवं करोति । ततः शोभनो गुरूनापृच्छ्य अवन्त्यां स्वभ्रातुः प्रबोधायाचालीत् ।

ततोऽवन्त्या द्वारे यावन्गतः तावद् धनपालः संमुखो मिलितः । धनपालो हास्यात्प्राह, "गर्दभदंत भदंत नमस्ते ।" साधुः प्राह–मर्कटकास्यवयस्य ? सुखं ते । ततश्चातुरीं ज्ञात्वा धनपालोऽवग्, कस्य प्राघूर्णिकः ? साधुः प्राह, तवैव । ततः स्वगृहे उत्तारितः धनपालेन गोष्ठि कृता । शोभनवचसा प्रीणितोऽवग्—तव काप्यस्ति सांसारिक वर्गः । साधु' प्राहात्रैव । ततो धनपालेनोपलक्षितो भ्राता गृहे विहर्तुंमाकारयन् मोदका आनीता यदा तदा साधुना कस्मान्मक्षिका मृता दृष्टा, ततः प्रोक्त, न कल्पन्तेऽमी । धनपालोऽवग् विषमस्ति ? साधुनोक्त विषमत्र विद्यते । ततो ज्ञातं परंपरया वैरि-क्षिप्तं विषं, दधि आनीतं । साधु प्राह कियद्दिनीय । पंडितोऽवग्, त्रिदिनीयं ? इदमपि न कल्पते बुधोऽवग् अत्र किं जीवाः सन्ति ? ततः साधुना आलक्तकं प्रदानात् श्वेताः सूक्ष्मजीवा दर्शिताः । ततोऽन्यद् प्रासुकं आहार ददौ । बुधो दध्यौ मया ग्रन्था बहवो भणिताः पर न ज्ञाता जीवाः कुत्रोत्पद्यन्ते । स धनपालः श्राद्धोऽभूत्सम्यकत्वं जग्राह । तदा शोभनभ्रातुः पार्श्वे शोभनपण्डित-कृताः शोभनस्तुत्यादिग्रन्थावहवोऽन्ये च सिद्धान्ताद्याश्रिता ग्रन्था. धनपालेन पेठे । ततो जैनधर्म-स्वरूपमवगत्य जय जंतुकप्पपायवेत्यादि बहवो ग्रन्था धनपालेन चक्रिरे ।

इति धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ॥५१९॥

---

१. मुद

[520] अथ धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध इति सम्बन्धः ।

क्रमाद् राज्ञा धनपालः श्रावको जातो ज्ञातस्तत्परीक्षणार्थं पुष्पभृतां छब्बां ददौ धनपालहस्ते, प्राह च देवान् सर्वान् पूजय। स च सर्वान् प्रपूज्य समागतः। राज्ञा पृष्टः, देवाः पूजिताः। धनपालः प्राह, यत्रावसरोऽभूत् तत्र देवाः पूजिताः। राजाऽवग् अवसरः कुत्राऽभूत् कुत्र न? ततः स प्राह कृष्णपार्श्वे पत्नीं दृष्ट्वा शम्भोः पार्श्वे पार्वती, सूर्यपार्श्वे सावित्री, ब्रह्महस्ते जपमालां दृष्ट्वा ऋषभदेवं तु स्त्र्यादिरहितं दृष्ट्वाहमपूजयम्, ततो राज्ञा ज्ञातः धनपालः श्राद्धोऽभूत्। ततः प्रभुं पूजयित्वा धनपालः पठति ।

कतिपयपुरस्वामी कायव्ययैरपि दुर्ग्रहो, मतिवितरता मोहेनासौ मयानुसृतः पुरा ।
[1]त्रिभुवनगुरुर्बुद्ध्याराध्योऽधुना स्वपदप्रदः प्रभुरधिगतस्तत्प्राचीनो दुनोति दिनव्ययः ॥१॥

सव्वत्थ अत्थि धम्मो [2]जाव न पत्त जिणिंदसासणं ।
कणगाउराण कणगं व ससियपयं अलभमाणाणं ॥२॥

ततो धनपालः सर्वमिथ्यात्वं त्यक्त्वा जिनधर्मं चक्रे ।

इति धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध ॥५२०॥

[521] अथ हरिणवध–सरोवरवर्णन–यज्ञछागवर्णन धनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजभूपः पञ्चशतीपण्डितयुतः पापर्द्धिगतः तत्र एकं हरिणं एकेन बाणेन हतवान् राजा। ततः पण्डितैः सर्वैः राजा वर्णितः। धनपालस्तदा प्राह—

रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद् बलिनापि [ति] दुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥१॥

राजा रुष्टः पण्डितस्य दृष्टौ दृष्टिं ददौ। ततो राजा तटाके गतस्तत्रापि तटाके वर्णितेऽन्यपण्डितैः धनपालः प्राह—

एषा तटाकमिषतो वत[वर]दानशाला मत्स्यादयो रसवती प्रगुणा सदैव ।
पात्राणि यत्र बक–सारस-चक्रवाकाः, पुण्यं कियद्भवति तत्र वयं न विद्मः ॥२॥

तत्रापि द्वितीयदृष्टौ दृष्टिं ददौ। ततो यज्ञे एकश्छागो हन्तुमानीतोऽस्ति। स च ब्बू ब्बू करोति स्म। तदा सर्वैः पण्डितैः स वर्णितः। ततो राजाऽवग् पण्डितः। अयं किं कथयन्नस्ति? धनपालः प्राह—

(१) त्रिभुवनपतिः (२) जा मुणियं जिण न सासणं तुम्ह ।

नाहं स्वर्गफलोपभोगरसिको नाभ्यर्थितस्त्वं मया,
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं, साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गे[र्गे] यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो,
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥२॥

राजा विशेषतो रुष्टः धनपालस्य चक्षुषी कर्षयितु ध्यातवान् । धनपालः राज्ञः मनो जज्ञौ । राजा यावत्पुरद्वारे समागच्छति तावदेका वृद्धा नारी अंधा बालिकाहस्तविलग्ना कम्पमाना संमुखी आगता । तदा राज्ञोक्तं भो पण्डिता ! इयं जरती वर्ण्यताम् । ततः स्वस्वबुद्ध्या पण्डितै-रन्यैर्वर्णितायां तस्यां भोजोक्त धनपाल' प्राह—

एषा अन्धा स्त्री तु पृच्छति, बालिका प्रत्युत्तरं दत्ते । राज्ञोक्तं किं पृच्छति स्त्री, बालिका किं वक्ति च, धनपालोऽपाठीत्—

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं नलः किं कुवेरः,
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं विधुः किं विधाता ।
नायं नायं न चायं न खलु न हिं नवा नापि नाऽसौ न चैषः,
क्रीडा कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले भूपतिर्भोजदेवः

अमु काव्य श्रुत्वा भोज' प्रसन्नः प्राह, मार्गय । पण्डित धनपालोऽवग्, दृष्टी देहि मामकीने मह्यं । राजाऽवग् तव दृष्टी तव पार्श्वे स्तः । धनपालोऽवग् स्वामिंस्त्वया तु हरिणीवधे सरोवरवर्णने च मम दृष्टी कर्षितुं वाञ्छिते स्तः । ततो राजा हृष्टो दृष्टी दत्वा कोटिदान ददौ, प्राह च न्यायेन त्व सर्वज्ञपुत्रो जातः श्राद्धभवनात् ।

इति हरिणवध–सरोवरवर्णन–यज्ञछागवर्णन–धनपालसम्बन्धः ॥५२१॥

[522] अथ धनपालविरचिततिलकमंजरीसम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपेन धनपालः पृष्ट तवाधुना किं वैयग्र्यं विद्यते ? पण्डित आचष्टे अधुना मया श्रीऋषभदेवचरित्रं बध्यते । तेन मम परिवारो [व्यग्र] विद्यते ततो यदा क्रमात् पूर्णं चरित्र जातं ततो राज्ञोक्त वाचय ममाग्रे । ततो धनपालः प्रथम प्रति भोजभूपाग्रे वाचयितुमुपविष्टः । तत्र चरित्रस्यार्थं शृण्वन्भोजोऽमृतमिव श्रुतपुटैः पिबन् दध्यौ—अस्य चरित्रस्यार्थरसो मा भूमौ पततु एव ध्यात्वा पुस्तकस्याधः स्वर्णकचोलकं मंडयामास राजा । चरित्रार्थरसं भूपः पिबन् दिनं निशामपि व्यतीतान् नैव जानाति, प्रीणितः सुधयेव तु सपूर्णं चरित्रं श्रुत्वा राजा जगौ—यदि अयोध्यानगरीस्थाने अवन्ती स्थाप्यते भरतचक्रिस्थाने मां स्थापय । शक्रावतारतीर्थस्थाने महाकालप्रासाद स्थापय, आदिदेवस्थाने ईश्वरं स्थापय तदायं ग्रन्थो वर्यो भवति स्वर्ण–सुरभिवत्, एवं चेत्त्व कुरु तदा तुभ्यं कोटिस्वर्णस्य दीयते । श्रुत्वैतद् वचनं वज्राहत इव क्षण भूत्वा जगौ धनपालः—

मेरुसर्षपयो हंसकाकयो खरतार्क्ष्ययो । अस्त्यन्तरमवन्त्यादेरयोध्यादेश्च भूपते ॥१॥

एवं वदतस्तव जिह्वा त्रुटिता न ततो रोषेण प्राह पण्डित —

दोमुहय निरक्खर लोहमईय नाराय तुज्झ किं भणिमो ।
गुञ्जाहि समं कणय, तोलतो किं न गओसि पायालं ॥२॥

इत्याद्युक्त्वोतां प्रतिं वह्नौ चिक्षेप। ततो दूनेन नृपेणोक्तं भो पण्डित किमीदृक्षमविमृश्य त्वया कृत, एवंविध चरित्रमिदानीं कोपि कर्तुं न शक्नोति । मया तु शिवभक्तेनैव जल्पित दृष्टिरागत्वात् यत —

"दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद सतामपि ।" त्व तु जैनधर्मज्ञोऽसि, तेन तव जैनमतं रोचते पुनर्मयाऽसतो न ज्ञातोऽधुना कस्य किं रोचते । धनपालोऽवग् मया ज्ञात राजा तु सर्वतत्त्वज्ञो विद्यते । कथमेव वक्ति अतो मम रोषो जातः । तेन रोषेणैव कृत मया रोष-चाण्डालः किं किं न करोति यत —

कोहो पीइ पणासेइ माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

तत उत्थाय कृष्णमुख स्वगृहे समागत पण्डित । पुत्र्या तिलकमञ्जर्या पृष्ट तात[1] किं दुःख पित्रा प्राक् स्वचेष्टित मया तु रभसा प्रथममप्रतिबद्धो क्षिप्ता रुषा, सहसा न विमृष्ट। पुत्री प्राह लब्धवती ग्रन्थ मम मुखे समेति । मया पूर्वमेकशो वाचिताऽभूत् । ततो हृष्ट पण्डित पुत्रीमुखात् पुन प्रतिलिखित्वा तस्य चरित्रस्य तिलकमञ्जरीति नाम दत्त । तत क्रमान् तिलकमञ्जर्या पंडितपुत्र्या एकसन्धिकया ग्रन्थ कथित । पितु पुर एव ज्ञात्वा भूपोऽपि जगौ साक्षात्सरस्वती सा या एवं वेत्ति ततो राज्ञा द्वितीयनाम सरस्वतीति दत्तम् ।

इति धनपालविरचिततिलकमञ्जरीसम्बन्धः ॥५२२॥

[523] अथ "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ।

ततोऽन्यदा रुष्टो धनपालोऽन्यत्र ग्रामे गत । अन्यदा भोजसभायां धर्मनामा पण्डितो विद्वान् विदेशात् वाद कर्तुं समागत । स च पञ्चवर्गेण वादं कर्तुं प्रतिज्ञां चक्रे । य सभायां विज्ञो भवति स मया सम वाद करोतु । यदा कोऽपि तेन सम वादं कर्तुं न शक्नोति तदा धनपालः स्मृत । तत स्वमुख्यमन्त्रिण धनपालमाकारयितु प्रेषित । धनपालः सन्मान्य समानीतो भोजपार्श्वे । भोजेन मानितो बहुमानदानात्, प्रोक्तं च यन्मया अवन्तीस्थाने अयोध्या स्थापयेत्यादि जल्पित तत् क्षम्यताम् । ततो मिथो द्वाभ्यां क्षमित । सभायां धनपालधर्मपण्डितौ समागतौ, मिथ प्रथमं कुशलालापादि कृतम् । ततो धनपालः प्राह आवाभ्यां वाद करिष्यते, केन संस्कृतेन प्राकृतेन वा पंचवर्गपरिहारेण पंचवर्गेण वा ? ततो धर्मो दध्यौ अधुना वक्तुं न युक्त, तत प्राह कल्ये आवाभ्यां वाद पंचवर्गेण करिष्यते । तत स्वस्वस्थाने गतौ, रात्रौ धर्मो दध्यौ-धनपालस्य भारती पुष्टास्ति जैनमन्यस्यापि पठने अभ्यासोऽस्ति । तेन यदि वादे हारयिष्यते मया तदा

---

1 त्वयेति ।

मम का गतिः। ततो रात्रावेव नष्टो धर्म्मः। प्रातः राजा सभायां वादं श्रोतुमागतः। धर्मं पण्डित नष्टं श्रुत्वा धनपालोप्यागतः। यदा राज्ञा धर्ममाकारयितुं जनः प्रेषित. धर्म्मो न लब्धः, नष्टो ज्ञातः तदा धनपालः प्राह—

धर्मो जयति नाधर्म्म इत्यलीकं कृतं वचः।
इदं च सत्यतां नीतं धर्म्मस्य त्वरिता गतिः ॥१॥

ततो जयजयारावो जातः। धनपालागमनादेव धर्मपण्डितो नष्टः।

इति "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ॥५२३॥

[524] अथ चौरवलयदाने भोजसम्बन्धः।

एकदा भोजः कस्यचिद् द्विजस्य रोरस्य गृहसमीपे रात्रावेकाकी समागात्। तदा एकः स्तेनः तस्मिन् [गृहे] प्रविष्टः तदा ब्राह्मणी प्रबुद्धा पतिं प्रति प्राह—

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ, यदि वा स्वाङ्के गृहाणात्मजं।
रिक्त भूतलमत्र नाथ ! भवतः पार्श्वे पलालोच्चयः॥
दम्पत्योरिति संकथा निशि यदा चौरः प्रविष्टः तदा।
लब्धं [1]कार्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन् निर्गतः ॥१॥

बहिरागतश्चौर. प्राहोच्चै. स्वरं ब्राह्मणं प्रति–निजउदरपूरणेऽपि हि न समर्था येऽवतारिता किं तैः। विप्रोऽवग्—सुसमर्थैरपि किं तैर्ये न परोपकारिणो ऽत्र। तत. तस्मै तस्कराय राजा निजं वीरवलयं ददौ प्राह–इदं बहुमूल्य कृपया मया तुभ्य दत्तं यत.—

चौरस्य करुणं ज्ञात्वा भोजः प्रमुदितो निशि।
ददौ स वीरवलयं रयात् कुवलयेश्वरः ॥२॥

इति चौरवलयदाने भोजप्रबन्धः ॥५२४॥

[525] अथ खण्डप्रशस्तिकाव्यानयनसम्बन्धः।

एकः कोऽपि यानवाहक. समुद्रमध्ये यानारूढो चलत् यानं स्खलितं। तत्रैका भित्तिर्दृष्टा, सा च लंकायाः। ततस्तत्रजलेऽपसरिते काव्यानि खण्डप्रशस्तिसम्बन्धीनि ददर्श। तथाहि—

मत्स्यः कूर्म्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च [ते] वै दश ॥१॥ इत्यादि

१–वस्त्रम्।

आवाल्याधिगमान्मयैव गमित कोटिं पराद्धमते-
स्त्वत्सक्थयैव पार्थिवसुत सम्प्रत्यसौ लज्जते ॥
इत्थं खिन्न इवात्मजेन यशसा, दत्तावलम्बोम्बुधेः-
र्यातस्तीरतपोवनानि तपसे, वृद्धो गुणाना गणः ॥२॥

इत्यादि काव्यानि गृहीतवान् स तदा चैक काव्य अद्धमपतो यावद् वाचित तावद् द्वारि समागत—

"इह [अयि] खलु विषम पुराकृताना भवति हि जंतुषु कर्म्मणां विपाक ।"

तत तानि काव्यानि तेन भोजस्यार्पितानि । तत भोजेन सर्वषां पण्डिताना पुर प्रोक्तं योऽस्य काव्यस्याग्रेतन पदद्वय कथयिष्यति तस्य बहुधन दातव्य । ततो न केनापि काव्य पूर्णं कृतम् । ततो धनपालेनाग्रेतनमद्ध प्रोक्त—

हरशिरसि शिरांसि यानि रेजुर्हरिहरि तानि लुठन्ति गृध्रपादे ॥३॥

ततः समुद्रयानपात्रप्रेक्षणपूर्वं अग्रेतन पदद्वयमानीत यादृग्धनपालेन प्रोक्तं तादृगेव, ततो राजा हृष्टो भूरि लक्ष्मीं ददौ । इति खण्डप्रशस्तिकाव्यानयनसम्बन्ध ॥५२५॥

[526] अथ एकं वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्तीत्यादिसम्बन्धः ।

एकदा भोजो नृप पत्तने भीमनृपस्य पुर स्वमन्त्रिण प्रेषयामास । स च भीमस्य पुर प्राह्-भोजराजराज्ञश्चत्वारि वस्तूनि विलोक्यते स प्राह-१ एक वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्ति । २ एक वस्तु अत्र नास्ति परत्रास्ति । ३ एक अत्रास्ति परत्राप्यस्ति । ४ एक वस्तु अत्र नास्ति परत्रापि नास्ति ।

ततो राज्ञा मन्त्रिणामग्रे प्रोक्त वस्तुचतुष्टय भोजेनानायित प्रेष्यताम् यद् भोजेनानायितं तेषु तत्कोऽपि सम्यग् न वेत्ति । तत एक धीरम नामा सुभट्टः प्राह्-वस्तु चतुष्टयमह तत्र नेष्यामि यथोदेशो दीयते स्वामिना । ततो राजा हृष्टोऽवग-याहि । स तत प्रच्छन्न वस्तुचतुष्टय लात्वा महार्तं साथ कृत्वाऽवन्त्यां चलित राज्ञो ज्ञापित स्वागमन । ततो राजा सायंमध्ये आयात आसने उपविष्ट, पृष्टं राज्ञा, वस्तुचतुष्टय आनीत ? मन्त्रिणोक्त-आनीत । राज्ञोक्त प्रथम वस्तु दर्शय । ततो वेश्या दर्शिता । राजा प्राह् एवंविधा अत्र परत्रापि सन्ति । मन्त्री प्राह् अस्या धनभोगेन इहलोकोऽस्ति परलोको नास्ति ।१। द्वितीयवस्तुनि प्रोक्ते साधवो दर्शितास्तेषां परीषहसहनेनेह लोको नास्ति स्वर्गप्राप्त्या परलोकोऽस्ति ।२। तृतीयवस्तुनि श्राद्धा ये पुण्यवन्तो देवान् पूजयन्तो दर्शिता तेषामिह परत्रास्ति अत्र सुखिन परत्रापि सुखिनः ।३। चतुर्थ वस्तुनि प्रोक्ते द्यूतकृतो मिथोऽत्यन्तं कलिं कुर्वाणा दर्शिता तेषामत्र नास्ति परत्र नास्ति ।४। राजा चमत्कृत प्राह्-यदुच्यते पत्तने सर्वं लभ्यते तत्सत्य तत स मन्त्री सन्मानितो वस्त्राभरणादि दानात् । इति एक वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्तीत्यादि सम्बन्धः ॥५२६॥

[527] अथ कपालत्रयपरीक्षासम्बन्धः ।

एकदा पत्तनाद् डामरमन्त्री भोजभूपपार्श्वे कपालत्रयमानीतवान् । राजाऽवग्-मंत्रिन् । किमर्थं इदमानीतमस्ति ? मन्त्री प्राह, स्वामिनः सन्ति बहवो बुधास्ते परीक्षामेतेषां कुर्वन्तु । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामरेण एकस्य कपालस्य कर्णे दवरकः क्षिप्तो वक्त्रेण निर्गत, द्वितीयस्य कर्णे क्षिप्तः कर्णेऽन्यस्मिन् निर्गतः । तृतीयस्य कर्णे क्षिप्तः कण्ठे निर्गतः । ततो डामरोऽवग्, भावार्थोऽस्य कथ्यतां । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामरः प्राह । १-यस्य कर्णे गुणः क्षिप्त. वक्त्रेण निर्गत तस्य कपर्दिमूल्यं । श्रुतमात्रस्य दोषादेर्यथा तथा जल्पनाद् । २-योऽस्य गुणः कर्णे क्षिप्तः कर्णे निर्गतः तस्य लक्षमूल्य, यतो दोष विस्मारयति श्रुतमश्रुत करोति । ३-यस्य गुण. कण्ठे क्षिप्तः कण्ठस्याऽधो गत. तस्य मूल्यं न, यतो हृदये दोषादि स्थापयति । एव त्रिविधाः मनुष्याः कपालसदृशा भवन्ति, अतो भूपतिभिरन्यैरपि लोकैर्वर्यकपालवत् स्थेयं । इति कपालत्रयपरीक्षासंबंधः ॥५२७॥

[528] अथ भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ।

अवन्त्यां भर्तृहरिराजराज्ये एको विप्रो मुकुंदो निःस्वो देवीं लक्ष्मीहेतवे आरराध । तया तुष्टया तस्याल्पपुण्यं मत्वा बीजपूरं ददे । प्रोक्तं च गृहाणेदं अनेन बहु जीव्यते नीरोगता च भवति । तव भाग्य नास्ते अतो बीजपूर दत्तमस्ति । स च विप्रो गृहे नीत्वा भोक्तुमिच्छन् दध्यौ । इद बीजपूरं बहुजीवितदायितेन य उपकारी जगदाधारः स्यात्तस्य [तस्मै] दीयते । एवं विमृश्य राज्ञे दत्त । प्रभावोऽप्युक्तः देवीप्रोक्तः । राजा तदादाय तस्मै पारितोषिकं दत्वा भोक्तुमुपविष्टो दध्यौ, मम बहुजीवितेन किं अभीष्टायै राज्यै दत्तं, भूपेन प्रभाव प्रोक्त । तया ध्यातं मम बहुजीवितेन कि ? ततस्तया अभीष्टस्य हस्तिपकस्य प्रभावकथनपूर्वं दत्तं । हस्तिपकेन ध्यातं मम बहुजीवितेन किं ? अतो मया अभीष्टायै वेश्यायै दीयते ततस्तस्यै दत्तं, वेश्यया ध्यातं ममानेन भक्षितेन किं प्रजापालाय भूपाय ददामि । ततो वेश्यया भर्तृहरये दत्तं । भर्तृहरिस्तत्फलमुपलक्ष्य चकित. । पत्न्यादि-पृच्छनतः फलागमनसंबंध ज्ञातवान् । ततोऽसारससार मत्वा प्राह-

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिग् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति, निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्, किन्नाम वाम-नयनान समाचरन्ति ? ॥२॥

एव ध्यात्वा तृणवद् राज्यं त्यक्त्वा भर्तृहरिर्व्रतं जग्राह—

इति भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ॥५२८॥

[529] अथ विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ।

विक्रमार्को भ्रमन्नन्यदा भट्टमात्रयुतो रोहणगिरौ गतः । तत्र रोहणगिरौ यो 'हा दैवमिति'

प्रोक्त्वा [प्रोच्य] घातं ददाति रत्नं सपादलक्षं लभते। विक्रमार्कः साहसी यदा हा दैवमिति न वदति घातं ददाति । भट्टमात्रस्तदा छलादाह भव माता मृता श्रुता। एवं श्रुत्वा विक्रमार्के हा दैवमिति वदन् भालमाहत्य कुद्दालमधस्तात्ढमाहतवान् ,तदाऽकस्माद्रत्नं प्रादुरासीत् । भट्टमात्रो रत्नं विक्रमार्कहस्ते मुक्त्वा प्राह तव माता कुशलिन्यस्ति । मया रत्नप्राप्तिनिमित्तं भवान् [एवं] कारितोऽत्रैव ततो रत्नं अधः क्षिप्त्वा विक्रमार्क प्राह—

"धिग् रोहणं गिरिं दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय य ॥१॥"

ततो रत्नं तत्रैव त्यक्त्वा तापीतीरे समागतस्तत्र रात्रौ शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवक् एषा शिवा वक्ति नदीप्रवाहे [तीरे] साभरणा स्त्री मृता पतितास्ति [स] तत्र गत्वा तां तथा वस्थां दृष्ट्वा निर्लोभात् त्यक्त्वा पश्चात् सुप्तः । पुनः शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवग् एषा शिवा वक्ति विक्रमार्कस्य मासे प्रति अवन्त्यां राज्यं भविष्यति ततोऽप्रतस्खलितो वत्मनि भर्तृहरिराज्य स्वरूपं ज्ञात्वा भट्टमात्रं प्रति प्राह यदि राज्यं भवति तदा त्वं मे प्रधानः । ततोऽवधूतवेषभृत् चचाल अवन्त्यामागतः । तदा तत्र यो यो राज्ये निवेश्यते तं तं साऽग्निवेतालो मारयतीत्यादि मत्वा कोऽपि राज्ये नोपविशति। एवं श्रुत्वा विक्रमार्को मन्त्रिपार्श्वे प्राह अहं वैदेशिकोऽस्मि यदि मेले (समेले) समेति च तदाहं राज्ये उपविशामि । तैरुक्तोऽग्निवेतालसम्बन्धः। ततो मन्त्रिभिः मीलिते विशेषबलिं कारयित्वा राज्ये उपविष्टो रात्रौ शय्यायां निर्भीः स्थितो। वेतालः समागात् हन्तुं । विक्रमार्को जगौ मे कृतबलिं विलोकय पश्चादहं हन्तव्य । ततः स बलिं दृष्ट्वा हृष्टो जगौ त्वं राजाऽत्र भव चिरं सदैव बलिः कार्यः । भूपोऽजग् एवं भवतु । ततो वेतालो गतः प्रातः जीवन्तं तं दृष्ट्वा हृष्टा मन्त्रिणः । द्वितीयदिने बलिं कृत्वा अपृच्छत् मम कियदायुः । ततस्तेनोक्तं वर्षशतं। ततो जगौ विक्रमार्क ९९ वर्षाणि कुरु अथवा १०१ । स प्राहाधिकं न्यूनं न भवति। ततोऽप्रेतने दिने बलिमकृत्वा वेतालं जित्वा स्वसेवकं राजा चक्रे । ततः स्वरूपं प्रकटीकृत्य मन्त्रिणो मोदयामास । भट्टमात्रं प्रधानं कृतं । इति विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५२९॥

[530] अथ प्रथमस्वर्णपुरुषप्राप्तिविक्रमार्कसम्बन्धः ।

अवन्त्यां एकेनेभ्येन पुत्राकं कमस्थाय कारयता महानावासः कारितः । स च देवताधिष्ठितोऽभूत् एकदा शुभमुहूर्ते इभ्यं वसितुं रात्रौ स्थितो यावत् आवासे वक्त्यूर्ध्वं "पतामि पतामि" इभ्यो बिभ्यत् प्राह मा पत । एवं सदाऽवासो वदति आऽयो वसति तस्य पुरोऽप्येवं वदति तस्मात् स शून्य एव स्थितः । ततो राज्ञा विक्रमार्केण ज्ञातं । तत् दत्वेभ्याय आवासो गृहीतः रात्रौ सुप्तस्तस्मिन्नावासे यावदावासो जगौ पतामि २ विक्रमार्क अतीव साहसी प्राह स्वर्णमयो भूत्वा पत। ततो विक्रमार्कसाहसात् अधः स्वर्णपुरुषः पपात । प्रातर्महोत्सवपूर्वं स्वर्णपुरुषं तत्रैव स्थापयामास । प्रतिदिनं मस्तकं मुक्त्वा छेदं छेदं स्वर्णं गृह्णाते रात्रौ तादृगेव ।
एवं प्रथमस्वर्णपुरुषप्राप्तिः विक्रमार्कसम्बन्धः ॥५३०॥

[531] अथ विक्रमार्क द्वितीयोरैनर प्राप्ति सम्बन्धः ।

एकदक योगी धूर्त्त कपटेन विद्या साधनाय विक्रमार्कमेकाकिनं श्मशानेऽनैषीत्। तत्र तेन ज्वलदंगारभृतं कुण्डं कृतहोम कर्तुं लग्न। ततो मायावी योगी प्राह उत्तरदिग्भागस्थशिंशपावृक्ष-शाखावलंबितं शवमानय यथा तेनात्र होमः क्रियते। ततो विक्रमार्कः शवग्रहणाय तत्र वृक्षे गतो यावद्वृक्षमारुह्य शवं हस्ते गृह्णाति तावदग्निवेतालो विक्रमार्कस्य विघ्न भवत् ज्ञात्वा शवमधिष्टाय प्राह प्रथम मम पृष्टस्यात्तरं देहि। ततो नय, तत्र पञ्चविंशति कथाभिर्वेलातिक्रम कृत्वाऽचष्ट शव मां त्वं तत्र नयन्नसि, परं त्वया तस्य योगिनो विश्वासो न कार्यः। तत स शवं स्कन्धे कृत्वा तत्र गतः योगिनोऽग्र मुमोच, योगी तु विक्रमार्कपार्श्वात् शवस्य पादसंवाहनं कारयन् विक्रमार्कं द्वात्रिंशल्लक्षणलक्षितं कुण्डे चिक्षिपन रैनरं मिसाधयिषु. मंत्रजापहोमपरो यावद्वि-क्रमार्कं कुण्डे क्षिपति तावद् विक्रमार्केण स योगी कुण्डे क्षिप्तः सन् स्वर्णनरो जात ततस्तमपि रैनर सुमहोत्सव स्वपुरमध्येऽनैषीन्नृप। इति विक्रमार्क द्वितीयो रैनरप्राप्तिसम्बन्धः।

[532] अथ औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः ।

एकदैक इन्द्रजालिक एक करे खड्गं द्वितीयकरे स्त्रिय दधानो ब्रह्मायुर्ब्रह्मायुरिति वदन् विक्रमार्कसभायां समेत्य प्राह—

राजन् ! सारं द्वयं मन्ये, रमारामे अहं स्फुटं ।
भारतीं केऽपि मन्यन्ते, तन्मे न रोचते मनाग् ॥१॥

रमारामे यः पश्यति स गृह्णाति एव त्व तु परस्त्रीपराङ्मुखः श्रुतः तेनाहमिमां पत्नीं तव पार्श्वे मुक्त्वा स्वर्गे [स्वर्गं] यास्यामि। तत्र अद्य देवदानवयोर्युद्ध भविष्यति अहमाकारितो-ऽस्मि, ततः स भूपपार्श्वे पत्नीं मुक्त्वा व्योम्नि चचाल। सा चान्त पुरे स्थापिता भूपेन।

इतः क्षणान्तरे आकाशे रणतूर्याणि वाद्यमानानि राजा शुश्राव। प्राह च, अहो तेन पुरुषेण व्योम्नि गतं इन्द्रसाहाय्यार्थं, क्षणान्तरे वैतालिकस्य पदहस्तमस्तकादयः देहावयवाः सभाया पेतु। ततः सा स्त्री तत्रागताऽवग्, मम भर्ता मृतः, तस्य देहावयवा अमी, अह अनेन समं वह्नौ प्रविशामि। ततो वारिताऽपिसा तैरवयवै समं वह्नौ प्रविष्टा। क्षणान्तरे स एव वैतालिकः समागात्। पत्नीं याचते स्म। राज्ञोक्तं तव पत्नी त्वां मृतं ज्ञात्वा वह्नौ प्रविष्टा। स प्राह, कूटं किं जल्पते भवतामन्तःपुरे स्थापिता मां वञ्चयितुं मैवं वदन्नस्ति। ततोऽन्तःपुरे ता दृष्ट्वा राजा कृष्णमुखो-ऽभूत्। ततो वैतालिक. प्राह, मयेदं इन्द्रजालिक विद्या तव दर्शित। ततो राजा तुष्टः तस्मै वैतालिकाय दान ददौ।

अष्टौ हाटककोट्यस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः,
पंचाशन्मदगन्धलुब्ध[१]मधुपक्रोधोद्धुराः सिन्धुराः।

(१) मत्त

[१]लावण्यावयवप्रपञ्चितदृशां वारांगनानां शतं,
दण्डे पाड्यनृपेण ढौकितमिदं वैतालिकस्यार्पितं ॥१॥

इति औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः ॥५३२॥

[533] अथ दुष्टास्त्रीविषये मयूरिकासम्बन्धः ।

कोकिलपुरे कोकिलकौलिकस्य मयूरिका पत्नी स्वेच्छाचारिणी वारितापि गृहे न तस्थौ । एकेन वचसा वाक्यं शतं च प्रतिजल्पति । एकदा मित्राय कोकिलोऽवग् यदि पत्नी सन्ध्यायां गृहे न समेष्यति तदा तव [तस्यै] शिक्षा दास्यते । यथा [मित्रेण] इक्षितापि पत्युर्वचो न कुरुते । कोकिलो रुष्टोऽन्यदा रात्रिघटिचतुष्के गते पत्नीमनागतां ज्ञात्वा गृहस्य अररिं दृढं दत्वा मध्ये स्थितो दध्यौ । अद्य रजाया गृहे प्रवेशं न दास्ये तदा सा भ्राम भ्राम श्वसुरे गृहं समायाता द्वारं दत्तं दृष्ट्वा पतिं मध्ये स्थितं ज्ञात्वा प्राह । पते ! द्वारमुद्घाटय । स च हुंकारकं करोति, द्वारं नोद्घाटयति वक्ति च त्वं च मयोक्तं न कुरुषे, अतो नोद्घाटयामि द्वारं, पत्नी प्राह—कीटिकाया उपरि किं कटकं ? इत्यादि जल्पिते यदा कान्तो द्वारं नोद्घाटयति तदा द्वाराद्बहिरासन्नकूपिकापार्श्वं प्रौढं प्रस्तरं मुक्त्वा जगौ—कांत द्वारमुद्घाटय, नो चेदहं कूपिकायां पतिष्यामि । एवं तया प्राक् यदा पत्या द्वारं नोद्घाटितं तदा कूपिकायां पतिष्यामीति जल्पन्ती प्रस्तरं कूपिकामध्ये चिक्षेप स्वयं तु पार्श्वे छन्नं स्थिता द्वारस्य, सच्छुबकं श्रुत्वा पत्नीं कूपिकायां पतितां ज्ञात्वा सद्यो द्वारमुद्घाट्य कूपिकापार्श्वेऽभ्येत्य प्राहोच्चैस्वरं पत्नि ! निस्सर लोका मिलिता मञ्चिकामध्ये मुक्ता पत्नि ! मञ्चिकायामुपविश्य बहिर्निस्सर, इतः सा मयूरिका गृहमध्ये प्रविश्य प्राह तव पिता कूपे पतति अहं तु न [एवं द्वारं पिहितवती" तदा स च जगौ] यदि शक्तिर्भवति तदा द्वारं उद्घाटय अहं किमपि त्वयि प्रतिकूलं न करोमि, यथेच्छं कुरु । लोकैरुक्तं उद्घाटय उद्घाटय, सा जगौ अद्य प्रभृति अहमुत्सूरे [सवारे वा] सन्ध्यायामागत्य स्थास्याम्यामि अतः परं मम न करोति प्रतिकूलं तदा द्वारमुद्घाटयामि ततस्तेनाक्षरेषु दत्तेषु तया द्वारं उद्घाटितं । एवं दुष्टास्त्रीविषये मयूरिकासम्बन्धः ॥५३३॥

[534] अथ [२]राटिविषये सोढीसम्बन्धः ।

पद्मपुरी सोढी नारी कलिं सर्वैः साद्धं करोति । कलिं विना तस्मिन् दिने धान्यं न जीयति । ग्राममध्ये तया सह कोऽपि न जल्पति । ततोऽन्यदा प्रातः प्रातिवेश्मिकगृहे प्राघूर्णिका समायाता, ततस्तया ध्यातं अद्य को बहिः राटिं कर्तुं यास्यति । अनया प्राघूर्णिकया सार्धं राटिं करोमि । ततो दास्यग्रे तया प्राघूर्णिकायां शृण्वन्त्यां प्रोक्तं, भा दासि ! शीघ्रं क्षिप्रचटं रधय । ग्रामे गमिष्यते एकमानकधान्यमध्ये पंचमानकमितं लवणं क्षिप । तथ क्षिप्रचटो भवति त्वरितं प्रष्ठावाहं सज्जीकुरु ! तमारुह्य गमिष्यते प्राघूर्णिका प्राह भगिनि ! एवं अयुक्तं किं जल्पसि, मानक

---

(१) प्रधानामयुतं प्रपञ्चचतुरं । (२) कचीओ लड़ाई ।

मध्ये पंचमानकलवणक्षेपणं। सोढी प्राह रे रंडे ! किं अहं तव पित्रा जनितास्मि यन्मां भगिनीं वदसि । रंडा धान्येन न ध्रायते परगेहस्यतप्तिं [तातिं] कुरुषे। भगिनीं मां वदती त्रिजातां मां कथयिष्यसि गाली [छलात्] एवं यद्यत्प्राघूर्णिका वदति तत्तत् खण्डयति, ततः प्राघूर्णिका मौनं कृत्वा नष्टा गता। ततः कोऽपि तया समं न वदति। ततः साऽन्यस्मिन् पुरे गत्वा चतुर-हट्टे तृणपूलकं घटं पयोभृत मुक्त्वा जगौ, यः को विद्वो वा भवति स मया सम वाद करोतु। नो चेत्तृणपूलक भक्षयतु। पानीय पिबतु, तत कोऽपि वाद न करोति यदा राज्ञा पटहो वादितस्तया सम यो वाद कृत्वा जय लभते तस्मै ग्राममेकं दीयते. तत. श्रेष्ठिवधूः पटह पस्पर्श। श्रेष्ठिप्राह मम वधूर्जल्पितुं न जानाति। ततो वधूः प्राह। तात, तव प्रासादादहं जेष्यामि। ततो राज्ञोग्रे सर्वे आयाताः श्रेष्ठिवधूः प्राह, भो सोढि, त्वं कया रीत्या वादं करिष्यसि, एक दैवसिक्या, षाण्मासिकया, सांवत्सरिकया, यावज्जीविकया वा ? सोढि प्राहाह विकल्पान् न जाने ततस्तयोक्त कथ तर्हि त्वं वाद करिष्यसि ? यदि विकल्पान न वेत्सि, विकल्पान् विना वादो न भवति। तदा लोकैराद्यावेव सोढी हसिता। तत' सोढी प्राह—राटिका[१] दैवसिकी कथ कथ्यते। सा श्रेष्ठिवधू प्राह—भाटकेन शकट गृह्यते तस्मिन् नारीद्वयमुपविशति भाटक दत्वा, तदा एका वदति त्वया सकल शकटं रुद्ध। एक वदति यद्वा तद्वा जल्पसि ? अपरा वदति त्वमपि एका—त्व परतातिं करोषि अन्या-वदति त्वमपि इत्यादि कलिं कुरुते, द्वे अपि सन्ध्यां यावत् साय शकटादुत्तरितयो' राटिर्निवर्त्तते एषा प्रथमा दैवसिकी राटिः ॥१॥ साध्यं क्षेत्र द्वाभ्यां क्रियते यदा तदा यावद् धान्य गृहे नायाति तावद् राटिर्भवति षाण्मासात्तु धान्य गृह्यते ततो द्वावपि राटिं न कुरुतः ॥२॥ यदा पाटक पट्टको गृह्यते द्वाभ्यां तदा वर्षं यावत् एकामाषाढीमारभ्य द्वितीयामाषाढीं यावत् राटिर्भवति ततो निवर्त्तते राटिः ॥३॥ एकस्य पुरुषस्य द्वे पत्न्यौ यदाजायेते तदा यावज्जीवं ते द्वे कलिं कुरुत' स्म, अतो यावज्जीविकाराटिः ॥४॥ श्रेष्ठिवधूचातुर्यं दृष्ट्वा मान मुक्त्वा सोढी श्रेष्ठिवधूपदयोः पतित्वा प्राह मयात्र हारितं त्वया जितं तत श्रेष्ठिवधू भूपपार्श्वादेकं ग्रामं प्राप्य सूत्सव (सोत्सव) स्वगृहे समायाता।

इति राटिविषये सोढीसम्बन्धः ॥५३४॥

[535] अथ सिद्धराजप्रशंसितभोजन श्रीहेमसूरिसम्बन्धः।

एकदा श्रीसिद्धराजजयसिंहो यात्रायां चचाल, साद्धं श्रीहेमसूरयोऽप्याकारिताः। वर्त्मनि गुरून्प्रति राजा प्राह—भगवन्, रथे उपविश्यतां, दुष्कर पादसचरण, गुरुः प्राह—साधूना रथोपवेशन पापनिबन्धन।

पद्भ्यामध्वनि संचरेयमनिशं भुञ्जीत भैक्ष्यं सकृत्
जीर्णं [२]वासो वसाय[३] भूमिवलये रात्रौ शयीय क्षणं।
निःसंगत्वमधिश्रिये वसुमती—मुद्वासयेयानिशं,
ज्योतिस्तत् परमं दधीय हृदये कुर्वीय किं भूभुजा ॥१॥ उक्तं च—

१ कजीओ लडाइ, २ सिकनिवसीय, ३ वरणीतल गतो।

गुरुप्रसादिवान् राजन्! यतीनां नैव युज्यते ।
परपीडाकरत्वेन वाहनाद्यधिरोहणम् ॥२॥

एकदा सूरिं चारां [गोचरचर्यां] कुर्वाणं राजा ददर्श । तदाचाम्लानि कुर्वाणाः साधवो दृष्टाः [राज्ञा यत] । बहिःस्थितेन श्रीसिद्धहेमाभूता सूरिरैक्ष्यत काञ्जिकेन समं भैक्ष्यं भुञ्जानं सपरिच्छदं । ततो राजा जगौ—

तप्यतेऽमी [तपस्यमी] तपः कीदृग् महात्मानं यदन्वह ।
अश्नन्त्यन्नं जलक्लिन्नं मार्गे चाङ्घ्रिप्रचारिण ॥३॥
तदन्यजन्मसामान्यधियाऽमी माननाधिता ।
नापमान्या मया किन्तु, मान्या एव महेश्वरवत् ॥४॥

इति सिद्धराजप्रशसितभोजन श्रीहेमसूरिसम्बन्ध ॥५३५॥

[536] अथ हलदानस्थापकद्विजसम्बन्धः ।

एकदा कृष्णविप्र कृषि मण्डयामास सदा हलं खेटयतोऽन्यदा हलं भग्नं तदा ध्यातं किं करिष्यामि हलं भग्नं दिनं पतिष्यति ततो नन्दनस्याग्रे विप्र प्राह, देवचन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वाद् हलं आनयिष्यामि । पुत्रोऽवग् स मुधा हलं नार्पयिष्यति । पिता प्राह—मम विश्वस्त तदा यदा तस्य पार्श्वाद् मुधाऽथवचनेन हलमानयिष्यामि ततः स विप्रस्तस्योपान्ते गत उपदेशं ददाविति । हलदानं स्वर्गाय भवति यत—

हलाया दीयते दानं खादिर्यास्तु विशेषत ।
हलदानप्रदानेन स्वर्गे हलति भक्षति ॥१॥

श्रुत्वैतत् तेन हलं दत्तं । स च विप्रो हलं क्षेत्रे गत्वा [सूनवे] सूनोददौ प्राह च मुधेदं हलमानीतं मया । इति हलदानस्थापकद्विज सम्बन्ध ॥५३६॥

[537] अथ स्वहस्तदत्तफलविषये वस्तुपाल सम्बन्ध ।

एकदा वस्तुपालमन्त्रिण पुरो गुरु प्राह—यत् स्वहस्तेन दीयते तद् प्राप्यते परहस्तदानस्य फलं न भवति । उक्तं च—

यद् वस्तु दीयते भावात्, तद् सहस्रगुणं भवेत् ।
यद् दत्तं सुकृतं पुण्यं, पापे पापं च तद्गुणं ॥१॥

---

१ प्रतारण ।

किंचान्यद्दीयते यद्दद्, धनिकस्यापचीयते ।
सुकृतं दीयमानं तु धनिकस्योपचीयते ॥२॥

श्राव्यते सुकृतं यावत्प्रान्तकालेऽपि तावतः ।
निजश्रद्धानुमानेन सदेवा न श्रुतेः फलं ॥३॥

ततः श्रावयिता पश्चाद्विधत्ते मानित यदि ।
तदा सोप्यनृणः पुण्यभाग् भवेदन्यथा न तु ॥४॥

अश्रावितोऽपि श्रद्दत्ते सुकृतं यः क्वचिद् गतो ।
जानन् ज्ञानादिभावेन, सोऽपि तत्फलमाप्नुयात् ॥५॥

अन्यदा सुकृतं तन्वन्, स्वजनः स्वजनाख्यया ।
व्यवहारप्रीतिभक्तिः एवं ज्ञापयति ध्रुवं ॥६॥

स्वहस्तेन यद्दत्तं लभ्यते तन्न संशयः ।
परहस्तेन यद्दत्तं लभ्यते वा न लभ्यते ॥७॥

अतएव पुण्यवद्भिः स्वहस्तेन धनं व्यपनीयं, श्रुत्वैतन्मंत्री समक्षेभ्यो धनं व्ययितुं लग्नः, गुरुभिः प्रोक्तं तथा व्यापारः कार्यो यथा प्रजा न सीदति, साधुवादः सर्वत्र जायते, तत् स्वस्यैव लभते । अतः पुण्यस्मारणविषये एक काव्य शृणु—

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशमुखवंद्योऽसि जगतां,
त्वयाऽग्ने ! दह्यन्ते चपलपवनप्रेरिततया ।
अमी किं विश्वेषामुपकृतिपरा साधुतरवो ।
यदेभ्यो भस्म स्यात्तदपि मरुतस्ते पुनरघां (?) ॥८॥

इद काव्यं श्रीउदयप्रभसूरिभणित वस्तुपालमत्री स्मरन् पाप न करोति ।

इति स्वहस्तदत्तफलविषये वस्तुपालसम्बन्धः ॥५३७॥

[६३८] अथ पुण्यलाभालाभसूचकवणिकत्रयसम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् त्रयो वणिजो निर्गता धनार्थं । एको मार्गे गच्छन् प्रथमे गतः पद्मपुरे । तत्र व्यवसाय कुर्वन् धनं बहु निर्गमयामास । उद्गरितं मार्गे समागच्छन् धाट्या मुषितमपर निर्गमयामास । द्वितीयो द्विगुण लाभं प्राप्यागतः । तृतीयो यावन्नात्वा गतस्तावलात्वाऽगत.

उक्त च—जहाय तिन्नि वणीआ, मूलं घित्तूण निग्गया ।
एगो तत्थ लभे लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१॥

एगो मूलं पि हारिता, आगओ तत्थ वाणीओ ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे विं आणह ॥२॥

माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे ।
मूलछेएण जीवाण निरयं तिरखत्तणं भवे ॥३॥

इति पुण्यलाभालाभसूचकवणिक्त्रयसम्बन्धः ॥५३८॥

[539] अथ कुसंसर्ग-सुसंसर्गदोषे शुकद्वयसम्बन्धः ।

एकस्यामटव्यां शुकद्वयं जनितं, वर्द्धितं। एकः शुको भिल्लेन जिनदत्तगृहे विक्रीतः। द्वितीयस्तु भिल्लैगृहीतः । श्रेष्ठिना धर्मशास्त्रं पाठितः भिल्लैः स्वकला शिक्षिताः । एकदा पल्लीभूपोऽश्वापहृत आगच्छन् शुकेन भिल्लानामग्रे प्रोक्तः भिल्ला धाविता राज्ञा निर्धारिताः । राजा जिनदत्तगृहे गतः, तत्र शुको वक्ति भूप आगतो भक्तिः क्रियते । ततो राजा प्राह—शुकस्याग्रे त्वमेवंविधो धर्म्मी एकः शुको भिल्लगृहे पापी दृष्टः स शुकः प्राह—

मातात्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनिभिरानीतः स च नीतो गवाशिभिः[1] ॥१॥

गवाशनानां स[2] गिरः शृणोति, अहं च राजन् मुनिपुंगवानां ।
प्रत्यक्षमेतद् भवतापि दृष्टं, [3]संसर्गतो दोषगुणा भवन्ति ॥२॥

एकइ ठामि वसंतडां एवड अन्तर होइ ।
अहिडंके [4]महीअल मरइ, मणिव जीवइ सहु कोइ ॥३॥

इति कुसंसर्गसुसंसर्गदोषे शुकद्वयसम्बन्धः ॥५३९॥

[540] अथ मित्रद्वयसम्बन्धः ।

मित्रद्वयं लक्ष्मीमर्जयितुं विदेशगतं तत्रैकः पञ्चाशद् दीनारानर्जयामास । द्वितीयः शतं, पश्चाद् चलितौ स्वपुरप्रतोल्यामागतौ । प्रतोली नागदत्ता दृष्ट्वा रात्रौ वनमध्ये देवकुले गतौ । तत्र एकः सुप्तोऽपरो जागर्त्ति । ततो यक्षं मुकुटहारकुण्डलाद्याभरणभासुरं दृष्ट्वा दध्यौ । दूरं गतो धनं स्तोकमर्जितं, अतो यक्षस्य हारं गृह्णामि दारिद्र्यच्छिदे । ततो यावद्धारं जातु हस्तं दत्ते तावद् यक्षेण स्तम्भितो वेदनां प्राप प्राह च अहो महायक्ष ! मुञ्च ! प्राणा यास्यन्ति मे । यक्षोऽवग् मम हारं त्वं जातु हस्तं क्षिपसि मारयिष्यामि त्वां । स[5] पुमान् प्राह—चक्रिकोकठे तन्मागय यक्षोऽवग् यद्धन विदेशानीतं तत्सर्वं मम भाण्डागारे मुञ्च ततस्तेन विमुच्यतां [पञ्चाशत् दीनारं]

---

१ गवाशनी २ वचनं, ३ संसर्गजा ४ महीयल—स्पर्शमात्रेण ।

तस्कोशे मुक्तं । सुप्तः सः । द्वितीयोऽप्येवं हार गृह्णन् दीनारशतं शब्देण दण्डित' । तत' आद्यः प्राह स्वधनं गमनज्ञापनायोक्तं—

दूरि दिसंतरि चालीआ, वडी करी पुण आस ।
आवि दोहिला खंधि चडि, जिम सउ तिम पंचास ।।१।।

अपरो जगौ—

ग्रह अचला विहि वंकडी, दुज्जण पूरउ आस ।
आवि दोहिला खंधि चडि, जिम सउ तिम पंचास ।।२।।

पश्चात् स्वस्वसम्बन्धोज्ञापितो मिथः। एवं जीवाः प्रमादादर्जितमपि पुण्यं हारयति । इति भवितव्यतायां दूरिदिसंतरि चालीआ ।

इति मित्रद्वयसम्बन्धः ।।५४०।।

[541] अथ शठोपरि शठेतिविषये शुककथा ।

एकः श्रेष्ठी सुपात्रदानं दाता । भूपस्याग्रे वेश्या नृत्य करोति वहुधनं भूपाल्लोकाच्च लभते। श्रेष्ठी कुपात्रत्वात् किमपि न दत्ते, तदा लोकैरुक्तं, त्वं बहुलं धनं लासि न श्रेष्ठिनः। ततो वेश्यया नृपे तुष्टे प्रोक्तं ममाद्य स्वप्ने श्रेष्ठिना लक्षद्रव्यमानितं तद्य दापय, ततो राज्ञोक्तं, श्रेष्ठिनास्ये स्वप्नमानित देहि, ततः कृष्णमुखं गृहागतः। शुकोऽवग्-श्याममुख कथं ते । श्रेष्ठिना वेश्योक्त प्रोक्ते शुकेनोक्त एक रत्नमादर्शोर्ध्वं धृत्वा वेश्याग्रे प्रोच्य—त्वया भूपस्य पश्यतः, इदं आदर्शमध्यस्थ रत्न गृहाण एव कृते यदा सा वक्ति, इद कथ गृह्यते तदा त्वयाऽऽख्येय [स्वप्न] सदृशमिद रत्न, तथा कृते वेश्या जिता । वेश्यया शुकधीर्ज्ञाता। तत स शुको मार्गयित्वा गृहीत. । शुकस्य पक्षौ छेदयित्वा दास्यग्रे वेश्यावग्, अयं शुकः शाकत्वेन कार्यः कार्यार्थं गता। शुको नष्ट्वा खाले प्रविष्टः दास्या शुके नष्टे अपर मासं शाकत्वेन कृत, सा च शाक त शुकधिया चखाद, जगाद च भो शुक यत्त्वया मम धनं निर्गमितं श्रेष्ठिनो बुद्धिदानात् [तत्] कृतफलमेव पश्य, ततस्तदुक्त खालस्थः शृण्वन् छन्न तस्थौ । भीतः शुकः खालागतमन्नं खादन् जातपक्ष उड्डीय गतो वने, वेश्या तु नर्तितु कृष्णालये समागता । शुकस्तु कृष्णपृष्ठौ स्थित प्राह अहो वेश्ये अहं कृष्णस्तुष्टो वरं मार्गय, तयोक्त वैकुण्ठं नय मां। तेनोक्त मस्तक भद्रीकृत्य लोकसमुदाययुता नृत्यन्त्यत्रागच्छसि यदा तदाहं तत्र नेष्ये। ततस्तथाकृत्वा यदा साऽगता तदा शुको गत्वा वृक्षशाखायां प्राह—

शठोपरि शठं कुर्यादादरोपरि आदरं ।
त्वया मे लुंचितौ पक्षौ, मया ते मुंडितं शिरः ।।१।।

ततः स्वचैरचलनसम्बन्ध प्रोक्त्वा शुको गत. ।

इति शठोपरि शठेतिविषये शुककथा ।।५४१।।

[542] अथ करहामकरि पापदाने उष्ट्र सम्बन्ध ।

एकस्मिन् ग्रामे एको द्विजो ग्रहणादौ जायमाने दान गृह्णाति । तदा भार्या वक्ति । इदं दानं पापनिबन्धनं । ततः क्रमात् विप्रो मृत्वा उष्ट्रोऽभवत् । पत्नी मृत्वा राजपुत्री जाता । क्रमात् सा पुत्री राज्ञा भीमनृपाय दत्ता, स च परिणिन्य तां तदा स एव उष्ट्रस्तस्मै दत्त । स भारितउपस्करै मार्गे भीमश्चचाल । बहुभाराद्उष्ट्र आरटति भृश इतोऽकस्मात् तमेव ग्राम दृष्ट्वा राजपुत्री जातिस्मृतिं प्राप्य प्राग्भव दृष्ट्वा पश्चाद्भवसम्बन्धिन पति जज्ञे । तत प्राह—

करहा मकरि करकवडो भार घणोपर दूरि ।
तू लेतो हू वारती राहु गिलतइ भूरि ॥१॥

एतत् श्रुत्वोष्ट्रोऽपि जातिस्मृत्या प्राग्भवं ज्ञात्वा पश्चात्तापवान् ज्ञात्वाऽनशन स्वर्गं गतः ।

इति करहामकरि पापदाने उष्ट्र सम्बन्धः ॥५४२॥

[543] अथ कर्मणि कृष्णसागरनीरसम्बन्ध ।

एकस्मिन् ग्रामे कृष्णभूपस्य मलयेन्द्री पत्नी सागरनीरौ पुत्रावसूताम् । गोत्रिभि समेत्य राज्य गृहीतम् ।

कृष्ण सकुटुम्बो रात्रौ नष्ट एकस्मिन् पुरे गत । पत्नी परगेहेषु कर्म कृत्वा सर्वपात्रुदराणि भरति । अन्यदा तत्रागतसार्थवाहेनापहृता सार्थवाहस्ततोऽचलन् तां पत्नीं कर्तुं तस्याः पुरः प्राह यदा, तदा सा जगौ मया ब्रह्मचर्यव्रत वर्षत्रय यावद् गृहीतं तदनु यथारुचिरं करिष्यते । तत स सार्थो हृष्ट., मलयेन्द्री स्व शील पालयति, पर पतिपुत्रवियोगाद् दुःखिनी, इतः कृष्ण पत्नीमदृष्ट्वा ततो निर्गतः, अग्रे गच्छतस्तस्य नदी समागता एक पुत्र पूर्वतटे परकूले मुक्त्वा यावद् द्वितीय पुत्र नेतुमायाति तावत्मकरेण गृहीतो गिलितश्च । मकरो गच्छन् दूरं मात्सिक-हस्ते चटितः । मात्सिकैर्विदारित । पुमान् निर्गत । ततस्तैर्मुक्तश्च पुरे । समेतो राज्ञा पुरद्वारे रक्षक कृत ।

इत दैवयोगात् नदीतटयोर्द्वौ सागरनीरौ सौवर्णिकहस्ते चटितौ सौवर्णिक स्वपुत्रौ कृत्वा स्थापयामास । क्रमाद् वर्धमानौ अभ्यास कुरुत । ततः कस्यचित् क्षत्रियस्य अर्पितौ स क्षत्रियो भूपस्य सेवां करोति ।

इत स सार्थवाहस्तत्रायात । रात्रौ क्षत्रियपुत्रौ रात्रौ रक्षा कर्त्तु मुक्तौ तदा नीरसागरौ परस्पर स्वपितृमातृराज्यगमनादिक चरित्र साम्प्रतिकमेव सम्बन्ध प्रोचतु तदा मलयेन्द्री स्वपुत्रौ जज्ञौ, ततः सा पुत्रयोर्मिलिता प्राह—

किहां कान्हड किहां मलयेन्द्री, किहां सायर किहां नीर ।
दैववसिइ मलयेन्द्री मिली, नो मिलीओ पुण कन्ह ॥१॥

तां ताभ्यां वार्ता कुर्वाणां श्रुत्वा सार्थवाहश्चकितो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह, अद्य यौ रक्षितौ मुक्तौ तौ कुशीलिनौ, ततो राज्ञा कष्टेन शूलायां क्षेपितुमादिष्टे यदा चलितौ तौ हन्तुं तदा तौ प्रोचतुः—किहां कन्हउ० गाथा श्रुत्वा द्वास्थः

किहां कान्हउ किहां मलयेन्द्रि किहां सायर किहां नीर ।
मिलीया सागर नीर मम, नो मलीया मलयेन्द्रि ॥२॥

एतां गाथां श्रुत्वा पुत्रौ पितर ज्ञातवन्तौ, पितापुत्रौ ज्ञातवान्, ततो राज्ञो ज्ञापित सर्वं तैः स्वसंबंध'। ततो मलयेन्द्री कृष्णस्यार्पिता, सर्वं कुटुंबं मिलितं। ततोऽन्यदा सूरी शत्रावभ्येत्यावग्, अधुना त्वां वरीतुं वांच्छामि त्वं स्वपुरे गच्छ, ततः कृष्ण स्वपुरं प्रति चचाल, स्तोकबलेन देव्याः सांनिध्यात् गोत्रवैरिणो निर्धाट्य स्व राज्य जग्राह ।

ततो गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैनं धर्मं प्रतिपद्य स्वर्गं गतः ।

इति कर्मणि कृष्णसागरनीरसंबंधः ॥५४३॥

[544] अथ स्वपक्षहंतरि कच्छपसम्बन्धः ।

एकस्मिन् कूपे कच्छपा बहवस्तिष्ठन्ति स्म । माछिका [मारिसका] आगच्छंति तान् ग्रहीतु यदा [तेषु] स एकः कच्छपो निःशंकमन्यं कच्छपं दत्ते, स च याति, तदा वृद्धकच्छपेनोक्त नार्प्यते कच्छप., यदा स्तोका कच्छपा भविष्यति तदा त्वामपि ग्रहीष्यन्ति, स च न मन्यते वृद्धोक्तं, क्रमात् स्तोकेषु कच्छपेषु जातेषु, स एव कच्छपो [मारिनकै] माछिकैर्गृहीत, आक्रन्दं करोति स्म, तदा वृद्धेनोक्त—

किं क्रन्दसि कुलांगार, स्वपक्षपरिघातक ।
स्वपक्षे हि परिक्षीणे, कोऽत्र त्राणं करिष्यति ॥१॥

ततो वृद्धः कच्छपो नंष्ट्वाऽन्यत्र गत' ।

इति स्वपक्षहंतरि कच्छपसंबंधः ॥५४४॥

[545] अथ स्वार्थसाधने सिंहोन्दिरसंबंधः ।

एकस्यां गुहायां उंदिरो महांस्तिष्ठति । अन्यदा तत्र विवातगुहायां सिंहः समागात् । वर्यं स्थानकं दृष्ट्वा तत्र तिष्ठति, उंदिरः सिंहस्योपरि हिंडन् कर्करान् पातयति । सिंहस्त हन्तु न शक्नोति ततो दध्यौ, मया हन्तु न शक्यते, ततो बिडालं विना उन्दिरा. हन्तु न शक्यते । ततः सिंहो बिडालपार्श्वे गत्वाऽवग्, ममैको वैरी उंदिरो विद्यते, त त्व यदि हसि तदा तुभ्यं भक्ष्यं ददामि, तत सदा सिंहो बिडालाय मांसं दत्ते, यदा हतुं उंदिरं याति, तदा पत्नी प्राह, त्वयोत्तरः सदा कार्यः। यदा उंदिरो हतस्ततस्तव किमपि नार्पयिष्यति एवं बहवो दिना गताः। एकदा भार्यया वार्यमाणोपि गत उंदिर हन्तु बिडाले नोंदिरो हतः। ततो बिडालो भक्ष्यं मार्गयितुं

यदागत तदा सिंह प्राह अथ त्व आगतो मां मांस मागयितु यदि कल्ये समेष्यति तदा हत एव । त्व गच्छ स्वस्थाने । ततो बिडाल स्वपत्नीपार्श्वे गतो यदा तदा पत्नी प्राह—

निजार्थे निखिलो लोक सेवतेऽन्य निरतर ।
अतो जीवितमिच्छेश्चेत् तदा तत्र व्रजाथ मा ॥२॥

उक्त च—

अपसर्प्पति कार्यार्थी, कृतार्थी नावसर्प्पति ।
दधिकर्णकदुर्बुद्धि रवणीयस्त्वया हत ॥२॥

इति स्वार्थसाधने सिंहोंदिरसंबंध ॥५४५॥

[५46] अथ पापविषय काष्टश्रेष्टि–वज्रा–गज–सबंधः ।

भोगपुरे काष्टश्रेष्टिन पत्नी वज्रा । देवशर्म्मा पुत्रोऽभूत् । गजोद्विजो मित्र, शुकसारिके वर्णे विधेते काष्टश्रेष्टी गज मित्र गृहे मुक्त्वा विदेशे लक्ष्मीहेतवे चचाल । गजवज्रयो परस्परं प्रेम जात वज्रा गजपार्श्वे याती दृष्ट्वा सारिका वक्ति शुक, शुक ! विलोकय, श्रेष्ठिपत्नी वज्रा परपुरुषेण सहाभोगदानात् पापिनी पापं कुर्वाणास्ति तत सारिका गजेन हता । तत शुको मौन चक्रे । एकदा तस्य गृहे साधुयुग विहर्तुमागात्, एकेन वृद्धेन साधुनोक्त लघोरग्रे अस्य कुक्कुटस्य मजरी योऽत्ति स राजा भवति । एतत् श्रुत्वा गजः प्राह–वज्रां प्रति अस्य कुकुटस्य मजरी मह्य देहि, तत कुकुट हत्वा मजरी रधिता गज स्नानाथ गत । इत पुत्रो लेखशालात आगात् भोजन याचते स्म । मात्रा मंजरी दत्ता विस्मृत्य लेखशालायां गत । इतो गज आगतो जेमितुमुपविष्ट मजरीमदृष्ट्वा पुत्रभक्षितां ज्ञात्वा प्राह–मंजरीं तां देहि, यावत् पुत्र हत्वा दास्यामि, एतत् श्रुत्वा धात्री लेखशालायास्त बाल लात्वा दूरदेशे गता तत्र राज्य जात तस्य शिशो, इत श्रेष्ठी विदेशात् लक्ष्मीमुपार्ज्य गृहागत पत्नीपुत्रौ अदृष्ट्वा शुक पप्रच्छ । क गता मे पत्नी ? तत शुकेन गजवज्रयोश्श्रेष्टिन प्रोच्योक्तं दूरे वज्रागजो गतौ वैराग्य जात दीक्षा गृहीता काष्टेन वज्रागजो दैवयोगात् पुत्र राज्यपुरे गतौ वास चक्रतुश्च । इत स काष्टर्षिभ्रमन् वज्रागृहे विहर्तु गत । वज्रा स्वपति उपलक्ष्य दध्यौ एष मां यदि उपलक्षयिष्यति तदा मां गजयुतां हनिष्यति ततो भिक्षामध्ये स्वस्वर्णमुद्रां क्षिप्त्वा छल पुत्कार चक्रे एष साधुश्चौरो मम गृहान्तश्छन्न हेम लात्वा गच्छन् अस्ति स्तैन्यदोषो दद्े तया भूपपार्श्वे गता प्राहाऽय चोरः । ततो राज्ञा यावद् हन्तुमादिष्ट तावद् धात्र्या पितुः स्वरूप प्रोक्त तदाय पिता ततो राज्ञा माताऽपि पापिनी पितृहन्त्री ज्ञात्वा कर्षिता । राजा श्राद्धो जात ।

इति पापविषये काष्टश्रेष्टि–वज्रा–गज–सम्बन्ध ॥५४६॥

[54] अथ चतुर्जामातृसम्बन्ध ।

एकस्य विप्रस्य चतस्र पुत्र्योऽभूवन् । ताश्च परिणायिता पृथग् ग्रामे । एकदा चत्वारोऽपि जामातर आकारिता । भक्ति पक्वान्नादिदान त् सदा तेषा क्रियते । एकोऽपि तेषु जामाता

न चलितुमिच्छिति, ततो दिनेदिने बहु धनं भक्षितं ज्ञात्वा तान् चालयितुं भग्नभाजनानि जेमितुं मण्डितानि। तत उत्थाय चित्रशालायामुपविष्टाः । गोविंदोऽवग् चल्यते अपमान कृतं श्वशुरेण । ततः समुत्कलयित्वा पत्नीं नीत्वा चचाल, "भग्नभाजनो गोविंदः।" यदा न त्रयश्चलन्ति तदा श्वशुरेण तैल पर्यवेषितं, ततः माधवनामा सोऽपि अपमानं ज्ञात्वा चलित "तिलतैलेन माधव।" ततो द्वावपि न चलतः ततस्तृणशय्या प्रस्तारिता, ततस्तमपमान ज्ञात्वा विक्रमश्चचाल "विक्रमस्तृणशय्यायां।" ततो गागिलो यदा न चलति ततो गले धृत्वा कर्षित, "अर्धचन्द्रेण गागिलः।"

भग्नभाजनो गोविंदः, तिलतैलेन माधवः ।
विक्रमस्तृणशय्यायामर्ध–चन्द्रेण गागिलः ॥१॥

एव चत्वारोऽपि जामातरो गता । एवं जीवा ससारे कर्मपराभव दृष्ट्वा वैराग्यभाज. केचिद् भवन्ति ।

इति चतुर्जामातृसंबंध ॥५४७॥

[548] अथ भाग्ये सुजाण–बूबस–संबंधः ।

श्रीपुरे भीमश्रेष्टिनः सुजाणबूबसौ पुत्रौ । सुजाणो विज्ञः बूबसो मूर्ख किमपि लेखकं न वेत्ति, श्रेष्टिनो गृहे कोटिद्वयं धनस्य । एकदा श्रेष्ठी मृतः । सर्वधनसंख्यायाव्यवसायादि सुजाणः करोति ।

एकदा पत्नी प्राह बूबसो प्रति दिन बह्वी श्रिय व्ययति, भवानुपार्जयति, ते पृथक् क्रियते, तत. पत्नीप्रेरितेन सुजाणेन अपृथगीभवन्नपि बलात् बूबसो पृथग् कृत । टकानां सहस्राष्टक दत्त, तेन सुजाणो हृष्ट पत्नी युतो जातो बहुश्रीस्थितेः, ततो व्यवसाय कुर्वतः क्रमात सुजाणस्य लक्ष्मीस्त्रुटिता बूबसेन शालकपार्श्वात् हट्टं मडापितं दिने दिने वथा लाभो जात यथा स्तोकैरब्दै. कोटिद्वय जातं, सुजाणो निःस्वीभूतो लज्जमानो रत्नद्वीपे ययौ, तत्रापि रोहणाद्रौ व्यवसाय कुर्वतो पिनश्रीर्जाता । ततः यथा स्तोककर्मकरो भूत्वा चन्द्रश्रेष्टिगृहे स्थितः ।

इतो बूबसो भ्रातरंगत ज्ञात्वा दुःखी विदेशादागतान् लोकान् पृच्छ पृच्छ सुजाणगमन जज्ञौ, ततस्तत्र गतो भ्रातुर्मिलित वस्त्रादिदत्त लक्ष्मीर्बह्वी दत्ता सापि त्रटिता, बूबसेनोक्तं गम्यते रोहणाद्रौ। ततस्तत्रगतो भूमिर्गृहीता सुजाणेन भूमि खनिता पर किमपि न प्राप्त । बूबसेन तु प्रथमे कुद्दालिकाघाते सपादलक्ष रत्न प्राप्त, तदपि भ्रात्रे दत्त, ततो व्यवसायं कुर्वन् सुजाणस्तदपि रत्न बुभुजे दु स्थोऽभवत्पुनः, ततो बूबसेनोक्त कृषिः करिष्यते, सज्जे हलादिके कृते सुजाण प्राहाद्य भद्रा विद्यते तेन वर्ये दिने हल खेटयिष्यते। बूबसः प्राह–'भाग्यवतां का भद्रा' एव प्रोक्त्वा हल खेटयत [क्षेत्रे] अकस्मात् निधानं क्षेत्रे बहु धनं निर्गतं राज्ञेज्ञापित राज्ञापि तस्मै दत्त, सुजाणो वर्या वेलां विलोक्य हलं खेटयितु लग्नः परमभाग्यात् कुवातादिनाधान्य किमपि न निष्पन्नम् । ततो दुस्थोऽभवत् भृशं, ततो बूबसः स्वभ्रातरं स्वपुरे [नीत्वा] भक्तिं करोति धान्यादिवस्त्रदानात्, [ततस्तेन] गुरवः प्राग्भवं पृष्टा. प्रोचुः बूबस सुजाणयोः पुर ।

सुजाणः प्राग्भवे कृपणोऽभवत् परं ज्ञानपञ्चमीं आराधयामास तेनात्र भवविज्ञोऽभूत्, दानाभावात् दरिद्री । सूबसस्तु प्राग्भवे दानं ददौ ज्ञानं नाऽऽराध तेन लक्ष्मीवान् जातो मूर्खश्च इति मत्वा द्वावपि भ्रातरौ धर्मं चक्रतुः ।

इति साम्ये सुजाण-सूबस-सम्बन्धः ॥५४८॥

[549] अथ दुःस्थतायां राम-ऋषि-सम्बन्धः ।

यदा श्रीरामो वनं प्रति चचाल तदा ऋषेराश्रमपार्श्वं यावदागतः तावद् ऋषिः श्रीरामं दृष्ट्वा पश्चादन्यत्र गत्वा स्थितः ।

ततो रामः ऋषिमनो ज्ञात्वा वनवासे स्थित्वा रावणं जित्वा यदा ऋषेराश्रमे समागात् तावत् ऋषयः सम्मुखा आगता आगतस्वागतं चक्रुः । तदा श्रीरामः प्राह—

स एवाहं स एव त्वं, स एवायं तवाश्रयः ।
आदरं शिथिलीकृत्य पुनरेव किमादरः ॥१॥

ऋषिः प्राह—

धनमर्जय काकुत्स्थ ! धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥२॥
जाइ रूवं विज्जा तिन्नीवि निवडंतु कन्दरे विवरे ।
अत्थच्चीयपरिवुड्ढो जेण गुणा पायडा हुंति ॥३॥

इति दुःस्थतायां रामऋषिसम्बन्धः ॥५४९॥

[550] अथ सीताशुद्धिस्मरनसम्बन्धः ।

श्रीरामो यदा सीतां स्वगृहेऽनैषीत् तदा एके जना वदन्ति सीता इयत्कालं रावणगृहे स्थिता शीलं कथं पालितं ? [अमाथि] मानिरक्ताः स्त्रियो को विशेषः ? । एवं श्रुत्वा श्रीरामो यदा कृष्णमुखोऽभूत् तदा सीतयोक्तं अहं अग्न्याग्नौ प्रविश्यात्मानं शुद्धं करिष्यामि । ततः खान्यिंगारैर्ज्वलद्भिः शतहस्तप्रमाणा खानिभृता । सीताप्यप्राह—

यदि रामं मुक्त्वा मया कोऽप्यन्यो मनसि कुबुद्ध्या सद्बुद्ध्या च धृतो भवति तदाहं भस्मीभवामि, एवं प्रोच्य ततः मनुष्येषु लक्षेषु मिलितेषु स्वहस्ते तत्र गोलकं कृत्वा खानिमध्ये पद्भ्यां चलित्वा खानेरपरतटं गता परं मनाग् न दग्धा ततः सीता शुद्धा सती श्रीरामं कृष्णमुखं [दृष्ट्वा] मया मुधा समयेऽसमयं कारितं इति । श्रीरामः कृष्णमुखं दध्यौ मया मुधाऽसमये सपथं कारितेति सीता श्रीरामं प्रति प्राह—

१

मा गा विषादभवनं भुवनैकवीर, निःकारणं विगुणिता किमियं मयेति ।
दैवेन केनचिदह दहने निरस्ता, निस्तारिता नु भवता हृदयस्थितेन ॥१॥

ततो लोकः—

सीतया दुरपवादभीतया, पावके स्वतनुराहुतिः कृता ।
पावकोऽपि जलतामियाय यत्, तत्र शीलमहिमानिबन्धनम् ॥२॥

इति सीताशुद्धिभवनमम्बन्धः ॥५५०॥

[551] अथ तीर्थप्रभावे सहिजगपुरश्रीशांतिनाथसम्बन्धः ।

सहिजगपुरे श्रीधरश्रेष्ठिनो रात्रौ श्रीशांतिजिनः स्वप्नेऽभ्येत्यावग्–उत्तिष्ठ चउरडीग्रामे गच्छ, तत्र नद्यास्तटयोरुभयोः पार्श्व१ समस्तक [घटः पतितोऽस्ति] घटं च पतितमस्ति, तदत्रानीय योजयित्वा प्रासादे स्थापय । भवतो ग्रामस्यास्य वयं भविष्यति । ततः सप्ताष्टजना एकं शकटं लात्वा तत्र गत्वा प्रभोः सशीर्षं घट च रथे स्थापयित्वा गच्छन्तो नदीतटे सायं स्थिताः ।

तत्रापि स्वप्नेऽभ्येत्य प्रभु प्राह तस्य, अधुना ग्रामे गच्छत पश्चाद्दुःशकं भविष्यति । ततस्ते चलिता यावन्नदीमुत्तीर्णास्तावत्तथा वृष्टो मेघ यथा उभयोः कण्ठयोर्नदीपूर्णा, मेघे वर्षति सा प्रतिमा पुरे प्राप्ता उत्सवः कृत । तत प्रभृति तन्नगरं सुख [सुखि] जातं । अधुना तत्तीर्थं सुप्रभावं विद्यते, तस्मिंस्तीर्थे यो यवन उत्तरति तस्य तुरङ्गमादि म्रियते, ततोऽधुना कोऽपि तस्य तीर्थस्य प्रतिकूल न चिन्तयति । लोकस्य मनोरथान् पूरयति प्रभु ।

इति तीर्थप्रभावे सहिजगपुरशांतिनाथसम्बन्धः ॥५५१॥

[552] अथ नवसारीपुर–श्यामलपार्श्वनाथ–सम्बन्धः ।

नवसारीपुरे प्रभु पार्श्वं स्वप्नेऽभ्येत्य श्राद्धाना पुर प्राह—मामितो भूतलात् कर्षयन्तु भवत वयं भविष्यति । ततस्तस्माद्भुवस्तलात्प्रभु. कर्षितो यदा तदा प्रभोः शरीरे चन्दन-पुष्पाणि अशुष्कितानि दृष्ट्वा लोकश्चमत्कृत स्तुतिः चक्रे । ततः पार्श्वः प्रासादे स्थापित. । ततोऽद्यापि चदनपुष्पाणि न शुष्कति । प्रभो शरीरादमृत [झ] गिरति, लोकाना चिन्तितं पूरयति श्रीश्यामलपार्श्वः ।

इति नवसारीपुरश्यामलपार्श्वनाथसम्बन्धः ॥५५२॥

१. प्रतिमा इति वाच्यार्थ. ।

[553] अथ [1]देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ।

देलउलकग्रामे श्री आदिनाथ सप्रभाव आराधकस्य मनोरथान् पूरयति । अन्यदा चौरा-ग्रामबुक्कर प्रतिमामुत्पाट्य रात्रौ निगतः । वत्मनि अन्धो जात । ततो बिम्बम् रात्रावेव पश्चात् स्वस्थाने मुमोच । तत पश्यन्नभूत् । एकदा कदोपुराधवनस्तत्राभ्येत्य तां प्रतिमां नीत्वा स्वपुरे गत । प्रथमे दिने आसना[श्वा]श्वो मृत । द्वितीयदिने पुत्र शूलरोगेण पीडितोऽत्यन्त यदा मृतप्रायो जातस्तदा तां प्रतिमां श्राद्धानां दत्त्वा भोगनिमित्त सहस्रद्रम्मा दत्ता पश्चात् स्वस्थाने प्रेषिता तां प्रतिमां सप्रभावां ज्ञात्वा कोऽपि प्रतिकूल न करोति । यस्य यस्य यत् कार्य न सिद्ध्यति यात्रादौ मानिते तस्य तत्कार्यं सिद्ध्यति ।

इति देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ॥५५३॥

[554] अथ अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्ध ।

श्री अभयदेवसूरयो विहरन्त थंभणकस्थाने प्राप्ता महाव्याधिकुष्टरोगपीडिता हस्तमपि चालयितु न शक्नुवन्ति । ततः सन्ध्यायां पाक्षिकप्रतिक्रमणं कृत्वा श्राद्धानामग्रे गुरव प्रोचुः—शरीरे कुष्टोद्भवा पीडा विद्यते तावता कल्येऽनशन ग्रहीष्यते देहपीडया क्षण स्थातु न शक्यते । एव प्रोक्त्वा रात्रौ पौरुषीं भणित्वा सुप्ता । अत्रान्तर मध्यरात्रौ शासनदेवी समेत्य प्राह—प्रभो स्वपिषि जागर्षि वा ? गुरुणोक्त—जागर्मि । देवी प्राह—उत्तिष्ठ नवैता सूत्रकोकुट्टिका [[2]कुट्टिका] उन्मोह्य, उत्खेलय । गुरुराह—कथमेवविधशरीरेणोत्खेलयामि । देवी प्राह हस्ते गृहाण त्व, चिर काल जीविष्यसि [मत्कान् बाधयिष्यसि] नवांगवृत्तिं विधास्यसि । कथमेवविधो देहोऽहं विधास्यामि ? देवतावग्—स्तम्भनकग्रामे सेढिकातटिनीतटे क्षेत्र विद्यते तत्रासन्नपलाशतरोरधः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमा सुप्रभावास्ति नागार्जुनयोगिस्थापिता । तां वन्दस्व तत स्वस्थशरीरो भविष्यसि । एवं प्रोच्य देवी तिरोऽभूत् । प्रात श्रीसंघेन सम तत्र गता सूरय स्तुति कृता ।

जय तिहुअण वरकप्परुक्ख, जय जिण धन्नतरि ।
जय तिहुअण कल्लाणकोस दुरिअकरि केसरि ॥१॥
तिहुअण जण अविलंघि आण भुवणत्तय सामिअ ।
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणपुरट्ठिअ[3] ॥२॥

इत्यादि स्तव कुर्वतिपार्श्व प्रतिमा प्रकटीजाता [भूता] । सम्पूर्णे स्तवे कृते [4]निरोगं वपुर्जातं । तत्र श्राद्धै प्रासाद कारित । तत्र प्रभुरुपवेशित सूत्सव लोका महोत्सवं कुर्वन्ति । तत श्रीअभयदेवसूरिणा नवांगवृत्ति कृता । शासनदेव्या प्रभो पूर्वमपा अपदाता गुरो प्रोक्ता इति । तत स्तवन कृतम् ।

१–देलवाडा । २–कुंचिका । ३–E–सप्तकप्रती इय स्तुति नोपलभ्यते । ४–नीरोग ।

स्तम्भनस्थामहं स्तौमि तां पार्श्वप्रतिमां तथा ।
पूर्वाचार्यैं यथाख्यायि नानास्थाननिवासिना[भिः] ॥१॥
एकादशाब्दलक्षाणि वरुणस्त्वामपूजयत् ।
नवाहरधिकान् (?) सप्तमासान् रामस्तामर्चयत् ॥२॥
अशीत्यब्दसहस्राणि तक्षकेनापि पूजितः ।
सौधर्मसुरराज्येन चर्चयित्वा चिरं ततः ॥३॥
अदायि वासुदेवाय द्वारवत्यां जिनोत्तमः ।
ततः सागरतः कांत्यां विंशत्यब्दशतानि च ॥४॥
पद्मावत्या ततोऽपूजि पालिताया निदेशतः ।
आनीतः सेटिकानद्यां नागार्जुनेन योगिना ॥५॥
स्वामिंस्ते पुरतस्तेन १रसस्तंभो विनिर्ममे ।
स्तम्भनाख्यं ततस्तीर्थे संजातं जगती[ति] श्रुतं ॥६॥
नवांगवृत्तिकारेणाऽऽचार्ये — णाभयसूरिणा ।
नवांगदायको नाथ त्वं पुनः प्रकटीकृतः ॥७॥
दुष्टैर्म्लेच्छैर्लाढदेशे गुर्जराख्ये परिप्लुते ।
मङ्गलर्त्वग्निचन्द्राब्दे १३६८ स्तम्भतीर्थमवातरः ॥८॥
प्रातः समुत्थाय जिनाधिनाथं यः स्तोत्रमेतत्पठति प्रवीणः ।
रोगोरगारिग्रहसिंहशंका मुक्त्वा यशःश्रीतिलकायते सः ॥९॥

इति श्रीपार्श्वस्तवः । श्री अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ॥५५४॥

[555] अथ पेथडसाधुसम्बन्धः ।

कर्करासन्नग्रामे पेथडसाधुवणिग् उकेशज्ञातीयो वसन्नभूत्, तस्य पद्मिनी पत्नी । झाझण. पुत्रोऽभूत् । स बाल दुस्थावस्थायां सत्यां दुःखी जात । इतस्तत्र तपागच्छाधीशा. श्रीधर्मघोषसूरय आगताः, तेषां पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा परिग्रहपरिमाण गृह्णन् सहस्रटंककानामुपरि मम नियमोऽभवत् इत्युक्ते गुरुरवक् ज्ञानेन चेष्टया च त्वद्भाग्य महद् वर्तते, एतावता किं भविष्यति ? गुरुणा क्रमात् वर्धिते ज्ञानातिशयात्, पेथड प्राह—भगवन् अधुना मम किमपि विषेशद्रव्य नास्ति, पर कदाचिदग्रे प्राप्नोमि तदा मया पचलक्षटककामासुपरि गृहे न स्थाप्यं, धर्मे व्ययनीय

१–पारो, इति भाषायाम् ।

धनं तत क्रमाद् गुरुणा प्रत्याख्यान कारित । ततः क्रमाद्दुग्धत्वे पुत्रे मुंडकारूढः कृत्वा मालवकं प्रति पेथडश्चलन् मालवकस-धो गत । तत्र सपमम ससरत दृष्ट्वा यावत् स्थितस्तावदेको मारवः२ समागात् तेनाक्त कथ स्थित स च सप्प दर्शयामास । मारवः सप्पशिरःस्थदुर्गा दृष्ट्वावग यद्रि बहून्नग्रे अयास्य तदा मालवकरा-यममविष्यत् तथापि शकुन मानयित्वा गच्छ मालवके, महाधनी भविष्यसि । तत स मालवके गतः । गोगादेवभूपस्य मन्त्रिणः सेवकोऽभूत् ।

एकदा राज्ञा गृहीतेषु बहुष्वश्वेषु मन्त्री धः याचितोऽवग् मम पार्श्वं [काश] नास्ति'। ततो राज्ञोक्त लेखकः देहि' स च [दिङ्मूढो जात] मघाळत्रित्वात्पूर्व (¹) कागराजारक्षिष्यत् तदा रक्षितो राज्ञा [कारके क्षिप्त]। मन्त्रिपत्न्या पेथडाय मन्त्रिधरणसम्बन्ध प्रोक्तः। पेथडो राज्ञः पार्श्वे गत्वाऽवक्- स्वामिन् मन्त्री जेमनाय मोच्यतां' । राजाऽवग्- 'लेखक विना न मोक्ष्ये''। स पेथडः प्राह मन्त्री मुच्यतां लेखकमहं दास्य अहं स्वस्य सेवकोऽस्मि । ततो मुक्तो मन्त्री भुक्त्वा भूपपार्श्व समागात् । सर्वं लेखक वषसवधिन पेथडो ददौ । ततो मन्त्री मुक्त । क्रमाद्राजा पेथड वय विश्व मत्वा मन्त्रिणं चक्रे । तनन्तोकैर्दिनैः पचकश्च [सपत्तिः] मिलिता [ततोऽधिकलाभे] पेथडश्चतुर्विंशतितीर्थकराणां चतुरशीतिं (८४) प्रासादान् कारयामास । अधिके धने [तस्य] जिनधम्म नाम दत्त पश्चात् धन धर्मे व्ययति । गुरो पुर प्रवेशे द्वासप्तति (७२) सहस्रटकका व्ययिता । ३२ [द्वात्रिंशद्वषवयसि] वष शीलव्रत गृहीतं । शत्रुञ्जयगिरिनारयोरेका ध्वजा स्वणरूप्यपट्टकूलमया दत्ता । ५२ द्विपञ्चाशद् घटीस्वणने-माला परिधे । सारगराजा कपूरछलन हस्तमथ कारित इत्यादि बहु धम व्ययितम् ।

इति पेथडसाधुसम्बन्धः ॥५५५॥

[556] अथ प्रह्लादनविहारसम्बन्ध ।

प्रह्लादनभूपः प्रह्लादनपुरे राज्य कुर्वन्नेकदा अर्बुदाचले ययौ । तत्र कुमारपालप्रासादे जिनप्रतिमां पित्तलमयीं भङ्क्त्वा अचलेश्वरप्रासादे पित्तलमय शृंग पित्तलमय देवगृहोपरि कुम्भ इत्यादि कारयामास । ततो गृहे समागात् कुष्ठी जात अनवासमहत्त्व कृता रोगो न याति । भङ्ग्या दीनामपि सेवन कृत तथाप्यधिका वेदना । गुरव पृष्टा प्राचु त्वया जिनप्रतिमाया भंग कृत तेनात्रैतादृग् रोगो जात परत्र तु श्वभ्रमेव । राज्ञोक्त कथं याति रोगः । गुरुः प्राह यद्यत्र श्रीपार्श्वनाथस्य महान् प्रासाद कार्यते तत्र श्रीप्रभुप्रतिमा निवेश्यते, पुनः पूज्यते नित्यं, तदा याति रोग । ततो राज्ञा प्रासादादिसर्वं गुरूक्त कृतं रोगो गतः प्रासादे हैमकपिशीर्षाणि कारितानि तानि राज्ञा तत्र सप्रभाव तथं जात राजा धर्मी जात तस्मिन् देवगृहे प्रति दिन अक्षता मूढकमिता आयाति एका गोणीपूगानां । ८४ इभ्या सुखासनस्था देवनत्यर्थमायाति राजा सार्द्ध ये नृपा देववदनाथ प्रतिप्रभात ये समायाति तेषां सख्या न ज्ञायते ।

इति प्रह्लादनविहारसंबंध ॥५५६॥

---

१ सु शाखा स्थाप्य । २–शाकुनिक । ३–नही–चोपडो इति भाषाया ।

[557] अथ तपागच्छभवनसम्बन्धः ।

श्रीमुनिरत्नसूरिसमीपेऽन्यदा श्रीजगच्चन्द्रसूरयः शिष्याः प्रोचुः—भगवन् ! सिद्धान्तोक्तक्रिया क्रियमाणा न दृश्यते । गुरुभिः प्रोक्त प्रमादादस्माभिः कर्त्तुं न शक्यते । जगच्चन्द्राचार्योः जगुः—अहं यदि सिद्धान्तोक्तां क्रियां करोमि तदा गुरुणां रोचते न वा ? । गुरवो जगुः—अस्माकमनुमतिरेवास्ति । जगच्चन्द्रगुरुः प्राह—तर्हि मां शिक्षयध्वं क्रियाम् । ततः श्रीगुरवो प्रोचुः—वय सम्यक् सिद्धान्तोक्तां क्रियां न जानीमः । सिद्धान्तोऽर्थो ज्ञायते तर्हि शिक्षयामि । गुरुणोक्तं—चि[वि]त्रावालोपाध्यायो देवभद्रः क्रियाकुशलोऽस्ति तत्पार्श्वे शिक्षय । ततस्तत्र गताः जगच्चन्द्रसूरयः तेषां पार्श्वे चारित्रोपसंपदं ललु । तत' श्रीजगच्चन्द्रसूरिभिस्तेषां सूरिपदं ददे । एक गच्छोऽभवत् द्वयोः । श्रीजगच्चन्द्रसूरयो यावज्जीवमाचाम्लाभिग्रह ललुः ।

ततः संवत् १२८५ वर्षे तपा नाम जातम् । जगच्चन्द्रसूरिभिर्देवेन्द्रसूरीणां, देवभद्रसूरि-शिष्य विजयचन्द्रसूरीणां सूरिपद ददे क्रमात् । तत आराधना कृत्वा स्वर्गं गता ।

इति तपागच्छभवनसम्बन्धः ॥५५७॥

[558] अथ वृद्धशालालघुशालाभवनसम्बन्धः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरयस्तत्पट्टालकरणाजाताः लघवो विजयचन्द्रसूरय , श्रीदेवेन्द्रसूरिभिर्दिनकृत्यवृत्तिः, सूत्रवृत्तिः, नव्यकर्मग्रन्थपञ्चकवृत्ति [ति'], सिद्धपञ्चाशिकासूत्रवृत्ती[ति.], षडावश्यकवृत्तिः, धर्म्म-रत्नवृत्तिः, सुदर्शनाचरित्रं, भाष्यत्रय, सिरिउसहस्तवादीन्[दयः] चतुर्वेदनिर्णयकर्तार[ग्रन्थाः]श्र-क्रिरे । देवेन्द्रसूरयो मालवके विहारं चक्रु' श्रीविजयचन्द्रसूरयस्तभतीर्थे गताः । क्रमाद्गुरूपान्ते [गुरुभिः] कथितं दीक्षाप्रतिष्ठादि कुर्वते । क्रमात् श्रीसघ आत्मीयः कृतः । गुरवो मालवका-दागता, यावत् गुरवो धर्मशालायामागताः ससूरिर्यदाभ्युत्थानादि अपि न चक्रे तदा गुरुभि. कर्मबन्धं दृष्ट्वा श्रीसंघः कोऽस्माक विषयेऽस्ति । ततस्त्रयोदश साधवो गुरुसत्का., एका साध्वी, अष्ट कुटुम्बानि श्राद्धानामासन् । तत' उकेशवंशशृङ्गारसा० साजणपुत्री दीक्षिता । गुरवो लघूपाश्रये स्थिताः । साध्वीद्वयं जातम् । क्रमात् तेषां सूरीणां कुमारपालविहारे व्याख्या[नं] कुर्वता १८ [अष्टादश] शतमनुष्या धर्मं श्रोतुमुपविशन्ति । तदा लोका धर्मशालायां [ला] गच्छन्तो जगुः—"वृद्धशालाया गम्यते, लघुशालायां गम्यते । ततो वृद्धशाला-लघुशालानामजाते '। देवेन्द्रसूरयो वृद्धा, विजयचन्द्रसूरयो लघवः । पुन पौषधशालायाः चारुआवाटकसत्कावृद्धनाम जातम्, ततो गच्छस्यापि ।

इति वृद्धशाला-लघुशालाभवनसम्बन्धः ॥५५८॥

[559] अथ देवेन्द्रसूरि-विद्यानन्दसूरिसम्बन्ध ।

श्रीदेवेन्द्रसूरय प्रह्लादनपुरे प्रह्लादनविहारे श्रीविद्यानन्दसूरीणां सूरिपद ददुः । तदा देवगृहे कुङ्कुमवृष्टिरभूत् । श्रीदेवेन्द्रसूरयो मालवक[के] स्थिता. । श्रीविद्यानन्दसूरयो विद्यापुर.[रे] स्थिताः । त्रयोदशदिनान्तराले कार्मणवशाद् दिवं ययु' । गच्छस्ततः सूरिरहितो निराधारो जात. ।

इति देवेन्द्रसूरिसम्बन्धः ॥५५९॥

[360] अथ धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ।

ततो लघुतपागच्छे धर्मकीर्तिउपाध्यायो विद्यानन्दसूरिभ्राता बभूव । ततः सङ्घस्यानुमतिं ज्ञात्वा धर्मकीर्तिउपाध्यायस्य पात्रकम्बलसूरिमन्त्रपानवस्त्रादिदानात् प्रीणयित्वा सूरिपदं दापितम् । ततो धर्मकीर्तिउपाध्यायस्य धर्मघोषसूरिनाम दत्तम् । धर्मघोषसूरेः पेथडसाधुमहान् श्राद्धोऽजनि ।

धर्मघोषसूरयो देवकपत्तने समुद्रोपकण्ठे प्राप्ता बहिर्भूमौ यदा तदा क्षुल्लेनोक्तम्—समुद्रो 'रत्नाकर' उच्यते, रत्नानि न दृश्यन्ते । ततो गुरुणा ध्यानबलात् समुद्रपार्श्वात् क्षुल्लकस्य रत्नं दर्शितम् । ततो वेलाबलात् समुद्रे गतम् ।

देवकपत्तने गोमुखयक्षं सोमनाथप्रासादे स्थितं हिंसाकुर्वाणं कारयन्तं प्रबोध्य शत्रुञ्जयतीर्थे गुरवः स्थापयामासुः ।

एकदा विद्यापुरे दुष्टश्राविकाविहारितानि वटकानि गुरुभिर्दृष्टानि, प्रोक्तं साधूनां पुरः एतानि स्थाप्यतां कल्ये पाषाणा भवन्ति । ततस्तथाकृते तथा दृष्टानि तानि । धर्मघोषसूरीणां व्याख्यानं कुर्वतां तया दुष्टया श्राविकया कण्ठे केशगुच्छनर्क विकुर्वितम् । गुरुभिर्विद्याबलात्तु स्वाद् बहिः कर्षितम् । ततो गुरुभिः मन्त्रितः पट्टकस्तस्याः श्राविकाया उपवेशाय दापितः । स च गुरुदेशे विकृतः । वन्दनकदानावसरे अपराऽऽस्तिकाभिरुक्तम्—"उत्तिष्ठ, वन्दनकानि ददस्व ।" सा प्राह—'पश्चाद् दास्यन्ते ।" सर्वासु श्राद्धीषु गतासु गुरूणां पुरो जगौ—"अद्यप्रभृति मया विघ्नं न कार्यम्, मुच्यतां मां प्रसादं कुरु । ततो गुरुभिरभिग्रहं ग्राहिता ततो मुक्ता ।

एकदोज्जयिन्यां गुरवोऽभ्येत्य तस्थुः । साधवो बहिर्भूमौ[मिं] गताः योगिना दुष्टेन प्रोक्ताः । अत्रायातैः स्थिरैः स्थेयम् । साधुभिः स्थिरं स्थिता स्मेति प्रोचे-किं करिष्यसि ? तेन साधूनां दन्ता दर्शिता प्रौढाः । साधुभिर्गुरूणां योगिवचः प्रोक्तम् । ततस्तेन योगिना शालायां सर्पा विकुर्विताः गुरुभिश्च नकुलाः प्रौढाः । ततो गुरुणा तथा जप्तं यथा राटिं कुर्वाणो विहितः पर्यस्तिको व्याख्यानावसरे आनीतः । ततो गुरुपादयोः पतितोऽनुकूलः कृतः, श्राद्धैर्मोचितः । एकदा गुरुभिरन्यो योगी दुष्टः सिंहादिरूपैः साधून् भापयन् निषिद्धः ।

एकस्मिन् पुरे गुरुभिर्द्वारमभिमन्त्र्य सुप्यते । अन्यदा विस्मृते द्वारे शाकिनीभिर्गुरुसत्का पट्टिकोत्पाटिता । चतुष्पदे गुरुभिर्ज्ञाता तत्रैव स्तम्भिता बाधा दाने मुक्ता । कस्यचित् सर्पदंशे प्रातः काष्ठभारिकामध्ये विषापहारवल्ली दर्शिता, तया विषमुत्तारितं इत्याद्या बहवोऽवदाता जाताः ।

तत्कृता ग्रन्थाः सङ्घाचारवृत्तिः सुयधम्मकित्तीअतं स्तोत्रं, कायस्थिति-भवस्थितिस्तवौ, २४ जिनभवनस्तवाः २४ शत्रुञ्जयस्तोत्रं "देवेन्द्ररिति" श्लेषस्तवः, यूयं युवां त्वा[त्व]मिति श्लेषस्तुतयः ४, केनचित् मन्त्रिणोक्तमष्टयमकमयं काव्यं प्रोच्योक्तम्—"ईदृग् काव्यमधुना न केनापि क्रियते ।" ततो गुरुभिः प्रोक्तम्—'जनस्तिनं वाच्य ।' तेनाक्तं तर्हि दर्शयत । गुरुभिः प्रोक्तं कल्ये आगन्तव्यम् । ततो गुरुभिः "जय वृषभनाभि स्तूयसे नि[स्य] नाभिरिति २८ काव्यानि कृतानि, रात्रौ भित्तौ लिखितानि प्रातस्तस्मै दर्शितानि । स चमत्कृतो गुरून् नत्वा श्राद्धो जातः । तैः सूरिभिः सोमप्रभसूरीणां सूरिपदं दत्तम् । मरणावसरे धर्मघोषसूरिभिः सिद्धान्तपुस्तक—

मन्त्रपुस्तिका दत्ता सोमप्रभसूरिभ्यः। सोमप्रभसूरिभिश्चारित्रपालनाय सिद्धान्तपुस्तिका गृहीता नान्या। ततः सा मन्त्र-तन्त्र-कार्मणाद्यनेककुटिलशास्त्रसम्बन्धिपुस्तिका जले क्षिप्ता पापहेतुका।

इति धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ॥५६०॥

[561] अथ सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः।

सोमप्रभसूरयः एकदा भीमपल्यां नगर्यां ११ शतमहेभ्यशोभितायां चातुर्मासीं स्थिता। अधिकमासि द्विकार्तिके प्रथमकार्तिके प्रान्ते चतुर्मासीप्रतिक्रमण कृत्वा यदा चेलुः तदा एकादशाचार्यास्तत्रस्थाः प्रोचुः—यूय कथमेवं प्रतिक्रमणं कृत्वा चलथ ?। गुरुभिः प्रोक्त विघ्नं दृष्टमस्ति। ततो लोकैरन्यैः सूरिभिश्चाऽवहीलित सूरिवच। ततः परपाक्षिके रुद्धाऽऽचार्याश्च न चेलु। केचित् गुरुणा सम चेलुः। तत. परचक्रं समागतमकस्मात्। भग्ना भीमपल्ली। धनं गमितम्। सूरिभिरप्यन्यैः पुस्तकादि [रक्षितम्]। श्रीगुरुणां महत्त्वं वर्धितम्। तत्कृता ग्रन्थाः यतिजीतकल्प, 'यत्राखिल' स्तुतयः "जनेन" स्तुतयः, श्री धर्मस्तुति[श्च]।

इति सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः ॥५६१॥

[562] अथ देवसुन्दरसूरिसम्बन्धः।

श्रीसोमतिलकसूरिशिष्या श्रीदेवसुन्दरसूरयोऽभूवन्। तेषा सूरिपद दत्त पत्तने। सो० प्रथमेन कारितम् १४२० वर्षे च युगप्रधानोपमा विहरन्ति।

एकदा गुरवो बहिर्भूमौ गच्छन्तो गूंगडी सरसि प्राप्ता। इतः कणयरीपादयोगिशिष्य उदायिपायोगिना नमस्कृता तदा सं० [घपति] नरीआकेन पृष्टम्—"त्व कुत आगाः ?"। योगी प्राह—कणयरीपादयोगिना मम गुरुणा ज्ञानिना गिरनारस्थेनोक्तं अधुना पत्तने तव गूंगडी सरसि यः सूरिर्मिलति स मुक्तिगामी त्वया वन्दनीयः। अतो मया भक्त्या वन्दिता.। ते [तव] च गुरवो यदा स्वर्गं गतास्तदा खरतर सं०[घपति] गोसलाग्रेऽभ्येत्योक्त तैः—"वयं तुर्ये स्वर्गे गताः स्म" यत —

छेवट्ठेण गम्मइ चउरो, जा कप्प कीलीआई सु।
चउसु दु दु कप्पवुड्ढी, पढमेणं जाव सिद्धी वि ॥१॥

तेषा शिष्याः श्रीसोमसुन्दरसूरयोऽभूवन्। इति श्रीदेवसुन्दरसूरिसम्बन्धः।

[563] अथ श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः।

श्रीसोमसुन्दरसूरीणां गच्छे १००० साधवः तच्छिष्याः श्रीमुनिसुन्दरसूरि-श्रीजयचन्द्रसूरि-श्रीभुवनसुन्दरसूरि-श्रीजिनसुन्दरसूरयोऽभूवन्। तेषामादेशात् गुणराजसङ्घेन यात्रा कृता। तस्मिन् सङ्घे १० देवालयाः, ३५०० सेजवालकाः, ५०० पित्तलमयवाहनिका, ५०० घोटकाः, ३५००० शकटाः, आचार्याणां शतानि, मनुष्याणां लक्षद्वय [त्रयं]।

तारंगगिरौ अजितनाथप्रतिष्ठा म०[न्त्रि] गोविन्देन कारि[तापि]ता। तत्र मनुष्याणां बह्वो लक्षप्रमाणा मिलिता' कल्याणको(?)द्धारो गिरि[नार]गिरौ स०[घपति] समरसिंहमालदेवाभ्यां कारितः। राणपुरे चतुर्मुखप्रासाद' स धरणेन कारित'।

इति श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६३॥

[564] अथ श्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्ध ।

श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिरष्टादशवारं लक्षप्रमाणसूरिमन्त्रो जपितो। यत्र तत्राऽमारिप्रवर्त्तन राज्ञः पार्श्वात् कारितम्। शान्तिकरस्तवं कृत्वा अमारिर्निवारिता। १०८ हस्तप्रमाणा गुरुविज्ञप्तिका कृता। तत्कृतानेके ग्रन्था सहस्राभिधानबिरुदधारका। इत्याद्या बहवोऽवदातास्तेषां बभूवु'।

श्रीजयचन्द्रसूरिभिस्तु देवगिरिरागते कृष्णसरस्वतीति बिरुद प्राप्तम्। तच्छिष्या' श्रीरत्नशेखरसूरयोऽभूवन्। तेषां वारके गिरिनारगिरौ पूर्णसिंहकोष्ठागारिक सघपति लषा[धा]काभ्यां प्रासादो कारितो। तत्र बिम्बप्रतिष्ठा च कारिता। कुम्भलमेरौ समवसरणाकारप्रासाद' कारित। तत्र चतुर्मुखेषु चत्वारि बिम्बानि प्रतिष्ठापयन्। तच्छिष्याः श्रीलक्ष्मीसागरसूरय सोमदेवसूरयो विजयन्ते। इतिश्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६४॥

[565] अथ साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्ध ।

डोसरमहास्थाने श्रीहेम[चन्द्र] सूरयो मरुस्थल्यां विहार कुर्वाणा' प्राप्ता। पुर' प्रवेशोत्सवोऽजनि। गृहे गृहे सङ्घवात्सल्यसत्कार्या क्रियन्ते श्राद्धे। इतस्तत्रैकस्य दुःस्थश्राद्धस्य पत्नी प्राह- गृहे गृहे गुरव पादौ दद न्ते आत्मनोपि गृहे आकार्यन्ते एक कोरकवस्त्र विद्यते यत्तद् विहार्यते श्रीमान् सङ्घाप्यात्मनो गृहे आयाति। श्रेष्ठी प्राह—गुरूणां श्राद्ध कुमारपालभूपोऽस्ति यदि ज[ड] वस्त्र विहारित पश्यति तदात्मन का गति ?। गुरव आत्मनो गृहे दुर्बल कथमाया स्यन्ति ?। पत्नी प्राहाऽऽयास्यन्त्येव। ततस्तेन गुरव ससंघा स्वगृहे आकारिता। तत् खासरक अवस्त्र गुरुभ्यो दत्तम्। गुरुभि तद्भाव गाढ ज्ञात्वा विहरितम्। ततो गुरुभि सकल्प सीवापित [तम्]। स [तद्] च पत्तनपुरप्रवेशे परिदधे गुरुभि। सम्मुखागते श्री कुमारपालभूपवाग्भटादिभिर्ध्यात न ज्ञायते कस्माद्धेतोरिदमीदृग् वस्त्रं परिदधे। पुरमध्ये धर्मशालायामागता। उपदेशो दत्तो गुरुभि। सङ्घे समुत्थिते कुमारपालभूपेन पृष्ट—भगवन् ! किमीदृक्ष वस्त्र परिदधे अपराणि किं न विधन्ते ?। गुरवो अगु —महानुभाग ! इद वस्त्र एकस्यास्तिकस्याद्ये गृहविसमभूत।

तेन भक्त्या विहारितम्। राजाऽवग्-किमीदृशा दुःस्थाः सन्ति ?। अस्य वस्त्रस्य दाता कुत्रास्ति ?। गुरुभि' तस्य नाम-स्थानादि प्रोक्त, तस्य गुणाश्च गृहीताः। ततस्तस्याऽऽकारयितु सेवका' प्रेषिता'। स च श्राद्धो भीतोऽभूत्। मायाऽवग्-भीर्नोनेया गच्छ तत्र। तत्र गुरुपार्श्वे गत राज्ञा सन्मानितः, परिधापित', दशसहस्रटङ्ककानां दत्तम्। ततोऽन्येषां साधर्मिकानां सीदतां

७२ लक्षप्रमाणान् टङ्ककान् दत्ता । [बह्वी श्रीर्दत्ता इत्यपि]

इति साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥५६५॥

[566] अथ परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ।

एकदा श्रीविक्रमार्कस्योपान्ते एको द्विजोऽभ्येत्यावग्—त्वं सत्यवान् परोपकार्यसि । मया भैरवगिरौ भैरवसिद्धपुरुषोपान्ते सेवा षण्मासी कृता कायप्रवेशविद्यार्थं, स च न दत्ते । त्वं तां दापय । ततो राजा तत्र गतः । तस्य सेवा तथा चक्रे यथा सद्य स प्रसन्नः प्राह—मार्गय चित्तेप्सितं । राजावग्—अस्मै विप्राय देहि । सिद्धपुमान् प्राह—अनेन मम षण्मासी सेवा कृता पर तादृग् पात्राऽभावाद् विद्या न दत्ता, त्वं सुपात्रं विद्यते । ततो बलात्तस्मै विद्या दायिता । ततस्तेन राज्ञेऽपि दत्ता पश्चाद् वलितौ पुरोपान्ते समागतौ, पट्टहस्तिनं मृतं शुश्रुवतु ततः मन्त्र्यादयो दुस्थिता जाताः । तदा परकायप्रवेशविद्या परीक्षणाय स्वांगरक्षायै तत्र पुराद् बहिर्द्विजं मुक्त्वा पट्टहस्तिनोंऽगे प्रविष्य स जीवो हस्ती जातः । हृष्टा मन्त्र्यादयो । तदा स द्विजो विक्रमार्कशरीरे प्रविश्य राज्यग्रहणाय पुरमध्ये समागतः । ततोऽखिलो लोको राजानमागतं गजं सजीव दृष्ट्वा हृष्टाः । सर्वे मन्त्र्यादयस्त राजानं सेवन्ते । परं स राजा आलापयितुं न जानते । तदा सर्वे जगुः राजा ग्रथिलोऽभूत् । ततः पट्टराज्ञी राजानं न मन्यते असदृश जल्पनात् ।

इतो राजा हस्ती पुराद्बहिर्गतो विप्राङ्ग शिवाभक्षित ज्ञात्वा वने गतः । वने शुकं म्रियन्तं दृष्ट्वा तस्यागे प्रविष्ट. । स च शुको व्याधहस्ते उपविश्य जगौ—मां विक्रमार्कपट्टराज्ञै देहि, धनं प्राप्स्यसि । ततस्तेन विक्रमार्कपट्टराज्ञै दत्तः । राज्ञा बहुधन दत्त । राज्ञी तं शुक रमयन्ती जीवितादधिक मेने । कथादिभि काल गमयतः स्म ।

एकदा शुकोऽवग्—यदि कदाचिन्मम प्राणा यान्ति तदा त्वया किं क्रियते ? राज्ञी प्राह—तव मृतौ मम मृतिः । ततोऽन्यदा शुको भित्तिस्थस्य गृहोलिकस्य म्रियप्राणस्य गते जीवे प्रविष्टः । शुक मृत ज्ञात्वा राज्ञी काष्टभक्षण याचते । विप्रराजाह्—त्वं कथ जीविष्यसि ? राज्ञी प्राह यदि शुको जीवति तदा मम जीवित । ततो विप्रराजा स्वशरीरं मुक्त्वा शुकशरीरे प्रविष्टः । ततो—गृहोलिकागं मुक्त्वा राजा स्वशरीरे प्रविष्टो पूर्ववत् । राज्ञादीनालापयति । सत्यं राजान ज्ञात्वा हृष्टाः सर्वे लोका । ततः स शुको धृतः हक्कितः । विक्रमार्केण सर्वमात्मचरित्र जात प्रोक्तं । ततः शुकः स्वदेशाद् दूरीकृतो मृतः । राजा तु स्वराज्यमगीकृत्य प्रजाः पालयामास ।

इति परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ॥५६६॥

[567] अथ कुमारपालभूपाऽमारि—प्रासादकरण—दानसम्बन्धः ।

कुमारपालभूपालो द्वासप्तति भूपान् स्वां आज्ञां ग्राहयामास ।

कर्णाटे[१] गुर्जरे[२] लाटे,[३] सौराष्ट्रे[४] कच्छ[५] सैन्धवे[६] ।
उच्चाया[७] चैव भंभेर्यां,[८] मालवे[९] मारवे[१०] तथा ॥१॥

कौंकणे[११] च तथा राष्ट्रे,[१२] कारे[१३] जालंधरे[१४] पुनः ।
सपादलक्षे[१५] मेवाडे,[१६] द्वीपे[१७] कासीतटे[१८] पुनः ॥२॥

एतेषु देशेषु अमारिं प्रवर्तयामास भूप । १४ देशेष्वपरेषु धनदानेन मैत्रीकरणेन च । १४४४ [१४४०] नवीना जिनप्रासादा दंडकलशमंडिताः । १६० जीर्णोद्धारा भूपेन कारिता । सप्त तीर्थयात्रा कृता च । २१ ज्ञानकोशा लेखिता । ७२ लक्ष रुदतीद्रव्यपत्र पाटितम् । ९८ लक्षद्रव्य औचित्ये [औदार्ये] दत्तम् । भग्नसाधर्मिकस्य १०० दीनारदानम् । एकस्मिन् वर्षे कोटिदीनारदानम् । एवं १४ वर्षेषु १४ कोटिदानम् ।

इति कुमारपालभूपाऽमारि–प्रासादकरण–दानसम्बन्ध ॥५६७॥

[568] अथ कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्ध ।

एकदा कुमारपालभूपो धर्म श्रीहेम[चन्द्र]सूरिपार्श्वेऽशृणोत्—"धर्म जग्राहेति सम्यक्त्व प्रथमं जग्राह । त्रिकाल श्रीजिनार्चा अष्टमीचतुर्दश्यो पौषधोपवासः पारणकदिने दृष्टिगोचरा गतानामास्तिकानां यथार्हं दानेन सन्तोष साद्ध गृहीतपौषधानां साद्ध पारणककरणम् साधूनां संविभागकरणम् प्रत्यह त्रिभुवनदेवविहारे स्नात्रोत्सव श्रीहेम[चन्द्र] सूरीणां पादयोर्वन्दनकदानम् ततोऽनुक्रमेण साधुवन्दनम् पूर्वप्रतिपन्नपौषधानां यथार्हवन्दनम् । प्रथमव्रते अमारि प्रवर्तनम् । मारि केनापि स्वय च न वक्तव्या मारिरित्यक्षरे विस्मृत्या जल्पने उपवास । द्वितीयव्रते विस्मृत्याऽसत्यभाषणे आचाम्लतप । तृतीयव्रते मृतधनोज्झनम् । चतुर्थव्रतेऽतः परं पाणिग्रहणाऽकरणम् । चतुर्दश्यां शीलम्, परस्त्रीसहोदर. । पञ्चमव्रते षट्कोटय कनकस्य, वारस्याष्टौ कोटय रत्नानां दशशतानि, तुलानाम्, १२ घृतमणसहस्रम्, ३२ सहस्रमणतैलम् २ लक्षमूटकशालि युगन्धर्यादिधान्यानां प्रत्येक ११ लक्षाश्च ११ सहस्रगजा २ ०० उष्ट्रा, १८ लक्षसुभटा ५० यानपात्र[ाणि] ५ शकटवाहिन्यः २ गावः, ५०० गृहाणि ५ ० हट्टा., ५० सभा इत्यादि ।

षष्ठे व्रते वर्षाकाले पत्तनात् दसयोजनात् पुरतो गमननिषेध । सप्तमे व्रते मद्याऽऽमिषमध्यादिनिषेधः देवादत्तफलभक्षणनियम । अष्टमे व्रते सप्तव्यसननिषेधः । नवमे व्रते सामायिकग्रहण मौनेन गुरोश्रवम् । दशमे व्रते चतुर्मासे कटकाऽकरणम् । एकादशमे [व्रते] रात्रौ कायोत्सर्गकरणे मर्कोटकादिभिरचलनम् । द्वादशव्रते गुरुभ्यो दान दत्त्वा साधर्मिकै सह जेमनम् पौषधशालाचिन्ताकारकस्य पञ्चशततुरङ्गमदानम् ।

इति कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्ध ॥५६८॥

[569] अथ रावणऋद्धिसम्बन्ध ।

समुद्र खाई दश मस्तका, वीस भुजा २० सहस्रवर्षायु २१ धनुषदेह, त्रैलोक्य कटक, ९ कोडि राक्षस कुळ, ९ कोडि ९२ लाख ९ सहस्र ९ शत नवोत्तर राक्षसबळ, कुम्भकर्ण–

विभीषणप्रमुख १ लाख भाई, मन्दोदरी प्रमुख सवा लाख भार्या, इन्द्रजित् प्रमुख सवा लाख बेटा, सूर्पणखादि २९८ भगिनी, ३ कोडि बेटी, ३ कोडि देव ओलग करइं, ८८ सहस्र ऋषिपर्व भरइ [गर्व धरइं] शिवशांति करइं, बृहस्पति आगमु[म] उद्धरइं, नारायण टीवटीउ, गंगा-यमुना चामरहारि, नवदुर्गा आरती उतारइं, विश्वकर्मा सूत्रधार, विश्वामित्र आभरण घडावइं, छ ऋतु फूलपगर भरइ, मंगल खेत्र खेडावइ, मन्दोदरी प्रमुख ८ अग्रमहिषी, अनन्तवासुकि अमृत झरइ, तक्षक भण्डारउ करइं, कुलिक उपकुलिकपग चांपइं, चण्डिका तलारउं करइं, क्षेत्रपाल मसाहणउं (?) धरइ, सरस्वती श्रुति धरइ, गन्धर्व गीत गाइं, महेश्वरो पडहो वजावई, ब्राह्मी वीणा वाई, कृतान्त कोट(रे) छइ, मगल श्रीखण्ड घसइ, बुध सोनुं कसइ, धन्वन्तरि वैद्यकर्म करइ, केतु भामणां भमाडइ, लच्छि वस्त्र आणइ, सांतइ, धनद भण्डारउं करइ, मृत्यु पातालि घालिउं इत्यादि१-२ । इति रावण-ऋद्धिसम्बन्धः ॥५६९॥

[570] अथ इन्द्रऋद्धिसम्बन्धः ।

सौधर्मसभा, रत्नमयभूमि., शक्रसिंहासन, दक्षिणलोकपालस्वामी, ऐरावणगजः, निर्मल वस्त्रं, मस्तके छत्रत्रयं, कनकदण्डचामर, दिव्य आभरण, ३२ लाख विमानस्वामी, वज्रप्रहरण, ८४ सहस्रसामानिकदेव, ३३ त्रायस्त्रिंशक [त्] देवा, ४ लोकपाला, ८ अग्रमहिषी सोलसहस्र देवीसेविता, १२००० अभ्यन्तरसभातणा देव, १४००० मध्यसभातणादेव, १६००० बाह्यसभातणादेव, सातकटक, नाट्य,१ गन्धर्व,२ हय,३ गज,४ रथ,५ वृषभ,६ पदाति७, ३ लक्ष ३६ सहस्र अंगरक्षकदेव इत्यादि । इति इन्द्रऋद्धि सम्बन्धः ॥५७०॥

[571] अथ चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ।

९६ कोडि ग्राम, ७२ लक्ष पाटण (पत्तन), ३६ लक्ष वेलाउल, १६००० रायतन, १८००० सामन्त, १४००० मउडाधा(?), ३२००० मुकुटबद्धभूपाः, ७०० राणा, १२००० महामण्डलेश्वर,

---

१—इतरदर्शनमतेन इद वर्णन सभाव्यते ।

२—भोजप्रबन्धे इत्थमुपलभ्यते—

आवास परिमाष्टि वायु ऋतवः पुष्पोत्करं तन्वते
कीनाशो महिषेण वारि वहते, ब्रह्मा पुरोधा पुरः
खट्वायां च नियन्त्रिता ग्रहततिर्निर्णेजकः पावक-
श्चामुण्डा तलरक्षिका गणपतिः शुकीवती चारक ॥१॥
दीपाः सर्पशिरोवसूनि सविता, सूपः सुतः शक्रजित्-
लङ्का पू. परिखाम्बुधिः परिकरोऽसृक्पास्त्रिकूटो गिरिः ।
देवा दास्यकृतोऽग्निविजयी भ्राता छटादोऽम्बुद. ।
पिष्टा यस्य विधिश्च सोपि गतवान् दुष्टां दशास्यो दशाम् ॥२॥

५ महाधरा ४०० चउरासीया ३६ राजकुली (९) नवनिधान १४ रत्न-सुवर्ण-रूप्यादिक आगरा (आकर) इत्यादि । इति चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ॥५७१॥

[572] अथ भोजोक्तसमस्या धनपालपूरित सम्बन्ध ।

एकदा स्त्रीपदयोर्नू पुर झणत्कुर्वन्त तस्याश्च हृदि हार दृष्ट्वा राजा भोज धनपालपण्डित-पार्श्वे समस्यां पप्रच्छ—'उ झखइ पयवास ।"
ततो धनपालस्तां पूरयामासेति—

एकइ मदिरि ऊपनां एकइ सुन्दरि वाम ।
हार पयोधरसिउ रमइ, उ झखइ पयवाम ॥

यत हार-नूपुरे स्वर्णकृता स्वाऽऽपणे घटिते । हारस्तु तया हृदि न्यस्त नूपुर तु रजो वगुण्ठितपादे । अतो नूपुर स्वस्य नीच स्थान वीक्ष्य रुदतीति झखति ।

इति भोजोक्तसमस्या धनपालपूरितसम्बन्ध ॥५७२॥

[573] अथ "चैत्रयष्टि" पुरुषसम्बन्ध ।

एकस्मिन् पुरे एकस्य कौटुम्बिकस्य पुत्रस्य यथा तथा वदतो, यथा तथा कुर्वतो यथा तथा हिण्डतो यथा तथा वीक्ष्य [क्ष] माणस्य चैत्रयष्टि' नाम लोकैर्दत्तम् । स च वून सन् यदा सन्मुख वक्ति तदा लोका जगु—त्व यत्र गच्छसि तत्र "चैत्रयष्टि" भविष्यसि । सोऽवग्—तत्राह यास्यामि यत्र मां चैत्रयष्टि कापि न वदति । अत्र तु मामेव ख्यातिरभूत् । ततो निर्गत स निदाघे तृषाक्रान्त कस्यचिद् ग्रामोपान्ते कूपे । जलमागृह्णानां स्त्रीणामन्तराले प्रविश्य इतस्ततो विलोकयन् चुलुकेन जल पिबन् स्त्रीभि प्रोचे अथ चैत्रयष्टि कुत्रागतः ? । सोऽवग्—मां मातरेव कथ जल्पथ ? । ता प्रोचु तव लक्षणै । तत स दध्यौ योजनानां शतभागां अत्रापि मम ज्ञायते । तत स स्वपुरेऽभ्येत्य चैत्रयष्टि" वदत्सु लोकेषु न चुकोध ।

इति चैत्रयष्टिपुरुषसम्बन्ध ॥५७३॥

[574] अथ दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्ध ।

एकदा युधिष्ठिरो भीमस्याग्रे प्राह–यथा क्रियते यथा श्री स्थिरा भवति । ततो भीमो महतीं शिलामुत्पाट्याधः स्थापयामास । युधिष्ठिरोऽवग् भ्रात ! अधःक्षिप्ताध एव याति । तत आवास स्योपरि स्थापयामास । तत्रापि भूपोऽवग्–अग्न्यादि भयमत्र । भीमोऽवग–भ्रात कुत्र न्यासी-करोमि ? । युधिष्ठिरोऽवग्—दान ददस्व । ततः सत्रागारं मण्डयित्वा यथा तथा जल्पम् सकाले कदाचित् विकाले भियमर्थिभ्यो दत्त । राजावग्—भीम ! एव श्री स्थिरा न भवति परं क्रूरजल्पनादिभिर्दानदूषणमेव भवति । भीमोऽवग् कथमेव प्रोच्यते । राजा प्राह—

१ मूर्खजनस्य सज्ञाविशेष प्रतीयते ।

अनादरो[1] विलम्बश्च,[2] वैमुख्यं[3] विप्रियं[4] वचः ।
पश्चात्तापश्च[5] दातुः स्यात्, दानदूषणपञ्चकम् ॥१॥

भीमोऽवग्-कथं दास्यामि ? ।

आनन्दाश्रूणि[1] रोमाञ्च,[2] बहुमानं[3] प्रियं वचः[4] ।
तथानुमोदना[5] पात्रे, दानभूषणपञ्चकम् ॥२॥

पद्मपुरे चन्द्रयक्षान्तिके गत्वा दानफलं पृच्छ । ततो भीमस्तत्र गतः विनयपूर्वं दानफलं तस्य पार्श्वेऽप्राक्षीत् । यक्षोऽवग्-महानन्दपुरे अहं पूर्वभवे कर्कशवचो जल्पन् दानमदां तेनात्र भवे मम मुखं शूकराकारं जातम् । देहं तु काञ्चनतुल्यम् । यत —

स्वर्णदानं रत्नदानं मुखेनैव सुभाषितम् ।
तेनेयं काञ्चनीकाया, तेनेदं शौकरं मुखम् ॥३॥

ततो भीमः स्वपुरेऽभ्येत्य पञ्चदूषणवर्जं पञ्चभूषणयुक्तं दानं ददौ । ततो राजाऽवग्-भ्रातरेव दानं दत्तं सफलं भवति । इति दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्धः ॥५७४॥

[575] अथ सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे एका मठवासिका नारायणप्रासादे तिष्ठन्ती वर्षाकाले रात्रौ छन्नं चूरिमं भक्षयन्ती लोकाग्रे जल्पति—अहं मासक्षपणं कुर्वाणाऽस्मि । ततो लोका विशेषाद् वस्त्रदानात् भक्तिं कुर्वन्ति । वर्षाकालात्यये उज्जागरिते हरौ विशेषतो धनं ददन्ते ।

एकदा निशि चूरिमं भक्षयन्तीं दृष्ट्वा नारायणस्तापसीं प्रति प्राह—रे रण्डे ! रात्रौ चू (चौ) रिमं भक्षयसि, दिवा वक्षि लोकाग्रे अहं मासक्षपणं करोमि । तत सा उत्पन्नमतिः प्राह कृष्णं प्रति त्वमपि मम तुल्योऽसि । लोकाग्रे वक्षिः त्वं अहं वर्षाचतुर्मास्यां स्वपिमि रात्रौ तु लोकचरितानि विलोकयसि । अतोऽहं यादृशी तादृशस्त्वम् । ततः कृष्णो मौनं चक्रे । इयं मां विगोपयिष्यति । इति सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ॥५७५॥

[576] अथ स्पर्द्धायां काक-हंससम्बन्धः ।

हंसेन समं काकः स्पर्द्धां दधान उड्डयति व्योम्नि । ततो द्वावपि समुद्रतटे गतौ । हंसो यावद् वार्द्धिमध्यस्थद्वीपे यियासुरभूत् तदा काकोपि चिचलिषुरजनि । हंसेनोक्त-त्वं तिष्ठ । त्वया नोत्तीर्यते । काकोऽवग्-त्वं यथा व्योम्नि गच्छसि तथाहं न गच्छामि। ततो यदा हंसश्चचालाब्धौ तदा काकोपि च कियति वारिधौ पश्चान्मुक्ते काकः खिन्नोऽधोमुखं ऊर्ध्वपादो जातः । तदा हंसेनोक्तम्—

"जं जाणीइ रे ते कीजइ कागा, तलि मूंडी नइउं पागा ।"

काकोऽवग्—

"जेतइं बोलिउ ते हु हसा मज्झाहि व जासिइ निश्चइ हसा ॥१॥

ततः काकोऽवग्—कृपा कृत्वा मामुत्तारय । ततः कृपया हंसेन काकः पश्चानीतः, प्रोक्तं च अधम मूर्त्ति त्वया स्पर्द्धा केनापि सार्द्धं न कार्या ।

इति स्पर्द्धायां काकहंससम्बन्धः ॥५७६॥

[577] अथ चट्टूछिन्ना न जीवन्तीतिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे चत्वारि मित्राणि वसन्ति । ते तु एकदा कस्यचित् स्वकस्य कृपणस्य प्राघूर्णका गता । तस्य गृहे पत्न्यपि कृपणा विद्यते । यदा सा स्त्री अर्द्धंचट्टुके[1] परिवेषयितुं लग्ना, तदा तेषां मध्ये एकेनोक्तम्—

"असिहत्था मसिहत्था, पुत्थयहत्था च ज्ञानपरमत्था ।
सव्वेहत्थ समपत्था, चट्टूहत्थ पलोअति ॥१॥

अपरः प्राह—

जीवन्ति खग्गछिन्ना, पव्वयपडीआ वि केवि जीवंति ।
जीवन्ति उदहिपडिआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥२॥

तृतीयः प्राह—

जीवन्ति अवहिपडीआ, मइखपडीआ पुणोवि जीवन्ति ।
जीवन्ति खग्गछिन्ना, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥३॥

चतुर्थः प्राह—

जीवन्ति अग्गिपडीआ, मक्खिअखेडा वि केवि जीवन्ति ।
जीवन्ति सप्पगसीआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥४॥

श्रुत्वैतत् तया स्मृत्वा सुष्ठु चट्टूकैः परिवेषितम् ।

इति चट्टूछिन्ना न जीवन्तीति सम्बन्धः ॥५७७॥

[578] अथोत्तम-मध्यम-जघन्यमानने 'दंतिल' सम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे राज्ञो दन्तिलो मन्त्री मान्योऽभवत् । राज्ञः पुत्रे जाते वयवज्ञानदानैर्दन्ति

१ दर्वी— कडछी" इति भाषायाम् ।

लपार्श्वात् सर्वे लोकाः प्रीणिताः, परं गोरंभाह्वो भूमिभुग् गेहमार्जनकर्ता मन्त्रिणा गले गृहीत्वा निष्काशितः, स च रुष्टोऽभवत् ।

अन्यदा प्रातर्गेहं मार्जयन् गोरंभो राज्ञि शृण्वति प्राह—दंतिलस्याहो धैर्ष्ट्य "राज्ञीं हस्तेन स्पृशति"। राजा श्रुत्वैतत् चकितो रुष्टोऽभवन् मन्त्रिणि । राजा क्रुद्धदृष्ट्या दंतिलसन्मुखं विलोकयति । ततो मन्त्रिणा ध्यातं-मया तु सर्वे लोका मानिता एवं चिन्तयतस्तस्य गोरंभः स्मृतिमागात् । गोरंभः पृष्टो मन्त्रिणा स्वं जल्पितं जगौ । ततो मन्त्री गोरंभाय बहु लक्ष्मीं ददौ । गोरंभोऽवग् त्वया भीर्नानेया, तथाहं करिष्ये यथा राजाऽनुकूलो भविष्यति ।

ततोऽन्यदा गृहं मार्जयन् प्रगेऽहं कूपेऽपतम् । राजा मम लक्ष्मीं दास्यति । देवदत्तेन ह्रदता चिर्भटं भक्षितम् । अहं विषं भक्षयिष्यामि राजा दंडयिष्यति । दंतिल परनारीसहोदर इत्यादि जल्पन् राज्ञा श्रुतो गोरंभः । ततो राज्ञा पृष्टं—भो गोरंभ ? एवं असंबद्धं किं जल्पसि ? गोरंभोऽवग्—मम वातूलं देहं विद्यते, तत एवं मया सदा जल्प्यते कूटं । ततो राजा हृष्टो दंतिलस्योपरि जातः । स्वचिन्तित मारणसम्बन्धं च प्राह ।

यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपासन्नान् स मान्योपि भ्रश्यते दंतिलो यथा ॥१॥

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके, जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विवादे वर्तमाने समाने, नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥२॥

इत्युत्तममध्यमजघन्यमान्यमानने दंतिलसम्बन्धः ॥५७८॥

[579] अथ बुद्धौ खञ्ज—छागी सम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने अजा यूथं चरितुं याति । एकः सिंहो गुहातः निर्गत्य मारं मारमजामेकां भक्षयति । यदा सिंहो धावति, छाग्यो नश्यन्त्यपरा । एकदैका छागीं खञ्जां वीक्ष्य यदा पश्चात्सो दधाव तदा सा छागी सन्मुखं चलिता । सिंहो दध्यौ—अग्रे मम दृष्टौ सर्वाश्छाग्यः नश्यन्ति, एषा तु सन्मुखमायाति एव ध्यायन् सिंहो जगौ—कासि त्वं ?। छागी दध्यौ-एष मत्तो बिभ्यन्नेवं जल्पन्नसि । तत उच्चैः स्वरं प्राह—मां किं नोपलक्षयसि ?। अहं त्वया श्रुतापि न ?।

सप्तसिंहा मया जग्धा, दश व्याघ्रास्त्रयो गजाः ।
एकं सिंहं वने नष्टं हन्तुमत्रागतास्म्यहम् ॥ १ ॥

श्रुत्वेति सिंहो नष्टः । इति बुद्धौ खञ्जछागी सम्बन्धः ॥५७९॥

[580] अथ कर्मणि कृष्णबलिपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा सहस्रार्जुनभूपो हरमाराध । तुष्टो हरोऽवग्-मार्गय । राजावग्—मम वर्यां पत्नीं वितर । हरश्च वर्यं कंकणं वितीर्याह—यस्य हस्ते इदं कंकणं क्षेप्यसि, सा ते वर्या स्त्री भविष्यति ।

ततो भूपः पप्रच्छ-मम मृतिः कदा भविष्यति ? । हरोऽवग्—यदा तव मस्तके पुंसो हस्तश्चन्द्रिका पतिष्यति तदा मृतिस्ते । ततो राजा मार्गे समागच्छन् कृष्णां वीक्ष्य तेन समं वार्तां कुर्वाणः कृष्णाहस्ते कङ्कणमक्षिपत्, स च दिव्या स्त्री जाता । सहस्रार्जुनः पट्टराज्ञीं चक्रे । क्रमादाधानं जातं तस्याः, कृष्णं विना जगत् दुःखितं जातम् ।

इत एकदाऽकस्मात् सहस्रार्जुनमस्तके तस्या एव पत्न्या हस्तकङ्कणे लग्ने सति चन्द्रिका पतिता ततः स मृतः । पट्टराज्ञी कङ्कणं यावद् बभञ्ज तावत् कृष्णो जातः । लोका मुदं भेजुः परं तस्याधानं ज्ञात्वोचुः किं करिष्यते ? । ततो विचार्य सर्वेर्हृदयं विदार्य बालः कर्षितः । तस्य बलिः नाम दत्तम् । इति कर्मणि कृष्णबलिपुत्रसम्बन्धः ॥५८०॥

[581] अथ गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित् पुरे रत्नार्कश्रेष्ठिनः पद्मपुत्रोऽभूत् । स च श्रेष्ठी पुत्रस्य पुरोऽन्यदा जगौ—लक्ष्मीर्बह्वी प्रकटा राजा-वह्नि-चौरा [दा] यादा हरन्ति । अतः श्रीः कियती भुवो मध्ये क्षिप्यते । तदा निधानसज्जं कृत्वा पुराद् बहिर्गत्वा देवगृहपार्श्वे भुवं खनित्वा यदा धनं स्थापयितुं सज्जो भूतो रत्नार्कः पुत्रं प्रति प्राह—विलोकय देवगृहं, कोऽपि पुमान् कदापि धूर्तोऽन्यो वा भविष्यति तदा स धनं ज्ञात्वा [यास्यति ततः पुत्रस्तत्र गत्वा] नरमेकं सुप्तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह । पिताऽवग्—कोऽपि धूर्तो निधिं ज्ञातुमागतो मिषं कृत्वा स्थितोऽस्ति । ततः पित्रा प्रेषितो गतस्तत्र, वीक्ष्य सुप्तप्रायं तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह । पिता प्राह—परीक्ष्य जीवतो मृतस्य च कर्णौ आनय तस्य । ततः कर्णौ छुरिकयाच्छेद, स नोच्छ्वसितः । ततः कर्णौ पितुरर्पि [तौ] । पुनः पित्रा नासार्थं प्रेषितः । स च नासायां छिन्नायां नोच्छ्वसित । ततो मृतं निश्चित्य निधानीकृत्य धनं गृहमागतौ ।

पुनरेकदा वनं गतौ तौ पितृपुत्रौ । निधानं गतं दृष्ट्वा उदरं कुट्टयित्वा गृहमागतौ । ज्ञातं च ताभ्यां श्रीस्तेनैव धूर्तेन गृहीता । ततो यदा विटनष्टमध्ये लक्ष्मीं विलसयन्तं गतनासिकाकर्णं दृष्ट्वा पुत्रः [पितुः पुरः] प्राह । ततः सम्यक् तमुपलक्ष्य राज्ञोऽग्रे विज्ञप्तं [प्त] लक्ष्मीगमनसम्बन्धः । ततो राज्ञा स आकारितः । प्रोक्तं, अस्य त्वया [श्री]गृहीता, पश्चादर्पय । स प्राह—मया मुधाऽस्य श्रीर्गृहीता नास्ति यथास्य कर्णौ नासिके दत्ते तथा श्रीर्गृहीता मम कर्ण-नासिका ददातु पुनः पश्चाल्लक्ष्मीं लात्वाऽसौ [गच्छतु]। ततो राजा प्राह—श्रेष्ठिन् ? अस्य यद् भवता गृहीतं तदर्पय । ततः श्रेष्ठी सन्तोषं कृत्वा स्वगृहमगात् ।

इति गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः ॥५८१॥

[582] अथ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वसम्बन्धः ।

जरासंध-कृष्णयोः समरे जायमाने जरासंधेन जरा कृष्णकटके मुक्ता । एकावतारिनरौ कृष्ण-बलभद्रौ मुक्त्वाऽन्येषां जरा जाता । ततो नारायणः स श्रीनेमिनं पप्रच्छ, जरासंधः स्वसेनां हनिष्यति कः उपायोऽस्ति येन स्वसेनाया जरा गच्छति ? ।

नेमिकुमारः प्राह—अत्र पुराद्बहिर्वटतरोरधः श्रीपार्श्वप्रतिमाऽस्ति, सा च कृष्यते, तस्या विस्तरात् स्नात्रं क्रियते, तेन स्नात्रजलेन स्वशिबिरं सिच्यते, ततो जरोत्तरति । ततः कृष्णेन नेमिवचसि कृते सर्वसैन्यं सज्जीभूतम् । ततः कृष्णेन युद्धं कुर्वता शङ्खः पूरितः । प्रभुश्रीपार्श्व-दृष्टौ जरासंधशिबिरं भग्नं, ततो जरासंधो यमगृहं प्रेषितः, ततो जयजयारावो जातः । सर्वे भूपाः कृष्णं नेमुः । ततस्तत्र शंखपुरं वासितम् । ततः प्रभोः प्रासादः कारितः । तत्र प्रभुः स्थापितः । ततः 'शङ्खेश्वर' इति ग्राम-पार्श्वयोर्नाम्नी जाते ।

इति शंङ्खेश्वरपार्श्वसम्बन्धः ॥५८२॥

[583] अथ कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ।

वगदेशे महापुरे वर्द्धमानो धनी वणिग् दध्यौ-धनं विना नरो न मान्यते । यतः—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च जीवति ॥१॥

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥२॥

सुभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति, काकाः कापुरुषा मृगाः ॥३॥

एवं ध्यात्वा वर्धमानः शुभवेलायां लक्ष्मीमुपार्जनाय शकटं क्रयाणकैर्भृत्वा चचाल । तस्य मार्गे गच्छतः संजीवकनन्दकौ वृषभौ पीनस्कन्धौ वसतः । श्रेष्ठी मनसा विशिष्टचारिपानीयादि ददाति पालयति च । यमुनायां संजीवकः कर्दममग्नस्कन्धोऽसमर्थचरणो जातः । भग्नचरणं मृतःप्रायं वृषभं ज्ञात्वा वर्द्धमानो जगौ परिवारस्य पुरः, अत्र तु बहवः श्वापदाः सन्ति, सार्थस्योपद्रवं करिष्यन्ति, तेनास्य वृषभोपान्ते रक्षायै जनास्त्रयस्तिष्ठन्तु, अपरः सार्थश्चलति यतः—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्रपाण्डित्यं यत् स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥४॥

एवं प्रोक्त्वा [च्य] संजीवकस्य रक्षाकृते नरत्रयं संयोज्य चलितो वर्धमानो परं वृषभं शकटे नियोज्य वसन्तपुरे गतः । इतो बह्वापायं वनं दृष्ट्वा ते नराः दिनत्रयं स्थित्वा वसन्तपुरे गत्वा वर्द्धमानश्रेष्ठिनः पुरो जगुः—संजीवको मृतो, न श्वसिति, तेन तत्र मुक्तः । श्रुत्वैतत् श्रेष्ठी खेदं कृत्वा पुनः शोकं मुमोच । इतो बहुसिंहव्याघ्रादिजीवेषु दुष्टेष्वपि सत्सु जीवितव्यबलात् यमुनावातैः सज्जीभूतो रोचमानां चारिं । चरन् यथेच्छया वारि पिबन् मत्तोऽभूत् । नंदका वृषो गृहे पोष्यमाणोऽपि यत्नेन रक्ष्यमाणो मृतः । ततोऽन्येद्युः श्रेष्ठी पुनरपरौ वृषभौ शकटे नियोज्य ततः पुराच्चलन् यमुनातटे समागतस्तं वृषभं संजीवकं पीनं दृष्ट्वा प्राह—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥५॥

ततः तं वृषभं स्वगृहे निनाय श्रेष्ठी ।

इति कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ॥५८३॥

[584] अथ परवचने आषाढभूतिसम्बन्धः ।

देवपुरे देवशर्म्मा परिव्राट् धनी वसति स्म । स च कस्यापि न विश्वसिति धनगमनभयात् । एकदा धूर्त आषाढभूतिस्तत्रागतो मिलति स्म । तस्मै प्राह—संसारोऽसारो मया दृष्टस्तेनाहं कस्यापि तापसादेः शिष्यो भविष्यामि । जीवितं तु तृणाग्नितुल्यं, लक्ष्मीश्चपला संयोगास्तु पक्षिण इव । ततो देवशर्म्मणा वैरागी मत्वा दीक्षितः स्वशिष्यकृतः । परं द्रव्यगमनभयात्तं मठी द्वारे शाययति रात्रौ । कथाषाढभूतिना तस्य पार्श्वे धनभृता वासनिका ज्ञाता, लातुं तां वाञ्छ ।

एकदा देवशर्माणमभ्येत्य यजमानः प्राह—अहं चन्द्रपुरे बहून् जनान् जेमयिष्यामि धनं च दास्यामि तेभ्यः । अतस्तत्र पादावधार्यमेव । ततस्तद्वचो मानितं । अन्यदा देवशर्म्मा शिष्ययुतश्चचाल । तां वासनिकां वस्त्रैर्वेष्टयित्वा चलति । अत्रान्तरे नदी समागता । देवशर्म्मा जगौ इदं शबलं विद्यते तेन त्वं गृहाण, अत्र तिष्ठाहं मलोत्सर्गं कृत्वा समेष्यामि शीघ्रं । देवशर्मणि गते आषाढभूतिस्तां लात्वा नष्टः । देवशर्मा तु हुडयोर्युद्धं विलोकयन् यावत्तत्रागतः तावत्तं शिष्यमदृष्ट्वा दुःखं चक्रे, मया मौढ्यादीदृशः शिष्यः कृतः ।

इति परवचने आषाढभूतिसम्बन्धः ॥५८४॥

[585] अथ लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ।

एकस्मिन् नदीतटे हुडयुगं युद्धं कर्तुं लग्नं । अथ रोषेण हुडयुगं दूरमपसृत्यापसृत्य भूयोऽपि समेत्य ललाटपट्टाभ्यां मिथः प्रहरति स्म । तयोर्ललाटयोः रुधिरं निर्गच्छदभूत् । इतस्तत्रैको जम्बूकः समागात् । स च लौल्याद् रुधिरधारां पतन्तीं वीक्ष्य द्वयोरन्तरे प्रविश्य रुधिरं पिबति स्म । अथ तयोः शिरःसंपाते मध्यगतो जंबूको मृतः । अतो द्वयोः कलिं कुर्वाणयोरन्तरे न प्रवेष्टव्यं जम्बूकवत् । इति लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ॥५८५॥

[586] अथ दम्भे कौलिकसम्बन्धः ।

मदनपुरे एकः कौलिको लक्ष्मीवान् वसति । तस्य मित्रं रथकारोऽस्ति विज्ञः । एकदा कौलिको देवतायतने गतः । तत्रोत्सवं कृत्वा पश्चादागच्छन् वातायनस्थां राजकुमारीं सुरूपां दृष्ट्वा मोहितः । यतः —

यत्रोदकं तत्र पतन्ति हंसा, यत्रामिषं तत्र पतन्ति गृध्राः ।
यत्रार्थिनस्तत्र रमन्ति वेश्या, यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ॥१॥

कौलिको गृहागतो राजकन्यागतचेतस्को निश्चेष्टकाष्ठो जातः। मित्रेण तच्चित्तस्थोऽभिप्रायो ज्ञातः। ततो वर्यकाष्ठैर्गरुडं वरं घटयित्वा गदाचक्रसुदर्शनादिशस्त्राणि कारयित्वा रथकारेण कौलिकायार्पितानि। प्रोक्तं त्वमेवमेवं कुरु, तव पत्नी राजकन्या भविष्यति। ततः स कौलिको नारायणवेषशस्त्रभृत् गरुडारूढो वर्यकीलिकासंवरणेन च गगने गच्छति स्म। मंत्राधिष्ठितकीलिकायोगेन स गरुडो व्योम्नि याति। कर्षितायां कीलिकायां भूमौ तिष्ठति। ततो गरुडारूढः कौलिकः कृष्णवेषास्त्रभृत् वातायनस्थराजकुमार्याः पार्श्वगतः। तया च कृष्णः आगतो ज्ञातः, मोहिता च, सावग्-स्वामिस्त्वं मां परिणय। सोवग्-ममाग्रे षोडशसहस्राणि पत्न्यः सन्ति। त्वया किं करोमि। सावग्-अस्मिन् भवे त्वमेवशरणं। ततस्तेन गन्धर्वविवाहेन परिणीता। स च कौलिको रात्रावभ्येत्य राजपुत्रीं सेवते स्म। क्रमात् मातृपितृभ्यां पुरुषसेविता पुत्री ज्ञाता। प्रोक्तं च मात्रा—

नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासां।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥२॥

पृष्टं च मात्रा, त्वया किं पुत्रि परपुरुषसेवनं कृतम्? साऽवग्-मया कृष्णः परिणीतोऽस्ति स्वयं। ततो राज्ञ्या रात्रौ कृष्णमागतं दृष्ट्वा हृष्टा, पत्युः पुरः प्रोक्तं च कृष्णागमनं। राजा कृष्णं जामातरं ज्ञात्वा हृष्टः।

एकदा राज्ञो वैरं वैरिभिर्जातं। राजानो वैरिणः समागताः, पुरं वेष्टितं वैरिभिः। ततो राजा सचिंतोऽभूत्। राज्ञ्योक्तं—आत्मनो जामाता कृष्णः समस्ति स च वैरिणो जेष्यति। राज्ञा पुत्र्याः पुरः प्रोक्तं-तव पत्यौ कृष्णे, त्वत्पितुराज्यं यदि वैरिणो ग्रहीष्यन्ति तदा किं ते भविष्यति। ततस्तया पत्युः पुरः प्रोक्तं। स च संशये पतितोऽपि साहसं कृत्वा गरुडमारुह्य वैरिणो जयाय। कौलिकेन ध्यातम्—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतु मा भूयात् फ[णा]टाटोपो भयङ्करः ॥३॥

ततः कृष्णरूपः स प्राह—प्रिये दुःखं न कार्यं, वैरिणो जेष्यन्ते मया। ततो द्वितीयदिने गरुडमारुह्य वैरिणं प्रति यदा चचाल कौलिकः तदा कृष्णो दध्यौ कदाचिदयं कौलिको जेष्यते वैरिभिस्तदा लोका गदिष्यन्ति कृष्णो भग्नः। ततः कृष्णः कौलिकशरीरमधिष्ठाय तथा युद्धं चक्रे यथा वैरिणो नष्टा। केचन सेवका राज्ञो जातः। जयकारोऽभूत्। यतः—

सुप्रयुक्तस्य दंभस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥४॥

इति दंभे कौलिकसम्बन्धः ॥५८६॥

[587] अथ उपाये काकीसम्बन्धः।

एकस्य सरसस्तीरे वटवृक्षे काक्या मालकः कृतः। तस्मिन् मालके काकी अण्डकानि सुञ्चते।

वृक्षकोटरस्थसर्पो वृक्षे चटित्वा अण्डकानि भक्षयति स्म । काकी दुःखिनी जाता । ततो बुद्ध्या तया राजपुत्र्या स्नानं कुर्वत्या जलतीरस्थछत्रवार्थं हारमुत्पाट्य सर्पबिले मुक्त । ततो राज पुरुषैर्हारं विलोकयद्भिः हारं सर्पबिले दृष्टः हारं गृह्णाद्भिः सर्प दृष्ट्वा सर्पस्तैर्हत । काकी सुखिनी जाता ।

उपायेन हि तत्कुर्यात् यन्न शक्य पराक्रमै ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातित ॥५॥

इति उपाये काकीसम्बन्धः ॥५८७॥

[588] अथ स्वजातित्यजन् दुःखे शृगालसम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने चण्डरवः शृगालस्तिष्ठति स्म । स च लौल्यात् पुरमध्ये प्रविष्टः श्वानस्तत पृष्ठे धाविता । शृगालो नश्यन् रजकस्य नीलीकुण्डरसे पपात । सारमेया अपि पेतु स्तत्पृष्ठो सर्वे सदृशा बभूवु । शृगालो वने गतः । श्वानः स्वस्वपाटके गता । वने व्याघ्रास्तं तादृश दृष्ट्वा व्याघ्रादयो बिभ्यन्त पलायनं कर्तुं लग्ना वदन्ति च—

न यस्य चेष्टित विद्यात् न कुल न पराक्रम ।
न तस्य विश्वसेत् प्राज्ञो[1] य इच्छेद्धितमात्मन ॥६॥

चण्डरवो भयाकुलस्तान् प्राह—भो श्वापदा मा यूय भय कुरुध्वं । अह ब्रह्मणा व स्वामीकृत । ततो मम छत्रछायायां सुख तिष्ठत मां पश्यत । मम 'ध्रुपद्रुम' इति नाम दत्तमस्ति । एतत् श्रुत्वा सर्वे श्वापदा स्वस्थीभूता । ततस्तेन सिंहस्यामात्यपदवी दत्ता । व्याघ्रस्य शय्या पालत्व द्वीपिनस्ताम्बूलिकपदवी वृकस्य द्वारपालकपदवी । ये चात्मीय[जातीया] जात्यास्तैः सह वार्तां न करोति शृगालः । यदा व्याघ्रादय श्वापदान् हत्वा आनयन्ति तदा सर्वेषां स विभज्य दत्ते । एकदा रात्रौ दूरे शृगालान् शब्द कुर्वाणान् श्रुत्वा जातिस्वभावात् सर्वे शब्द कर्तुं लग्न । ततो व्याघ्रादिभिर्ज्ञात अय शृगाल । अनेन वाहिता वय लज्जितास्तैरुत्थाय शृगालो नश्यन् हत । यत —

आत्मवर्ग परित्यज्य, परवर्ग तु सेवते ।
स एव निधन याति, यथा राजा ध्रुपद्रुम ॥१॥

इति स्वजातित्यजन् दुःखे शृगालसम्बन्धः ॥५८८॥

[589] अथ वैरिसेवने उष्ट्रमृत्युसम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने सिंहस्य स्वामिन व्याघ्रवृषभशृगालादय सेवका बभूवु । एकदा सार्थभ्रष्टः क्रमेलकस्तत्रागत । व्याघ्र प्राह—सिंह भवि अथ ग्रामीणो जीव व्यापाद्यते । सिंहोऽवग्—नरणागतोऽय न हन्यते वैर्यपि । यतः—

---

[1] यदी—द्धेच्छियमात्मन इत्यपि ।

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पाप स्यात् शतब्राह्मणघातम् ॥१॥

ततः सिंहेनाभयदानं दत्तं। प्रोक्तं स्वेच्छयात्र तिष्ठ। स्वरोचित तृणं भक्षय। तव नामापि न गृहीष्यति। ततः स क्रमेलको मत्तः जात। एकदा सिंहेनोक्तं—भो व्याघ्रादय! भक्ष्यं आनयत। तैः सर्वं वनं विलोकितम्। कोऽपि श्वापदो न घटितः। ततस्तैः प्रोक्तं-स्वामिन्नयं क्रमेलको भक्ष्यते। सिंहोऽवग्—मया त्वस्याभयदानं दत्तमस्ति। ततस्ते प्रोचुः—स्वामिनो मृतिं गच्छतो यदि सेवक स्वप्राणान् ददाति तदा वरं. अतोऽयं भक्ष्यते, परिवारो जीवति, विना सेवकान् राजाप्यराजा स्यात्। यतः—

[१]न यज्वानोपि गच्छन्ति नैव गच्छन्ति योगिनः ।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥२॥

ततस्तैर्व्याघ्रादिभि क्षुद्रे सेवकैस्तथाकृतं तथा जल्पितं, यथा क्रमेलको व्याघ्रादिभिर्हतः। सिंहाद्यैः सर्वैः भक्षितः। यतः—

बहवः पण्डिताः क्षुद्रा सर्वे मायोपजीविनः ।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे व्याघ्रादयो यथा ॥३॥
इति वैरिसेवने उष्ट्रमृत्युसम्बन्धः ॥५८९॥

[590] अथ हितवाक्ये कच्छपसम्बन्धः ।

मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनंदति ।
स कूर्म्म इव निर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति ॥१॥

तथाहि—एकस्मिन् जलाशये कंबुग्रीवकच्छपस्य सकटविकटौ पक्षिणौ सुहृदौ जातौ। मिथः प्रीतिः त्रयाणा जाताः। सायं स्वस्वस्थाने ययु'। एकदा मेघे अवर्षति सरः शोषं गच्छत् दृष्ट्वा सकटविकटौ कंबुग्रीवस्याग्रे प्रोचतुः—भवान् वृद्धोऽन्यत्र यातुं न शक्तोऽस्ति, तत किं करिष्यते? कच्छप प्राह—आनीयतां काष्ठ प्रलब, तस्मिन्काष्ठेऽहमुपविशामि। युवाभ्यां काष्ठमुभयोः पार्श्वे दन्तैर्धृत्वोत्पा[ट्या]न्यत्र जलाशये नेतव्यम्। ततोऽहं सुखी भविष्यामि। युवा पक्षिणौ मे सुहृदौ। तत्र सरस्तीरे तिष्ठत। फलास्वादादि कुरुत। तौ प्रोचतुरेवं कुर्वतो आवयोस्त्वया मौनं कार्यं, नो चेन्मार्गे त्वयि जल्पति लोका असदक्ष दृष्ट्वोपद्रव करिष्यन्ति। कच्छपेन मानितोऽतो [मानिते सति] काष्ठमानीय तं तत्र स्थापयित्वा व्योम्नि चलितौ तौ सुहृदौ पक्षिणौ तथा काष्ठारूढं कच्छप कृत्वा यदा व्योम्नि चेलतु.। यदा वेणापुरोपरि आगतौ तदा लोका काष्ठं तथाकार दृष्ट्वा प्रोचुः—

१. न यज्वानोऽपि गच्छन्ति, ता गतिं नैव योगिन ।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणा स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमा ॥ इत्यपि श्रूयते ।

अहो अपूर्वं किमपि याति व्योम्नि तदा कोलाहलं श्रुत्वा कम्बुग्रीवोऽवग्–भो सुहृदौ ! लोकाः कोलाहलं किं कुर्वन्ति । तद्वचनं श्रुत्वा लोका अगुः—अरिष्टमेतत्पुरस्य करिष्यत्यतो हन्यताम् । ततो लोकैर्लगुडैराहत्याहत्य पातितो भुवि खण्डशः कृतश्च सः । सुहृदौ स्वं जीवं लात्वा नष्टौ ।

इति हितवाक्ये कच्छपसम्बन्धः ॥५९०॥

[591] अथ अनागतमति–प्रत्युत्पन्नमति–यद्भविष्यसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिज्जलाशये अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिः यद्भविष्यश्च त्रयो मत्स्या वसन्ति । एकदा तस्य सरसः पार्श्वे गच्छद्भिः मत्स्यबन्धकैरुक्तम्—अयं ह्रदो बहुमत्स्यपूर्णोऽस्ति तेनात्र मत्स्या गृह्यन्ते । एकेनोक्तं प्रातरत्रागत्य गृहीष्यन्ते मत्स्याः । एतदाकर्ण्य अनागतविधाता द्वयोः पुरः प्राह—कल्येऽमी निष्काशयिष्यन्ति । आत्मनो धरिष्यन्ति हनिष्यन्ति । प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—सत्योऽस्तु अन्यत्र गम्यते । उक्तं च—

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥१॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्, एकत्ररात्रेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥२॥

यद्भविष्योऽवग्–तदा हसित्वा अहो भवद्भ्यां सम्यग् चिन्तितं मन्त्रितं च वचनमात्रमेतत् । एतत्पितामहसरस्त्यक्तुं न युक्तम् । आयुःक्षयादन्यत्र गतैरपि न छुट्यते । ततोऽहं न यास्यामि । युवयोर्यद् रोचते तत् क्रियते । ततः अनागतमतिप्रत्युत्पन्नमती अन्यत्र जलाशये गतौ सपरिवारौ । प्रातर्मैनिकैस्तत्रेत्य जलं विलोड्य यद्भविष्यः सकुटुम्बो धृतः स विनाशितश्च । उक्तं च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेतौ सुखमाधत्ते यद्भविष्यो विनश्यति ॥३॥

इति अनागतमतिप्रत्युत्पन्नमतियद्भविष्यसम्बन्धः ॥५९१॥

[692] अथ चटिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने चटकपक्षी वसति स्म । चटिकया वृक्षे मालकं कृतं, प्रसवो जातः । गजेनागत्य तथा धूनितो यथा तस्या अपत्यानि मृतानि । एवं चटिका रात्रिंदिवं पुनः पुनः मालके भग्ने चटिकां प्रति चटकः प्राह—किं क्रियते अत्रान्तरे तत्रागतः काष्ठकूटः पक्षी, तां रुदन्तीं दृष्ट्वा प्राह—किं वृथा रुदितेन । उक्तं च—

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।
पण्डितानां च मूर्खाणां, विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥१॥

तस्मान्न रोदितव्यं, क्रिया कार्या स्वशक्तितः । ममापि संतानमनेन हृतम् । तद् दुःखं ममाप्यस्ति । सावग्-मातुरपत्यानां मृतेरतीव दुःखं जायते । काष्ठकूटः प्राह-सत्यमुक्तं त्वया, तत्पश्य मे बुद्धिप्रपञ्चम् । मम सुहृत् वीणारवा मक्षिकास्ति तीक्ष्णतुंडा, तथा च गज आकुलः क्रियते । ततो मक्षिका आहूता कार्यं प्रोक्तं तस्या अग्रे । मक्षिकावग्-ते वचः प्रमाणं परं मम मेघनादो भेकः सुहृद् वर्तते । स चाकार्यते सोपि भेक आकारितः । चटिकाऽपत्यहननस्वरूपं प्रोक्तं तस्याग्रे । ततः काष्ठकूट प्राह्—भो मक्षिके वीणे ! तथा कुरु यथा गजो व्याकुलो भवति । मक्षिकया तत्प्रतिपन्नं काष्ठकूटोऽवग्-तस्य नेत्रे कर्षयिष्यामि । भो भेक ! त्वं गर्तायां गत्वा शब्दं कुरु तथा वारिलोभादंधीभूतो गजस्तस्यां पतित्वा म्रियते । ततो मक्षिकया गजो व्याकुलीकृतः । काष्ठकूटेन चंच्वा नेत्रे कर्षिते । ततोंधीभूतो गजः तृषार्तो मेघशब्दं श्रुत्वा जलभ्रान्त्या गर्तांधः पपात मृतः । उक्तं च—

चटिका काष्ठकूटेन मक्षिका सह दर्दुरैः ।
महाजनविरोधेन कुंजरः प्रलयं गतः ॥२॥

इति सामान्येनापि वैरं दुःखाय स्यात् । इति चटिकासम्बन्धः ॥५९२॥

[593] अथ स्वपराभव-समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः ।

समुद्रोपकण्ठे टिट्टिभदंपती वसतः स्म । अन्यदा टिट्टिभ्योक्तं पत्युः पुरः—स्वामिन् ! मम प्रसवावसरोऽस्ति कुत्र स करिष्यते मया । टिट्टिभः प्राह-अत्रैव रुचिरं दृश्यते, अब्धे पार्श्वे क्रियताम् । टिट्टिभी प्राह—कदाचिद्वार्द्धिरंडकान्यपहरिष्यति तदात्मनो का गतिः ? टिट्टिभोऽवग्-समुद्रो मया समं वैरं न करिष्यति । यतः—

को गृह्णाति फणिमणि ज्वलमान तेजसा भुजंगस्य ।
यो दृष्ट्वैव प्रहरति, दुरासदं कोपयति कस्तम् ॥१॥

यः परामवसंत्रस्तः स्वस्थानं विजहौ (सत्यजेत्) नरः ।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥२॥

टिट्टिभ्यवग्—सत्यमुक्तं, परं वार्द्धि बली विद्यते । टिट्टिभोऽवग्-किं क्रियते वराकेन ? एतत् श्रुत्वा अब्धिर्दध्यौ-अहो गर्वः टिट्टिभस्य वराकस्य । यतः—

स्वचित्तकल्पितो गर्वः शक्यते केन वारितुम् ।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद् भुवः ॥३॥

तन्मया कौतुकं विलोकयिष्यते । अन्यदा टिट्टिभी अंडकानि मुक्त्वा चुण्यर्थं गता । समुद्रो वेलाव्याजेन तानि जहार । टिट्टिभी तत्रागता स्वाण्डकानि वार्द्धयापहृतानि दृष्ट्वा पतिं प्रति प्राह—स्वामिन् ! मयोक्तं समुद्राऽण्डकानि हरिष्यति, समुद्रेणापहृतानि, त्वं तस्य किं करिष्यसि । टिट्टिभः

प्राहेति प्रिये ! मम चेष्टितं विलोकय तथा करिष्ये यथा विभ्यन् वार्द्धिरण्डकान्यर्पयिष्यति न । टिट्टिभी प्राह असमर्थेन पुंसा समर्थस्य किं स्यात् । यतः—

पुंसामसमर्थानां उपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं क्वथदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥४॥

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवद् ॥५॥

टिट्टिभः प्राह–मैवं वद प्रिये ! । उक्तं च—

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरिभूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥६॥

टिट्टिभी जगौ–कान्त ! कथं महदब्धेः पराभवः स्यात् । टिट्टिभोऽवग्—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं, चञ्चूर्मे लोहसन्निभा ।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ॥७॥

दुरधिगमः परभागो यावत् पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥८॥

टिट्टिभी प्राह—यद्यब्धिना सह वैरं करिष्यते तदा सर्वान् पक्षिणः आकारय । ततश्चञ्चुभिर्धूलिं क्षिपाब्धौ । यतः—

बहूनामप्यसाराणां, समुदायो हि दुर्जयः ।
तृणैर्वेष्ट्यते रज्जुर्यया नागोऽपि बध्यते ॥९॥

ततो टिट्टिभेन बक-सारस-चक्रवाकादयो विहङ्गमा आकारिताः । प्रोक्तश्च स्वपराभवसम्बन्धः । ते पक्षिणः प्राहुः—वयमसमर्थाः समुद्रः कथं शुष्यते ? वृथा प्रयत्नेन । उक्तञ्च—

अचलं प्रोन्नतं शत्रुं, यो याति मदमोहितः ।
युद्धार्थं स निवर्तेत, शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१०॥

ततः आत्मनः स्वामी गरुडो विद्यते । तत्र सुस्वामिबलात् समुद्रस्य शिक्षां ददासि । ततस्तैर्वैनतेयस्य दुःखं ज्ञापितम् । अधुनाऽब्धिना पराभवः कृतः आत्मजाते, अन्येऽपि करिष्यन्ति । यतः—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य, करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः ॥११॥

राजा बंधुरबंधूनां, राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा रात्रिहरो (?) गुरुः ॥१२॥

सर्वेषा पक्षिणां राजा, त्वमसि गरुडोत्तम ! ।
कुरुते न तथांभोधिर्यथा शोषं प्रयास्यति ॥१३॥

ततो गरुडः सचिन्तो यावदभूत् तावत् कृष्णस्य दूतो गरुडमाकारयितुमागात् दैत्ययुद्धहेतवे । ततो गरुडः कृष्णपार्श्वे प्राह—टिट्टिभस्य अण्डानि समुद्रेणापहृतानि वालय । यतः—

यो न वेत्ति गुणान् यस्य, न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किञ्चिद्, सुकृष्टादूषरादिव ॥१४॥

ततः कृष्णोऽवग्—भो गरुडः ! त्वया सत्यमुक्तम् । यतः—

भृत्यापराधे यो दण्डः, स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जापितस्योत्था तु भृत्यस्य स्वामिनो भवेत् ॥१५॥

ततो गरुडादिपरिवारयुक् कृष्ण. समुद्रकण्ठे गत्वा आग्नेयं शरं धनुषि आरोप्याब्धिं प्रत्यवग्—टिट्टिभस्याण्डकान्यर्पय, नो चेदनेन शरेण त्वां स्थलं करिष्यामि। ततः समुद्रो बिभ्यन् टिट्टिभाण्डानि पश्चाद्ददौ, जगौ चाऽतो नापराध करिष्ये । तत. सर्वे स्वस्वस्थानं ययु. । उक्तं च—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा, वैरमारभते तु यः ।
स पराभवमाप्नोति, समुद्रः टिट्टिभाद्यथा ॥१६॥

इति स्वपराभव समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः ॥५९३॥

[594] अथ पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ।

भीमपुराद् धर्म्मबुद्धिपापबुद्धी सुहृदौ विचार्य धनार्जनाय चलितौ । धनमुपार्ज्य पश्चात् स्वगृहं प्रति चेलतुस्त्वरित । यतः—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद् भवेत् ॥१॥

मार्गे पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्रत्यवग् सर्वं धन गृहे न नीयते । कुटुंबिनो बांधवा मार्गयिष्यंति, तेन पुराद्बहि न्यासीक्रियते धनं कियत् । यत.—

न वित्तं दर्शयेत् प्राज्ञः कस्यचित् स्वल्पमप्यहो ।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥२॥

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यन्ते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥३॥

ततस्तौ किञ्चिद्धनं ग्रामाद्बहिर्न्यासीकृत्य गृहमागतौ । एकदा रहो रात्रौ पापबुद्धिना तत्र गत्वा धनं गृहीतं । गर्त्तां पूरयित्वा स्वालये आगात् । अन्येद्युः धर्मबुद्धिं प्राह—धनं विना सीदामि । तेन धनमानीयते । पापधीः प्राह—गम्यतां । ततो द्वावपि धनं लातुं गतौ । धनस्थानं धनरिक्तं दृष्ट्वा प्रथममेव पापबुद्धिः शिरस्ताडयन्नाह त्वयैव धनं गृहीतं धर्मबुद्धे ! नान्येन । यतोऽन्यः कोपि न वेत्ति । धर्मबुद्धिः प्राह—[भो दुरात्मन्, मैवं वद नैतच्चौरकर्म करोमि] त्वया गृहीतं मायां कुर्वाणोऽसि त्वं अहं तु धर्मधीः कस्यापि तृणमप्यदत्तं न गृह्णामि । यतः—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टुवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥४॥

एवं द्वावपि विवदमानौ राजकुले गतौ मिथो दूषणानि प्रोचतुः । अथ धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं-दिव्यं क्रियताम् । तदा पापबुद्धिः प्राह—अहो न दृष्टो न्यायः सम्यग् भवद्भिः । उक्तं च—

विवादे त्वेष्यते पत्रं, तदभावे च साक्षिणः ।
साक्ष्यभावे ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५॥

यदत्रविषये मे वनदेव्येव साक्षिण्यस्ति । सा च सम्यग् वक्ष्यति चौरं । ततस्तेरुक्तं सत्यं मुक्तं त्वया । उक्तं च—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी, विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं, किं पुनर्यत्र देवता ॥६॥

ततो भानितमधिकारिभिः प्रातर्वनदेवता प्रक्ष्यते । पापबुद्धिना रात्रौ छन्नं पिता स्थापितः शमीकोटरे । प्रोक्तं च त्वयैव प्रोच्यं धर्मबुद्धिधनं लब्धौ । द्वितीयदिने धर्मबुद्धिः पापधीः अधिकारिणोऽन्ये बहवो लोकाः वनं गताः । वनदेव्याः पूजां कृत्वा प्रोक्तं—भो वनदेवते ! येन धनं गृहीतं तत् कथय । ततः शमीकोटरात् शब्दो निस्ससारेति धर्मबुद्धिधनं लब्धौ । ततो यदाधिकारिणो ब्रुवुस्त्वया धनं गृहीतं । तदा धर्मबुद्धिना शमी वह्निना ज्वालितः । शमीतरौ ज्वलति अर्धदग्धाङ्गः पापधीपिता स्फुटिताक्षः शमीकोटरान्निर्ययौ । ततोऽधिकारिभिः प्रोक्तं—अहो किमेतत्किं त्वया वृद्धत्वे पापं कृतं । स प्राह—पुत्रेण कारितोऽहं । ततो हक्किताः पापधीः । सर्वं धनं ददौ धर्मबुद्धिसत्कं । पापबुद्धिसम्बन्धिराज्ञा गृहीतं । पापबुद्धिः स्वदेशान्निष्काशितः । उक्तं च—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ भुवि ।
पुत्रेण मारितः पाप-बुद्धिना धनलोभतः ॥७॥

इति पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ॥४०४॥

[595] अथ स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ।

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य, नकुलेन हता बकाः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् वने वृक्षे बकास्तिष्ठन्ति । तस्य तरो. कोटरे सर्पस्तिष्ठति । स चाहिर्जातमात्रान् बकबालकान् भक्षयति स्म । ततो दु.खितो बको जलाशयतीरे गत्वा रोदिति । कुलीरकोऽवग्- बक ! कथं रुद्यते ? । बकेन तस्य दुःख[स्व]रूपं प्रोक्तं । कुलीरो दध्यौ अयं मम सहजो वैरी विद्यते ततस्तथा वच्मि यथा सत्यानृतं भवति । बका अपि वैरिण. क्षयं यान्ति, अहिरपि च । ततो मधुरं प्राह—

नवनीतां समां वाणीं, कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः, सान्वयो म्रियते यथा ॥२॥

ततः कुलीरोऽवग्–अतो मत्स्यमांसखण्डानि लात्वा नकुलवर्त्मत· सर्पकोटरं यावत् मुञ्च [यथा नकुलस्तं दुष्टसर्पं विनाशयति] त्वमपि स्वभक्षणाय गृहाण । ततस्तेन कुलीरोक्तं कृतम् । ततो नकुलो मांसलुब्ध· प्रथम सर्पं गृहीत्वा जघान । अतो वैरिणः पुरः स्वगुह्यं न [प्र]काश्यम् ।

इति स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ॥५९५॥

[596] अथ मिथच्छले तुलाभार सहस्रसम्बन्धः ।

पद्मपुरे जीर्णधनश्रेष्ठी क्रमाद् दरिद्रो भूत्वा धनमुपार्जयितुं दूरदेशं यियासुरभूत् । यतः—

यत्र देशे[ऽथवा]स्थाने, भोगान् भुक्त्वा स्ववीर्यतः ।
तस्मिन् विभवहीनो यो, वसेत् स पुरुषाधमः ॥१॥

ततो लोहमयीं तुलां भारसहस्रघटितां धनदवणिजो गृहे ग्रहणके मुक्त्वा धनं लात्वा च सोऽचालीत् । ततो विदेशाद्धनमुपार्ज्य यदागतः श्रेष्ठी धनदस्याग्रे प्राह—धनं सव्याजं गृहाण, निक्षेपकृता तुला दीयताम् । धनदोऽवग् तुला मूषकैः खादिता । ततः श्रेष्ठी आकारगोपनं कृत्वा धनदपुत्रं नीत्वा नदीस्नानकरणमिषेण नद्यां गतः । तत्र वृक्षकोटरे धनदपुत्रं दृढं स्थापयित्वा धनदगृहे स्नानं कृत्वाऽगात् । धनदोऽवग्–मम पुत्र क्वास्ति । जीर्णः प्राह—स्नानं कुर्वन् नद्यां शे[श्ये]नेनापहृतः । धनदोऽवग् जीर्णश्रेष्ठिन्निद कूटं किं जल्प्यते ? । बालकं श्येनः कथमुत्पाट्यते । पुत्रमर्पय न चेत् त्वां राजकुले नेष्यामि । जीर्ण. प्राह–यथा मम तुला लोहमयी महती मूषकैः खादिता तथा तव पुत्रोऽपि श्येनेनापहृतः । राजकुले गतौ । तत्रापि न्यायो जातः । द्वयोरग्रे प्रोक्तं धनद त्वमस्मै तुलां वितर । जीर्णस्ततस्तुभ्यं पुत्रं दास्यति । ततो धनदेन तुला दत्ता जीर्णाय । जीर्णेन धनदाय धनदपुत्रो दत्त· ।

तुलां भारसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः ।
तत्र श्येनो हरेद्बालं न विस्मयोऽत्र विद्यते ॥२॥

इति मिथच्छले तुलाभारसहस्रसम्बन्धः ॥५९६॥

[597] अथ अनागतचिन्तने लोमांतकसम्बन्धः ।

अनागतं यः कुरुते स शोभते [न शोभते] यो न करोत्यनागतम् ।
[१]वने वसन्तस्य जराप्युपागता बिलस्य वाचा न कदापि निसृता ॥१॥

वने सिंहो वसति स्म । स त्वेकदा भक्ष्यं न प्राप । ततो महतीं गुहां दृष्ट्वा दध्यौ–नूनमस्यां गुहायां रात्रौ सत्त्वानि स्थास्यन्ति । ततोऽहं निभृतं तिष्ठामि । ततः सिंहस्तत्राऽस्थात् । इतो गुहास्वामी दधिपुच्छोनाम लोमांतक [शृगालः] आगतो गुहाद्वारे सिंहपदानि प्रविशन्त्यपश्यत् । न निर्गच्छन्ति । लोमांतको दध्यौ–अस्यां गुहायां सिंहो विद्यतेऽधुना, तत्तो मया सम्यक् कथं ज्ञास्यते । एवं ध्यात्वा स लोमांतको द्वारस्थ एव पूत्कर्तुं लग्न इति भो गुहे ! यदि त्वं मामाह्वयसि तदाहं मध्ये समेष्यामि नो चेद् द्वितीयस्यां गुहायां यास्यामि । एवं पुनः पुनः जल्पन्तं श्रुत्वा सिंहो दध्यौ–अयमाकारणं विना नेवात्रायाति । ततः सिंहो जगौ– भो लोमांतक ! आगच्छ आगच्छ । ततः सिंहशब्दं श्रुत्वाऽन्येऽपि सत्त्वा दूरं नष्टाः । ततो लोमांतको जगौ– अनागतं यः कुरुते स शोभते " इदं काव्यं प्रोच्य गुहायां न गतः । ततश्चिरं जिजीव लोमांतकः । सिंहो बुभुक्षितोऽन्यत्र गतः ।

इति अनागतचिन्तने लोमांतकसम्बन्धः ॥५९७॥

[598] अथ स्वजातिनिकन्दनपापे गङ्गदत्तभेकसम्बन्धः ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य, न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१॥

एकस्मिन् कूपे गंगदत्ताह्वो भेकोऽवसत् । अन्यैर्भेकैरुद्वेजितो दध्यौ–इतो निर्गत्य भेकानुपायात् हन्मि । यतः—

आपदि यनाऽपकृतं, येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥२॥

एवं विमृश्य अरघट्टमालया भेकः कूपाद्बहिर्निर्गत्य कृष्णसर्पस्य बिले प्रविष्टः । भेकं निर्भय मागच्छन्तो दृष्ट्वा सर्पः प्राह–भो प्रियदर्शनाऽऽगच्छ किं कार्यं तव । भेकोऽवग्–अहं भेकोऽस्मि गंगदत्ताह्वः त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमागाम् । सर्पः प्राह अश्रद्धेयमेतत्—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथंचन ।
न च तत्पार्श्वमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥३॥

भेकोऽवग्–सत्यमिदं प्रोक्तं त्वया परं स्वज्ञात्याहं पराभूत, ततस्तस्य निकन्दनाय तव पार्श्वे समागमम् । यतः—

[१] वनेऽत्र संस्वस्य समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता । —इति क्वचित् ।

सर्वनाशे समुत्पन्ने प्राणानामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्योच्चै, रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥४॥

सर्पोऽवग्—वैरिणः कुत्र सन्ति । भेकोऽवग्–कूपे सन्ति । सर्पोऽवग्–तत्र कथं गम्यते । कथं ते दायादाः [भक्षयिष्यते] । भेकोऽवग्–अहं विश्वास्य दर्शयिष्यामि दूरतो यान् तान् त्वया भक्षणीया । ततो भेको गंगदत्तः सर्पं अरघट्टघटमार्गेण कूपमध्ये नीतवान् । ततो भेकेन दर्शिता भेका भक्षिताः सर्पेण । अथ भेकाभावे सर्प्पोऽवग्–तव वैरिणो भक्षिता मया । ततोऽहं बुभुक्षितोस्मि, प्रयच्छ भक्ष्यं, यतोऽहं त्वयानीतोऽस्मि । गंगदत्तोऽवग्–भद्रं कृतं मत्कार्यं, त्वं स्वस्थाने गच्छारघट्टघटीमार्गेण । सर्पः प्राह–मदीयं बिलमन्यै रुद्धं भावि, तेनात्रस्थस्य मम स्ववर्गादेकैकं भेकं प्रयच्छ प्रतिदिनं नो चेत् सर्वानपि भक्षयामि [भक्षयिष्यामि] । ततो गंगदत्तो बिभ्यन् दध्यौ–मया किमकार्यं कृतम् । असौ वैरी अत्रानीतो मौढ्यात् यदि किं जल्पते सम्मुखं तदा सर्वान् मया सह भक्षयत्यहि. । यतः—

अमित्रं कुरुते मित्रं वीर्योऽभ्यधिकमात्मनः ।
स करोति निःसंदेहः स्वयं च विषभक्षणम् ॥५॥

तत्प्रयच्छाम्येकैकं सर्प्पायास्मै प्रतिदिनं । उक्तं च—

सर्वनाशे समुत्पन्ने, अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
न स्वल्पस्य कृते सर्वं नाशयेत् मौढ्यमास्थितः ॥६॥

एवं ध्यात्वा स्वजातित एकमेकं भेक सर्प्पाय ददाति गंगदत्तः । परोक्षे अपरमपि सर्प्पोऽवसरे भक्षयति । एकदा गंगदत्तपुत्रोपि बुभुक्षितेन भक्षितोऽहिना तत् ज्ञात्वा गंगदत्तो विलापान् करोति । ततो गगदत्तपत्न्याभिहितं—कान्त ! असौ सर्प्पो यथा निष्काश्यते मार्यते वा तथा कुरु, किं रोदनेन । वैरी स्वगृहे आनीतो मुधा स्वजातिर्निष्ठापिता । कालेन गच्छता एको गंगदत्त उद्वरितः । सर्पेणोक्त भक्ष्यं देहि बुभुक्षितोऽस्म्यहम् । त्वयाहमत्रानीतोऽस्मि । गंगदत्तः स्वजीवितरक्षणाय विचिन्त्याह—भो मित्र ! त्वमत्र तिष्ठ, अहमन्यस्मात् कूपात् विश्वास्य विश्वास्य भेकानानेष्यामि त्वया ते भक्षणीयाः । एवं प्रोक्त्वा गंगदत्तोऽरघट्टघटीमार्गेण निर्गत्यापरकूपे गत । स च भेको यदा नायाति तदा सर्पो गोधां प्रति प्राह—गंगदत्तं विश्वास्यात्रानय । सा च गोधा पश्यन्ती गंगदत्ताधिष्ठिते कूपे ययौ जगौ च—भो गंगदत्त ! तव सुहृद् सर्प्पः तव वर्त्म विलोकयन्नस्ति । तव विरहात्तस्य प्राणा यान्ति । ततो गंगदत्तोऽवग् गच्छ गोधे ? कथय मम मित्राय "बुभुक्षितः किं न करोति पापं ।"

इति स्वजातिनिकन्दनपापे गगदत्तभेकसम्बन्धः ॥५९८॥

[599] अथ मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥१॥

वने सिंहस्य शृगालो मित्रं । एकदा सिंहस्य हस्तिना सह युध्यतः शरीरं जर्जरं जातम् । गन्तुं न शक्नोति । ततो बुभुक्षितो मित्रं प्रति प्राह—सत्त्वमेकमानय, बुभुक्षा लग्ना, प्राणा यास्यन्ति । ततः शृगालो भ्रमन् लम्बकर्णं रासभं दृष्ट्वा अवग्—भो लम्बकर्ण ! क्षामः कथं त्वम् । सोऽवग् कुम्भकृद् भारं वाहयति परं किमपि न दत्ते । स्वयं शुष्काणि तृणानि भक्षयित्वा निर्वाहकं करोमि तेनाहं क्षामोऽस्मि । शृगालोऽवग्—यदि मदुक्तं कुरुषे तदा तथा करोमि यथा मधुरं भक्ष्यं तव भवति । ततो लम्बकर्णः शृगालेन सह चचाल । अग्रे सिंहस्य नीतस्तदा सिंहश्चपेटां दातुमुद्यतोऽभूत् । तदा रासभो नष्टः स्वस्थाने गतः । सिंहोऽवग्—शृगालं मित्रं प्रति, बुभुक्षा लग्ना । किं करिष्यते । शृगालोऽवग्—मया तु भक्ष्यमानीतं त्वया स भक्षितुं न शक्तः किं क्रियते । सिंहोऽवग् पुनरानय तं तथा करिष्येऽहं यथा न पश्चाद् यास्यति । ततः शृगालो रासभपार्श्वं गत्वा भो मित्र ! त्वं कथं नष्टः । स रासभोऽवग्—सिंहो मां हन्तुं धावितस्तेनाहं नष्टः । शृगालोऽवग्—न सिंहोऽयं किन्तु रासभी त्वामालिङ्गितुमनुरागत्वादधाव । त्वं तु नष्टः ततःप्रभृति सा रासभी त्वां विना न शेते । ततः स्वदर्शनेन तां प्रीणय । ततो रासभेन मुग्धत्वात् शृगालवचः प्रतिपन्नं । ततस्तत्र गतः सिंहेन चपेटया हतः भक्षितश्च । ततोऽन्यैकदा आगतश्च गतश्चैव । इति मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ॥५९९॥

[600] अथ अनुचितजल्पने कुम्भकारसम्बन्धः ।

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः ।
स स्वार्थाद् भ्रश्यते कुम्भकारो युधिष्ठिरो यथा ॥१॥

भीमपुरे युधिष्ठिरः कुम्भकारः तस्य कस्मिंश्चिदुत्सवे गच्छतो मत्तघटस्य कर्परं ललाटे दृढं लग्नं । पृथ्वी चंद्रिका पतिता क्रमाद् रूढा ।

अथ कदाचिद् दुर्भिक्षे पतिते परदेशे चन्द्रपुरे चन्द्रभूपस्य मिलितः । ललाटे खड्गप्रहाराकारां चन्द्रिकां दृष्ट्वा स सेवकः कृत, द्विगुणो मासः कृतो राज्ञा । अन्यदा परचक्रे समागते राज्ञोक्तं—वैरिणं सम्मुखं गत्वा युद्धं कुरु वैरिणश्चापरं त्वया पुरापि युद्धं कृतमस्ति । ततः स प्राह—सत्यमसत्यं वा प्रोच्यते । राज्ञोक्तं सत्यमेव जल्प । ततस्तेन स्वललाटे चंद्रिकापतनस्वरूपं प्रोक्तम् । ततो राज्ञा अर्धचन्द्रदानेन सर्वमासं गृहीतश्च ।

इति अनवसरोचितजल्पने अनुचितजल्पने च कुम्भकारसम्बन्धः ।

[601] अथ मातृहितोपरि सिंहीसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्वने सिंहदम्पती तिष्ठतः स्म । अपत्यानि न भवन्ति । एकदा सिंहेन बालः शृगालो दृष्टः । स च पुत्रो ममायमिति पत्न्यै दत्तः । उक्तं च—त्वया पुत्रवदयं पालनीयः । ततः सिंही पालयामास च । क्रमात्सिंह्या पुत्रद्वयं जनितं । त्रयोऽपि सोदरीभूताः तिष्ठन्ति गच्छन्ति । एकदा त्रिभिर्मत्तो गजो दृष्टः । ततः सिंहपुत्रौ धावितुं लग्नौ । तदा तृतीयः सिंहीपुत्रः प्राह—भो सोदरौ !

अयमात्मनो वैरी नो हनिष्यति । ततस्त्रयोऽपि स्थिताः । गजो गतोऽन्यत्र । ततः सिंहजौ मातापितोः पुरः प्रोचतुः—गजप्राप्ति—स्वरूपं । आवयोरयं भ्राता गजात् कथं बिभेति ? शृगाल-भ्राता तयोरुपरि रुष्टोऽत्यन्तं । ततः सिंह्याकार्य शृगा(ल)पुत्रं प्रति प्रोचे । तव सोदराविमौ तयोः पुत्रयोः पुरः प्रोक्तम्—अयं युवयोर्भ्राता मिथः कलहं मा कुरुध्वं । ततः शृगालपुत्रो मातुः पार्श्वे प्राह—मातरहं एताभ्यां भ्रातृभ्यां हीनबलः कथं । माताऽऽचष्ट—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रकः ।
परं यत्र त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥१॥

इति मातृहितोपरि सिंहोसंबंधः ॥६०१॥

[602] अथ अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ।

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयेद्दारुणं वपुः ।
व्याघ्ररूपधरस्तादृग् वाक्कृते रासभो हतः ॥१॥

पद्ममासे रजकस्य शुद्धपटस्य गर्द्धभो घासाभावात् कृशोऽभूत् । इतो रजकेन व्याघ्रचर्मप्राप्त । ततो व्याघ्रचर्म्म परिधाप्य, रासभशरीरो व्याघ्रतुल्य रासभ, कृत्वा यवक्षेत्रेषु यवान् चारयामास रजकः । ततः क्षेत्रेषु लोका व्याघ्र दृष्ट्वा दूर नश्यन्ति । स च रासभः पीनतनुर्दूरादपि शब्दमक[रो]त् । ततो यवपालकै रासभो ज्ञातो व्याघ्ररूपभृत् । एवं सम्यग् ज्ञात्वा व्याघ्ररूपो रासभस्तैर्हतः ।

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ॥६०२॥

[603] अथ मौनं वर्यमिति एकतादितापससम्बन्धः ।

एकस्मिन्नदीतटे एकतं, द्वितं, त्रितं नामानो भ्रातरस्तपस्तपन्ति । तेषां तपसा धौतपोतिकाः आकाशे निराधारा तिष्ठति । अत्रान्तरे मध्यंदिने गृध्रेण केनचिच्छलेन मात्स्यिका धृता । तां धृतां दृष्ट्वा गृध्रं प्रति एकत प्राह—मुञ्च मुञ्चेमां । ततस्तस्य धौतपोतिकाशाद् भूमौ पपात । द्वितेनापि तदा प्रोक्त मा मुञ्च तस्यापि सा पपाताध. । ततस्तृतीयो मौन चक्रे ।

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्च पतितोऽपरः ।
उभौ तौ पतितौ दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति मौनं वर्यमिति एकतादितापससमम्बन्धः ॥६०३॥

[604] अथ स्वजातिवल्लभेति मूषिकासम्बन्धः ।

यमुनानद्यां शालंकायनमुनेस्तपः कुर्वतः स्नानं च । एकदा तस्य पश्यतः श्येनो मूषिकां

ऽक्षी । तां श्येनगृहीतां दृष्ट्वा सकरुणस्तापसः प्राहेति—मुञ्च मुञ्चेमां वराकिकाम् । तामर्मुञ्चान श्येन प्रति ततः प्रस्तरान् तापसः प्राक्षिपत् । सोऽपि श्येनः पाषाणहतो भूमौ पपात । मूषिका मुने शरणं प्राप्ता । श्येनोऽपि कष्टचेतन्योऽवग्—भो मुने ! मदीयं भक्ष्यं त्वया कलितं त्वया विधिना दत्तम् । ततस्तव तपः कृतं निष्फलं भविष्यति । शालकायनो जगौ—एनां शरणागतां प्राणात्ययेऽपि न मुञ्चाम्यहम् । ततः श्येनो गतः । मूषिकाथ प्राह—मां स्वाश्रमं नय नोचेदपरो हनिष्यति । ततस्तेन ऋषिणा सा मूषिका कुमारी कृता पुत्रीतिकृत्वा स्थापिता । क्रमाद् यौवनं प्राप्ता । ऋषिर्वरं विलोकयते । यतः—

कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥१॥

ततो मुनिना वरो रविरानीतः । स च तापकत्वात् त्यक्तः । ततो मेघ आनीतो मुनिना स च कृष्णत्वात् तया न वरितः । ततो वायुरानीतोऽपि मुनिना चपलत्वान्नाङ्गीचक्रे । ततो मुनिना पर्वत आनीतः कठिनत्वान्नाङ्गीचक्रे । ततो मुनिना पुनः सा मूषिका कृता । यतः—सूर्यमेघवायुपर्वतमूषका यथाक्रमं बलिनः, अतो मूषकपत्नी जाता । स्वजातिं प्राप्य सन्तुष्टाभूत् सा, यत—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वयोनिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमाः ॥१॥

इति स्वजातिप्रेमेति मूषिकासम्बन्धः ॥६०४॥

[605] अथ भये वणिक्-प्रियासम्बन्धः ।

या मामुद्विजते नित्यं, साऽद्य मामवगूहति ।
प्रियकारक ! भद्रं ते, यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥१॥

हीरग्रामे धीरो वणिग् बभूव । तस्य वृद्धत्वेन पत्नी मृता । अपरा परिणीता च तेन । सा च वृद्धत्वात्तमति न मन्यते । एकदा चौरः प्रविष्टः । स च प्रविष्टं दृष्ट्वा भयभीता पतिपार्श्वे गत्वा प्राह—स्वामिन् ! चौरः प्रविष्टः मां अपहरिष्यति । रक्ष रक्ष माम् । ततो वणिजा तां स्थिरीकृत्य चौरसाम्ने प्रोक्तं तम । भद्रस्त्वं भयं मा कार्षीः । यन्मम धनं तत्तवैव यतस्त्वया ममोपकारः कृतः, यन्मम पत्नी मयि अनुरक्ता कृता त्वया । तच्चौरोऽप्येत्य प्रोक्तः—'भो श्रेष्ठिन् ! तव पत्नीमपहरिष्यामि सहस्रदीनारान् गृहीया ।" ततो द्वितीयदिने सा विशेषतो भीता चौरेण पतिभक्ता स्त्री जाता । यतः—या मामुद्विजते नित्यं ।

इति भये वणिक्प्रियासम्बन्धः ॥६०५॥

[606] अथ अकार्यकरणे हालिकस्त्री-शृगालिकासम्बन्धः ।

शालिग्रामे हालिकपत्नी हालिकं स्वकरवाच्यं पतिं चिकीर्षुरभूत् । एकदा तस्याः परचित्तान्-

हारको मिलितः। तेन समं प्रीतिर्जाता। हालिक उवाच मम पार्श्वे बहु धनं विद्यते तद्गृहीत्वान्यत्र गम्यते। ततः आवाभ्यां सुखेन स्थीयते। ततः सा रात्रौ पतिं सुप्तं मुक्त्वा बहुवस्त्राभरणादि लात्वा तेन सह चचाल। मार्गे नदी समेता। चौरश्चिंतयामास—किमनया स्त्रिया यया पतिस्त्यक्तः सा च मम पार्श्वे न स्थास्यति अतो वचयित्वैनां यामि। ततस्तां प्रति प्राह—नदी अगाधा विद्यते, प्रथमं वस्त्रादि मह्यमर्पय। नद्याः परकूले मुक्त्वा त्वां नेष्यामि। ततस्तया एकं त्रुटितं जीर्णवस्त्र परिधानाय रक्षयित्वा परं तस्यार्पितम्। स च सर्वं लात्वा नदीमुत्तीर्य नष्टः यदा स नागच्छति तदा शीते पतति एकाकिनी निर्वस्त्रा गद्गदस्तहस्ता साभूत्।

इतस्तत्र तटैका श्रृगालिर्मांसपिंडिं लात्वाऽऽगात्। तदा जलान्निर्गत्य मत्स्यो मांसपिंडलोलुपो मृतप्रायो भूत्वा स्थितः। तं मत्स्य लातुकामा श्रृगालिका स्वाऽऽस्यात् मांसपिंडमधो मुक्त्वा मत्स्यं गृहीतुमधावत्। अत्रान्तरे व्योम्नः गृध्रोऽभ्येत्य मांसपिण्ड लात्वाकाशे गतः। मत्स्योऽपि नदीजले गतः। ततस्तां श्रृगालीं व्यर्थश्रमां गृध्रसम्मुखमवलोकयंतीं सवेल कियंतीं दृष्ट्वा स्त्रिया तयोक्तं श्रृगालीं प्रति—

गृध्रेणापहृतं मांसं, मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जंबुके ॥१॥

श्रृगालिका प्रत्युत्तरं जगौ—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव।
न जारो न च भर्त्तारो किं निरीक्षसि नग्निके ॥२॥

ततः सा स्त्री चिरं दुःख प्राप्ताऽकार्यकरणात्।

इति अकार्यकरणे हालिकस्त्रीश्रृगालिकासम्बन्धः ॥६०६॥

[607] अथ स्वदेश–स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः।

सुभिक्षाणि च सर्वत्र, शिथिलाश्चापि योषितः।
एको दोषो विदेशे स्यात्, स्वजातिश्च विरुध्यते ॥१॥

एकस्मिन् ग्रामे चित्राङ्गः श्वानस्तिष्ठति। तत्र दुर्भिक्षे पतिते सर्वे लोका अन्नाभावात् दुःखिता जाताः। अत्रान्तरे चित्रांगः क्षुत्क्षामः सुभिक्ष श्रुत्वा तत्राऽचलत्। वंगदेशे गतः। तत्रैकस्य गृहे शिथिला पत्नी यथा तथान्न क्षिपति। स च तदन्न भक्षयन् तृप्तोऽभूत्। परं बहिर्निर्गतोऽन्यैः श्वानैः पराभूतः। ततः श्वा दध्यौ—अहो वर स्वदेशस्तत्र दुर्भिक्षेपि स्वेच्छया हिण्डते स्थास्यते तत श्वाऽसौ स्वदेशे गतः। देशान्तरायातः स चान्यैः पृष्टः—भो चित्रांग! कथय देशान्तरवार्ता। स प्राह—सुभिक्षं, शिथिला स्त्रियः, पर तत्र देशे सुहृद्–स्वजनः कोपि न। अन्ये श्वानोऽन्यं देशान्तरायातं कदर्थयन्ति। स्वजातिर्न सुखावहाऽन्यत्र।

इति स्वदेश–स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः ॥६०७॥

ददौ । तां श्येनगृहीतां दृष्ट्वा सकरुणस्तापसः प्राहेति—मुञ्च मुञ्चेमां वराकिकाम् । तामसुंचान् श्येन प्रति ततः प्रस्तरान् तापसः प्राक्षिपत् । सोऽपि श्येनः पाषाणहतो भूमौ पपात । मूषिका मुनेः शरणं प्राप्ता । श्येनोऽपि लब्धचैतन्योऽवग्—भो मुने ! मदीयं भक्ष्यं वाञ्छितं त्वया विधिप्राप्तम् । ततस्तव तपः कृतं निष्फलं भविष्यति । शालङ्कायनो जगौ—एनां शरणागतां प्राणात्ययेऽपि न मुञ्चाम्यहम् । ततः श्येनो गतः । मूषिकाथ प्राह—मां स्वाश्रयं नय नोचेदपरो हनिष्यति । ततस्तेन ऋषिणा सा मूषिका कुमारी कृता पुत्रीतिकृत्वा स्थापिता । क्रमाद् यौवनं प्राप्ता । ऋषिर्वरं विलोकयते । यत —

कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥१॥

ततो मुनिना वरो रविरानीतः । स च तापकत्वात् त्यक्तः । ततो मेघ आनीतो मुनिना स च कृष्णत्वात् तया न वरितः । ततो वायुरानीतोऽपि मुनिना चपलत्वान्नाङ्गीचक्रे । ततो मुनिना पर्वत आनीतः कठिनत्वान्नाङ्गीचक्रे । ततो मुनिना पुनः सा मूषिका कृता । यतः—सूर्यमेघवायुपर्वतमूषका यथाक्रमं बलिनः, अतो मूषकपत्नी जाता । स्वजातिं प्राप्य संतुष्टाभूत् सा, यत —

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वयोनिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमाः ॥१॥

इति स्वजातिर्दुरतिक्रमेति मूषिकासम्बन्धः ॥६०४॥

[605] अथ भये वणिक्-प्रियासम्बन्धः ।

या ममोद्विजते नित्यं, साऽद्य मामवगूहति ।
प्रियकारक ! भद्रं ते, यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥१॥

हीरग्रामे धीरो वणिग् बभूव । तस्य वृद्धत्वेन पत्नी मृता । अपरा परिणीता च तेन । सा च वृद्धत्वात्पतिं न मन्यते । एकदा चौरः प्रविष्टः । तं च प्रविष्टं दृष्ट्वा भयभीता पतिपार्श्वे गत्वा प्राह—स्वामिन् ! चौरः प्रविष्टः मां अपहरिष्यति । रक्ष रक्ष माम् । ततो वणिजा तां स्थिरीकृत्य चौरस्याग्रे प्रोक्तं छन्न । भद्रस्त्व भयं मा कार्षीः । यन्मम धनं तत्तवैव यतस्त्वया ममोपकारः कृतः, यन्मम पत्नी मयि अनुरक्ता कृता त्वया । कश्चिदन्यस्य प्रोक्तम्—'भो श्रेष्ठिन् ! तव पत्नीमपहरिष्यामि सहस्रदीनारान् गृहाण' ।" ततो द्वितीयदिने सा विशेषतो भीता चौरेण पतिभक्ता स्त्री जाता । यतः—या ममोद्विजते नित्यं ।

इति भये वणिग्प्रियासम्बन्धः ॥६०५॥

[606] अथ अकार्यकरणे हालिकस्त्री-शृगालिकासम्बन्धः ।

ग्रामे हालिकपत्नी हालिकं स्वस्वाम्यं पतिं चिकीर्षुरभूत् । एकदा तस्याः परविवाप

हारका मिलितः। तेन समं प्रीतिर्जाता। हालिक उवाच मम पार्श्वे बहु धनं विद्यते तद्गृहीत्वान्यत्र गम्यते। ततः आवाभ्यां सुखेन स्थीयते। ततः सा रात्रौ पतिं सुप्तं मुक्त्वा बहुवस्त्राभरणादि लात्वा तेन सह चचाल। मार्गे नदी समेता। चौरश्चिन्तयामास—किमनया स्त्रिया यया पतिस्त्यक्तः सा च मम पार्श्वे न स्थास्यति अतो वञ्चयित्वैनां यामि। ततस्तां प्रति प्राह—नदी अगाधा विद्यते, प्रथम वस्त्रादि मह्यमर्पय। नद्याः परकूले मुक्त्वा त्वां नेष्यामि। ततस्तया एकं त्रुटितं जीर्णवस्त्रं परिधानाय रक्षयित्वा परं तस्यार्पितम्। स च सर्वं लात्वा नदीमुत्तीर्य नष्टः यदा स नागच्छति तदा शीते पतति एकाकिनी निर्वस्त्रा गल्लदत्तहस्ता साभूत्।

इतस्तत्र तटैका शृगालिर्मांसपिंडिं लात्वाऽऽगात्। तदा जलान्निर्गत्य मत्स्यो मांसपिंडलोलुपो मृतप्रायो भूत्वा स्थितः। तं मत्स्यं लातुकामा शृगालिका स्वाऽऽस्यात् मांसपिंडमधो मुक्त्वा मत्स्यं गृहीतुमधावत्। अत्रान्तरे व्योम्नः गृध्रोऽभ्येत्य मांसपिण्डं लात्वाकाशे गतः। मत्स्योऽपि नदीजले गतः। ततस्तां शृगालीं व्यर्थश्रमां गृध्रसम्मुखमवलोकयंतीं सवेलं कियंतीं दृष्ट्वा स्त्रिया, तयोक्तं शृगालीं प्रति—

गृध्रेणापहृतं मांसं, मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जंबुके ॥१॥

शृगालिका प्रत्युत्तरं जगौ—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव।
न जारो न च भर्त्तारो किं निरीक्षसि नग्निके ॥२॥

ततः सा स्त्री चिरं दुःखं प्राप्ताऽकार्यकरणात्।

इति अकार्यकरणे हालिकस्त्रीशृगालिकासम्बन्धः ॥६०६॥

[607] अथ स्वदेश–स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः।

सुभिक्षाणि च सर्वत्र, शिथिलाश्चापि योषितः।
एको दोषो विदेशे स्यात्, स्वजातिश्च विरुध्यते ॥१॥

एकस्मिन् ग्रामे चित्राङ्गः श्वानस्तिष्ठति। तत्र दुर्भिक्षे पतिते सर्वे लोका अन्नाभावात् दुःखिता जाताः। अत्रान्तरे चित्रांगः क्षुत्क्षामः सुभिक्षं श्रुत्वा तत्राऽचलत्। नगरदेशे गतः। तत्रैकस्य गृहे शिथिला पत्नी यथा तथान्नं क्षिपति। स च तदन्नं भक्षयन् तृप्तोऽभूत्। परं बहिर्निर्गतोऽन्यैः श्वानैः पराभूतः। ततः श्वा दध्यौ—अहो वरं स्वदेशस्तत्र दुर्भिक्षेपि स्वेच्छया हिण्ड्यते स्थास्यते तत श्वाऽसौ स्वदेशे गतः। देशान्तरायातः स चान्यैः पृष्ट.—भो चित्रांग! कथय देशान्तरवार्ता। स प्राह—सुभिक्षं, शिथिला स्त्रियः, पर तत्र देशे सुहृद्–स्वजनः कोपि न। अन्ये श्वानोऽन्यं देशान्तरायातं कदर्थयन्ति। स्वजातिर्न सुखावहाऽन्यत्र।

इति स्वदेश–स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः ॥६०७॥

[608] अथ तृणायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ।

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं, कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्तव्यं, नापितेनात्र यत्कृतम् ॥१॥

पाटलिपुरे माणिभद्रश्रेष्ठी धने क्षीणे सुप्तो दध्यौ—

शीलं शौर्यं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ते हि सर्वे, वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥२॥

गगनमिव नष्टतारं, शुष्कमिव सरः श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं, भवति गृहं धनविहीनस्य ॥३॥

इत्येवं संप्रधार्य रात्रौ सुप्तो दध्यौ—प्रातरनशनेन प्राणत्यागं करिष्यामि । माणिभद्रे सुप्ते पद्मनिधिनिधानदेवोऽभ्येत्याऽवग्—मरणं मा कुरु, तव पूर्वकृतशुभ[क]र्मणा कल्ये मध्याह्ने क्षपणकरूपभृदहं तवालये समेष्यामि, त्वयाहं लकुटप्रहारेण ताडितव्यः शिरसि पादयोश्च । ततोऽहं कनकमयोऽक्षयनिधिर्भविष्यामि । एवं प्रोक्त्वा स गतः । प्रातर्दध्यौ श्रेष्ठी—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेन च मत्तेन दृष्टः स्वप्नो न विद्यते ॥४॥

अथ स सत्य एव दृश्यते । ततो लकुटानयनादि सामग्री कृता श्रेष्ठिना । अत्रान्तरे पत्न्या नखप्रक्षालनाय नापित आकारितः स्वगृहे । इतः पद्मनिधिः क्षपणकरूपः समागात् । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना भोजनं कारयित्वा यथाक्रमं काष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । स हेममयः पुरुषोऽभवत् । ततस्तं गृहमध्ये मुक्त्वा श्रेष्ठी प्राह नापितं प्रति दीनारशतं त्वया ग्राह्यं कस्याप्यग्रे न प्रोच्यम् ।

ततो नापितो निजगृहे गतो दध्यौ । क्षपणका लकुटाहताः कनकमयाः पुरुषा भवन्ति । ततोऽहमपि क्षपणकं भोजयित्वा लकुटप्रहारदानात् कनकपुरुषं कृत्वा सुखीभविष्यामि । ततः प्रातः क्षपणकपार्श्वे गत्वा नापितोऽवग्—अद्यास्मद्गृहे भिक्षा सपरिवारेण कार्या । तेनोक्तं भो श्रावक धर्मज्ञ त्वं, वयमेव कस्यापि गृहे यथा-तथा भिक्षां न करिष्यामः तेन मान्यमेव । ततो नापितोऽप्याह—प्रभूतश्रावकाहो भय, सर्वसामग्री कृता, यद्यस्मद्गृहे न समेष्यति [भवान्] तदा मया न भोक्तव्यं । पुस्तकलिखनाय बहुलं विलोकयिष्यते तदहं गाले । एका मया खपरी आनीताऽस्ति [तत् सर्वथा कालोचितं कार्यम्] । ततो मध्याह्ने क्षपणकं स्वगृहे नीत्वा वर्यां द्वारैश्वरी कारयित्वा नापितः क्षपणकं दृढलकुटप्रहारैः शिरसि पादयोः पुनः पुनराजघान । [क]पाटयुगलं दृढं दत्ते । (बहिः) निस्सरणमशक्तः सर्वे पूत्कारं चकार । लोका मिलिताः, राजाप्यागतः, जर्जरगात्रं क्षपणकं दृष्ट्वा मोचुः । कथमयमेव कुट्टितः । स च यथा दृष्टं माणिभद्रश्रेष्ठिकृतं कनकपुरुषप्राप्ति(म)सुत[धूर्त] जगौ । ततः श्रेष्ठी पृष्टो राज्ञा पद्मनिधिदेवतरप्राप्तिं जगौ । ततः सर्वैरपि प्रोक्तं—

एकाकी स्यक्तसकेतः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
सोऽपि संबाध्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥५॥

नापिताग्रे चोक्तं—कुदृष्टं कुपरिज्ञातं ।

इति तृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ॥६०८॥

[609] अथ लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ।

एकस्माद् ग्रामाद् चत्वारोऽपि सुहृदः धनार्जनाय निर्गताः । क्रमाद् रत्नद्वीपोपान्ते गताः । यदा ते धनप्राप्तिकामा वनमध्ये गताः तदा एकः सिद्धपुमान् हस्ते एकैकां दीपिकां ददौ प्राह च—यस्य दीपिका यत्र पतति तत्र खनित्वा धनं ग्राह्यं । ततस्तेषामग्रे चलतामेकस्य हस्ताद्दीपिका पतिता तत्र ताम्रं निर्गतम् । तेन ताम्रपोट्टलको बद्धः । अन्ये कथयन्ति वय ताम्रं न गृह्णामः । द्वितीयस्याग्रे गच्छतः द्वितीयहस्ताद्यत्र दीपिका पतिता तत्र रूप्यं जग्राह । ततो तदग्रे गच्छतस्तृतीयस्य यत्र दीपिकाऽपतत्तत्र हेम निर्गतम् । चतुर्थो लोभाद् बहु बभ्राम परं दीपिका न पतति । तृषा लग्ना तत्रैकः पुमान् मस्तकस्थचक्रो भ्रमन् दृष्टः । स च पयस्थानं पृष्टो यदा तस्य मस्तकाच्चक्रं तस्य मस्तके चटति स्म । अग्रेतनः पुमान् वर्षशताष्टकान्मुत्कलोऽभूत् । स च मस्तकस्थचक्रः पूर्वपुरुष इव भ्रमितुं लग्नः । अन्ये तं तथास्थं लोभाद् भ्रमन्तं पूर्वपुरुषाद् ज्ञात्वा स्वस्वकर्मार्जितं धनं लात्वा स्वगृहं जग्मुः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥१॥

इति लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ॥६०९॥

[610] अथ अज्ञाने हितोपदेशाऽकरणे खरसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे रजकस्य वृद्धतो रासभो दिवा रजकगृहे कर्म कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया चरति भक्षयति स्म । बन्धनभयात् प्रातः स्वयमायाति । एकदा खरस्य शृगालेन सह मैत्री जाता । द्वावपि रात्रौ स्वेच्छया वाट्यां प्रविश्य कर्कटिका भक्षयतः स्म । प्रातः स्वस्वस्थाने यातः स्म ।

एकदा रात्रौ खरेणो[क्तम्]—भो भगिनीसुत ! निर्मला रात्रिर्विद्यते । तेनाहं गीतं वयं करोमि त्वं शृणु कतमेन रागेण च । शृगालः प्राह—अलं गीतेन, वयं चौराः । चौरैः निभृतं स्थीयते । उक्त च—

कासं विसर्जयेच्चौराः निद्रालुश्चेत् स चोरिकाम् ।
जिह्वालौल्य तु रोगार्तो जीवितं योऽत्र वांछति ॥१॥

उच्चैः कठोरं गीतं तव श्रुत्वा क्षेत्रपः सुप्त उत्थाय आवयोर्वधबन्धनं च करिष्यति । तद्भक्षय कर्कटिका शनैः । ततः खरोऽवग्—त्व न वेत्सि गीतरसम् । शृगालः प्राह—माम ! त्वं गीतभेदान् न वेत्सि । तर्हि कथ गीत करोषि । खरोऽवग्—अहं गीतभेदान् वेद्मि । तथाहि—

[608] अथ वृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ।

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं, कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृतम् ॥१॥

पाटलिपुरे माणिभद्रश्रेष्ठी धने क्षीणे सुप्तो दध्यौ—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ते हि सर्वे, वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥२॥

गगनमिव नष्टतारं, शुष्कमिव सरः श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं, भवति गृहं धनविहीनस्य ॥३॥

इत्येवं सम्प्रधार्य रात्रौ सुप्तो दध्यौ—प्रातरनशनेन प्राणत्यागं करिष्यामि । माणिभद्रे सुप्ते पद्मनिधिनिधानदेवोऽभ्येत्याऽवग्–मरणं मा कुरु तव पूर्वकृतशुभ[क]र्मणा कल्ये मध्याह्ने क्षपणकरूपस्त्वहं तवालये समेष्यामि, त्वयाहं लकुटप्रहारेण ताडितव्यः शिरसि पादयोश्च । ततोऽहं कनकमयोऽक्षयनिधिर्भविष्यामि । एवं प्रोक्त्वा स गतः । प्रातर्दध्यौ श्रेष्ठी—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेन च मत्तेन दृष्टः स्वप्नो न विद्यते ॥४॥

अथ स सत्य एव दृश्यते । ततो लकुटानयनादि सामग्री कृता श्रेष्ठिना । अत्रान्तरे पत्न्या नखप्रक्षालनाय नापित आकारितः स्वगृहे । इतः पद्मनिधिः क्षपणकरूपः समागात् । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना भोजनं कारयित्वा यथासम्भकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । स हेममयः पुरुषोऽभवत् । ततस्तं गृहमध्ये मुक्त्वा श्रेष्ठी प्राह नापितं प्रति, दीनारशतं त्वया ग्राह्यं कस्याप्यग्रे न प्रोच्यम् ।

ततो नापितो निजगृहे गतो दध्यौ । क्षपणका लकुटाहताः कनकमयाः पुरुषा भवन्ति । ततोऽहमपि क्षपणकं भोजयित्वा लकुटप्रहारदानात् कनकपुरुषं कृत्वा सुखीभविष्यामि । ततः प्रातः क्षपणकपार्श्वे गत्वा नापितोऽवग्–अद्यास्मद्गृहे भिक्षा सपरिवारेण कार्या । तेनोक्तं भो श्रावक धर्मज्ञ त्वं, वयमेवं कस्यापि गृहे यथा-तथा भिक्षां न करिष्यामः तेन भाव्यमेव । ततो नापितोऽप्याह–प्रभूतश्रावकाहो वयं सर्वसामग्री कृता यद्यस्मद्गृहे न समेष्यति [भवान्] तदा मया न भोक्तव्यं । पुस्तकलिखनाय यद्धन विलोकयिष्यते तदहं दास्ये । एका तथा क्षपटी आनीताऽस्ति [तत् त्वया कालोचितं कार्यम्] । ततो मध्याह्ने क्षपणकं स्वगृहे नीत्वा वर्याहारैश्चरीं कारयित्वा नापितं क्षपणकं दृढलकुटप्रहारैः शिरसि पादयोः पुनः पुनरताडयत् । [क]पाटयुगलं दृढं दत्तं । (बहिः) निस्सतुमस्तकः सर्वे पूत्कारं चकार । लोका मिलिताः, राजाप्यागत, जर्जरगात्रं क्षपणकं दृष्ट्वा प्रोचुः । कथमयमेवं कुट्टितः । स च यथा दृष्टं माणिभद्रश्रेष्ठिकृतं कनकपुरुषप्राप्ति(म)युत[वृत्तं] जगौ । ततः श्रेष्ठी पृष्टो राज्ञा, पद्मनिधिदेवचरमाणिं जगौ । तत सर्वैरपि प्रोक्तं—

एकाकी त्यक्तसकेतः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
सोऽपि संबाध्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥५॥

नापिताग्रे चोक्तं—कुदृष्टं कुपरिज्ञातं ।

इति तृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ॥६०८॥

[609] अथ लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ।

एकस्माद् ग्रामाद् चत्वारोऽपि सुहृदः धनार्जनाय निर्गताः । क्रमाद् रत्नद्वीपोपान्ते गताः। यदा ते धनप्राप्तिकामा वनमध्ये गताः तदा एकः सिद्धपुमान् हस्ते एकैका दीपिका ददौ प्राह च—यस्य दीपिका यत्र पतति तत्र खनित्वा धन ग्राह्यं । ततस्तेषामग्रे चलतामेकस्य हस्ताद्दीपिका पतिता तत्र ताम्रं निर्गतम् । तेन ताम्रपोट्टलको बद्धः । अन्ये कथयन्ति वय ताम्रं न गृह्णामः द्वितीयस्याग्रे गच्छतः द्वितीयहस्ताद्यत्र दीपिका पतिता तत्र रुप्यं जग्राह । ततो तदग्रे गच्छतः— स्तृतीयस्य यत्र दीपिकाऽपतत्तत्र हेम निर्गतम् । चतुर्थो लोभाद् बहु बभ्राम परं दीपिका न पतति तृषा लग्ना तत्रैकः पुमान् मस्तकस्थचक्रो भ्रमन् दृष्टः । स च पयस्थानं पृष्टो यदा तस्य मस्तकाच्चक्रं तस्य मस्तके चटति स्म । अग्रेतनः पुमान् वर्षशताष्टकान्मुत्कलोऽभूत् । स च मस्तकचक्रः पूर्वपुरुष इव भ्रमितुं लग्नः । अन्ये तं तथास्थं लोभाद् भ्रमन्तं पूर्वपुरुषाद् ज्ञात्वा स्वस्वकर्मनि- धनं लात्वा स्वगृहं जग्मुः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥१॥

इति लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ॥६०९॥

[610] अथ अज्ञाने हितोपदेशाऽकरणे खरसम्बन्धः

एकस्मिन् ग्रामे रजकस्य उद्धतो रासभो दिवा रजकगृहे कर्म कृत्वा र भक्षयति स्म । बन्धनभयात् प्रातः स्वयमायाति । एकदा खरस्य शृगालेन द्वावपि रात्रौ स्वेच्छया वाट्यां प्रविश्य कर्कटिका भक्षयतः स्म । प्रातः स्व

एकदा रात्रौ खरेणो[क्तम्]—भो भगिनीसुत ! निर्मला रात्रिर्विरा करोमि त्वं शृणु कलमेन रागेण च । शृगालः प्राह—अलं गीतेन, भयं स्थीयते । उक्तं च—

कासं विसर्जयेच्चौराः निद्रालुश्चेत् स चोरि
जिह्वालौल्य तु रोगार्तो जीवितं योऽत्र वां

उच्चैः कठोरं गीतं तव श्रुत्वा क्षेत्रपः सुप्त उत्थाय आवयोर्बन्ध कर्कटिका शनैः। तत. खरोऽवग्-त्व न वेत्सि गीतरसम्। शृगालः न वेत्सि । तर्हि कथं गीत करोषि । खरोऽवग्—अहं गीतभेदान्

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा, मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताला स्त्वेकोनपञ्चाशत्, तिस्रो मात्रा लयास्त्रय ॥२॥
स्थानत्रयं यतीनां च षडास्यानि रसा नव ।
वर्णाः षट्त्रिंशद् भावा द्विचत्वारिंशत् स्मृता ॥३॥
[रागा षट्त्रिंशद्विभावा द्विचत्वारिंशत् ततः स्मृता ॥३॥]
पञ्चाशीत्यधिकं ह्येतद् गीताङ्गानां शतं स्मृतम् ।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं, भरतेन श्रुतेः प्रियम् [परम्] ॥४॥

इत्यादिको गीतस्वरूपमहं जानामि । तत शृगालः प्राह—यदि त्वं गीतं गायसि तदाहं वृत्तेर्बहिःस्थस्त्वदुक्तं गीतं शृणोमि । त्वं तु स्वेच्छया गाय । ततो रासभो रटितुं लग्नः । तदा जागरितः क्षेत्रपः क्रोधात् धावित्वा खरं लकुटैराहत्योदूखले बन्धयित्वा क्षेत्रपः सुप्तः । स खरः प्रहारपीडितोऽपि गतवेदन उत्थाय उदूखलयुतो वृत्तिं चूर्णयित्वा बहिर्निर्गतः । तदा मातुलमागच्छन्तं खरं दृष्ट्वा शृगालः प्राहोपहास्य ।

साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।
कंठेऽपूर्वो मणिर्बद्धः, संप्राप्तं गीतजं फलम् ॥

इति अज्ञाने हितोपदेशाकरणे खरसम्बन्धः ॥६१०॥

[611] अथ वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ।

भीमपुरे चंद्रचूडभूपस्य पुत्रा वानरैः सह क्रीडां कुर्वन्ति । तेषां भक्ष्यफलाद्याहारं ददन्ति । तेषां वानराणां वृद्धो वानरो विचक्षणो विद्यते । एकदा वृद्धवानरेण प्रोक्तं—महानसमध्ये रसवतीं भक्षितुमिच्छन् मेषयूथादेकोऽजः प्रविश्य लौल्याद् रसवतीं भक्षयति यदा तदा सूपकार उल्मुकं लात्वा तं ताडयति । स च सम्मुखो भवति यदा तदा पृष्ठे ताडयति मिथः कलहः सदा जायते हुडसूपकारयोः । राजभक्षभयत्वात् कोऽपि तस्योपद्रवं मरणान्तं न करोति । वृद्ध-वानरस्य कलहं दृष्ट्वा वानराणां पुत्राणां पुरः सूपकार-हुडकलिं प्राह । कदाचित् सूपकारेणोल्मुकेन ज्वलता हुड आहतो भविष्यति यदा तदास्य हुडस्य रोमा ज्वलिष्यति । स च अश्वतृणकुटीरमध्ये यास्यति । अश्वतृणकुटीराणि ज्वलिष्यंति । अश्वा अश्वपति दग्धा भविष्यन्ति तदा च तेषां तेषामश्वानां चिकित्साकरणाय वानरतैलमादिशति । तदा राजा भवतो हत्वा वानरतैलं कारयिष्यन्ति । अतः सकाले एतस्मादन्यत्र गम्यते तदा वरं । वानरैरुक्तम् त्वं वृद्धो ग्रथिलोऽभूः । त्वं गच्छ, वयं कुत्रापि न यास्यामः । वृद्धो वानरोऽन्यत्र वने अश्रुपातं मुञ्चन् गतः । ततो हुडरोमाणि ज्वलिताश्वशालाज्वलिता अश्वज्वलनादौ च जाते वानरतैलेनाश्वानां चिकित्सा कारिता राज्ञा । तदा केचिन् नष्टा पितुः पार्श्वे ये गतास्ते जीविता अन्ये वानरा मारिता एवं वृद्धोक्तं ये न कुर्वन्ति ते वानरा इव मरणं गच्छन्ति ।

इति वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ॥६११॥

[612] अथ मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ।

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः स्वार्थान् प्रचिंतयेत् ।
एको न हि व्रजेन्मार्गे नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥१॥
एकः कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन सर्पात् पान्थः प्ररक्षितः ॥२॥

पद्मपुरे ब्रह्मदत्तो नाम द्विजः प्रतिवसति स्म । एकदा विप्रो गुरुकार्यत्वाच्चन्द्रपुर गन्तुं यावल्लग्नः तावन्मात्रोक्तं पुत्र ! न त्वया एकाकिना गम्यम् । एकाकिनो गच्छतः कदाचिद्विघ्नं जायते । पुत्रोऽवग् मात. मा भैषी, निरुपद्रवाः सर्वे मार्गाः । मातुः पितुः गुरोः प्रसादात् अधुना द्वितीयः पुमान् कोऽपि सहायो न दृश्यते । माताऽवग्–अयं [कर्कटः] सहेलकः सहायोऽस्तु ते । स च मातृगौरवात् त कर्कटं सहेलकं कर्पूरादिवस्तुग्रंथिमध्ये दृढं कृत्वा चचाल । एकस्मिंस्तरोस्तले मध्याह्ने विश्रामार्थं स तस्थौ । तत भक्षयित्वा सहेलकं तत्र मुक्त्वा सुप्तः स । इतः कोटरात्सर्प्पो निर्गतः । तेन सम युद्ध कुर्वता सहेलकेन सर्पस्य पुच्छं मुखे गृहीत्वा स्ववपुः पंजरे प्रविष्टः । सर्पस्ते शूलाभिर्विद्धो मृतः । स द्विजो जागरितः । सर्पं मृत दृष्ट्वा दध्यौ अद्याहं मातुः कथितं नाकार्षं तदाहमद्य मृतोऽभविष्यम् । तेन गुरूणां यः कथितं करोति स सुखी भवति । यतः—

मन्त्रे तीर्थे तथा देवे, दैवज्ञे गुरुभेषजे ।
यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥३॥
सर्प्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसां ।
अभिप्राया न सिद्धयन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत् ॥४॥
इति मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ॥६१२॥

[613] अथ लोभे "क्षिणिक्षिणि पाहिं चिणि चिणि भली" सम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् एकः क्षत्रियो वर्यवहुवक्रोऽश्वारूढो वर्त्मनि चचाल । मार्गे एको द्विजो मिलितः सन् आशीर्वादमेवं ददौ—

वदान्यः क्षत्रियोत्तंसः कर्णविक्रमसन्निभः ।
चिरं जयास्तु ते दीर्घमायुर्लक्ष्मीर्बहुः पुनः ॥१॥
उपानद्भ्यां विना तीक्ष्णकण्टकैश्चरणौ मम ।
दुखितस्तेन मह्यं त्वं, वितरोपानहौ द्रुतम् ॥२॥

ततस्तेनोपानहौ दत्तौ । ततस्तेन मार्गिता पादशीर्षिका दत्ता । ततो धौतिकं ततो अङ्ग भाजनम् । ततो द्विजोऽपरो गच्छन् यद्यहमश्वममार्गयिष्य तदा स तमपि मह्यमदास्यत एव पुनर्विमृश्य खिणिखिणि दधान पश्चाद् वलितः सन् [तस्य यजमानपार्श्वे घोटकं याचते स्म] ततः ताजनकेन द्विजपृष्ठिं ताडयन् प्राह—गृहाण घोटकान् बहून् । तत्र मौक्तिकघूघरिका सर्वा या विद्यन्ते । एतेदत्तेन वाञ्छा पूर्णा । ततो विप्रोऽवग्—खिणिखिणिपाहिं चिणिचिणिभली । क्षत्रियोऽवग्—त्वयैव किमुच्यते ? । विप्रोऽवग्—अहं तव पार्श्वाद्वस्त्रादीनि हेलया प्राप्यापरो गच्छन् दध्यौ—यदि घोटकममार्गयिष्य तदा क्षत्रियस्तमपि अदास्यत् एव खिणिखिणिरभूत् । सा अनघा ताजनचणिचणिकथा भग्ना । अतो मयोच्यते खिणिखिणिपाहिं चिणिचिणि भली वार्ता । तत्र क्षत्रियोऽवग्—बहुलोभो न क्रियते । यद्यपि द्विजा लोभिनो भवन्ति तथा स्तोक एव क्रियते । यत —

धनेषु जीवितव्येषु [स्त्रीषु] चाहारकर्मसु ।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यंति यांति च ॥२॥

ततो विप्रः "खिणिखिणि पाहिं चिणि चिणि भली" इति चचाल ।

इति लोभे "खिणिखिणि पाहिं चिणिचिणि भली" कथा ॥६१३॥

[614] अथ सुलाणजयने देपालकविसम्बन्धः ।

एकदा देपालकविना योगिनीपुरस्थेन श्रुतं यत् काश्मीरदेशे गत्वा सरस्वतीं स्तौति तस्मै सा सर्वां विद्यां दत्ते । तदनु देपालः काश्मीरदेशं प्रत्यचालीत् । तदा सरस्वत्या देपालमागच्छन्तं ज्ञात्वा स्वसेवकानां पुरः प्रोक्तं—यः कश्चन मम पादौ नत्वा नरः समायाति स देवगृहमध्ये न मोक्तव्यो, दृढं ज्ञेयमिदम् । ततस्तयोक्ते देपालः सरस्वत्या देवगृहद्वारे आगात् । प्राह च पूजारकाणामग्रेऽहं दूरदेशादभिग्रहबद्धोऽस्म्यागतोऽस्मि देवीनमस्करणार्थम् । देवीदर्शनं विना [न] भोक्ष्ये । तैरुक्तं—देव्यादेशो नास्ति ते मोचनाय । ततो देपालस्य विंशतिर्लङ्घनानि जातानि तथापि ते तस्य तत्र प्रवेशं न ददन्ति [ते] । भाग्ययोगेनैकविंशतितमे दिने छलात् प्रासादमध्ये प्रविश्य द्वाराणि दत्त्वा सरस्वत्याः समीपं गत्वोक्तं—भो देवि ! मह्यं वरं देहि नो चेत् त्वां लोहेन चूर्णयिष्यामि । देव्या ध्यातं यद्यस्मै नाहं प्रत्यक्षीभवामि तदासौ मां चूर्णयिष्यति । ततो देव्या प्रत्यक्षीभूयोक्तं—तुष्टाऽहं वरं याचस्व । देपालोऽवग्—मह्यं विद्यां देहि । देव्योक्तं—यत् किमप्यतीतं वर्तमानं साम्प्रतिकं योजयिष्यसि तत् सर्वं ज्ञानवशात् तव मेले समेष्यति । ततो देपालः कृतपारणको देवीं पुष्पैः प्रपूज्य स्तुत्वा च प्राप्तवरो योगिनीपुरं समागात् ।

एकदा सुल्यमसीते म्लेच्छानां गुरवः उपविष्टाः सन्ति । तदास्मिन् मार्गे देपालः समागात् तदा चाकस्मात् मृतेकः प्रचण्डः समागात् तदेकेन कलन्दरेन (ण) देपालः प्रोक्तः—अयं पतोकः कस्माद् भ्रमणं करोत्यत्र । देपालोऽवग्—प्रथमं वृद्धकलंदरः प्रत्युत्तरयतु पश्चादहं । ततो वृद्धकलंदरः

प्राह—अयोगोवरहो (?) [अयोगोलकः] मृत्वा अस्मद्धर्मं विना भूतेलो जातः । अतो न क्वापि प्रवेश लभते ।

देपालेनोक्तं—त्वं सत्यं न वेत्सि । असौ मुशलमानो खंडशरीरः किरतारपार्श्वे गतः । किरतारोऽवग्-त्वमग्निप्रवेशं विना चाशुद्धोऽत्र कथ समागात् । यदि त्वं तत्र गत्वा स्वशरीरं वह्निना शुद्धं कृत्वाऽऽगच्छसि तदात्र स्थातुं तव दास्ये । ततः स्वशरीरस्य शुद्ध्यर्थं भ्रमन्नस्ति । सर्वत्र स्वगोहरिमध्ये ? [स्वं वह्निमध्ये] स्वांगस्य दाहं कर्तुमशक्तोऽस्ति ।

इति मुलाणजयने देपालकविसम्बन्धः ॥६१४॥

[615] अथ देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः ।

एकदा योगिनीपुरे महान् रोग उत्पन्नः । तदा पाटकादौ बहवो मनुष्या म्रियन्ते । ततो [लो]कैः पुराद्बहिर्वासः कृतः । तदा सारगसाधुप्रभृतिव्यवहारिभिर्देपालस्याग्रे प्रोक्तं–भो देपाल ? तथा कुरु यथा ६४ योगिनीस्थानं महद्विवरयुतमस्ति तत्र योगिनीविवरमध्ये ६४ योगिनीप्रतिमाः साधिष्ठायिकाः संति । ततस्तत्र गत्वा तथा पूजोपहारस्तुत्यादिभिस्ता प्रीणय यथा यथा पुरे रोगोपशांतिर्भवति । ततो देपालः सुमुहूर्ते वर्यपुष्पकस्तूरिकादिबलिं लात्वा देव्या भवनद्वारे गत. । ततः सर्वे लोकास्तत्र मुक्त्वा स्वयं निर्भयो देपालो विवरेण प्रविश्य प्रभाते यावद्देवीनां भक्तिं चक्रे । ताः प्रीता देपालवचसा पुरमध्ये रोगोपशान्तिं चक्रुः । ततो देपालो व्यवहारिभिर्मानितो भृश धनेन ।

ततो देपालेन भरहेसरबाहुबलिप्रबन्ध. १, जावड प्र० २, कालिकसूरि प्र० ३, श्रेणिक प्र० ४, रोहिणक प्र० ५, आर्द्रकुमारप्रबन्ध० ६ इत्यादि अनेकशो ग्रन्थाः कृताः ।

इति देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः ॥६१५॥

[616] अथ श्रीयशोभद्रसूरिणैकलग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः ।

एकदा आघाटपुरे यशोभद्रसूरिरस्ति । करहेटकपुरे १ कविलाणकपुरे २ सयंभरिपुरे ३ मंडोरपुरे ४ सेसराणपुरे ५ पंच जिनप्रासादाः निष्पन्नाः तदा गुरुणा यशोभद्रेण पंचसु पुरेषु जिनप्रतिष्ठायै एकं लग्नं दत्तं । प्रोक्तं च—अहं प्रतिष्ठां सर्वत्र करिष्यामि स्वशयेन । तदा लोकाश्चमत्कृता दध्यु–रे ते गुरवः कथं पञ्चसु प्रासादेषु प्रतिष्ठां करिष्यन्ति । तेभ्य पुरेभ्यः मुआकारणं समागतं । ततो गुरुणा स्वांगस्य देवशक्त्या द्वाभ्यां २ अंशाभ्यां चत्वारि रूपाणि कृतानि । पंचमं सहजं रूपं च । ततो व्योम्नि गत्वा तत्र सर्वत्र प्रतिष्ठा कृता गुरुणा ।

कविलाणके बहुजनसमुदाये मिलिते नीरं त्रुटितं । श्राद्धेषु तृषया पीडितेषु गुरुणा शुष्ककूपे नखेन चंदनं क्षिप्त । तत्र[त्रा]मृतोपमं जलं बहु जातं । ततः श्रीसंघश्चमत्कृतः सुस्थितो जातः । तत्राद्यापि 'नखामृताख्य' कूपो विद्यते ।

इति श्रीयशोभद्रसूरिणैकलग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः ॥६१६॥

[616] अथ श्रीकर्ण[मूल]राजमरणकथनादि श्रीयशोभद्रसूरिसम्बन्धः ।

[तपस्वी रूपवान् धीरः कुलीनः शीलदार्ढ्ययुक् ।
षट्त्रिंशद्गुणाढ्योऽभू-च्छ्रीयशोभद्रसूरिराट् ॥१॥]

एकदा सङ्घेन सह श्रीयशोभद्रसूरयः पत्तने प्राप्ताः । श्रीमूलराजा गुरुं सुप्रभावं ज्ञात्वा वंदनार्थं गतः । धर्मदेशना श्रुता । राजा रंजितः प्राह मम प्रसत्त्याऽत्रपुरे स्थेयम् । गुरुणोक्तम्—साधवो नैकत्र तिष्ठन्ति । ततो राजा स्वगृहे स्वगृहपवित्रीकरणायाकारितवान् । राजा तु गुरून् भक्त्या प्रवीण्य स्वगृहान्तरे स्थापितवान् द्वारं दत्तवान् । गुरुणा ध्यातं राजानुबन्धेन मां स्थापयिष्यति यत् तत्र युक्तम् । ततो वत्मनि श्रीसंघबहुमानं कारयित्वा कपाटच्छिद्रेण लघुरूपं कृत्वा निर्गत्य च संघस्य गुरवो मिलिताः । भद्रमुखेनाशीर्वादं ददौ राज्ञो ज्ञापयामासुश्च । राज्ञा ध्यातम्—अपवरकमध्यात् कथं गुरवः सङ्घमध्ये प्राप्ताः । ततो गृहमध्ये गुरूनदृष्ट्वा गुरुपार्श्वे राजाभ्येत्य प्राह—भगवन् ! यूयं सुप्रभावाः । मयापराधः कृतः क्षम्यताम् । गुरुणा प्रोक्तं—साधवो बलेन न रक्ष्यन्ते । ततो राज्ञा स्वायुः पृष्टम् । गुरुणा षण्मासाः प्रोक्ताः । धर्मौषधं कुरु । ततो राजा गुरून् प्रणम्य पश्चाद् धनेन बहुजनान् सतोष्य स्वं पुत्रं राज्ये [अभिषिच्य] गुरूक्तदिने धर्मकर्मपरः स्वर्गं जगाम राजा, गुरवोऽपरतः शत्रुंजयादौ यात्रां चक्रुः ।

इति श्रीकर्ण[मूल]राजमरणकथनादि श्रीयशोभद्रसूरिसम्बन्धः ॥६१७॥

[618] अथ चन्द्रोदयोपशान्तिसम्बन्धः ।

आघाटपुरे वस्तुरनृपमान्यो गणधरामात्यो राजव्यापारं चलं मत्वा राजानुमत्या महान्तं प्रासादं कारयामास । श्रीयशोभद्रसूरिं चित्रकूटाचलतः आकार्य प्रासादे श्रीपार्श्वबिंबं प्रतिष्ठिपत् गुरुनृपामात्यश्रीसंघयुतश्चैत्यपाटीं करोति स्म ।

अत्रावसरे कोऽप्यवधूतो गुरुं दृष्ट्वा स्वहस्तेनाननं पस्पर्श । गुरुणा तन्मनोभिप्रायं ज्ञात्वा स्वपाणी घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ । सर्वोऽपि चमत्कृतः राज्ञापि च । एष महान् कलावानिति मत्वा स गुरुं नत्वा प्रयातः । राजामात्यादिभिर्गुरवः पृष्टाः—किमेतद् गुरुणा कृतम् ? गुरुः प्राह—उज्जयिन्यां महाकालप्रासादे प्रदीपेन चंद्रोदयो लग्नोऽनेन च देवप्रभावात् तं ज्ञात्वास्माकं ज्ञापितं सवहपुत्रा एते इति । अतोऽस्माभिः करौ घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ तस्य । तस्य संकेते प्राप्ते सति नष्टः स गतः । ततो राजा विशेषतश्चमत्कृतः राज्ञोक्तं प्रकटं गुरो [गुरो ?] कथय । ततो गुरुणा महाकालदीपलग्नादिसम्बन्धः प्रोक्तोऽस्माभिः स विध्यापितः । राजा तत्रोज्जयिन्यां स्वनरान् प्रेष्य प्रत्ययाय । तस्मिन्नेव दिने चन्द्रोदयज्वलनं तच्छान्तिभवनं च ज्ञातवान् । ततो राजा हृष्टः । श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे जिनधर्ममङ्गीचक्रे ।

इति चन्द्रोदयोपशान्तिसम्बन्धः ॥६१८॥

[619] अथ विजयमंत्रमहिमा ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरिः सुरत्राणेन पृष्टोऽधुना कोऽपि मन्त्रः सुप्रभावो विद्यते न वा ?। सूरिणोक्तं विजयमन्त्रोऽस्ति । तदनु पंचविंशतिभिः द्रम्मैः सचित्रे लिखितः [लेखितः]। स च सुरत्राणायार्पित । प्रोक्तं च यत्रायं तिष्ठति तत्र वैरी न प्रभवति । ततः सुरत्राणेन स्वछत्रे बद्धः। छत्रछायाया अध आखुर्मुक्तः। मार्जारी आनीता तद्दृष्टौ । ततश्छत्रछायाया अधो नायाति । सूरिणोक्तं-यस्याङ्गे बध्यते तस्य प्रहारो न लगति । तदनु सुरत्राणेन छागमानाय्य तस्यांगे विजयमन्त्रो बद्धः । बहव. खड्गप्रहारा दत्तास्तस्यैको न लग्नः ।

इति विजयमन्त्रमहिमा ॥६१९॥

[620] अथ बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसम्बन्धः ।

श्रीशालिसूरिर्यदा सूरिपदे उपविष्टः तदा बलभद्रो इक्षिकासन्नपर्वते गुहायां स्थितोऽव्यक्तवेषधारी छागीवृन्दमौषधीश्चारयन् तत्पुरीषेण होमं करोति । इतो महान् [एकः] संघः श्री शत्रुञ्जये देवान् वंदित्वा रैवततीर्थे प्राप्तः। तदा बौद्धैः खेंगारभूपबलेन तीर्थं गृहीतम् । श्वेताम्बराः देवं नन्तुं न शक्ताः । क्रमाच्चतुरशीतिः संघाः मिलिताः । यो बौद्धो भवति स वंदते नेमिं नान्यः । १२वर्षाणि जातानि । ततः शासनदेव्योक्तं यदि यशोभद्रसूरिशिष्यो बलभद्रमुनिरत्रायाति तदा तीर्थं मोचयति । ततः श्रीसंघेन बलभद्रमुनिमाकारयितुं भृत्याः प्रेषिताः । मुनिस्तीर्थं बुद्धगृहीतं श्रुत्वा प्रतिज्ञां चक्रे—"तदा विकृतिर्गाह्या यदा तीर्थं वाल्यामि खेंगारनृपं स्वपदे पातयामि" ततस्तत्रैत्य श्रीसंघस्य मिलित्वा श्रीसंघमेकत्र कृत्वा परितोऽग्निप्राकारमकरोत् । ततो मंत्रबलादग्नेः पुरतो जलपूर्णामगाधां खातिकां चक्रे । ततः कणवीरकं[णं] लात्वा माषाक्षतांश्च पार्श्वे कृत्वा मुख्यश्राद्धैः सह राज्ञः पार्श्वे गत्वाशीर्वादं ददौ, प्राह च मुनिः—"इदं गिरनारतीर्थं जैनं बौद्धैर्गृहीतं त्वद्बलात्, पश्चाद्दापय नो चेत्तवाऽकुशलं भविष्यति ।"

ततो राजा रुष्टः प्राह—रे मुंड पाखंडिन् ! मदग्रे मा जल्प एव । मृतेः किं न बिभेषि ! बौद्धीभूय तीर्थं वंदस्व नो चेद्विनङ्क्ष्यसे त्वम् । ततो रुष्टो मुनिः प्राह—रे दुष्ट भूप ! मैवं जल्प, पापजल्पनफलमिह परत्र च लभिष्यसे [लप्स्यसे] इत्युक्त्वा राज्या उपरि माषाक्षतान् प्राक्षिपत् । राज्या अङ्गे तीव्रस्फोटका जाता वेदना च । तज्ज्ञात्वा राज्ञा सेनानी मुनिं श्वेताम्बरसंघं मारयितुमादिष्टः । सेनानी संघस्य परतोऽग्निजलयोर्वप्रं प्रेक्ष्य मुनेरपि परतः तथा दृष्ट्वा जगाद । ततो राज्ञा मन्त्री प्रोक्तः—किमत्र करिष्यते । मंत्र्याह देव ! न कोऽपि सामान्यो जैनमुनिर्जैनसंघश्च त्वयापमानितः । तेनासौ न पराभूयते संधिरेव कृता वीक्ष्यते ।

ततो राज्ञादिष्टो मंत्री मुनिपार्श्वे गत्वा जगौ-भो मुने ! यदि वह्न्यपः सारणात् मार्गं ददस्व तदा तवोपान्तेऽभ्येत्य विज्ञापयामि । वह्निजलयोरपसारिते मन्त्री मुनिपार्श्वे गत्वावग् त्वं क्षमावान् तेन तव राज्ञा समं विरोधो न युक्तः । विग्रहे कृते च तव विघ्नं भविष्यति । श्रुत्वैतन्मुनिर्जहास । ततो रक्तकणवीरकंबामादाय गिरिमारोढुं व्रजन् मंत्रिणं प्रति जगौ-मत्कृतं

प्रथम विलोकय पश्चात्सन्धिः कार्या । कर्या सहारेण भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि बहूनि मुनिः पातयामास । प्राह च यथा वृक्षशीर्षाणि पातितानि तथाहं वैरिशीर्षाणि पातयिष्यामि, परं दयां कुर्वाणोऽस्मि । जैनद्विष्टस्य योऽपराध क्रियते स मुक्तये भवति । चकितो मंत्री प्राह—मूषकापि ढंकनिका पातयति [पातने शक्त न तूद्धरणे] । यदि तव सामर्थ्यं स्यात्तदा वृक्षशीर्षाणि वृक्षेषु योजय । ततो मुनि मु[मु]ष्टया कर्या भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि यथास्थाने अयोजयत् ।

एव मुनेर्बल राजा मन्त्री च दृष्ट्वा चमत्कृतौ । ततो राजा जगाद—त्व धन्योऽसि राज्याः पीडामपसारय । मुनि प्राह—यदि त्व राज्ञायुत श्वेताम्बरसंघ नेमिं नन्तु गिरेरुपरि याथ बौद्धान् दूरीकुरुत तदा राज्ञी सवज्ञा करोमि । ततो राजा सर्वं मुन्युक्तमङ्गीकृत । ततो राजा बौद्धान् दूराच्चकार । ततो राजा सँगार श्रीबलभद्रमुनि आसन्नयुतो महोत्सव कुर्वाणस्तीर्थस्योपरि चटति स्म । श्रीनेमिमभ्यर्च्य पुष्पकेसरकर्पूरादिभि स्नात्र कृत्वाऽऽरात्रिकमगलप्रदीपादि चक्रे श्रीश्रीसंघ । ततो राजा खँगारो जिनधर्मानुरागी जात ।

बलभद्रयशोभद्रौ शासनस्य प्रभावकौ । जातौ तौ प्रत्यह वदे स्तौमि भक्तिगुणान्वित ॥१॥

इति बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसम्बन्ध ॥६२०॥

[621] अथ जिनशासनप्रभावनायां देवसूरिसम्बन्धः ।

भृगुपुरे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडयोगी ८४ सर्पकरण्डकयुत आगात् वादार्थं, प्राह च वादं कुरुत, नो चेदासन त्यजत । गुरुभिरासनोपविष्टैरेव परित सप्त रेखा कृत्वोचे-मुञ्च सर्पान् । तेनैकोऽहिर्मुक्तः एकां रेखामाक्रम्य ववले । द्वितीयोऽहिर्द्वितीयां रेखाम् । एवं बहवोऽपि मुक्ताः पर षष्ठी रेखा केनापि नाक्रान्ता । योगी भूमावुपविशत्येकश । सूरि प्राह—किं भूम्युपवेशनेन य सबलस्त मुञ्चेत्युक्ते नलिकात आकृष्य रक्तः सदूरिकोऽहिर्मुक्त । स च दृष्ट्या कदलीपत्राणि भस्मीकरोति । वाहनसर्पो रेखां न कुरुते । सदूरिक सप्तोय रेखां जिह्वया चमस्त्र । वाहनादेः परिस्थस्य प्रेरणाया बलाद् गुरोरासनपादोपरि चटितु लग्न । जने हाहाकारे जाते गुरवो ध्याने स्थिता तावदकस्मादागत्य शकुनिकया सर्पद्वयमुत्पाट्य दूरे क्षिप्तम् । जितो योगी । ततः स्वोदर भृताय गुरोरग्रे विलप्याऽवग्—ममैतदेवाजीविका तेन स सर्पो दीयताम् । सूरिः प्राह—नर्मदानदीतीरेऽस्ति । रात्रौ "शारैत्याऽगत्याऽऽवद—भावचतुष्टयं समुत्सवदाविरुद्धया [स्या]ध्यान अत तव भया, तत्कथं प्रभूणामुपद्रव द्रष्टु शक्नोमि । अतो मया सर्पोऽपहृत । गुरुभिः स्तुति रूप काव्य प्रोक्तम् । [देव्योक्तं-] इद कोशे तिष्ठतु न प्रकाश्यम् । प्रातरिद काव्यत्रय लिखित यत्स्तुतिरूप यः पठति तस्य सर्पोपद्रवो न भवतीति प्रोच्य गता देवी । 'ॐ घंटाकर्णोमहावीर" इत्यादि । तत स योगी कान्हडो जिनधर्मं प्रपेदे, गुरुभक्तिपरोऽभूत् ।

इति जिनशासनप्रभावनायां देवसूरिसम्बन्धः ॥६२१॥

[622] अथ विमलमन्त्रीकृतार्बुदप्रासादसम्बन्धः ।

अन्यदा अम्बिका श्रीमातया(?) सख्या निमन्त्रिताऽर्बुदाद्रौ गता । जिनप्रासादं विना मय

स्थितिर्न शोभते तेन श्रीमातया बकुलचम्पकयोरधः ७२ द्रम्मलक्षयुता भूरर्पिता । ततोऽम्बिकावचनात् जीर्णा ऋषभप्रतिमा भूमिमध्यगता कर्षिता । ततोऽम्बिकागिरा चन्द्रावतीशविमलदण्डनायकेन पुत्राप्ति-जिनप्रासादनिर्मापणयोः प्राप्तिर्नास्ति, एकतर वरं वृणु । इत्युपवासत्रयाराद्धाऽम्बिकातो लब्धवरेण पुत्रात् [प्रासादो] वरमिति तत्त्वं विमृश्य कुंकुमगूंहलीचिह्नेन प्रासादः कार्यते । परं दिवा कृतो रात्रौ पतति । एवं षड्मासाः । स्मृता देवी चागत्याह—एतस्या भुवो नेता वालीनाह (?) नाग उपवासत्रयेण पूजोपहारयुतेन त्वया चाराध्यः । निरवद्यनैवेद्यं याचते तदा देयम् । मद्यादि तु न दास्यते, खड्गमाकृष्य भापनीयः । खड्गेन भापनात् वालीनाहो नष्टः । क्षेत्रपालीवचसा भूयः स्थितः । निर्विघ्नं प्रासादे निष्पन्ने १०८ रीरीमयबिम्बं ऋषभस्य नागेन्द्रादिभिः सूरिभिः प्रतिष्ठितम् ।

ततो विमल पत्तनेशभीमभूपेन छत्रचामरादि दत्वा नृपतिः कृतः । तत्पुत्रेण चाहिलेन तत्र रंगमण्डपः कारितः । अत्र चारणोक्ति एवं—

मुंडी मुरकीरइ करइ, छंडीम सम्गाह ।
विमल डिखाडउं कढ्ढिउ, नाठउ वालीनाह ॥१॥

इति विमलमन्त्रीकृताऽर्बुदप्रासादसम्बन्धः ॥६२२॥

[623] अथ अर्बुदतीर्थे लूणिगवसतिनिष्पत्तिसम्बन्धः ।

पूर्वं धवलक्कके लूणिग-मालदेव-वस्तुपाल-तेजपाला भ्रातरो वसन्ति निर्द्रव्याः । लूणिगस्य मरणसमये पुण्यव्ययेन नमस्कारा लक्षा मानितास्तैः । प्रोक्तं चापर याचस्व । लूणिगोऽवग्-विमलवसतौ देवकुलिकाकरणे मनोरथो विद्यते मम । भ्रातृभिः प्रोक्तं यदि लक्ष्मीर्भविष्यति तदा तव मनोरथः पूरयिष्यते । तदनु व्यापारे जाते अर्बुदे तीर्थे भ्रातृमनोरथपूरणाय श्रीमाताचेकस्य बोड़ाकस्य चन्द्रावतीशधारावर्षराणकस्य च पार्श्वात् तत्र भूर्द्रम्मैराच्छाद्य गृहीता । २६ द्रम्ममूढका विस्तारिता भूग्रहणाय । तैरुक्तं भरटकैरयं द्रम्मैः पर्वतं समग्रं ग्रहीष्यति ततो न ददाति । ततस्तत्र १२८३ वर्षे प्रासादारम्भः, १२९२ वर्षे पूर्णः । द्रव्यकोटि १२, लक्ष ५३ लग्नम् । लूणिगवसतीति नाम दत्तम् ।

लूणिगवसतिप्रतिष्ठायां समाहूताः ८४ राणकाः, २० मंडलिकाः, ४ महाधराः, ८४ महाजनाः । जावालिपुरेश श्रीउदयननृपप्रधानमन्त्री यशोवीरो मन्त्रिवस्तुपालप्रासादगुणदोषान् प्रपच्छ । प्राह च शोभनदेवसूत्रधारः शोभनः । पर तन्मातुः कीर्तिस्तंभे हस्तोत्तंभनमयुक्तम् ।

तत्र स्तम्भस्थबिंबानामाशातना । गर्भगृहप्रवेशे सिंहाभ्यां तोरण देवस्य विशेषपूजानाशाय । पूर्वजमूर्तीनां जिनपृष्ठे[आ]रोपणात् सन्ततीनां ऋद्धिनाशः । आकाशे मुनमूर्तिरोपण स्वच्छ. परं दर्शनपूजाऽल्पत्वाय । रङ्गमण्डपे पुत्तलिकाविन्यास अर्हच्चैत्ये नार्हः । सोपानानि ह्रस्वानि । भारपट्टाः लघाः । कृष्णा गृहलिका । प्रासादपृष्ठे हस्तिशाला इत्यादि दोषाः । तदा सर्वैः सत्यमित्युक्तम् । भवितव्यताग्रे कोपि न छुटति ।

इति अर्बुदतीर्थे लूणिगवसतिनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥६२३॥

[624] अथ भावस्वदारसंतोषे यतिशुद्धाहारग्रहणे भूपयतीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे पद्मभूपस्य पद्मावती पत्नी बभूव । कुमारदेवचन्द्रौ पुत्रौ अभूताम् । पितरि मृते कुमारदेवो राज्ये निविष्टः । कुमारदेवभूपः स्वदारसंतोषी मनोविना भोगसुखमनुभवति स्म । चन्द्रो दीक्षां प्राप्य शुद्धाहारं गृह्णानो बभूव ।

एकदा विहारं कुर्वन् श्रीपुरासन्नदेवकुले समेत्य तस्थौ । तदा राजा वंदित्वा गतः । राज्ञी चन्द्रयतिं देवं वन्दित्वा जिमिष्यामीत्यभिग्रहं चक्रे । राज्ञी यदा वन्दितुं यतिं गता तदान्तरा नदी जलपूर्णा आतोपरिजलदवृष्टिवशात् । राज्ञी नदीमुत्तरितुं न शक्नोति तदा राज्ञोक्तं—गच्छ, नद्याः उपकण्ठं गत्वा स्थित्वेति वक्तव्यम्—

यदि मम भर्ता शीलं शुद्धं पालयन् विद्यते तदा [नदी नदि !] त्वं मार्गं देहि । तत सा दध्यौ अहं तु पत्युः शीलसम्बन्धं जानन्नस्मि तथापि भर्तृवचो मान्यं देववच्च इव इति ध्यात्वा पत्युः वचो जल्पन् युक्त्या नदीपार्श्वे गता पत्युक्तं [वितथेन] यथोक्तं—नदा नद्या मार्गो दत्तः । देवकुले गत्वा देवरं वन्दित्वा स्वजेमनाय शुद्धाहारेण सार्धमानीतेन देवरं प्रतिलाभितवती । ततः सा स्वयं बुभुजे । पश्चाद् गन्तुकामा यदाभूत् तदा यतिना प्रोक्तं—गच्छ नदीकूले जल्पनीयं च—भो नदि ! मम देवरेण दीक्षाग्रहणादनु उपवासा एव कृता स्युः तदा मार्गं देहि । एतदुक्त्वा तया ध्यातं अधुनैव मम हस्तदत्ताहारेण बुभुजे एव कथं भवतीति दध्यौ सा । यद्यपि नोच्यते तन्मन्यते सत्यमेव ततो यतिवचसा नदी तयोत्तीर्णा । तदा भर्ता पृष्टः शीलादिसम्बन्धः प्राह—अहं मनो विनैव त्वया सह भोगं करोमि अतो मे शीलम् । एवं 'मम एव प्रमाणम्' । ततो यतिं पृष्ट प्राह—मया शुद्धाहारो धर्मरक्षणाय गृहीतः अतो नद्या मार्गो दत्त । तत्रोक्तम्—

विरयाविरयसहोदर उदगस्समरेण मरिअसरिआए ।
भणीआइ सावीआ दिन्नो मग्गत्ति भाववस ॥१॥

इति भाव-स्वदारसंतोषे यतिशुद्धाहारग्रहणे भूपयतिसम्बन्धः ॥६२४॥

इति श्रीसोमसुन्दरसूरि पट्टालङ्करण श्रीमुनिसुन्दरसूरि श्रीजयचन्द्रसूरि पट्टालङ्करण श्री रत्नशेखरसूरि पट्टालङ्करण श्रीलक्ष्मीसागरसूरि श्रीसोमदेवसूरि श्रीरत्नमण्डनसूरिशिष्य प शुभशीलगणिविरचित [प्रबन्ध] पञ्चशतीसम्बन्धे चतुर्थोऽधिकार समाप्त ॥ ४ ॥

विक्रमार्काद् विधुद्वीपुचन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात् प्रबन्धं तु शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥



श्रीसिद्धाचले प्रासादादिवर्णनम् ।

श्रीसिद्धाचलप्रासादं, सोपानादिस्फुरत्प्रभम् ।
कुम्भभृत् गध्वजायुक्त—मर्हन्तं तं स्तवाम्यहम् ॥१॥

तावल्लीलाविलासं कलयति मलयो विन्ध्यशैलोऽपि तावत्,
धत्ते मत्तेभगर्वं तुहिनधरणिभृत् तावदेवाभिरामः ।
तावन्मेरुर्महत्त्वं वहति हरिगिरिर्गाहते तावदास्थां,
यावत्तीर्थाधिराजो न तु नयनपुटैः पीयते पर्वतेन्द्रः ॥२॥

एकदा श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमतिलकसूरयो महता श्रीसंघेन समं श्रीशत्रुञ्जये जिनान् वन्दितुं ययौ । तत्रैवं—

संवत् १३९······ वर्षे देवास्तैर्वन्दिताः । मुख्यप्रासादे गर्भगृहे पुण्डरीकप्रतिमाद्वयम् । ५६ जिनानन्यांश्च वन्दन्ते स्म[1] ।

ततस्त्रिद्वारप्रासादे ४६२ जिनान्, ततो मोढेरकशंखेश्वर-सत्यपुर-समलिकाविहारेषु १००८ त्रिद्वारप्रासादबलानकं यावत् ।

ततः समरसिंहवसहिकायां ३३ जिनान् ।

ततः कोडाकोडिप्रासादे २९१ जिनान् ।

ततः श्रीवीरप्रासादे ६८ जिनान् ।

ततोऽष्टापदावतारे देवकुलिकायां कुन्तीयुतपञ्चपाण्डवप्रतिमाः ।

ततो मठमध्ये १५ जिनान् ।

ततो घोषावसहिकायां ९५ प्रतिमाः ।

ततो राजादनीतले, सेरीसाऽवतारे, कलिकुण्डावतारे, गृहिकापत्रकस्तंभद्वारेषु च १४२५ (१४२१) जिनान् ।

ततो जिनभवनद्वारे बहिस्तोरणशिखरे देवगृहिकायुगे २९ जिनान् ।

ततः प्रासादसंमुखासु देवगृहिकासु ४० प्रतिमाः ।

ततः पश्चिममण्डपसहितनन्दीश्वरावतारे १९४ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमंत्रिभगिनीसप्तककारित-सप्तदेवकुलिकासु ४२ जिनान् ।

---

१ "वन्दन्ते स्म" इति सर्वत्र योज्यम् ।

ततः स्तम्भनकावतारे इन्द्रमण्डपे च २४८ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमंत्रिकारित-गिरनारावतारे १६ जिनान् ५२ बिम्बांश्च ।

ततः खरतरवसहिकायां १०५४ जिनान् ।

ततः स्वर्गारोहणप्रासादे नमि-विनमिदेवकुलिकवीणुगादिजिनप्रतिमायुगाम् १६ जिनान् ।

ततोऽजितनाथविहारे अनुपमसरः तटीस्थ (?) [समीपस्थ] देवगृहिकायुगे, श्रेयांस-जिनभवने च ९१ जिनान् ।

ततश्चिल्लतलावल्लिकासमीपस्थदेवगृहे ६ प्रतिमाः ।

ततः श्रीनेमिनाथभवने २८ जिनान् । श्रीवीरभवने ३६ जिनान् ।

ततः कपर्दियक्षभवने ७१ जिनान् ।

तत्रासन्नदेवगृहिकायुगे १८ जिनान् ।

ततो मघूआविहारे २९ जिनान् ।

ततः छिपावसहिकायां १३ जिनान् ।

ततो मरुदेवीभवने मरुदेवीमातरं ११ बिम्बांश्च ।

ततः श्रीशान्तिनाथप्रासादे २४ जिनान् ।

ततः चिल्लतलावल्लीसमीपे अकब्बदेवकुलिकायां, अजितनाथभवने, जीरापल्लीपार्श्वभवने १७ जिनान् । एवमन्यानपि लघुजिनान् बहून् ।

सर्वाङ्केन ५८४२ जिनान्, अन्यान्यपि बहूनि वन्दन्ते स्म श्रीसोमतिलकसूरयः ।

एवं जिनानां यानि बिम्बानि भवन्ति समूचुः, भक्तिवन्ति तान्यहं सोमतिलकसूरिर्वन्दे भावेन ।

इति श्रीशत्रुञ्जयमहातीर्थे श्रीसोमतिलकसूरिवन्दितबिम्बसंख्या संक्षेपात् मया कृता ।

❁ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ❁

ग्रन्थाग्रं ७९४१

अकाराद्यनुक्रमेण पद्यनिर्देशिका





अकारादिक्रमेण विशेषनाम्ना सूचिः

